ब्रह्ममेधा

स्वामी सत्यपति परिव्राजक

संकलयिता एवं सम्पादक

सुमेरुप्रसाद दर्शनाचार्य

वानप्रस्थ साधक आश्रम

आर्यवन, रोजड़, गुजरात

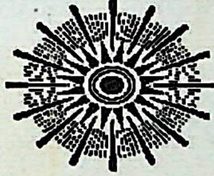




॥ ओ३म् ॥

ब्रह्ममेधा

पू. स्वामी सत्यपति परिव्राजक द्वारा आयोजित त्रैमासिक उच्चस्तरीय क्रियात्मक योग प्रशिक्षण शिविर का संक्षिप्त विवरण



संकलयिता एवं सम्पादक

सुमेरु प्रसाद दर्शनाचार्य

दर्शन योग महाविद्यालय, आर्यवन.

प्रकाशक

वानप्रस्थ साधक आश्रम

आर्यवन, रोजड़, पत्रा. सागपुर, जि. साबरकांठा (गुजरात) ३८३३०७

दूरभाष : (०२७७४) २७७२१७, (०२७७०) २५७२२४, २८७४१७

वानप्रस्थ साधक आश्रम : (०२७७०) २५७२२०, २५७२२३

E-mail : darshanyog@icenet.net

Website : www.darshanyog.org

प्रकाशनतिथि : – कार्तिक २०६३ विक्रमी, नवम्बर २००६

संस्करण : – प्रथम सृष्टिसंवत् १९६०८५३१०७

पृष्ठसंख्या : ४१८ + १४ = ४३२

मुख्य वितरक

रणसिंह आर्य

द्वारा – डॉ. सद्गुणा आर्या
'सम्यक्'
पो. गांधीग्राम, जूनागढ़ (गुजरात)–३६२००१

प्राप्तिस्थान

१. आर्यसमाज मंदिर, महर्षि दयानन्द मार्ग, रायपुर दरवाजा बाहर, अहमदाबाद.

२. विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, ४४०८, नई सड़क, दिल्ली–६.

३. आर्य प्रकाशन, ८१४, कुण्डेवालान, अजमेरी गेट, दिल्ली–६.

४. आर्य गुरुकुल महाविद्यालय, खर्राघाट, नर्मदापुरम्, होशंगाबाद (म.प्र.) ४६१००१.

५. चौखम्बा ओरियेन्टालिया, ९, यु. बी. बंग्लो रोड, पोस्ट बाक्स नं.२२०६, दिल्ली–७.

६. सर्वोदय साहित्य मंदिर, रेलवे प्लेटफार्म नं. १, अहमदाबाद.

७. ऋषि उद्यान, आना सागर, पुष्कर रोड, अजमेर (राजस्थान)

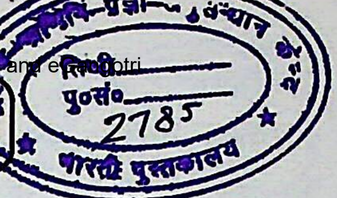
८. गुरुकुल आश्रम आमसेना, खरियार रोड, जि. नवापारा, उडीसा–७६६१०९.

९. विजय वस्त्र भंडार, निलंगा, ४१३५२१ (महाराष्ट्र)

१०. आर्य समाज मन्दिर, पोरबंदर, राजकोट, भरुच, मोरबी, टंकारा, जूनागढ़, गांधीनगर, आणंद, जामनगर आदि ।

मूल्य : १५०/– रुपये

लेसर टाईप सेटिंग : ध्रुमिल ग्राफिक्स, ८५६, नारणपुरा गाम, अहमदाबाद–१३.



अनुक्रमणिका

प्रयोगखण्ड

निरीक्षणखण्ड





प्रकाशकीय

वैदिक काल में भी महान् ज्ञान, बल, आनन्द, निर्भीकता, स्वतंत्रता को देनेवाली ब्रह्मविद्या को सुनने का सुअवसर सबको नहीं मिलता था, कदाचित् किन्हीं को यह अवसर मिल भी जाता था तो वे इस ज्ञान-विज्ञान को सुनकर भी पूर्ण रूप से समझ नहीं पाते थे, कोई बुद्धिशाली समझ भी लेता था तो इस शाब्दिक ज्ञान को क्रियारूप में नहीं ला पाता था, ऐसे ज्ञान-विज्ञान का उपदेशक अद्भुत ही होता था और इसे सुनकर, समझकर, क्रियान्वित करनेवाला तो सचमुच में आश्चर्य स्वरूप ही होता था। जैसा कि कठोपनिषद् २—७ में लिखा है – "श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः श्रण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता-कुशलानुशिष्टः।

उन्हीं श्रेयमार्ग के पथिक अध्यात्म अध्येताओं को निःश्रेयस की प्राप्ति करानेवाली पराविद्या का उत्कृष्ट विज्ञान पूज्य स्वामी सत्यपति जी परिव्राजक ने वानप्रस्थ साधक आश्रम में आयोजित तीन मास के शिविर में सतत प्रदान किया। धन्य हैं वे उपदेष्टा और धन्य हैं वे श्रोता जिन्होंने इस ब्रह्म विद्या को गुरुवर्य के श्रीमुख से श्रवण किया।

सम्पूर्ण प्रवचनों को शीघ्रता से संक्षेप में श्री सुमेरुप्रसाद जी दर्शनाचार्य ने लिपिबद्ध करने का प्रयास किया था। अध्यात्म जिज्ञासु महानुभाव बहुत लम्बे काल से इसे पुस्तकाकार देकर, प्रकाशित करवा कर, वितरित करवाने का आग्रह करते आये हैं। प्रवचनों का संग्रह हजार से भी अधिक पृष्ठों में था, वह भी पुनरावृत्ति, अस्पष्टता, अपूर्णता आदि दोषों से युक्त था, जिसे शान्तचित्त होकर, एकाग्रता से कुशलता पूर्वक सुव्यवस्थित करना पुनः क्रमबद्ध करना महत्तम रुचि, श्रद्धा बुद्धि तथा अति श्रमसाध्य उद्यम (कार्य) था।

आचार्य सुमेरुप्रसाद जी ने धैर्यपूर्वक विद्यालय के अध्यापन आदि कार्यों को करते हुए विशालकाय पृष्ठ राशि में से साररूप में विशिष्ट, महत्त्वपूर्ण, योगाभ्यास सम्बन्धी सिद्धान्तों, प्रक्रियाओं को निकाला और उनका संक्षिप्तिकरण किया जिससे ग्रन्थ का आकार लघु हो, किन्तु आवश्यक विषय छूटे भी नहीं। वस्तुतः यह एक असाधारण कार्य था जिसे उन्होंने स्वयं संगणक पर मासों तक धैर्यपूर्वक बैठकर पूर्ण किया।

श्री रणसिंहजी आर्य, जो आश्रम तथा विद्यालय के प्रकाशनों के अधिष्ठाता हैं, ने ग्रन्थ के प्रकाशन का सम्पूर्ण व्यय प्रदान करके अपने गुरु के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि प्रदर्शित की है और अध्यात्म जिज्ञासुओं तक इस ब्रह्मविद्या को पहुँचाने का श्रेय भी प्राप्त किया है। ईश्वर उन्हें निश्चित ही आन्तरिक सन्तोष, शांन्ति, आनन्द प्रदान करेगा।

'ब्रह्ममेधा' पुस्तक वास्तव में ही पूज्य गुरुवर्य के पिछले ६० वर्षों के जीवन के काल में वेद, दर्शन, उपनिषद् आदि अध्यात्म ग्रन्थों के अध्ययन, मनन, क्रियान्वयन से सम्बन्धित सिद्धान्तों का सार है। अध्येता के लिए इसे पढ़कर सरलता से, स्पष्टता से योग मार्ग पर चलकर ब्रह्म को प्राप्त करना संभव हो जायेगा। आशा है हजारों श्रेयमार्ग के पथिकों के लिए यह ग्रन्थ पथप्रकाशक का कार्य करेगा और वे अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होकर अपने जीवन को सफल बनायेगें, इसी विश्वास के साथ...

शुभेच्छु : ज्ञानेश्वरार्यः
३०–०८–२००६

आर्य समाज मंदिर
६९ ए अर्गायल रोड,
वेस्ट इंलिग लन्दन,
इग्लैण्ड.

आशीर्वचन

मैंने ऊँची योग्यता वाले दर्शनों के विद्वान्, व्याकरण के विद्वान् और योगविद्या में रुचि, श्रद्धा रखने वाले योग-जिज्ञासु सज्जनों के लिए लगभग तीन मास आषाढ़ शुक्ला द्वादशी वैक्रमाब्द २०६० से आश्विन शुक्ला त्रयोदशी २०६० तक तदनुसार ११ जुलाई २००३ ई. से ८ अक्टूबर २००३ पर्यन्त एक **"त्रैमासिक उच्चस्तरीय क्रियात्मक योग प्रशिक्षण शिविर"** का आयोजन किया था। शिविर का प्रयोजन था शिविरार्थी स्वयं विशुद्ध वैदिक-योग का विद्वान् बनें और क्रियारूप में अभ्यास करते हुए समाधि के द्वारा ईश्वर-साक्षात्कार तक पहुँचें तथा अन्यों को अपने समान बनाने का प्रयास करें।

इस शिविर में वेद, वैदिक-दर्शन, उपनिषद्, सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों का क्रियारूप में किये अपने योग-संबंधी अनुभवों, योग से संबंधित यम-नियम आदि आठ अंगों का व्यवहार के रूप में पालन, ईश्वर-प्रणिधान, स्वस्वामि-सम्बन्ध, विवेक-वैराग्य उनका अभ्यास, ईश्वर की उपासना, सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि के भिन्न-भिन्न स्तर, प्रलयावस्था-सम्पादन, समाधिप्राप्त योगी की अनुभूतियाँ और उनसे होने वाले लाभ, लोक में योग के नाम से प्रचलित अनेक भ्रान्तियों का स्वरूप और उनका निवारण तथा आत्मनिरीक्षण आदि अनेक विषयों का विशेषरूप से प्रशिक्षण दिया गया था।

इस शिविर में भाग लेने वाले दर्शनाचार्य श्री सुमेरु प्रसाद जी ने इस प्रशिक्षण शिविर के विषयों को महान् पुरुषार्थ से लेखबद्ध करके पुस्तक के रूप में संकलन करने का प्रयास किया। अब उन विषयों को बृहद् तथा संक्षिप्त (एक ११०० पृष्ठ की दूसरी ४०० पृष्ठ की) दो पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। इन पुस्तकों के प्रकाशित होने से और अध्ययन-अध्यापन से समाज-राष्ट्र और विश्व का बहुत बड़ा उपकार होगा। इसलिये मैं आशा रखता हूँ कि धार्मिक योग-जिज्ञासु-सज्जन इन पुस्तकों का श्रद्धा और रुचि से विशेष अध्ययन करेंगे जिससे योग के वास्तविक स्वरूप को जान सकें।

मैं श्री सुमेरु प्रसाद जी 'दर्शनाचार्य' को आशीर्वाद देता हूँ कि वे ईश्वर की कृपा से स्वस्थ हों, दीर्घायु हों और योगमार्ग पर चलते हुए ईश्वर-साक्षात्कार तक पहुँचने का प्रयास करते रहें और अन्यों को भी ईश्वर-साक्षात्कार करवाने का प्रयास करते रहें।

— स्वामी सत्यपति परिव्राजक

सम्पादकीय

पूज्य स्वामी सत्यपति जी महाराज प्राचार्य दर्शन योग महाविद्यालय आर्यवन, रोजड़, साबरकांठा (गुजरात) ३८३३०७ द्वारा एक उच्चस्तरीय त्रैमासिक क्रियात्मक योग प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया गया जिसका उद्देश्य था – ईश्वर का साक्षात्कार करते-कराते हुए विश्व का कल्याण करना ।

दिन बदले, मान्यता बदली, उद्देश्य पर प्रभाव पड़ा, चित्त के संस्कार और अन्दर-बाहर के व्यवहार में अन्तर आया । निविड अन्धकार से शुभ्र ज्योति की ओर और आगे बढ़े । संयोग इतना अच्छा रहा कि सभी अनुकूलताएँ एक साथ मिलीं । न्यूनता केवल रह गई अपने शरीर, स्वास्थ्य, बुद्धि और संस्कारों की; कि जो प्रतिकूलता का सबसे बड़ा काँटा था परन्तु गुलाब की भाँति खिलता आत्मोन्नति सुमन बढ़ने से नहीं रुका । एक साधारण मानव के लिये इतना सुन्दर, सुखद, मनोहर अवसर अति दुर्लभ होता है ।

ईश्वर की कृपा से ये दिन देखने को मिले । जीवन में एक विशेष घटना, एक कुशल संयोग, एक विशेष उपलब्धि का समावेश हुआ । बहुत बड़ा सहारा मिला । यह सब तब हुआ जब **"त्रैमासिक उच्चस्तरीय क्रियात्मक योग प्रशिक्षण शिविर"** सकुशल सम्पन्न हो गया ।

वैसे तो हम पूरे टूट चुके थे, निराशा मन में गहराई तक पहुँच चुकी थी, सुना तो कानों पर विश्वास नहीं हुआ, एक बार चौंक पड़ा, शिविर होगा! त्रैमासिक उच्चस्तरीय योग प्रशिक्षण शिविर के लिये हम सुसज्जित नहीं थे अतः जैसे-तैसे तैयारी आरम्भ की । कारण यह था कि हम पिछले दो वर्षों से पू. स्वामी जी महाराज से उच्चस्तरीय योग प्रशिक्षण शिविर हेतु प्रार्थना करते रहे किन्तु उन्होंने कभी स्पष्ट स्वीकृति नहीं दी । परन्तु सौभाग्य से हमारे वे स्वर्णिम दिन पुनः लौट आए जब देहरादून में लम्बे प्रवास के काल में स्वामी जी ने हमारी प्रार्थना पर शिविर हेतु हमारे लिए कुछ समय लगाना उचित समझा । स्वीकृति लेने में आचार्य आशुतोष जी 'दर्शनाचार्य' एवं आचार्य आशीष जी 'दर्शनाचार्य' की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही ।

शिविर की स्वीकृति मिल जाने पर हमारे सामने एक समस्या आई कि शिविर का आयोजन कहाँ किया जाये और उससे अधिक विचारणीय बात

यह रही कि किस-किस को शिविरार्थियों में लिया जाए ? क्योंकि अन्य स्थानों में अव्यवस्था और किसी को भी प्रवेश देने में अनियमितता की संभावना थी। अन्ततः श्रद्धेय आचार्य ज्ञानेश्वर जी की कृपा से आर्यवन में ही वानप्रस्थ साधक आश्रम का स्थान निश्चित हुआ जहाँ सारी सुविधाएँ अनायास उपलब्ध हो गईं। साधक भजन के लिए भोजन और भवन से सर्वथा निश्चिन्त हो गए । अन्यत्र कहीं भी हम इस अनुकूलता से भलीभाँति सम्पन्न नहीं हो सकते थे ।

सर्वसाधारण शिविरार्थियों के पहुँच जाने पर अव्यवस्था और अनियमितता की संभावना से सार्वजनिक घोषणा न करके दूरभाष के माध्यम से शिविर के योग्य एवं अनुकूल साधकों को ही सूचित किया गया । पुनरपि अन्यों के आ जाने पर मुख्य शिविरार्थी न मानकर उन्हें श्रोता के रूप में कक्षा में भाग लेने की छूट दी गई परन्तु कोई प्रश्नोत्तर या शंका-समाधान करने का निषेध रखा गया । इसी प्रकार अन्य कारण विशेष से योग्य ब्रह्मचारिणी बहिनों को भी प्रवेश देने में हम असमर्थ रहे ।

जिन्होंने भाग लिया भविष्य में उनकी क्या गति रही यह तो वे ही जानते होंगे परन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि पता नहीं उनके जीवन में यह सुसमय पुनः मिल पाता या नहीं !

मौसम

यों तो उस वर्ष पूरे गुजरात में बरसात भर भगवती वर्षा देवी की विशेष कृपा रही। हमारा साबरकांठा भी निहाल था। आर्यवन रोजड़ में सर्वतो मंगल ही मंगल रहा । पूरे वर्षाकाल में दिन-रात में कम से कम एक बार अवश्य टपाटप मोती झड़ जाते थे । लम्बी गरज के साथ बहुधा भारी वर्षा हुई । घनघोर बादलों की गरज से भूकम्प से घबरायी धरती कांप जाती थी। बच्चे रोना भूल जाते थे। कभी-कभी तो बादल जब अपने दल-बल के साथ आकाश को घेर लेते थे तो सूर्य देव भी न जाने कहाँ दुबक जाते थे। चारों ओर हरियाली का साम्राज्य था। कोई भी खेत शस्य से खाली नहीं था। समीप का तालाब मानसरोवर की भाँति लहराता रहा । मण्डूकमण्डल जब अपना राग छेड़ देता था तो ब्रह्मचारियों के वेदपाठ भी रसहीन से हो जाते थे। छत पर चढ़कर चतुर्दिक निहारने पर तो देहरादून की घाटी का भ्रम हो जाता था। पूरे शिविर काल तक किसी ने गरमी और उमस का नाम तक नहीं लिया ।

शिक्षण शैली

श्री स्वामी जी महाराज के सामने आते ही ऐसा लगता है मानों चिलचिलाती धूप में से किसी सघन वृक्ष की छाया में खड़े हो गए। अथवा भूमि में गिरे-पड़े शिशु को किसी स्वजन ने अपने कन्धे पर उठा लिया। जब वे बोलने लगते हैं तो लगता है उनकी मृदुल वाणी से प्रेरणा का कोई अजस्र स्रोत फूट पड़ा हो। सुनते ही अन्तःकरण प्रफुल्लित हो जाता है।

प्रसिद्ध कारण है कि वे जब भी बोलते हैं, ईश्वर के संबंध में ही बोलते हैं। आत्मा, अन्तःकरण को सदैव अध्यात्म की ओर जाने का ही उपदेश करते हैं। संसार से ऊपर उठने की ही बात करते हैं। इसका पूरा प्रभाव प्रशिक्षण-काल में देखने को मिला।

योगशिविर का पूरा वातावरण अन्त तक बना ही रहा। चिरकाल से चिन्तित चंचलचित्त को चहुँ ओर से घेरकर निर्मल करने में शिविरार्थी प्रयत्नशील थे। भद्र साधकों के मनोविहग प्रशिक्षण शिविर के नियमसांकलों में सहजता से बंधे रहे। शिविर-काल-पिंजरबद्ध होकर भी नियमित कक्षाओं में फड़फड़ाना भूले रहे क्योंकि दैनिक मधुर-सुस्वादु-योगविद्या-रसास्वादन से सन्तुष्ट होते रहे। पू.स्वामी जी महाराज की शिक्षणशैली कुछ ऐसी रही कि जैसे कोई कुशल तैराक किसी कोमल किशोर को हाथ में लेकर गम्भीर सरिता में उतारकर संतरण सिखा रहा हो। उनकी करुणा इतनी उमड़ रही थी कि साधकों को पुनः पुनः अपनी अद्भुत अनुभवनिधियाँ सौंप रहे थे। यहाँ तक कि समाधिस्थ कर देना चाह रहे थे परन्तु जिज्ञासुओं की क्षमता इतनी ही थी कि वे अभी अपने सन्ध्योपासन आदि लघु सरोवरों में ही डुबकियाँ लगा सकते थे।

ग्रन्थ-परिचय

प्रस्तुत संकलन ग्रन्थ का नाम 'ब्रह्ममेधा' है जो कि 'बृहद्ब्रह्ममेधा' का एक संक्षिप्त कलेवर है। ब्रह्ममेधा का अर्थ है ब्रह्म से संबंधित मेधा। ब्रह्म का अर्थ ईश्वर तथा मेधा का अर्थ बुद्धि = ज्ञान विशेष है। इस प्रकार फलितार्थ हुआ ईश्वर से संबंधित विज्ञान।

पुस्तक के उपदेष्टा हैं गुरुवर्य पू.स्वामी सत्यपति जी महाराज। तीन मास के प्रशिक्षण काल में साधकों को उन्होंने जो कुछ बलताया हमने उसे शब्दशः

लिपिबद्ध करने का प्रयत्न किया। ईश्वर की कृपा से हमें सफलता मिली। आरम्भ में ध्वनिमुद्रणयन्त्र की व्यवस्था संभव न हो पाने से पूर्वार्द्ध भाग कुछ संक्षिप्त अवश्य हो गया क्योंकि वह साक्षात् सुन-सुन कर लिखा गया तथा सुनते समय संस्कृत में लिखा गया। पुनः उसका हिन्दी अनुवाद किया अतः भाषाभेद तथा वाक्यभेद की भी स्थिति बन गई। उत्तरार्द्ध भाग अक्षरशः लिखा गया है क्योंकि तब ध्वनिमुद्रणयन्त्र की व्यवस्था संभव हो गई थी। प्रामाणिकता की दृष्टि से वैसे हमने पूरे प्रयत्न से ग्रन्थ में पूज्य स्वामी जी की ही भाषा को रखा है। इसमें स्वाभाविकता, रोचकता और सरलता का भी अधिकाधिक संग्रह दिखाई देना कारण रहा।

प्रस्तुत ग्रन्थ के निर्माणार्थ बृहद् स्थिति से संक्षिप्त करने में अनेकत्र वाक्य संशोधन तथा प्रवाह रक्षार्थ कुछ शब्द तथा वाक्य भी मैंने अपनी ओर से डाले हैं जो कि आवश्यक थे। जिसके विना प्रवाह बनाना संभव नहीं था। पुनरपि विषय का सर्वत्र प्रवाह नहीं रह पाया है। ऐसे ही विषय की भिन्नता होती रहेगी, प्रकरण टूटे-फूटे लगेंगे। कुछ बातें अति संक्षिप्त, कुछ बातें अति विस्तृत हैं, कुछ विषयों की पुनरावृत्ति भी मिलेगी। कहीं-कहीं सम्पादक के नाम से अत्यावश्यक टिप्पणी भी दे दी है।

विषय-चतुष्टय

ग्रन्थ के कुल चार खण्ड हैं जिनमें प्रथम खण्ड का नाम **'सिद्धान्त खण्ड'** रखा है। उसका अभिप्राय यह है कि इसमें जो भी बातें रखी गई हैं वे सब सैद्धान्तिकरूप में समझनी चाहियें।

दूसरा खण्ड है **'विधिखण्ड'** अर्थात् विधि = नियम। इनको इस रूप में आचरण करना ही है।

तृतीय खण्ड का सारा विषय प्रायोगिक है अर्थात् उपर्युक्त बातों का प्रयोग इस खण्ड में दिये निर्देशानुसार करना है। अतः इसका नाम है **'प्रयोगखण्ड'**।

चौथे अन्तिम खण्ड का नाम **'निरीक्षण खण्ड'** है। इस खण्ड में उन बातों का संग्रह किया गया है जिनसे साधक यह पता लगा सकें कि सुनी-सीखी बातें अब तक हमारे जीवन = व्यवहार = आचरण में कितनी आ गईं और कितनी रह गईं तथा अभी मुझे और कैसे, कितना, क्या करना है?

अनुरोध

सुधी, जिज्ञासु, श्रद्धालु पाठक महानुभावों से अनुरोध है कि वे इस ग्रन्थ का स्वाध्याय शनैः-शनैः धैर्यशील एवं प्रसन्नचित्त होकर करें तथा चिन्तन-मनन को भी साथ रखें क्योंकि धाराप्रवाह तथा त्वरित गति से पाठ किये जाने पर अभिप्राय का हृदयङ्गम् होना कठिन है। बहुत से स्थलों में प्रतिपक्षीय मान्यता की भी प्रतीति संभव है अतः चिन्तन-मनन और प्रमाण पूर्वक ही निर्णय लेवें। जैसा कि ग्रन्थ के मध्य मध्य में एतदर्थ संकेत प्राप्त करेंगे। यथा –

एक विषय में लगाने की अपेक्षा निर्विषय रखना सरल है, यह आप का मत हो सकता है; परन्तु एक विषय की अपेक्षा निर्विषय करना यह कठिन है; यह मेरा मत है। आपको हमारी यह मान्यता विरुद्ध लगती होगी। आपको मैं बताता रहता हूँ कि हमारी और आपकी मान्यताओं में अनेकत्र विरोध है, उसका यह भी उदाहरण समझना चाहिए। (पृ. सं. २५०)

मैंने जो अनुभूति जिस रूप में की है, उसका वर्णन वैसा ही करूँगा। यदि विपरीत किया तो विपरीत कहूँगा, किन्तु बुद्धिपूर्वक विपरीत कभी नहीं बोल सकता हूँ। आपको मिथ्या बताने का प्रयत्न कभी नहीं करूँगा। (पृ. सं. २६४)

आपका मतलब थोड़ा सा विचारणीय है, कोई बात नहीं, हम ऐसा नहीं कहते कि मान लो। परीक्षा पूर्वक जो निर्णय निकला हो आज तक उसको सुनाओ और इसको ही क्रियारूप में लाएँगें; यहाँ तक पहुँचना है। किसी निज सिद्धान्त का प्रतिपादन करना, कुछ सम्मान प्राप्त करना, किसी का खण्डन करना यह उद्देश्य नहीं है। उद्देश्य तो है सत्य को जानने और जनाने का। (पृ. सं. १३३)

आप डरते हैं, संकोच करते हैं। मन में तो रखते हैं पर बताते कुछ नहीं। मैं तो इसी को भयंकर दोष मानता हूँ।

साधक – लोक में तो ऐसा करने से बहुत हानि होती है।

स्वामी जी – हम कहते हैं आपके लोक में हानि होती है हमारे लोक में तो यही लाभप्रद है। वह मतभेद हो गया न जो मैंने बताया था ! ऐसे मतभेद होता है। और कुछ समझ में नहीं आया हो तो वह भी बताओ। सारी कहो (पृ. सं. ६७)

जब आप यह मानेंगे कि आज निश्चितरूप से मृत्यु हो सकती है, तो यह विवेक है। (पृ. सं. ९७)

समर्पण

यदि कोई बालक अपने माता-पिता या गुरुजन के हाथ से उनकी कोई वस्तु अपने हाथ में लेकर सचमुच कहने लगे कि यह मेरी है, मुझसे कोई नहीं ले सकता, अब मैं किसी को नहीं दूँगा तो यह उसकी ढ़ीठता और नादानी होगी। यद्यपि कोई उसका विरोध तो नहीं करेगा परन्तु बालक की उस नादानी पर दया अवश्य प्रकट करेगा। ठीक उसी प्रकार से यदि मैं कहूँ कि यह पुस्तक मेरी है तो उसका अर्थ यही होगा कि मैं वही नादानी कर रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि मुझे इस नादानी का परित्याग करना ही चाहिये। इसी में मेरा सर्वाधिक कल्याण निहित है। अतः यह रत्न जिनका है जिनसे मैंने प्राप्त किया है, उन्हीं गुरुवर्य स्वामी सत्यपति जी महाराज के श्रीचरणों में समर्पित कर रहा हूँ।

कृतज्ञता

शिविर से लेकर अद्यावधि इस पुस्तक के प्रकाशन पर्यन्त मुझे इतनी सफलता मिली कि जितने की कोई आशा नहीं थी। पठन-पाठन, चिन्तन-मनन, योगाभ्यास सहित स्वस्थ एवं प्रसन्नचित्त, निर्बाध रहते हुए वर्षों तक का समय इस सत्कार्य में लगा सका यह सब उस परम कृपासिन्धु की कृपा से ही संभव हो सका, अतः मैं सर्वप्रथम उस परम कृपालु परमेश्वर का ही कोटिशः धन्यवाद करता हूँ।

अतो अनन्तर गुरुवर पूज्य स्वामी सत्यपति जी महाराज के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनकी चरण-शरण में इस विद्या को पाकर रोम-रोम पुलकित हो रहा है। स्वयं लाभान्वित होते हुए अन्यों तक सारस्वत प्रसाद-वितरण की यह शुभवेला उनके ही आशीर्वाद से फलीभूत हो पाई।

इसके उपरान्त वैदिक जगत् में देश-विदेश में लब्धप्रतिष्ठ दर्शन योग महाविद्यालय के आचार्य श्रद्धेय ज्ञानेश्वर जी आर्य का मैं कृतज्ञ हूँ कि जिनकी छत्रछाया हमें आज भी उपलब्ध है। मैं जानता हूँ कि इनके पास उतना कार्यभार है जितना सहज नहीं है, परन्तु वे कर रहे हैं। इतना होने पर भी मेरी सुविधा और सुरक्षा में उन्होंने कोई कटौती कभी नहीं की। स्वयं जागते रहे हैं किन्तु मुझे समय पर सोने दिया है। उनके ही कारण मुझे यह समझने की अपेक्षा

नहीं हुई कि पुस्तक लिखने के अतिरिक्त प्रकाशन में भी कुछ करना पड़ता है। क्योंकि अन्तिम पाण्डुलिपि हमने दे दी और हमें छपी हुई पुस्तक मिल गई। इस बार भी ऐसा ही होना निश्चित है।

इस कृतज्ञता क्रम में उन्हें नहीं भुलाया जा सकता है जिन्होंने अपने व्यस्त समय में से कई दिन निकालकर भारी भूलें सुधारकर इस ग्रन्थ को अन्तिमरूप दिया। वे हैं आचार्य श्री सत्यजित् जी दर्शनाचार्य, जो इस समय आर्ष गुरुकुल, ऋषि उद्यान, अजमेर का आचार्यपद सुशोभित कर रहे हैं। मैं उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

वानप्रस्थी श्री रणसिंह जी आर्य का हृदय भी बड़ा विशाल है। वे अकेले ही अपने अर्थबल पर ग्रन्थप्रकाशन का समस्त भारी व्यय वहन कर रहे हैं। कृतज्ञता क्रम में मैं उनके प्रति भूरिशः आभार प्रकट करता हूँ।

विद्वद्-विधेय

सुमेरु प्रसाद दर्शनाचार्य

दर्शन योग महाविद्यालय, आर्यवन,

रोजड़, पत्रा, सागपुर, जि. साबरकांठा (गुजरात)

॥ ओ३म् ॥

सिद्धान्तखण्ड

सम्माननीय विद्वद्गण, धर्मप्रेमी सज्जनों, माताओं और ब्रह्मचारिगण !

अब हम गायत्री-मन्त्र का पाठ करते हुए ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करेंगे। इसी प्रकार 'विश्वानि देव.......' मन्त्र का भी पाठ करेंगे। यहाँ ध्यान देना है कि मन्त्रपाठ के काल में शब्द के अर्थ का ग्रहण, ईश्वर को सम्बोधन आदि कर रहे हैं कि नहीं ? निरीक्षण के साथ मन्त्र बोलते समय एक-एक शब्द का उच्चारण, उसके अर्थ का ग्रहण, अपने समीप ईश्वर की अनुभूति करते रहें; यदि ये स्थितियाँ बनी रहीं तो समझना चाहिए कि स्थिति अच्छी रही। यदि एक-एक शब्द का न तो पाठ, न अर्थ, न सम्बोधन, न समर्पण रहा तो समझना चाहिए स्थिति अच्छी नहीं रही, स्तुति-प्रार्थना-उपासना दोष युक्त रही।

ध्यान काल में समस्त कार्यों को छोड़कर केवल त्रिकर्म (स्तुतिप्रार्थनोपासना) करना चाहिए। अपना सम्बन्ध संसार से हटाकर ईश्वर से जोड़ना चाहिए।

प्रथम हम प्रयोग करेंगे – सभी ध्यानावस्थित होकर मन्त्र का अर्थ सुनने और दुहराने का प्रयास करेंगे और देखेंगे कि आपका मन ईश्वर के साथ सम्बद्ध है कि नहीं? मन-मन में ओं ऽऽ यह परमेश्वर का मुख्य निज नाम है। जब हम ईश्वर को सम्बोधित करेंगे तब क्या कहेंगे ? हे ईश्वर ! आप का प्रमुख नाम ओम् है जिस नाम के साथ ..... ।

ओं भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

अब धुन के रूप में..... ।

अब हम बोलचाल की भाषा में प्रयोग करेंगे जिसमें किसी को कठिनाई नहीं होती, जो थोड़ी भी हिन्दी भाषा का ज्ञान रखता है।

ओं सच्चिदानन्दः। इसी प्रकार से पुनः मानसिक प्रयोग करेंगे। ....॥

निज जीवन का लक्ष्य बोध

क्या आपके जीवन का लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति बन गया ?

वेद, दर्शन, उपनिषद् आदि ग्रन्थों को पढ़कर या सुनकर प्रमाणों से परीक्षा कर लेने पर पता चला कि कोई बात ५% समझ में आई है; किन्तु व्यक्ति प्रमाणों से परीक्षा किये बिना प्रायः यह मान लेता है कि हमने उस बात को १००% अर्थात् पूर्णरूप से समझ लिया है। पर यह उसकी भूल है। यही भूल प्रायः यहाँ भी होती है। जीवन का लक्ष्य लोकप्राप्ति रहती है परन्तु व्यक्ति सूक्ष्मता से परीक्षण किये बिना मान लेता है कि मेरे जीवन का लक्ष्य ईश्वरप्राप्ति बन गया है।

कोई व्यक्ति कहता है सत्य आदि व्रत जो कि सभी स्थितियों में पालन करने योग्य हैं; ऐसा मैं पूर्णतः स्वीकार करता हूँ। परन्तु वही व्यक्ति व्यवहार में सत्यादि का पालन ५% या नाम मात्र करता है। जानबूझकर इनका भङ्ग भी करता है।

वैदिक परम्परा में यह माना जाता है, प्रायः लोग कहते हैं, प्रवचन, उपदेश में सुनते हैं, लेखों में लिखते-पढ़ते हैं कि "मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य ईश्वर-प्राप्ति है।" पर देखा जाता है कि उसी वैदिक परम्परा के अनुयायी, वक्ता, लेखक आदि के मन, वाणी और शरीर के व्यवहार से उक्त बात की साम्यता नहीं है। कहीं ज्ञानपूर्वक, कहीं अज्ञानतावशात् इस उद्देश्य के साधनभूत नियमों का भङ्ग करते हैं। कहीं साधन के अभाव में उल्लंघन होता है, कहीं संस्कार-वशात् विपरीत आचरण होता है। यह सब होता है परन्तु देखा जाता है कि व्यक्ति प्रायः बुद्धिपूर्वक भी इसके साधक नियमों को तोड़ता रहता है।

ऐसे ही एक ओर स्वयं को पूर्ण अहिंसक भी मानता है और दूसरी ओर द्वेष भी करता रहता है।

सम्मान को विषतुल्य और अपमान को अमृत के तुल्य समझना चाहिए यह एक शास्त्र प्रसिद्ध बात है परन्तु सहस्रों में कोई एक भी दिखाई नहीं देता जो यह कहता हो कि मुझे थोड़ा भी सम्मान नहीं चाहिए किन्तु ऐसा सभी चाहते हैं कुछ न कुछ, नाममात्र ही सही, सम्मान मिलना तो चाहिए (न कहें भिन्न बात है)। जैसे – दर्शन, व्याकरण आदि पढ़े हुए लोग सोचते हैं – हमने इतना पढ़ा है तो लोगों को कम से कम हमारा इतना तो सम्मान करना चाहिए, कुछ तो सेवा–सुविधा का ध्यान रखना चाहिए।

ईश्वरप्राप्ति लक्ष्य की दृष्टि से ये सब बातें दोषपूर्ण हैं, अन्याय भी है। ये सब बातें जो कि अपनाई जाती हैं; ईश्वरप्राप्ति के नियमों के विपरीत हैं। जिसके कारण हम अपने सम्मान की इच्छा कर रहे हैं उसका आधार कौन है ? ईश्वर ही तो है । इसलिए सम्मान तो ईश्वर को मिलना चाहिए। उसके रहते हम कैसे सम्मान के अधिकारी हुए ? इस विषय में तो मन में यह भाव सतत रखना पड़ेगा कि ईश्वर ही सब का आधार है, उसकी सहायता के बिना कोई भी उत्तम कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।

यदि बात समझ में नहीं आई, ऐसा स्वीकार नहीं करते हैं तो समझना चाहिये कि अभी हमारे जीवन का लक्ष्य ईश्वरप्राप्ति नहीं बना है ।



मानसिक सज्जा

आप की जो योजना है "ईश्वर का साक्षात्कार करना और कराना" हमारी भी यही योजना है । अब इस कार्य को पूर्ण करने के लिए कौन—कौन से बिन्दु याद रखने योग्य होते हैं; उनको बतलाया जा रहा है ।

प्रथम इसके लिए मानसिकरूप से तैयारी करनी चाहिए । इस कार्य में आनन्द की अनुभूति करनी चाहिए । नहीं कर पाते हैं तो समझना चाहिए कि हमारा प्रयास शिथिल है ।

इस कार्य को नहीं करने पर दोष भी आता है; क्योंकि जिसके लिए हमको यह जीवन मिला है, उसके कर्तव्यों को पूर्ण नहीं कर पाए । यह कर्तव्य-हीनता का प्रथम दोष हुआ ।

हम आपके लिए इतना परिश्रम कर रहे हैं और अन्य लोग भी जो आपकी सहायता कर रहे हैं; यदि आप इस कार्य को नहीं करते हैं, वे आपको क्या समझेंगे ?

आपके ऊपर जो समय लगाया गया, यही अन्यों को दिया जा सकता था । प्रचार में, अध्यापन में, शिक्षण में, उपदेश में जो शक्ति लगनी थी वह सारी आपके ऊपर लगाई गई । इससे यदि इस ओर आप भी नहीं करते हैं और उस ओर भी कार्य नहीं हुआ, तो सब व्यर्थ होता है। अतः लोगों की दृष्टि में आप अच्छे नहीं हो सकते।

यद्यपि सफलता अपने हाथ में नहीं है, तथापि अपनी ओर से पूरी शक्ति लगानी चाहिए, साथ-साथ अन्यों से भी शक्ति-साधन संगृहीत कर उसको लगाना चाहिए। इतना सब करने के पश्चात् भी यदि सफलता नहीं मिलती है तब आप निर्दोष रहेंगे। पुनः कोई बात नहीं आगे और प्रयत्न करेंगे।

मुख्य अभिप्राय है अपनी पूरी शक्ति को लगाना, समस्त साधनों का प्रयोग करना। जो संभव है, किया जा सकता है, उसको करना चाहिए। यदि वह भी नहीं करते हैं तो दोष माना जाएगा। व्यक्ति प्रायः आलस्य, प्रमादवशात् तथा लौकिक सुखसाधनसंग्रह आदि में लिप्त होकर इन कार्यों को छोड़े रहता है। यद्यपि करने की क्षमता रहती है, तब भी नहीं करता है। "मेरे तो संस्कार नहीं हैं, इस जन्म में तो कर नहीं पाऊँगा" आदि-आदि बहाने बनाता है। ये सब दोष हैं।

एक दोष और आता है। हमारी वैदिक व्यवस्था में लोगों को शंका-समाधान की छूट है, शंकाएँ रखने में स्वतन्त्र हैं; यहाँ तक तो ठीक है पर लोग इसका अनुचित प्रयोग करते हैं। बुद्धिमान् लोग भी इसका उचित लाभ न लेकर हानि ही उठाते हैं। चर्चा, तर्क-वितर्क आदि करने में जितनी शक्ति, समय लगाते हैं, सिद्ध सिद्धान्तों को व्यवहार में, आचरण में लाने, क्रियात्मक बनाने में उतना समय, शक्ति नहीं लगाते हैं। इसका दुष्परिणाम यह आता है कि स्वयं को तथा अन्यों को भी उस विषय में रुचिहीन, श्रद्धाविहीन बना डालते हैं।

कभी ऐसा होता है, मान लिया कि बताने वाले ने २० बातें बताईं। वहाँ १५ तो समझ में आ गईं शेष ५ समझ में नहीं आईं तो क्या करते हैं; शेष ५ को ही समझने में सारी शक्ति झोंक देते हैं। पुनः होता क्या है ? ५ तो समझ में आती नहीं १५ भी हाथ से चली जाती हैं।

योगाभ्यासी को व्यवहार काल में इस एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि सम्बोधन में सबके लिए समानरूप से आदरसूचक, सम्मानजनक शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। भले ही कोई आयु से छोटा हो; परन्तु उसके लिए भी लघुसूचक सम्बोधक शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करना योगाभ्यास में बाधक रहेगा।

कहीं ऐसा हो सकता है, यह प्रयोग अव्यावहारिक दिखाई पड़े। छोटों को ऐसा सुनकर संकोच हो पर यह सुननेवाले की न्यूनता मान लेनी चाहिए। वस्तुतः अन्दर से तो वे भी चाहते हैं कि मुझे बड़ों से भी सम्मान मिले

अतः उनको तो सुख ही होगा । बड़ों को भले अपनी मानहानि दिखाई देगी परन्तु प्रयोजन विशेष की दृष्टि से आदरसूचक, सम्मानजनक शब्दों का प्रयोग करना ही चाहिए अन्यथा ईश्वर की दृष्टि में सब समान हैं यह बात समझ में नहीं आएगी और अपना अहंकार यथावत् बना रहेगा।

यहाँ एक और बात विशेषरूप से बतलाने की है कि हम कहते आए हैं कि हमारी कई ऐसी बातें हैं; जो आपको विपरीत लगेंगी, उनमें से उपर्युक्त यह एक उदाहरण है । आपने प्रयोग में बहुत सी साधक–बाधक बातें देखी नहीं हैं, अतः ऐसा प्रतीत होता है । यहाँ पर "समझ में नहीं आ रही है" ऐसा मान के चलना, न कि "यह बात ठीक नहीं है" ऐसा मान के चलना। इसी प्रकार अध्ययन–अध्यापन, परोपकार आदि करते हुए ईश्वर के साथ सम्बद्ध रहना चाहिए। यह बात भी उपयुक्त नहीं लगती होगी । तब भी वक्ता की २० बातों में से २ बातें अशुद्ध जानते हुए भी १८ का लाभ लेने का प्रयत्न करना चाहिए, न कि २ बातों के आधार पर १८ को अशुद्ध मान लेना चाहिए। जब तक कोई बात प्रमाणों से खण्डित न हो जाए तब तक असत्य मान के छोड़ना नहीं चाहिए। वक्ता के व्यवहार, पक्षपातरहित जीवन आदि को देखकर उसकी बातों पर विश्वास करना चाहिए ।

वैसे तो सभी विषयों में ही प्रमाणों के द्वारा परीक्षापूर्वक निर्णय करना चाहिए किन्तु ईश्वर साक्षात्कार करने वाले व्यक्ति को धर्माधर्म, सत्यासत्य आदि विषयों का प्रमाणों के द्वारा विशेषरूप से पूर्ण निर्णय कर लेना चाहिए। सत्यासत्य आदि को जानने की कसौटियाँ कौन सी हैं ? उनका भी निर्णय कर लेना चाहिए । यदि कसौटियाँ सत्य नहीं हैं तो भी व्यक्ति सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता ।

सत्यासत्य की कसौटियों को जानने के पश्चात् उनसे परीक्षण करना भी आना चाहिए । परीक्षण करना आने के पश्चात् व्यक्ति को सहयोग लेना भी आना चाहिए। यदि पर्याप्त पुरुषार्थ करे, पुनरपि ईश्वर, आचार्य, धार्मिक ग्रन्थ आदि का सहयोग न ले तो भी सफल नहीं हो सकता। शक्तियों के उपार्जन में, अपनी शक्ति को बढ़ाने में यदि उचित व्यवहार नहीं करता है तो भी वह सफल नहीं हो पाता। अतः व्यायाम, भोजन आदि के साथ–साथ ईश्वर, गुरु आदि तथा सृष्टि के अन्य पदार्थों के साथ उचित व्यवहार भी करना आना चाहिए ।



आन्तरिक गतिविधि

अब हम जो तीन मास का कार्यक्रम ऊँचे स्तर पर योग विद्या को सिखाने के लिए आरम्भ करने जा रहे हैं; उसकी क्या गतिविधि होगी? उसके लिए जो जो आवश्यक बातें होती हैं, उनको भूमिका के रूप में आपको विशेषरूप से बता रहे हैं। उन बताई बातों को प्रथम अच्छे प्रकार ध्यान से सुनना, समझना, लेखबद्ध करना और उसके पश्चात् मन–वाणी–शरीर से व्यवहार में लाना; यह सब आपको करना पड़ेगा।

मनुष्य जीवन का लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति करना और कराना है। यद्यपि ऋषिकृत ग्रन्थों में अनेक स्थलों में यह प्रयोग (चर्चा–वर्णन–कथन) आता है कि "मानव जीवन का लक्ष्य मोक्षप्राप्ति है।" पर हम इस विषय में किस प्रकार से प्रयत्न करें ? केवल स्वयं मोक्ष प्राप्त कर लें अथवा अन्यों को भी मोक्ष की प्राप्ति हो जाय ऐसा मानकर चलने का प्रयत्न करें? यदि हम केवल अपने लिए प्रयत्न करेंगे तो कभी भी उन्नति नहीं होगी। इसलिए स्वयं के लिए भी मोक्ष प्राप्त करना है और अन्यों को भी कराना है।

महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के ६ठे नियम में लिखा है – "संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना" और ८वें नियम में लिखा है – "प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।" इससे उपरोक्त कथन की पुष्टि होती है। परन्तु कभी-कभी गम्भीर विचार के न करने से व्यक्ति ऐसा समझता है कि केवल अपना कल्याण कर लूँ, स्वयं मोक्ष प्राप्त कर लूँ। ऐसा मानकर वह समाज और राष्ट्र की स्थिति को अपनी जैसी उन्नत बनाने पर ध्यान नहीं देता है। इसका परिणाम यह होगा कि वह भी ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकेगा।

"सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।" इस चौथे नियम के लिए मुमुक्षु व्यक्ति एड़ी से चोटी तक बल लगाता है। सदैव इस बात का ध्यान रखता है कि सत्यासत्य को जानना और जनाना प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य है, पर समाज में इसका कितना पालन होता है; इसको आप जानते हैं।

प्रमाण-पूर्वक देखिए तो आपको पता चलेगा कि चोरी करने वाला व्यक्ति स्वयं को दोषी स्वीकार करता हुआ भी सार्वजनिकरूप में अपने को निर्दोष सिद्ध करने में पूरा बल लगा देता है । लाखों में से कोई एक मिलेगा जो कि जैसा अन्दर वैसा बाहर यथार्थ बोलने का साहस करता हो । तो ऐसा व्यक्ति सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग में उद्यत नहीं है ।

कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो सार्वजनिकरूप में तो नहीं किन्तु विशेष व्यक्ति के समक्ष अपनी यथार्थता को रख देते हैं किन्तु योगाभ्यास के क्षेत्र में इतना पर्याप्त नहीं है । वह अपना दोष किसको बताए किस को नहीं? नये व्यक्ति के समक्ष ऐसी कोई मर्यादा नहीं होती है । जैसे कि एक व्यक्ति पहले चोरी किया करता था, पुनः छोड़ दिया और अब योगी बनना चाहता है तो उसके लिए कोई सीमा नहीं होगी कि किसके समक्ष अपना दोष बताए किसके समक्ष नहीं । यदि वह ऐसी कोई मर्यादा बनाता है तो उसके दोष कभी नहीं हटेंगे अपितु वह पुनः सांसारिक बन जाएगा। दोष बताते समय यदि अपमान की भावना, भय, संकोच आदि बने रहे तो भी व्यक्ति समर्थ नहीं होगा ।

बाधकों से द्वेष होना यह मुक्ति में राग होने का लक्षण है। आपने न्यायदर्शन में पढ़ा होगा कि यदि मुक्ति में भी राग रहा तो मुक्ति भी नहीं होगी । अर्थात् आनन्दित हो जाऊँगा ऐसा सोचकर उत्सुक होना । जैसे कि खीर, मिठाई में व्यक्ति का राग होता है तो उसको पाने के लिए वह उत्सुक होता है; इस प्रकार का राग मुक्ति में बाधक समझना चाहिए। अतः वहाँ केवल "दुःख से छूट जाऊँ' यही एक उद्देश्य होना चाहिए। इस प्रकार जब व्यक्ति हेयोपादेयशून्य हो जाता है तब वैराग्य होता है। वैराग्य के उपरान्त ही समाधि होती है ।

योगी व्यक्ति का बाहर—भीतर सब प्रकार से सब काल में एक ही लक्ष्य होना चाहिए कि "तीनों कालों में सत्य क्या है"? जैसे; शरीर के विषय में— यह शरीर मेरा है, माता—पिता का है, मैंने बनाया है, हम इसकी पूर्ण सुरक्षा में समर्थ हैं अथवा ईश्वरनिर्मित है, ईश्वर—प्रदत्त है, ईश्वर ही इसका स्वामी है, वही इसकी रक्षा में समर्थ है ? योगी व्यक्ति तर्क—प्रमाणों से इस विषय को छान मारता है और इस परिणाम पर पहुँचता है कि ईश्वर ही इसका निर्माता, रक्षक, स्वामी और देनेवाला है। यही वास्तविकता है क्योंकि सारे जीव मिलकर भी एक पत्ता तक नहीं बना सकते शरीर की तो बात ही क्या ।

इस प्रकार प्रत्येक विषय में जो सत्य है उसको जानकर ग्रहण करता जाता है और जो-जो असत्य ठहरता है उस उसको छोड़ता जाता है । जब तक यह निर्णयात्मक स्थिति हाथ नहीं लगती तब तक जूझता रहता है, इसमें कोई उसको रोक नहीं सकता । इस प्रकार आत्मा, परमात्मा आदि सब विषयों में खोज करता है ।

एक सत्य यह है कि गुरुकुल आदि चलाना अच्छी बात है, पर ईश्वर-प्राप्ति उससे श्रेष्ठ और प्रमुख कार्य है । इसमें प्रमाण—**नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।** यजुर्वेद. ३१/१८ । (मोक्ष = ईश्वरप्राप्ति के अतिरिक्त और कोई मार्ग = उपाय, कर्म नहीं है मृत्यु आदि सब दुःखों से छूटने के लिए।) केनोपनिषद् २/५ में भी कहा है – **इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः** ॥ यदि इसी जन्म में ईश्वर को प्राप्त कर लिया तो ठीक है, नहीं तो महान् विनाश हो गया । किन्तु इस विषय में सभी आचार्यों, विद्वानों में सत्यग्राहिता नहीं देखी जाती है ।

ये वाक्य और क्या कह रहे हैं ? ईश्वर प्राप्ति किसी भी आश्रम के लिए त्याज्य नहीं है । ईश्वरप्राप्ति सभी का मुख्य लक्ष्य ही है, गौण किसी का नहीं । जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यास में न जाकर गृहस्थ में जाता है, वह उस व्यक्ति की दुर्बलता है, इससे लक्ष्य का महत्त्व न्यून नहीं हो जाता है । लक्ष्य तो तब भी वही रहेगा । यदि व्यक्ति यह स्वीकार नहीं करता, ईश्वरप्राप्ति अपना मुख्य लक्ष्य नहीं बनाता है तो वह दोषी है ।

❖ ❖ ❖ ❖

मंगलाचरण

अब हम विधिपूर्वक इस त्रैमासिक उच्चस्तरीय योग प्रशिक्षण शिविर का आरम्भ करने जा रहे हैं । इस शुभकार्य के आरम्भ में, मध्य में और अन्त में ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिए; यह बात आप को समझ में आ गई ?

साधकगण – हाँ जी ।

स्वामी जी – ऐसा करने से यह होता है कि हम जिस शुभ कार्य को करने के लिए उद्यत हुए हैं, वह सरलता से पूर्ण हो जाता है । हमलोगों को उस कार्य की सिद्धि में ईश्वर से सहायता भी मिलती है और लोगों का

जो लौकिक पदार्थों में स्वस्वामिसंबन्ध (ममत्व) होता है कि "यह मेरा है, मैंने किया है" वह छिन्न-भिन्न हो जाता है, टूट जाता है और परिणाम-स्वरूप मिथ्याभिमान भी नष्ट होता है। यद्यपि और भी अनेक लाभ होते हैं परन्तु यहाँ उनकी गणना नहीं की जा रही है; यह तो उपलक्षण मात्र है। यदि ऐसा (स्तुति-प्रार्थना-उपासना) न किया जाए तो इसके विपरीत ममत्व, मिथ्याभिमानादि दोष आते ही हैं; चाहे कोई वैदिक विद्वान्, पण्डित या वैज्ञानिक हो। आप भी अपने जीवन में ऐसा देख सकते हैं; इसके अभाव में इन दोषों से रहित नहीं मिलेंगे। यद्यपि अभ्यास करते-करते एक ऐसी स्थिति आएगी, आगे आप को अनुभूति होगी कि जो बात बताई जा रही है कि ईश्वर की स्तुति–प्रार्थना–उपासना से सहायता, लाभादि की प्राप्ति तथा न करने से मिथ्या अहंकारादि दोष आते हैं; यह बात ठीक है।

हम जिस कार्य को करने के लिए समुद्यत हुए हैं वह है – ईश्वर का साक्षात्कार करना और कराना। ईश्वर-साक्षात्कार करना और कराना हमारा लक्ष्य है, प्रयोजन है। अब यदि उसकी सिद्धि के लिए उद्यत हुए हैं तो ईश्वर की स्तुति–प्रार्थना–उपासना करनी ही चाहिए। इसके साधन जो ज्ञान, कर्म और उपासना हैं उनका संग्रह करना ही होगा, उन पर विचार करना ही होगा। जिन भोजन, बल, विद्या, गुरु, आचार्य आदि का सहयोग हमें मिलना है उनका विचार करना ही चाहिए। विद्यादि सब पदार्थ साधन हैं, उपकरण हैं और ये सभी ईश्वरप्रदत्त हैं।

जिस लक्ष्य को सिद्ध करने का आरम्भ मन में निहित है और संसार का जो उपकार करना है, इनकी सिद्धि के लिए इन बातों पर ध्यान देना चाहिए कि अन्ततः ये कहाँ से आए हैं ? उत्तर मिलेगा – ईश्वर से आए (ईश्वरप्रदत्त) हैं। जब ऐसी बात है तब भी ईश्वर की स्तुति–प्रार्थना–उपासना यदि हम नहीं करते हैं तो उसका अर्थ हुआ ये ईश्वर-प्रदत्त नहीं हैं; ऐसा मानते हैं और यदि उसका दिया हुआ नहीं मानते हैं तो हम कृतघ्न हुए। इसीलिए स्वस्वामि-सम्बन्ध, मिथ्याभिमानादि दोषों से आबद्ध हो जाते हैं तथा इसके साथ जो ईश्वर-साक्षात्कार के लिए ईश्वर से ज्ञान-बल-आनन्दादि विशेष सहायता मिलती है; उससे वंचित हो जाते हैं। यदि आगे भी स्तुति आदि नहीं करेंगे तो वे ज्ञानादि साधन भी आगे और नहीं मिलेंगे।

मध्य में जबकि कार्य की सिद्धि कर रहे हैं, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिए। जैसे; समाधि लग चुकी या लगा रहे हैं, तब ये बातें काम करेंगी कि यह समाधि ईश्वर की ही सहायता से प्राप्त हुई है।

क्योंकि वहाँ भी दो विचारधारायें हो सकती हैं — एक तो मैंने स्वयं के परिश्रम से समाधि उपार्जित की; दूसरी ईश्वरकृपा से उपार्जित की। यदि ईश्वर-प्रदत्त बल से समाधि की प्राप्ति मानते हैं, तो स्व-स्वामि-सम्बन्ध आदि दोष नहीं आएँगे और अपने परिश्रम से प्राप्त किया है; यह मान्यता खड़ी हो गई तो निश्चय से मिथ्याभिमानादि दोष आ जाएँगे ।



यम-नियम-पालन

अब योगाभ्यास के द्वितीय अंश को रखते हैं । मन–वाणी–शरीर से योग के आठ अङ्गों का पालन करना चाहिए। ऋषि ने उसकी यह रीति बतलाई है कि — जो योगाभ्यास आरम्भ करना चाहता है वह सभी प्राणियों के साथ वैरभाव को छोड़ देवे और प्रीति के साथ व्यवहार करे ।

एक है उपासना काल, दूसरा है व्यवहारकाल । जो दोनों क्षेत्रों में उचित प्रयत्न करता है; विधिपूर्वक उपासना का अनुष्ठान करता है और व्यवहार में यम–नियम आदि का पूर्ण पालन करता है, तब निश्चय से समाधि लगती है, ईश्वर साक्षात्कार होता है; ऐसा ऋषियों का मत है ।

आपने सत्यभाषण के विषय में सुना है कि पहले सत्यासत्य का प्रमाणों से ज्ञान करना चाहिए, पुनः मन में स्वीकार करना चाहिए, पुनः हितकारी, मधुर, जितना आवश्यक हो उतना तथा शास्त्रानुसार शुद्ध बोलना चाहिए। यदि अपात्र सामने आ जाय तो मौन रहना चाहिए । इस विषय में प्रसङ्ग आया था कि नवीन वैराग्यवान् यह विचार न करे कि यह अयोग्य है, मेरी हानि करेगा। वह तो निर्भय होकर बाहर-भीतर एक रहता हुआ प्रवाहपूर्वक ही बोलता है । अभ्यास हो जाने पर, भयमुक्त हो जाने पर इस प्रकार पुनः पात्र–अपात्र का विचार किया जाता है । यदि नवीन अभ्यासी भी पात्रापात्र का विचार करने लगेगा तो उसकी प्रगति रुक जाएगी और पुनः संसार में प्रविष्ट हो जाएगा।

साधक — प्रारम्भिक योगाभ्यासी अपने दोषों को छिपाने का प्रयत्न करते हुए प्रवाह-पूर्वक न बोलकर उचितानुचित का विचार करे तो कैसे दोषी होगा ?

स्वामी जी — मान लिया पहले वह चोरी आदि दुष्कर्म करता था, अब सब कुछ छोड़कर निर्दोष हो गया । अब यदि कोई उसे पूछे कि पहले तो

आप चोरी करते थे अब क्या स्थिति है ? तो वह यथावत् वैसा ही बतावे; न कि मौन रहे, न संशोधन करे। यदि ऐसा करता है तो पुनः लौकिक बन जाएगा, लोकैषणादि दोषों से ग्रस्त हो जाएगा। जब दोष छूट जाए, निर्दोष रहने का दृढ़ अभ्यास हो जाए, दोष बता देने पर भय, शंकादि न लगे तब उचितानुचित, पात्रापात्र का ध्यान रख सकता है तब कहाँ हानि, कहाँ लाभ होगा यह विवेचन करते हुए संभाषण कर सकता है।

कर्म करते समय यम-नियमों का भी ध्यान रखना चाहिए। मन–वाणी–शरीर आदि से होने वाली हिंसा व अहिंसा जैसा कि व्यास-भाष्य में लिखा है ८१ प्रकार की होती हैं, वैसे ही सत्य, असत्य आदि के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए। यह बात सभी कार्य क्षेत्रों में मान्य रहेगी। जिस यम–नियम का हम पालन करते हैं; वह कैसे व्यवहार में उतरे; यह बात ठीक तरह से समझ में आ जाने पर ८१ प्रकार की हिंसा आदि स्थितियों का भी ज्ञान हो सकेगा। इस प्रयोग से वह स्थिति आ जाएगी कि, किसी भी प्राणी के साथ वैरभाव दिखाई नहीं देगा।



कर्म

हमलोग जिस लक्ष्य की सिद्धि के लिए योजनाबद्ध होकर प्रयत्नशील हैं, उसका एक भाग है कर्म। इसलिए कर्म के स्वरूप को जानना चाहिए। उसकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को जान लेना चाहिए। मन–वाणी–शरीर से किये जानेवाले कर्मों पर ध्यान देने से पता चलता है कि जो कर्त्तव्य है, विहित है; उसे कर रहे हैं या नहीं? तथा जो अकर्त्तव्य है, विहित नहीं है; उसे छोड़े हुए हैं या नहीं?

परिभाषा – जो मन, इन्द्रिय और शरीर से जीव चेष्टा–विशेष करता है, सो 'कर्म' कहाता है। वह शुभ, अशुभ और मिश्र भेद से तीन प्रकार का है। (महर्षि दयानन्दकृत आर्योद्देश्य रत्नमाला, रत्न सं.–४८)

यहाँ कर्म का विभाजन फल के आधार पर किया गया है। जिनका फल सुख होता है वे शुभ-कर्म, और जिनका फल दुःख होता है वे अशुभ-कर्म और जिनका फल सुख–दुःख सम्मिलित होता है उन्हें मिश्र-कर्म समझने

चाहिएँ। 'चेष्टा विशेष' का अर्थ है लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए बुद्धिपूर्वक मन–वाणी और शरीर से प्रयत्न करना ।

मनुस्मृति में सात्त्विक, राजसिक और तामसिक इन तीन प्राकृतिक स्वभाव वाली योनियों के अनुसार पाप–पुण्य दिलाने वाले तीन प्रकार के कर्मों का वर्णन है । किस–किस वर्ण को कौन–कौन से धर्म = कर्त्तव्य अर्थात् कर्म करने चाहिएँ और कौन–कौन से कर्म नहीं करने चाहिएँ, इसका विशेष वर्णन है । अतः उसे धर्मशास्त्र भी कहते हैं ।

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् ॥
(वैशेषिक दर्शन १/१/१६)

अर्थ – एक द्रव्यम् = एक द्रव्य के आश्रित अर्थात् एक एक द्रव्य में रहनेवाला, **अगुणम्** = गुण से रहित अर्थात् कर्म में कोई गुण नहीं रहता, **संयोग–विभागेषु–अनपेक्षकारणम्** = संयोग और विभाग के बने रहने में अपेक्षित न होते हुए भी संयोग व विभाग का कारण बनने वाला । क्योंकि कर्म संयोग व विभाग कराके नष्ट हो जाता है । पुनरपि संयोग व विभाग बने रहते हैं ।

कर्म के पाँच भेद होते हैं – **उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ॥** (वैशे. दर्शन १/१/१७)

अर्थ – उत्क्षेपणम् = ऊपर उठना, **अवक्षेपणम्** = नीचे जाना, **आकुञ्चनम्** = सिकुड़ना, **प्रसारणम्** = फैलना, **गमनम्** = चलना ।

न्यायदर्शन के वात्स्यायनभाष्य में मन, वाणी और शरीर से सम्पन्न होने वाले दस प्रकार के शुभ और दस प्रकार के अशुभ, ये बीस प्रकार के कर्म बतलाए हैं –

साधन	शुभ-कर्म	अशुभ-कर्म
मन	दया, अस्पृहा, श्रद्धा	परद्रोह, लोभ, नास्तिकता
वाणी	सत्य, हितकर, प्रिय, स्वाध्याय	असत्य, कठोर, निन्दा,निरर्थक
शरीर	दान, रक्षा, सेवा	चोरी, हिंसा, व्यभिचार ।

योगदर्शन के व्यासभाष्य में चार प्रकार के कर्म बतलाए हैं – १. शुक्ल, २. कृष्ण, ३. शुक्लकृष्ण, ४. अशुक्ल-अकृष्ण ।

शुक्ल = विशेषकर ध्यानादि मानसिक कर्म ।

कृष्ण = पापकर्म ।

शुक्लकृष्ण = सकाम पुण्य कर्म (पापपुण्यमिश्रित)

अशुक्ल-अकृष्ण = निष्काम पुण्यकर्म।

इनमें निष्काम कर्म तो योगी संन्यासियों के होते हैं, शेष कर्म सांसारिक लोगों के होते हैं ।

महर्षि दयानन्द के अनुसार पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की पूर्ति से भिन्न जो कर्म केवल ईश्वर-प्राप्ति के ही निमित्त किये जाते हैं, वे निष्काम-कर्म कहाते हैं ।

निष्काम-सकाम कर्म के लक्षण – योगी बनना है तो निष्काम-कर्म करना अनिवार्य होगा अन्यथा योगी नहीं बन सकेंगे, ईश्वर साक्षात्कार नहीं होगा। अब आप देखिए आपको योगी बनना और बनाना है तो क्या निष्काम-कर्म कर रहे हैं और कितना कर रहे हैं ? कार्य करते समय लक्ष्य को देखकर पता चलेगा कि निष्काम-कर्म कर रहे हैं या सकाम-कर्म कर रहे हैं! धन, मान, भोग आदि लौकिक उद्देश्य की पूर्ति कर रहे हैं या ईश्वरप्राप्ति हेतु साधन मानकर कार्य कर रहे हैं ? इसी प्रकार अध्यापन, प्रचार आदि करते हुए आत्मनिरीक्षण से पता चलेगा कि मेरा लक्ष्य ईश्वरप्राप्ति है या लौकिक धनादि?

व्यक्ति अपने लिए जो कोई शुभ-कर्म कर रहा है, वह सकाम भी हो सकता है और निष्काम भी हो सकता है तथा जो कोई शुभ-कर्म दूसरों के लिए कर रहा है वह भी सकाम और निष्काम हो सकता है। जैसे कोई स्वयं वेद पढ़ रहा है, यह अपने लिए शुभकर्म है । यहाँ अज्ञान को हटाकर ज्ञान प्राप्त करके ईश्वर को प्राप्त करना यदि उद्देश्य है तो यह निष्कामकर्म है । यही धन, मान आदि लौकिक उद्देश्य से किया जा रहा हो तो सकाम हो जाएगा । यश, प्रतिष्ठा, कीर्ति, अधिकार आदि कोई भी लौकिक उद्देश्य न होकर केवल ईश्वरप्राप्ति उद्देश्य हो तो इससे निष्कामता आती है । इसी प्रकार पढ़ाने के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए, यह दूसरे के लिए शुभ-कर्म है। यह भी उपर्युक्त हेतु से सकाम और निष्काम बनेगा । इसी प्रकार लाखों का दान देना, दिलाना, रोगियों की सेवा आदि।

निष्काम-कर्म की अनिवार्यता – योगविद्या सीखने के इच्छुक, ईश्वरप्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को बुद्धिपूर्वक प्रयास से अपने और दूसरों के कल्याण के लिए निष्काम-कर्म करना पड़ता है । यह निश्चित है कि कोई भी बिना निष्कामकर्म किये, अर्थात् अपने जीवन में निष्कामता लाए बिना योगक्षेत्र में

प्रवेश नहीं कर सकता है; ऐसा कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है क्योंकि उस निष्कामसेवी योगाभ्यासी का हावभाव इतना ऊँचा होता है कि वह अपने कार्य के साथ-साथ योगाभ्यास, प्रशिक्षण, परोपकारभाव से ओतप्रोत होता है। यद्यपि वह अपने स्वयं के कार्य के लिए समय बचा के रखता है और समझता है कि अपने लिए समय नहीं रखा तो मेरी स्थिति निर्बल पड़ जाएगी, मैं स्वयं योगाभ्यास नहीं करूँगा तो अच्छी योग्यता नहीं बन पाएगी और इधर मैं यदि वेद या वेदानुकूल ग्रन्थ नहीं पढ़ूँगा तो विद्वान् नहीं हो सकूँगा। इसलिए अपने लिए भी समय को बचाता है और अन्यों का भी उपकार करता है। परन्तु उसके बदले में कोई लौकिक फल नहीं चाहता है। उसकी दृष्टि क्या रहती है ? सब साधन, शरीर, इन्द्रियाँ, विद्या, योगबल ईश्वरप्रदत्त हैं; इसलिए मैं किसी पर क्या अहसान कर रहा हूँ। यह जो "मैं और मेरे" की पुट है, सकाम भावना है, व्यक्ति को निष्काम-कर्म की ओर नहीं बढ़ने देती है, पर प्रायः व्यक्ति इसको पकड़कर रख लेता है। यथा मान, धन, कीर्ति, यश, सुख कुछ न कुछ उसके बदले में चाहने के लिए तैयार हो जाता है।

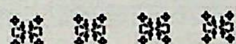
परोपकार के साथ-साथ दूसरा विभाग है वेद, वेदानुकूल= ऋषिग्रन्थों को पढ़ना-पढ़ाना। उसको जो नहीं पढ़ता-पढ़ाता वह व्यक्ति भी योगी बन जाएगा; यह सम्भावना नहीं है। परन्तु उसको भी यों छोड़ दिया कि "पुस्तकों में क्या रखा है! इन शब्दों में क्या है! कुछ नहीं। यह तो अनुभव की बात है। बस अनुभव करो" यह रट्टा लगाना उसने सीख लिया है। ऐसे कितने ही साधक के रूप में या योगाभ्यास करने के इच्छुक कहीं पहाड़ों में, गुफाओं में, आश्रमों में बैठे हैं, अपना समय काट रहे हैं। इतने-इतने घण्टे लगाए, इतना यह हुआ, वह हुआ, इतना आसन का अभ्यास हो गया है। परन्तु उनके पास निष्कामतामात्र तो क्या परोकार नाम की वस्तु भी प्रायः नहीं होती है। विधिपूर्वक ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना करना यह विभाग उनको आता ही नहीं है। भले ही छः घण्टे बैठें किन्तु स्तुति-प्रार्थना-उपासना की विधि नहीं आती तो भी विफल हो जाते हैं।

ज्ञान-कर्म-उपासना इन तीनों क्षेत्रों में आप वेद और ऋषियों के ग्रन्थों को ध्यान में रखिए; निष्कामकर्म के सम्बन्ध में वे क्या कहते हैं, उसमें "कुर्व्वन् एव-इह कर्माणि" मन्त्र याद है? है तो सुनाओ।

साधक – कुर्व्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।। यजु० ४०/२

इस संसार में वेदोक्त कर्मों को करते हुए, सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए, इस प्रकार तुझ जीवात्मा को ऐसे कर्म करते हुए अधर्मयुक्त कर्म लिप्त नहीं होते ।

स्वामी जी – बिना निष्कामकर्म किये व्यक्ति सकाम-कर्मों और बुरे कर्मों से छूट जाए; इसका अन्य कोई उपाय नहीं है । यद्यपि व्यक्ति सत्संग, उपदेश, स्वाध्याय के बल पर शुभ-कार्य करने लग जाएगा, अच्छी बात है और इसका अच्छा फल लौकिक मिलेगा, पर वह व्यक्ति निष्काम-कर्म किये बिना योग में प्रवेश कर जाए यह नहीं हो सकता । आगे चलकर वह सकाम-कर्म में लिप्त हो जाएगा । समाज में, देश में हजारों लोग समाजिक कार्य कर रहे हैं, पर स्थिति क्या है ? कीर्ति, सम्मान, पदों की प्राप्ति पर टूट पड़ते हैं। अच्छे सकाम-कर्म करते-करते एषणा पूर्ति के लिए पुनः बुरे काम भी करने लग जाते हैं । समझ में आया या नहीं ! जैसा कि मिथ्या मतदान कराके राष्ट्र का काम करने को सोचते हैं । तो सकामता की वृद्धि के कारण समाज का ढाँचा बिगड़ गया । देश के लोग आपस में झगड़ने लगे और झगड़ते-झगड़ते ऊपर से नीचे तक लड़ाई के सिवाय और कुछ दिखाई नहीं देता। इधर समाजिक कार्य को लेकर आगे बढ़े थे तो जय-पराजय को लेकर बुरे कार्य भी करने लगे, उधर शुभ-काम सकाम-कर्म करने चले थे और बुरे कार्य तीन एषणा पूर्ति करने लग गए । इसमें कोई लम्बी व्याख्या तो अपेक्षित नहीं, माताएँ भी समझ रही होंगी जो चुपचाप बैठी हैं । तो यदि आपने वेदोक्त और निष्काम-कर्म नहीं किये तो न तो बुरे कर्मों से बच सकते न सकाम कर्मों से बच सकते । निष्काम कर्म किये बिना बैठे रहो ! ऐसे भी नहीं रह सकते ।



निष्काम-कर्म कब बनेगा, उसकी स्थिति कब आएगी ? आप इसे समझने के लिए कभी ऐसे व्यक्तियों के पास रहें या उनका अध्ययन (खोज) करें जो निष्काम-कर्म बहुत करते हैं, जिनके सकाम-कर्म इने-गिने रहते हों । उनको कहाँ ढूँढ़ोगे ? समाज में ऐसे लोगों को ढूँढ़ने लगेंगे तो मिलना मुश्किल हो जाएगा। इसीलिए ये स्त्री पुरुष योगी नहीं बनते; क्योंकि निष्काम-कर्म करते ही नहीं। क्या हुआ कहीं आंशिक रूप में मन में आ गया, पुनः चलते-चलते, चलो यह परोपकार हो गया । अन्यथा उसमें भी देखेगा मेरे इस कार्य को कोई देखने वाला है या नहीं, चर्चा करने वाला है या नहीं ? यद्यपि शुभ-काम सकाम-कर्म करने चाहिएँ, परन्तु तब; जब लौकिक फल चाहिए, अच्छा जन्म चाहिए, अच्छे माता–पिता, अच्छे बेटे-पोते चाहिएँ । इनके लिए मना नहीं है; पर कम से कम अच्छे काम तो करें बुरे कर्मों को छोड़कर ! यह चाहिए तो यह कर लो । किन्तु यदि योगी बनना हो, ईश्वर का दर्शन करना हो तो इस सकामता को छोड़ना पड़ेगा, ये नहीं कर सकते हैं आप।

मेरे अन्दर निष्कामता है या सकामता है; इसको जानने के लिए अपने व्यवहार का सतत परीक्षण करते रहना चाहिए । आप कार्य करते समय स्वयं को देखें कि मैं यह कार्य सकाम-भाव से कर रहा हूँ या निष्काम-भाव से कर रहा हूँ ? जैसे ही सकामता दिखाई दे तत्काल उसे निष्काम-कर्म में बदल दें। जब आप अध्यापन या प्रचार आदि कार्य कर रहे हों और लगे कि इसके बदले में मुझे धन, मान, कीर्ति, सुविधा, शिष्य, सेवक आदि मिलें, मिलने ही चाहिएँ तो समझें कि मेरा यह कर्म सकाम हो रहा है । अब उसे निष्कामता में परिवर्तित करने हेतु अपनी भावना को बदलें — ये तो साधनमात्र हैं । मेरा उद्देश्य तो ईश्वरप्राप्ति है । मुझे लौकिक प्रयोजन सिद्ध नहीं करने हैं । जीवन-निर्वाह एवं कार्य-सम्पादन हेतु आवश्यक साधनों को ग्रहण करना आपत्तिजनक नहीं है । इससे ईश्वर-साक्षात्कार और नित्यानन्द की प्राप्ति होगी। इस प्रकार अभ्यास करते हुए शनैः शनैः सकामता का ह्रास और निष्कामता की वृद्धि होती जाएगी अन्यथा इसके विपरीत सकामता की वृद्धि और निष्कामता का ह्रास होता जाएगा ।

सकाम-कर्म के विरुद्ध निष्काम-कर्म की पुष्टि के प्रमाणों का भी ध्यान रखना चाहिए । आपने आर्यसमाज के प्रथम नियम में पढ़ा है "सब सत्य

विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है" अर्थात् जितनी भी भूत-भौतिक और आत्मा--परमात्मा से सम्बन्धित सत्य विद्यायें हैं उनका और महत्तत्वादि सकल निर्मित पदार्थों का आदि मूल परमेश्वर है। इससे निष्कामता की सिद्धि होती है । आप ध्यान देंगे यदि सभी सत्य विद्याओं और निर्मित पदार्थों का आदि मूल ईश्वर को नहीं माना जाए तो स्वयं को ही उसका स्वामी मानना पड़ेगा। इससे स्वस्वामिसम्बन्ध का दोष आएगा। अतः जैसा व्याख्या में पढ़ा-सुना कि जो ईश्वर को ही स्वामी जानता मानता है तो उस स्थिति में उसका स्वभाव ईश्वर के समान अर्थात् सर्वथा संसार का उपकार करने वाला बनेगा। इस प्रकार निष्काम-कर्म में सफलता प्राप्त होगी। वह देखता है कि ईश्वर तो अनादि काल से आज तक बिना किसी स्व-प्रयोजन के संसार का उपकार करता आ रहा है तो क्यों नहीं ईश्वर का अनुसरण कर, उसी से निष्कामता की सिद्धि कर मैं भी कुछ करने में समर्थ हो जाऊँ। जब इस प्रकार के स्वभाव वाले ईश्वर के साथ रहेगा, उसकी आज्ञा का पालन करेगा, तब वह ईश्वर से प्रभावित होगा।

आप कितना निष्काम-कर्म करते हो दिनभर ! कोई निष्काम-कर्म करते हो या वैसे ही पड़े रहते हो ?

साधक – दिखता नहीं है, निष्काम करते हैं या नहीं ?

स्वामी जी – निष्काम-कर्म करने चाहिएँ । आपने सुना होगा, नहीं तो पुनः दुहराया जाता है । आपको बतलाया गया है कि अपने जीवन में और दूसरे के जीवन में हम क्या समन्वय करते हैं, कैसे हम आगे बढ़ते हैं ? जैसे स्वयं अपने लिए और दूसरे के लिए निष्काम-कर्म करते हैं, वैसे ही दूसरे से मिलकर भी अपने लिए और दूसरे के लिए वही निष्काम-कर्म करते हैं । जिन कामों के करने से वा जिस ज्ञान–कर्म–उपासना से हमको और दूसरों को धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष की सिद्धि हो जावे; उसको करो और जिन कामों के करने से वा जिस ज्ञान–कर्म–उपासना से हमको और दूसरों को धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की सिद्धि न मिले; उसको मत करो। यह कसौटी सब जगह साथ रहेगी । व्यक्ति देखता रहता है कि इस व्यवहार से मेरा पुरुषार्थ चतुष्टय सिद्ध होता या बाधित होता है ? अथवा जिस व्यक्ति को सहयोग दूँगा या इसको आगे बढ़ाने की बात करूँगा तो क्या उसका धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष सिद्ध होगा? नहीं होगा तो उसके साथ मिल के काम नहीं करना

है, होता है तो उसके साथ कार्य को करो । आप कहीं भी जाएँगे, देखेंगे कि यह अच्छा है या बुरा है ? अर्थात् वहाँ यह बुद्धि रहेगी कि यह कार्य वैदिक धर्मानुरूप है ? इस कार्य के करने से धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष की मेरी और अन्यों की सिद्धि होगी या नहीं ? यदि हाँ तो वह करना चाहिए, विरुद्ध को छोड़ देना चाहिए। इसी बात को ज्ञान, कर्म और उपासना के क्षेत्र में भी ले जाना चाहिए । क्या इस ज्ञान, कर्म और उपासना से धर्मादि चतुष्टय की सिद्धि होती है ? यदि होती है तो करो-कराओ, नहीं तो न करो, न कराओ।

व्यक्ति पाप-कर्मों और सकाम-कर्मों को कब छोड़ता है ? ध्यान दें; एक बात है शरीर, इन्द्रियाँ, विद्या, बुद्धि, बल, धन-सम्पत्ति को ईश्वर का मान लेता है तब वह व्यक्ति निष्काम-कर्म के स्तर पर प्रयासशील होता है, नहीं तो नहीं हो पाएगा। अपना मानने वाला व्यक्ति अच्छा निष्काम-कर्मी बन जाय, यह नहीं हो सकता।

दूसरा भाग है जो व्यक्ति इन लौकिक सुखों को क्षणिक समझता; परिणामादि चार दुःखों से युक्त मानता, दुःख ही समझता है । वही व्यक्ति पाप-कर्म छोड़ता है और सकाम को भी छोड़कर निष्काम कर्म (प्रारम्भ) करता है ।

अब आप एक बात समझने का प्रयत्न करेंगे और आत्मनिरीक्षण से अपने जीवन के दैनिक व्यवहार में भी परीक्षण करने का प्रयत्न करेंगे। वैदिक परम्परा में ईश्वर-प्राप्ति, उच्चकोटि का योगी बनने के लिए व्यक्ति को शुद्ध = निष्कामकर्म, शुद्ध-ज्ञान और शुद्ध-उपासना इन तीन की पूर्णता करनी ही पड़ती है । अब थोड़ा सा प्रयोग अपने जीवन में देखिए क्या आप दैनिक जीवन में दूसरों का उपकार – जिसमें कि ईश्वर-प्राप्ति ही लक्ष्य हो – कितना करते हैं ? क्या आप इसका कोई परीक्षण करते हैं या नहीं? या ध्यान ही नहीं देते; जैसे साधारण लौकिक व्यक्तियों के जीवन में होता है।

साधक १ – वर्तमान में शारीरिक और वाचनिक स्तर पर तो कोई विशेष परोपकार नहीं कर रहा हूँ, परन्तु अपने स्तर पर सबके लिए विचारता हूँ, भावना रखता हूँ ।

स्वामी जी – तो क्या आप कर ही नहीं सकते या इस दृष्टि से करना नहीं चाहते हैं कि मेरा योगाभ्यास, विवेक-वैराग्य निर्बल रह जाएँगे?

साधक २ – मेरा योगाभ्यास, विवेक-वैराग्य निर्बल रह जाएगा; मुख्यतया यही बात रहती है ।

स्वामी जी – इस संबंध में यह याद रखना चाहिए कि एक स्थिति वह भी है जिसमें व्यक्ति योग को भी स्वार्थप्रधान बना लेता है तो विवेक-वैराग्य को प्राप्त नहीं होता है । यद्यपि हम सन्तुलन तो रखें; समाज का, साथी का, गुरुओं का उपकार एक सीमा तक करेंगे तथा अपने योगाभ्यास, अध्ययन का समय भी सुरक्षित रखेंगे । जो व्यक्ति का कर्तव्य है, वह करना पड़ता है, वह करना ही चाहिए । परन्तु योगाभ्यास, विवेक-वैराग्य के क्षेत्र में भी निष्कामकर्म नहीं करते हैं; कारण कि प्रायः बाल्यावस्था से तो माता-पिता बच्चे को सिखाते ही नहीं कि निष्काम-कर्म करो, ईश्वर-प्राप्ति के लिए उपकार करो । एकाध को छोड़ो लाखों में किसी भी बच्चे के जीवन में ऐसा कोई पुट नहीं दिया जाता। स्वार्थ का तो दिया जाता है । स्वार्थ का पुट आते-आते व्यक्ति चाहे गुरुकुल में पढ़ता है या अन्यत्र पढ़ता है, उसका जीवन स्वार्थ-प्रधान हो जाता है । बराबर तक भी नहीं पहुँचता, अर्थात् अपने लिए वह जितना करता, चाहता है, उतना ही दूसरों के लिए करे, चाहे, इतना भी नहीं करता । इसलिए यहाँ भी व्यक्ति की मान्यता बन जाती है कि मैं परोपकार करूँगा तो मेरा अध्ययन नहीं हो पाएगा, मेरा योगाभ्यास रह जाएगा, विवेक-वैराग्य नहीं होगा, मन को नहीं जीत पाऊँगा ।

जो विवेक-वैराग्य की स्थिति मानी जाती है या हमारे जीवन में अवतरित होती है यह पूरी की पूरी निष्काम-कर्म पर आधृत होती है अर्थात् जब तक व्यक्ति निष्काम-भावना से तन—मन—धन से दूसरे का उपकार नहीं करता तब तक वह विवेक-वैराग्य प्राप्त कर ही नहीं सकता । परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह औरों के उपकार में दिन-रात लगा रहे, स्वयं न विद्या पढ़े, न योगाभ्यास करे । यह अलग बात है औरों का कितना करे व अपना कितना करे, इसमें सन्तुलन तो बनाये रखना पड़ेगा ।

अब आप बताएँगे ?

साधक २ – जो कुछ सेवादि कर्म मैं करता हूँ उसमें निष्कामता की पूरी मात्रा नहीं होती है । कुछ सकामता का अंश जुड़ा रहता है । दिन में कुछ ऐसे व्यवस्थादि के कर्म करने होते हैं, जिनको मैं करता हूँ; वहाँ निष्कामता की स्थिति लाने का प्रयास करता हूँ परन्तु पूर्वाभ्यास के कारण उसमें सकामता का पुट रह जाता है ।

स्वामी जी – इस सकामता के पुट का पता आत्मनिरीक्षण से चलता है और इससे हमको टकराना पड़ता है । सकाम-कर्म से हमको युद्ध करना

पड़ता है। पूरा बल लगाइए अन्यथा पुनरपि सकामता पीछे लगी रहेगी। [माताजी को जगा देना कभी सो जाएँ कुर्सी पर बैठी-बैठी। आप पड़ोसी को जगाते रहो, अन्यत्र सकाम-कर्म करके यहाँ तो निष्काम-कर्म कर लिया करो!] तो आप उदाहरण के रूप में देख सकते हैं कि एक व्यक्ति १० लाख रुपये, ५० लाख रुपये दान देता है तो जब देना आरम्भ करता है तब क्या सोचता है – कोई देखे, कोई सुने अर्थात् उसके अन्दर कुछ धन, यश, कीर्ति, सेवा आदि की कामना रहती है। आत्मनिरीक्षण करके देख सकते हैं सभी चाहते ही हैं। मुख्य तो आप हैं, स्वयं को देखें। अब दूसरे बोलेंगे –

साधक ३ – दोनों स्थिति रहती है स्वामीजी ! जब प्रयास करता हूँ तो स्थिति बन जाती है और जब निष्काम-भावना बना लेता हूँ तो भी मध्य-मध्य सकामता बनती रहती है, उसको रोकने का प्रयास करता हूँ।

साधक ४ – शारीरिक, वाचनिक और मानसिक सभी प्रकार के कर्मों का आकलन करने पर यह समझ में आता है कि कुल मिलाकर १०–२०% निष्कामता रहती है, अधिकांशतः सकामता बनी रहती है।

साधक ५ – वर्त्तमान में नहीं कर रहा हूँ परन्तु सामाजिक कार्य प्रायः करता हूँ तो उसमें लोकैषणा–वित्तैषणा का भी भय रहता है, इसलिए उससे बचने का भी प्रयास करता हूँ।

स्वामी जी – तो आपने यह सुनाया कि समाज का कार्य करता हूँ तो वहाँ लोकैषणा कभी न आ जाए यह भय बना रहता है। आप ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव का अध्ययन करेंगे तो देखेंगे कि सृष्टि अनादि काल से बनती-बिगड़ती चली आ रही है और इसका अन्त भी नहीं है परन्तु उसमें भूतकाल, आज या आनेवाला काल जो भी है, आज तक कभी भी ईश्वर ने इस विचार से सेवा कार्य (हमारा भला) नहीं किया कि इसके बदले में मुझे कुछ मिलेगा। क्यों जी ! क्या समझ में आया दोहराओ?

साधक – ईश्वर के गुण–कर्म–स्वभाव का.............नहीं किया कि इसके बदले में मुझे कुछ मिलेगा।

स्वामी जी – अब ध्यान देंगे। आप ईश्वर का मित्र बनना चाहते हैं, ईश्वर के सान्निध्य में रहना चाहते हैं, ईश्वर जैसा आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं, तो उस स्थिति में आपको पूरा बल लगाकर ईश्वर जैसा स्वभाव बनाना ही पड़ेगा; इसमें विकल्प नहीं है। व्यक्ति की योग में गति न होने में यह

भी एक कारण है। व्यक्ति ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव को नहीं जानता, नहीं समझता और समझ कर वैसा ही बनने का प्रयत्न नहीं करता है । हाँ लौकिक व्यक्तियों का अनुकरण करता है । वह देखता है ये अपने लिए कितना कमाते हैं, कितने भवन बनाते हैं, कितनी कारें खरीदते हैं ? तो मैं भी कुछ ऐसा ही करूँ जिससे ये साधन मेरे पास आ जाएँ और मेरा भी भला हो जाए।

ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार योगी व्यक्ति को अपना स्वभाव बनाना ही पड़ेगा । इसमें विकल्प नहीं है; अब वह कैसे बनेगा; इसके कारणों पर थोड़ा सा विचार –

यद्यपि ये अच्छे गम्भीर विषय हैं । जो व्यक्ति प्रलय जैसी स्थिति देखता है अर्थात् संसार बनने से पूर्व प्रलय था और अभी-अभी प्रलय आ रहा है यह निश्चित बात है । तो जब वह प्रलयवत् अवस्था को देखता है तो परोपकार और निष्काम-कर्म की विचारधारा उभर जाती है । [समझ में आ गया होगा आपको, औरों को समझाना तो गौण है । अपने सत्यनारायण जी लाहोटी समझ लें तो ठीक है, नहीं तो कोई बात नहीं । आप को बार-बार सुनाया जाता है इसलिए कम कहने से ही समझ जाते हो ।]

निष्काम-कर्म की प्रवृत्ति, विकास कैसे होगा ? इस के लिए वह व्यक्ति ऐसे सोचता है कि शरीर, इन्द्रियाँ, बुद्धि, धनादि ये तो मेरे हैं नहीं, पुनः इनसे जो मैं उपकार करता हूँ वह किसका उपकार माना जाएगा ? वह देखता है कि मैं जीवात्मा न के बराबर थोड़ा सा बल रखता हूँ, परमाणु की तरह छोटा सा वैसे ही हूँ, शक्ति नाममात्र की है, ज्ञान नाममात्र का है । ये सारे उपकरण-साधन ईश्वर के हैं, इनसे मैं उपकार करता हूँ तो क्यों मान रहा हूँ कि मुझे मिलेगा, मुझे मिलेगा । मैं तो ईश्वर का नाम ही नहीं लेना चाहता, ऐसा क्यों करता हूँ ! मुझे तो यह मानना चाहिए की ईश्वर प्रदत्त साधनों से जो उपकार कर रहा हूँ उसका श्रेय ईश्वर को मिलना चाहिए, मुझे क्यों ?

अच्छा चलो ऊब न जाएँ इसलिए कभी-कभी घटना सुना दी जाती है। योगविज्ञान सिखाने के लिए उपनिषत्कारों ने ऐसे ऐसे दृष्टान्त बनाये; यह है, वह है, देखो आदि। उसको थोड़ा रोचक बना के विश्राम दे देते हैं ।

जो सुना, वह सुना रहा हूँ । एक दिन एक विद्वान् सुना रहे थे भाई देखो व्यक्ति क्या करता है ? एक व्यक्ति ने २१ रु. दान दिये और उसने

कहा घोषणा करो गुप्तदान २१ रुपये । तो जब यह घोषणा हो गई तो देनेवाले का मित्र वहीं बैठा था, उसने अपने मित्र से पूछा आपको पता है यह गुप्तदान किसका है ?

अच्छा लौकिकों को तो यह दृष्टान्त कड़वा लगता होगा तो दूसरा दृष्टान्त देता हूँ । एक जगह बहुत से लोग बैठे थे और वहाँ एक विद्वान् भी बैठा था; जिसको सब लोग नमस्ते कर रहे थे । उनमें एक बहुत बड़ा विद्वान् भी था । उसको सब लोग देख रहे थे इसलिए वह भी उस छोटे विद्वान् को नमस्ते करने गया । अब वह विचारता है मैं कैसे नमस्ते करूँ ? तो इसके पैर छू के नमस्ते करूँगा क्योंकि दूसरे सब लोग जानते हैं कि मैं इससे अधिक विद्वान् हूँ पुनरपि पैर छू रहा हूँ तो कहेंगे देखो इतना बड़ा विद्वान् हो के भी पैर छू रहा है, कितना विनम्र है ! यहाँ दूसरा दृष्टिकोण भी हो सकता है कि उसका सम्मान करना तो मेरा धर्म है। किन्तु सकामता यहाँ तक पीछा करती है । सांसारिक व्यक्तियों को यह अच्छा नहीं लगता कि नमस्ते आदि करते समय वह ऐसे भाव न बनाए। किन्तु आपको योगी बनने के लिए निष्कामता का स्तर १००% बनाना पड़ेगा नहीं तो योगी नहीं बन सकते । यदि योगी बनना हो तो सकाम-कर्म नहीं कर सकते ।

निष्कामता के क्षेत्र में एक बात और है जिसमें प्रारम्भिक व्यक्ति १-२ घण्टे समाज की सेवा करता है, अधिक समय अपनी तैयारी में लगाता है। किन्तु वह जो विद्या पढ़ता है, ध्यान में समय लगाता है, अपनी तैयारी करता हैं उस समय उस विषय में उसका मानसिक स्तर क्या रहता है? उसकी यह विचारधारा बनी रहती है कि मैं शीघ्र ही योगी विद्वान् बनके संसार का उपकार करूँगा, देश, जाति और धर्म के लिए सर्वस्व की आहुति समर्पित करूँगा । जितनी विद्या आएगी उसको औरों को आगे बढ़ने के लिए लगाऊँगा।



श्रद्धा

इस प्रकार के कार्य को व्यक्ति आरम्भ में शब्द-प्रमाण के आधार पर करता है क्योंकि उस समय यदि इसके फल को देखना चाहे तो नहीं दिखेगा। परन्तु शब्द-प्रमाण के आधार पर जानता है कि निष्काम-कर्म का फल शुद्ध ज्ञानकर्मोपासना और उससे ईश्वर की प्राप्ति होगी । कालान्तर में शुद्ध-ज्ञान, शुद्ध-कर्म, शुद्ध-उपासना को देखकर व्यक्ति को इसमें रुचि हो जाती है । जैसे आपने देखा या सुना होगा कि गुरुकुलों में अष्टाध्यायी व्याकरण पढ़ाते हैं । वहाँ छोटे–छोटे बालक-बालिकाओं को स्मरण कराने के लिए जोर-जोर से रटवाते हैं । बच्चे श्रद्धा से रटें या अनुशासन से, या बलपूर्वक, स्मरण करना होता है। यदि श्रद्धा से करते हैं तो बिना किसी भय के कर लेते हैं; परन्तु तब कुछ पता नहीं होता कि रटने से इसका क्या परिणाम होगा? बच्चे लम्बे काल में स्मरण करते हैं, पुनः आवृत्ति करते रहते हैं । किन्तु वे ही जब सूत्रों के अर्थों को पढ़ने लगते हैं तब पता चलता है यह जो सूत्र है, इसका यह अर्थ है, जिनको बोल रहा हूँ, ये इन-इन धातु–प्रत्ययों से बनते हैं । आगे दर्शन, वेद, उपनिषद् को पढ़ता है तब पता चलता है अष्टाध्यायी रटने का क्या महत्त्व है ? उस समय जिसने भय से भी परिश्रम कर लिया, उसको भी अच्छा फल प्राप्तं होता है । लौकिक दृष्टि से भी विद्वान्, लेखक, अध्यापकादि बनता है, धन-मान प्राप्त करता है ।

ऐसे ही विद्वान् = योगाभ्यासी व्यक्ति आरम्भ में शब्दप्रमाण के आधार पर यमनियमादि अष्टांग योग का पालन करता हुआ विवेक-वैराग्य की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करता है । क्योंकि उसने पढ़ा है कि शुद्ध ज्ञानकर्मोपासना से ईश्वरप्राप्ति होती है । यदि आप भी ऐसा करेंगे तो फल आगे दिखाई देगा । न्यून पुरुषार्थ करने पर न्यून फल, छोड़ देने पर विपरीत फल सामने आएँगे । ईश्वरप्राप्ति प्रयास छोड़ देने पर भोगप्राप्ति लक्ष्य हो जाने पर परिणाम विपरीत होगा । आप जो चाहते हैं समस्त दुःखों से छूटकर नित्यानन्द को प्राप्त कर लूँ, यह बात नहीं होगी ।



प्रार्थना

ईश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना करना यह योगाभ्यास है। प्रार्थना उसका एक भाग है। प्रार्थना किस प्रकार से करनी चाहिए, उसके क्या नियम हैं? उत्तम गुणों की प्राप्ति के लिए अत्यन्त पुरुषार्थ करना और उन गुणों की प्राप्ति न होने पर ईश्वर से सहायता मांगना प्रार्थना है। इसी प्रकार से अज्ञान, अन्याय, अधर्म, कुसंस्कार, कूपासनादि दुर्गुणों को दूर करने का पूरा प्रयास करना और अज्ञानादि दोष दूर न होने पर ईश्वर से सहायता मांगना। यहाँ एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो ईश्वर से प्रार्थनीय नहीं होता उसकी प्राप्ति के लिए मनुष्यों से प्रार्थना करनी चाहिए। क्योंकि जो मनुष्यों से प्रार्थनीय है वही ईश्वर से प्रार्थनीय नहीं होता। जैसे एक व्यक्ति भूखा है और उसे भोजन चाहिए तो अब मनुष्य के पास जाएगा वहाँ रोटी मांगेगा। वस्त्र नहीं हैं तो वस्त्र, औषधि, चिकित्सा चाहिए तो उन्हें मनुष्य से मांगेगा। इनके लिए ईश्वर से प्रार्थना नहीं करनी चाहिए। ऐसा विभाजन कर लेना चाहिए।

कुछ लोग कहते हैं कि प्रार्थना करने से क्या लाभ है? कर्म करते जाओ, फल अपने आप मिल जाएगा। तो महर्षि दयानन्द कहते हैं देखो प्रार्थना करने से मिथ्याभिमान दूर होता है। इसी प्रकार प्रार्थना करने से व्यक्ति की परिश्रम में रुचि होती है। पुरुषार्थ करने पर पुनः प्रार्थना करने से ईश्वर की ओर से सहायता मिलती है। कुछ लोग वानप्रस्थी बन गए, कुछ संन्यासी भी बन गए हैं किन्तु तब भी उनके अन्दर यह विचारधारा बैठी रहती है कि ओहो! मैं भिक्षा मांगू! मेरा तो अपमान हो जाएगा, नीच हो जाऊँगा! यह नहीं हो सकता। यदि वे ऐसा सोचते हैं तो उनका स्वभाव कोमल हो जाएगा, निरभिमानी हो जायेंगे; कभी नहीं। ऐसा नहीं होगा भले ही जीवन बीत जाय।

आप यह बतलाओ; कोई ऐसा व्यक्ति संसार में हुआ है कि जिसने किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया हो? संभव नहीं। जीवात्मा मांग-मांगकर गुजारा करता है और ऐंठ दिखाता है कि मैं किसी से नहीं मांगता। अब इन माताओं से कहो माताजी! चलो आज उस झोपड़ी वाले के यहाँ भोजन खाएँगे। वे कहेंगी नहीं-नहीं; किसी ने देख लिया तो क्या कहेगा! थर-थर कांपने लगेंगी। सोचती हैं हम इतने दीन-हीन थोड़े ही हैं कि उस झोपड़ी वाले के यहाँ भोजन खाएँ। ये जो माताएँ या पुरुष आभूषण पहने रहते हैं;

इनसे कहो कि अब वानप्रस्थ का समय आ गया, इनको उतार दो नहीं तो चोर-डाकुओं का भय है, तो वे कहेंगे नहीं-नहीं घर वाले नाराज हो जाते हैं। सम्बन्धी कहेंगे देखो इनके हाथ कितने खराब लग रहे हैं, खाली हाथ हैं कुछ है नहीं इनके पास। बस इन्हीं में उलझे हैं; परमात्मा की जो प्रार्थना करनी थी, वह स्वभाव तो बना नहीं, ऐंठी अभिमानी बने रह गए।

ईश्वर कहता है प्रार्थना करो, तो याद रखो अब आपको परिश्रम करना पड़ेगा। आपको स्मरण रहे ईश्वरप्राप्ति जैसा परिश्रमसाध्य कोई कार्य संसार में न है न हुआ न होगा और उससे बड़ा फल वाला कोई कार्य न है न था न होगा। तो क्या मन्त्र याद करेंगे कभी ऐसे-वैसे में सोते रहें—

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्व मा सुचरिते भज।
उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृतामनु ॥ यजु० ४/२८

आप यह देख सकते हैं इस मन्त्र में कठिन शब्द एकाध ही हो, नहीं तो सरल ही सरल हैं। एक बार सुनकर, पढ़कर तत्काल समझ में आएगा, एकाध को छोड़कर। कहीं बहुवचन में प्रार्थना होती है, कहीं एकवचन में, यहाँ एकवचन में है। परि का अर्थ है सब ओर से। मा का अर्थ है मुझे। अग्ने = ज्ञानस्वरूप सम्बोधन में। दुश्चरिताद् = बुरे आचरण से। बाधस्व = रोक लो। सुचरिते = न्यायाचरण में। भज = लगा दो। उदायुषा = जीने का बल दो। स्वायुषा = सुखप्रद जीवन दो। जीवन तो गदहे-घोड़े भी जीते हैं, पर मुझे उत्तम सुखप्रद आयु दो। उदस्थाम् = जो जीवनमुक्त योगी हैं और मुक्ति के अधिकारी बनकर मोक्ष में जा चुके हैं वैसा बन जाऊँ। अब बताओ थोड़ी सी संस्कृत जाननेवाले को भी शीघ्र आ गया कि नहीं। हो गया याद ? अब धीरे-धीरे बोलकर देखो स्थिति बनती है या नहीं?

हे ईश्वर ! बाहर भीतर सब ओर से मुझे दुश्चरित्र, अन्याय, अधर्म से हटाकर सुचरित्र = अपने आदेशानुकूल आचरण में लगा दो। सुखप्रद लम्बी आयु दो और मुक्ति का अधिकारी बना दो।

एक स्थिति है अन्य वृत्तियों को रोककर त्रिकर्म करना। दूसरी है अपने ज्ञान-प्रयत्न को रोककर एक विषय में चलाना। जब एक विषय होता है तब वृत्ति उठ रही है ऐसा देखते ही रोक देता है। जब जप-पाठ बन्द करता और सब विषय को रोकना है तब ज्ञान-प्रयत्न अधिकार में कर लेता है। पुनः जब उपासना आरम्भ करता है पुनः पूर्व स्थिति छूट जाती है अन्य वृत्ति

उठा लेता है । इस स्थिति में दूसरा साधक इतना सावधान है कि उठने ही नहीं देता है । ईश्वर की उपासना आरम्भ करने पर वृत्ति निरोध के विषय में - उठने न देना पूर्व ही रोकना, उठते ही रोकना, उठने के पश्चात् रोकना आदि स्थितियाँ बनती हैं । यदि ईश्वर में प्यार न हो तो वह रोक नहीं सकेगा क्योंकि यह भी अधिकारचित्त वाला नहीं अन्य इच्छा रखनेवाला है ।

हम बुरे चरित्र से हट जाएँगे, अच्छे चरित्र में लग जाएँगे तो ईश्वर की भांति हम न्यायकारी बनेंगे । इसलिए हम यह भी पाठ करते हैं; ओं न्यायकारिन्। साधक को यह स्थिति बनाने के लिए दिनरात प्रयास करते रहना चाहिए। लगा रहता है तो एक सीमा तक स्थिति बन जाती है ।

प्रयोजन

जिस कार्य को हम कर रहे हैं उसके प्रयोजन को हमें सदैव देखते रहना चाहिए कि इस कार्य को इसलिए कर रहे हैं, यदि इस कार्य को हम करते रहे तो ही हमारा प्रयोजन पूर्ण होगा । जब व्यक्ति के मन में उस कार्य का प्रयोजन ठीक प्रकार से बैठ जाता है, उसको मानता है, समझता है तब उसको यथाशक्ति तप-त्याग के साथ करता है । दूसरी बात – इस कार्य को न करने से मेरी तथा अन्यों की हानि होगी, दुःख, कष्ट, बाधा होगी, ऐसा मानता है तब उस कार्य को नहीं छोड़ता है । छोड़ने पर हानि दिखाई देती है । यदि आप योगाभ्यास, ईश्वरोपासना के फल को जानते हैं, मानते हैं तो बिना दबाव, उपेक्षा, आलस्य, प्रमादादि के करेंगे, अवरोध होने पर भी पूरा बल लगाएँगे कि इस कार्य को न छोड़ूँ, बन्द न करूँ । तब सोचेंगे यदि इस कार्य को छोड़ दिया या इसके विपरीत कर दिया तो अत्यन्त दुःखजनक परिणाम होगा, इसलिए नहीं छोड़ूँगा। इसी स्थिति में ईश्वरोपासना के फल को देखता है । इसके स्थान में यदि मानता है कि दूसरे कार्य से भी यह प्रयोजन सिद्ध हो सकता है तब उपासना को छोड़कर अन्य कार्य आरम्भ कर देगा। जो ऐसा मानता है कि योगाभ्यास, समाधि से ही नित्यानन्द की प्राप्ति, समस्त दुःख की निवृत्ति सिद्ध होती है; अन्य किसी उपाय से नहीं होती तो वह इस स्थिति में ईश्वरोपासना को छोड़कर किसी अन्य कार्य से इस प्रयोजन को सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करेगा । जब आप अपने आप को उस स्थिति

में ले जाएँगे तब कहेंगे **"नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"**। नित्यानन्दप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति का और कोई उपाय नहीं है। पुनः व्यक्ति इस प्रयोजन को सामने रखकर इसकी सिद्धि के लिए तप—त्याग, यम—नियमपालन, निष्काम-कर्मादि सब कुछ करता है। यदि आप इन सभी विधि-विधानों को नहीं जानते हैं तो योग मार्ग पर नहीं चल सकेंगे।

अब आत्मनिरीक्षण करके देखें — योगी होने का फल, अविकल्प और न होने पर हानि विचार लिया, या छोड़ने का कोई और उपाय ढूँढ़ लिया?

साधक — विचारना अच्छा लगता है, पर व्यवहार में कठिनाई और पदे-पदे सन्देह होता है।

स्वामी जी —अभ्यस्त हो जाने पर उसी व्यक्ति की स्थिति सामान्य हो जाती है। परन्तु इस प्रसङ्ग में विचारना चाहिए कि क्या अन्य कार्यों में समस्या नहीं आती है? तुलना करके निर्णय निकालना होता है। जो धनी हैं, लौकिक ऐश्वर्य सम्पन्न हैं क्या उनके समक्ष कठिनाई नहीं है? व्यापार में भी सन्देह रहता है कभी हानि न हो जाए। थोड़ा समय लगाने पर भी आय में अन्तर हो जाता है। कर देने में भी सरकार का भय रहता है।

सर्वत्र कठिनाई है। जैसे सत्य बोलने वाले के समक्ष कठिनाई है वैसे झूठ बोलने वाले के सामने भी कठिनाई है, वह तो दिनभर उद्विग्न रहता है। एक स्थान में झूठ बोला पुनः उसे छिपाने के लिए बीस जगह झूठ बोलेगा। कहीं विस्फोट न हो जाय इसकी चिन्ता लगी रहती है। कैसे रक्षा होगी, उसी में लगा रहता है। जैसे कि एक जगह सत्यासत्य की बात चली, तो एक महोदय ने कहा, एक बार ऐसा हुआ कि किसी ने मुझसे गाड़ी मांगी। मैंने कहा चालक रोगी हो गया है। अब चिन्ता हुई कभी चालक को पूछ ले तो? पुनः चालक से कहा तू बता देना रोगी हो गया था।

जीवात्मा अल्पज्ञ है, थोड़ा जानता है। पुनः पुनः अविद्या से चांटा खाते रहता है। अल्पज्ञ जीवात्मा के सामने सदा यह स्थिति रहेगी, इसलिए निराशावादी होने की अपेक्षा नहीं है। यह स्वाभाविक है, कोई आश्चर्य का विषय नहीं है, किन्तु मोक्ष में जाएँगे इस विषय में सन्देह नहीं रहना चाहिए। योगी होने पर क्या उपलब्धि होती है; जिसके लिए स्तुतिप्रार्थनोपासना कहा उससे क्या होता है — यदि मन्त्र ज्ञात हो तो देखो ईश्वर क्या कहता है? मेरा साक्षात्कार होगा, अज्ञान, क्लेश नहीं पीसेंगे।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतानि-आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ यजु० ४०/७

जिस ईश्वर के जान लेने पर सभी प्राणी आत्मा के समान दिखाई देते हैं। ऐसे ज्ञानी को न अज्ञान होता है, न मोह, न शोक होता है, यह फल है । इस प्रकार इसका प्रयोजन ज्ञात होने पर बल लगाएँगे, तपस्या करेंगे। फल सामने रखें व उसके अभाव में उत्पन्न बाधा को रखें । इससे बहाने नहीं करता। आपत्तियों को हटाने के लिए एड़ी से चोटी तक बल लगाता है।

आप योगाभ्यास इसलिए सीख रहे हैं कि इसके माध्यम से ईश्वर का साक्षात् करें, जिससे क्लेश=दुःख=बन्धन समाप्त हो जाय तथा नित्यानन्द की प्राप्ति हो। इसके अनन्तर हम समाज, राष्ट्र और विश्व को क्लेशों = दुःखों से छुड़ाकर नित्यानन्द की प्राप्ति करावें । इस विचार को लेकर आप प्रयासशील हैं । इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए, इस लक्ष्य को पूर्ण करने के लिए आपको कितना कुछ करना पड़ेगा, वह सब विदित होना चाहिए। आपने अथवा आप में से किसी ने विचार किया होगा कि हम इतना कार्य करके सफल हो जाएँगे । यदि उस विषय में पूर्ण ज्ञान नहीं होता है तब व्यक्ति मुख्य प्रयोजन सिद्ध नहीं कर पाता अथवा जितना पुरुषार्थ होना चाहिए, उतना नहीं कर पाता । मेरा उपार्जित है शरीर, बल, विद्या, धन; इन सबको अपना मानकर प्रयोग करता है । इससे जो समस्या आने वाली थी उसको नहीं जानता था, जब समस्या आ गई तब भय होने लगा, संकोच, बाधा सामने उपस्थित हो गई । इन सभी विषयों को जानने के लिए सर्वस्व की आहुति देनी होती है, और जो सर्वस्व की आहुति देकर भी उस शक्ति–सामर्थ्य–साधन को ईश्वर का मानता है, अपना नहीं मानता है, तब समस्या गई अन्यथा नहीं । क्योंकि जो साधन तन–मन–धन, विद्या, बल ईश्वर का मानना था, नहीं माना यह भूल कर दी, सबको अपना मानकर प्रयोग किया, इसी से असफल होगा। उसे पता नहीं था, अपना मानने से विफल हो जाऊँगा । आज कौन जानता-मानता है कि शरीर आदि सब कुछ ईश्वर का मानने से मेरा जीवन सफल होगा, ईश्वर आनन्दादि देगा, उससे सफलता प्राप्त होगी, न मानने पर नहीं !

आप सोचते हैं, मैं बहुत बुद्धिमान् हूँ, किन्तु इस क्षेत्र में अनुभव करेंगे कि कुछ नहीं जानता, बेसमझ हूँ । काम-क्रोध से दबा हुआ हूँ, यह स्थिति

है। एक ही विषय है, सब कुछ ईश्वर का है। ईश्वर के स्वामित्व को स्वीकार करना निज स्वामित्व को छोड़ना, यह ईश्वरप्राप्ति में अनिवार्य साधन है। जहाँ इसके विपरीत होगा, परिणाम विपरीत आएगा।

अब एक और बात। आप यदि ईश्वर को प्राप्त करना चाहते हैं और जानना चाहते हैं कि ईश्वर कैसा है, कितना बलवान्, महान्, विद्वान्, क्रियावान् है तो आपकी बुद्धि चक्कर काटने लगती है। जैसा ईश्वर है, वैसा बुद्धि में नहीं उतरता। किसी ने कल पूछा था — भौतिक वैज्ञानिक चर्चा में सुना इतना बड़ा है संसार १० अरब आकाश गंगाएँ उपलब्ध हैं। एक की लम्बाई एक छोर से दूसरे छोर तक इतनी है कि प्रकाश १ सेकण्ड में ३ लाख कि.मी. की गति से चलकर १ लाख वर्ष में पहुँचेगा। उसने कहा आपको इस बात पर विश्वास होता है? मैंने कहा जिस पर विश्वास होता है, उसको मानता हूँ। जैसे सूर्य की दूरी ८ प्रकाश मिनट आगमनकाल है, वह हमें समझ में आ गया, इतना दूर है। उसने आकाश गंगा भी देखी, उसकी इस बात को जानना कठिन है, अतः जैसे-जैसे समझ में आता है वैसे-वैसे मानता हूँ। एक बात है वैज्ञानिकों की बातों में आश्चर्य है कि सारा खोज लिया, लम्बाई—चौड़ाई, भार, दूरी, प्रकाशन-विधि, किन्तु सृष्टि के विषय में लम्बाई-चौड़ाई की यह जो बात कही, यहाँ दिमाग चक्कर खाने लगता है। किन्तु अब ईश्वर की लम्बाई—चौड़ाई के विषय में वेद की बात सुनिए —

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ यजु० ३१/३

क्या समझ में आया? **एतावानस्य महिमा** = इतना इसका महत्त्व है, इतना यह विस्तृत है संसार। **अतो ज्यायान् च पुरुषः** = वह पुरुष इस सृष्टि से भी बहुत बड़ा है। फिर कहा — **पादोऽस्य विश्वा भूतानि** = सारा आकाशगंगादि पूरा संसार इसके एक भाग में रहता है। **त्रिपादस्यामृतं दिवि** = द्युलोक में तीन पाद हैं, वहाँ भगवान् अकेला है।

अर्थात् जिस सृष्टि की रचना, विस्तार वैज्ञानिकों ने उपर्युक्त कहा वह ईश्वर के मात्र एक कोने में है और ईश्वर का आनन्दमय तीन कोना सृष्टि से खाली है। अब सोचो कितना बड़ा वह होगा! जब कि यह विभाग कथन भी समझाने के लिए है, वस्तुतः ईश्वर की कोई सीमा नहीं है। अब आप ईश्वर को प्राप्त करना चाहते हैं तो क्या आपकी बुद्धि में यह बात बैठती

है ? स्थूल रूप से विचारने वाले कहते हैं ईश्वर के विषय में क्या शंका हो सकती है ? जब कि वह यह भी नहीं जानता पृथ्वी कितनी बड़ी है? टीले पर खड़े होकर सन्तोष कर लेता है। वस्तुतः ईश्वर के विषय में संशय तब होगा जब स्वयं गवेषणा करके अन्तिमरूप देना चाहेगा । तब यथावत् पता चलेगा कि आनन्दमय तीन भाग उसके स्वरूप में वर्तमान हैं ।

वेद ईश्वर से उत्पन्न हुआ, ईश्वर ने उपदेश दिया; इस विषय में योगाभ्यासियों को शंका हो सकती है कि यह ऋषियों की कल्पना होगी; लिख दिया जो मन में आया । जब अन्तिम निर्णय करेंगे तब पता चलेगा कि आप की भी यह शंका होगी और समाधान न होने पर मार्ग छोड़ देंगे । तब कहाँ जाएँगे समाधान के लिए ? एक उपाय है श्रद्धा । लाखों ऋषि हुए, जिन्होंने तन–मन–धन ईश्वर का मानकर उसकी प्राप्ति में समर्पित कर दिया। यह सोचकर कि प्रतिफल में कुछ नहीं चाहिए, केवल ईश्वर मिलना चाहिए । इस प्रकार सब कुछ देकर, समाधि लगाकर, साक्षात् करके विश्व के लिए ग्रन्थ लिख दिये । उनके इस जीवन से ज्ञात होता है, उनके ग्रन्थों को देखकर पता चलता है वे सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी थे, अन्यथावादी नहीं थे। विश्व को एक परिवार मानने का और कोई कारण नहीं है । पक्षपात पूर्वक किसी देशविशेष को अपना, उससे भिन्न को दूसरे का मानकर कुछ नहीं लिखा । विश्वमात्र को अपना (एक) मानकर लिखा। इनके ग्रन्थों को पढ़ने से एक बात आती है कि वे असत्य नहीं लिख सकते हैं परन्तु अल्पज्ञता के कारण कहीं कुछ असत्य हो गया हो, वह हम मानते हैं, असावधानी के कारण ऐसा हो सकता है । वे स्वयं भी मानते हैं हम अल्पज्ञ हैं, थोड़ा जानते हैं हमारा उतना ही मान्य है जितना प्रत्यक्ष या ईश्वर के विरुद्ध न हो । अतः यदि प्रत्यक्ष के विरुद्ध कुछ सिद्ध हो तो उसे छोड़ने में कोई आग्रह नहीं है । सत्यार्थ प्रकाश में पहले (भूमिका में) कहा– यदि कोई बताता है कि यहाँ न्यूनता है तो उसका स्वीकार किया जाएगा । यदि कुछ असत्य हो तो जानने-जनाने पर छोड़ दिया जाएगा । ऐसा ही सभी ऋषि मानते हैं। इससे पता चलता है अल्पज्ञता के कारण कोई त्रुटि हो सकती है, ऐसा ऋषि मानते हैं । अतः उन्होंने जो स्वीकार किया वह हमें भी स्वीकार करना चाहिए।

साधक – ईश्वर ऐसा क्यों हैं ?

स्वामी जी – इसका समाधान है, **दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः॥** न्याय० ३/१/५०। जो पदार्थ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जैसा सिद्ध है, उसके विषय में यह शंका करना कि यह ऐसा क्यों है; उचित नहीं। जैसा है, वैसा है । सकारण = निमित्तयुक्त होने पर प्रश्न होता है, ऐसा क्यों है ? रोटी मीठी लगे तो संशय होता है मीठी क्यों है जबकि आटा नहीं होता है ? तब उत्तर होगा मीठा पड़ने से। किन्तु स्वाभाविक में ऐसा नहीं होता जैसे कि गुड़ क्यों मीठा है ? वैसे ही ईश्वर आनन्द स्वरूप क्यों है, यह प्रश्न नहीं होता। अन्यथा वह क्यों, वह क्यों, वह क्यों....., यह अनवस्था दोष है। वस्तुतः वह पदार्थ ऐसा ही सिद्ध होता है । वह पूछ सकता है घड़ा तो सादि है; ईश्वर, जीव, प्रकृति क्यों अनादि हैं । जिसके तीन कारण नहीं होते वह अनादि होता है, जिसके तीन कारण होते हैं वह अनादि नहीं होता। इसका समाधान है, यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उसके तीन कारण उपलब्ध नहीं होते हैं तो वह उत्पन्न नहीं हुआ है । जिसके तीन कारण उपलब्ध होते हैं वह उत्पन्न हुआ है । इसलिए प्रमाणों से ईश्वर ऐसा सिद्ध है पुनः ऐसा क्यों है ? यह शंका उचित नहीं ।

वस्तु उपलब्ध हो और उसके कारण उपलब्ध नहीं हों तो वहाँ इस नियम का प्रयोग करना चाहिए; **सदकारणवन्नित्यम्॥** वैशेषिक ४/४/१। नित्य की परिभाषा है – सत् = सत्तावान्, अकारणवत् = कारणरहित, नित्यम् = नित्य होता है । अर्थात् अकारण विद्यमान होता है तो नित्य है। जैसा कि वैज्ञानिकों के मत में क्वार्क्स अनादि = नित्य हैं।

आपने समझने का प्रयास किया है किन्तु आपकी जिज्ञासा, पुरुषार्थ और काल बहुत थोड़े हैं । ऋषियों को समझने में भी न्यूनता है । इतना पर्याप्त नहीं है, कभी मान लें इतने से कार्य चल जाएगा । वैज्ञानिक युग में साधारण बातों से काम नहीं चलेगा । उनके लिए दार्शनिक विद्वत्ता अपेक्षित है ।

❖ ❖ ❖ ❖

मुमुक्षुत्व

योगजिज्ञासु = समाधि प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति के मन में अपना जीवनस्तर, अपनी विचारधारा, योजना और भविष्य में सिद्ध करने योग्य बात कि मैं ईश्वर को प्राप्त करूँ, मैं समस्त दुःखों से छूट जाऊँ; सदा उपस्थित रहती है। मुक्तिसाधन प्रकरण में स्वामी दयानन्द ने एक बात कही कि मुक्ति के चार साधन हैं उनमें एक है 'मुमुक्षुत्व'। कोई कह सकता है कि मुमुक्षुत्व भी कोई साधन हो सकता है ? अथवा किस रूप में उपस्थित होता है या कैसे साधन बनता है ? इस सूक्ष्मता को जानना चाहिए। मुक्ति के चार साधनों में से मुमुक्षुत्व के विषय में कहा "जैसे क्षुधा तृषातुर को सिवाय अन्न-जल के दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता, वैसे बिना मुक्ति के साधन और मुक्ति के दूसरे में प्रीति न होना"। अर्थात् योगाभ्यासी को ईश्वर प्राप्ति के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगना चाहिए।

अब देखेंगे मोक्ष क्या है ? सूक्ष्मता से देखने पर पता चलेगा कि व्यक्ति शारीरिक दुःख से दुःखी रहता है। आगे स्थिति देखेंगे मानसिक दुःख से दुःखी रहता है। सूक्ष्मता से देखें तो व्यक्ति दिन भर दुःखी रहता है। यद्यपि कार्य करते समय उस कार्य को करने में प्रयासशील होता है तब नहीं लगता कि वह दुःखी है; वैसे स्मृति, स्वप्न में भी दुःखी रहता है।

दुःखी होने की दो स्थितियाँ हैं। प्रथम – दूसरों के द्वारा यथा शत्रु, शीतोष्ण, रोगादि से। दूसरा – अपने अज्ञान से दुःखी होना। ये सब दुःख के कारण हैं। यहाँ एक न एक आक्रमण विद्यमान ही रहता है; एक दुःख के जाते ही दूसरा आ जाता है। इस स्थिति को देखकर मुमुक्षु कहता है, शारीरिक, मानसिक कोई भी दुःख नहीं चाहता हूँ, बस इनसे मुक्त होना चाहता हूँ। इसमें भी दो स्थितियाँ हैं – एक में तो इसमें अधिक बल देता है कि किसी तरह दुःख चला जाय; सुख मिले या न मिले। दूसरी स्थिति में चाहता है मुझे आनन्द मिलना चाहिए, दुःख आधा जाय या पूरा जाय। जैसे, किसी के सिर पर ४० सेर का भार पड़ा है, गर्दन टूट रही है; वहाँ पहले चाहता है भार उतर जाय, भोजन-पानी आदि मिले या नहीं; यह दुःखविनाश की इच्छा प्रथम स्थिति है। दूसरी स्थिति यथा अच्छा भोजन मिलेगा तो कार्य करूँगा अन्यथा भले ही सूखी रोटी खाता रहूँ।

ऋषियों ने इस विषय को अनेक प्रकार से उपस्थित किया है जैसे–

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥ सांख्य १/१।

तीन प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति 'अत्यन्त पुरुषार्थ' = मानव जीवन की सफलता है ।

दुःखमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं च ॥ यो. द. व्यासभाष्य १/३१ । तीन प्रकार के दुःख हैं – आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। इनसे सभी छूटना चाहते हैं ।

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ न्यायदर्शन १/१/२२ ।

दुःख से पूरी तरह छूट जाना अपवर्ग है ।

बाधनालक्षणं दुःखम् ॥ न्यायदर्शन १/१/२१ ।

बाधा, पीडा, प्रतिकूलादि दुःख के लक्षण है ।

व्याख्या के प्रसङ्ग में न्यायदर्शन के भाष्यकार ने एक बात कही कि यदि सुख में राग रखते हुए मुक्ति के लिए प्रवृत्त होता है तो मुक्ति नहीं होगी, बन्धन में रह जाएगा । दूसरे पक्ष में पुनः कहा – यदि मुक्ति में सुखप्राप्ति की इच्छा हो वह बन्धन का कारण न हो तो सुखप्राप्तीच्छा स्वीकार है । महर्षि दयानन्दने कहा - दुःख की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति मुक्ति है। **रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति** ॥ तैति. ब्र० वल्ली । ईश्वर आनन्दस्वरूप है, उसको प्राप्त कर जीवात्मा आनन्दवान् हो जाता है।

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता ॥ सांख्य ५/११६ ।

समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में ब्रह्म के समान आनन्दमय स्थिति होती है।

सुखलाभाभावादपुरुषार्थत्वमिति चेन्नैवं द्वैविध्यात् ॥ सांख्य ६/८ ।

केवल दुःख समाप्ति ही मुक्ति है, सुख प्राप्ति नहीं ऐसा कहना ठीक नहीं, दोनों स्थितियों के होने से । अर्थात् दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति दोनों लाभ मुक्ति से होते हैं ।

दुःख से छूटने पर बल इसलिए दिया कि व्यक्ति मुक्ति के आनन्द के विषय में लौकिक-सुख की तरह इच्छा प्रयत्न न करे अर्थात् उस सुख के प्राप्त होने पर वैसा ही होगा जैसे लौकिक-सुख मिलने पर होता है ऐसा न मानने लगे। जैसे लोक में राग-द्वेष पूर्वक बाधकों को हटाता है वैसे ही यहाँ भी हटाने लगे तो यह उचित नहीं है । ऐसा करने से योग के क्षेत्र

में प्रगति नहीं होगी। मान लिया जैसे कोई ध्यान में शान्ति से बैठा है, अब कोई बाधक आ जाय तो कहने लगा इस बीच में कौन बाधा डाल रहा है? अब जैसे लोक में बाधित होने पर उत्तेजित हो जाता है, ऐसा ही यहाँ हो गया तो वह द्वेष हो गया, इसलिए यहाँ बल दिया कि सुख की बात ही मत करो, दुःख दूर करने की बात छेड़ो। यदि सुख-प्राप्ति की बात विचारता है किन्तु राग-द्वेष से प्रभावित नहीं होता है तो वह आनन्द-प्राप्ति की बात भी विचार सकता है।



उपाय एवं बाधा अपसारण

जब व्यक्ति उपासना के ऊँचे स्तर को प्राप्त होता है तब उसको यह दीखता है कि ईश्वर के समक्ष संसार और अन्य सब जीवों की क्या सामर्थ्य है! वह एक तरफ देखता है यह जो जीवात्मा शरीर में रहकर दिन-रात इधर-उधर भागता है, धन उपार्जित करता है, विद्वान् बनता है, पुनः कहता है यह सब मेरा है। किन्तु देखते-देखते सब विलुप्त हो जाता है। न शरीर, न धन, न विद्या कुछ नहीं रहता। पुनः जो और जिसको कहता था मेरा-मेरा, आज उसका एक तिनका भी नहीं मिलता। जब जन्म लिया था तब भी उसके पास कुछ नहीं था, न आज रहा। तो क्या हुआ ? साधक कहता है जिन सांसारिक पदार्थों को और उनके स्वामी स्वयं को बहुत बड़ा मानता था, वस्तुतः कुछ नहीं था। अतः ममाहं की मान्यता मिथ्या है।

इधर पृथ्वी, जल आदि अरबों लोक-लोकान्तर जिनकी कोई सीमा नहीं जानता, सारे परमाणुओं के ढेर हैं। कैसे? भूमि के ढ़ेले को तोड़ो तो चूर-चूर हो जाता है, केवल कण ही कण दिखते हैं। अब यदि उन कणों को लेकर कोई बीजादि न बनाये, नेत्रादि न बनाये तो वह प्रकृति परमाणु मात्र रहेगी। इसकी क्या शक्ति है ? तब सारी व्यवस्थाओं को देखकर इस पक्ष को देखता है कि स्वयं तो बन नहीं सकते, जीवात्मा बना नहीं सकता, अभाव से भाव में नहीं आ सकता। अतः इनका निर्माता ईश्वर है। वेद में कहा—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥

ऋ. ८/४४/२३।

मैं तुम हो जाऊँ या तू मैं हो जाए तो तेरे सब आशीष सफल हो जाएँ।

यह प्रेम की भाषा है, भक्ति की भाषा है। वस्तुतः जीवात्मा ईश्वर से भिन्न पदार्थ है । न जीव ईश्वर हो सकता है, न ईश्वर जीव हो सकता है; ऐसा तुलना करने से ज्ञात होता है । परन्तु इस विचार को देखिए भारत में करोड़ों लोग मानते हैं कि जीवात्मा ईश्वर का ही खण्ड है; समाधि में जाकर ईश्वर हो जाता है, जीव नहीं रहता । यदि वैदिक रीति से पढ़े--पढ़ाए होते, दर्शन, उपनिषद् आदि के सिद्धान्तों को जानते तो जीव-ईश्वर को ऐसा नहीं मान लेते । वास्तविकता यह है की जब उपासक देखता है कि ईश्वर ही एक ऐसा पदार्थ है जो सृष्टि के पूर्व विद्यमान होता है जिसके पास अनन्त बल, विद्यादि हैं, तो वह भी उसी के जैसा (अनुकूल) बनना चाहता है । अर्थात् न्यायपूर्वक शरीरादि की उन्नति करना, धन का भोजनादि के रूप में उचित प्रयोग करते हुए ईश्वर को प्राप्त करना । इस प्रकार ईश्वर का आशीर्वाद पूर्ण होता है ।

एक **प्रश्न** बार-बार आता है, लोग कहते हैं – ईश्वर ने यह संसार किस लिए बनाया ? सृष्टि में कितना दुःख होता है, प्राणियों को कितना कष्ट होता है, रोगी होते हैं, वृद्ध होते हैं, यदि सृष्टि न होती तो यह सब क्यों होता ?

इसका उत्तर है – लौकिक-सुख प्राप्त करते हुए मोक्ष-सुख को प्राप्त करना। अर्थात् शरीर को प्राप्त करके योगाभ्यास के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार करके जीवात्माएँ मोक्ष को प्राप्त करें; इसलिए ईश्वर ने यह संसार बनाया। अन्यथा क्या आप मूर्छित रहना चाहते हैं ? यदि नहीं तो सृष्टि न बनाने पर वही स्थिति रहती। ऐसे ही पिछली सृष्टि में किये हुए पिछले कर्मों का फल भी नहीं मिलता; क्योंकि बिना सृष्टि के शेष-कर्म-फल का भोग भी संभव नहीं होगा । न लौकिक-सुख मिलेगा न मोक्ष मिलेगा। ईश्वर में जो अतिशय ज्ञान, बल व आनन्द है, उसका लाभ भी दूसरे को नहीं मिलता। आप क्या मानते हैं ? कोई करोड़पति अपना धन निर्धनों के ऊपर लगाए अथवा अपने पास लेकर बैठा रहे ? इसी प्रकार ईश्वर भी अपने अनन्त ऐश्वर्यों का दान करता है । ऐसे ही हमको भी अपने धन को दूसरों पर लगाना चाहिए । मैं और मेरा के बीच विश्व मर रहा है। यदि सबका यह विचार रहता कि सबका निर्माता, पालक ईश्वर है, यह धन उसी का है, धनोपार्जन के आवश्यक साधन बुद्धि आदि सब पदार्थ उसी के हैं तो कितना सुख हो सकता था ?

भक्त इसी स्थिति में देखता है ईश्वर में कितना ज्ञान, बलादि है ? तब कहता आपकी तरह हो जाऊँ। पुनः लौकिक-सुख क्षणिक हैं, कोई भी इनसे तृप्त नहीं हो सकता। आज तक इतिहास में कोई नहीं मिलता जो लोक को प्राप्त करके कहे – "पाना था सो पा लिया।" किन्तु साधक ने सुना है कि ऐसा होता है और केवल ईश्वरप्राप्ति से ही। भौतिक वैज्ञानिक ईश्वर की महिमा को समझते ही नहीं; प्राप्तं प्रापणीयं होता है इसका इन्हें ज्ञान भी नहीं है। एक दिन मैंने वर्मा जी से कहा – वर्मा जी ! ईश्वरप्राप्ति के लिए प्रयास क्यों नहीं करते हैं ? उन्होंने कहा – क्या लाभ होगा ? मैंने कहा– चक्रवर्ती साम्राज्य से भी बड़ी उपलब्धि होगी।

वे समझते ही नहीं हैं कि आनन्दमय ईश्वर सर्वत्र व्यापक है। सोने आदि पदार्थ हैं, प्रतीत होते हैं, ईश्वर तो वैसा है ही नहीं, कैसे आनन्दमय है ? इस समस्या का समाधान करना चाहिए। लोगों को सृष्टि के पूर्व पदार्थों का ज्ञान नहीं है। वे सोचते हैं ऐसा भी पदार्थ हो सकता है जो यन्त्र से दिखाई न देता हुआ हो ? किन्तु ईश्वर ऐसा ही है, स्पर्शादि रहित। रूपादि से रहित होता हुआ भी संसार का चक्कर बना रखा है। समुद्र, भूमि दिखाई देते हैं, समुद्र में जहाज डूब जाते हैं; वे भी दीखते हैं, वायु की भी प्रतीति होती है। ईश्वर ऐसा नहीं है इस रूप में धक्का नहीं देता है, यद्यपि धक्का देता है पर दिखाई नहीं देता। यथा जीवात्मा को एक शरीर से दूसरे शरीर तक पहुँचाता है, भूमि आदि को बनाता है। आपको तीन महीने में यही तो बताने का प्रयास किया जा रहा है। भौतिक वैज्ञानिक जो नहीं समझते हैं, आपने उन्हें समझाना है, जिससे 'ईश्वर जानने योग्य है', ऐसी उनकी स्थिति बन जाए।

साधक "मैं और मेरा" को नष्ट करके रखता है। नाम और नामी दोनों के समाप्त हो जाने पर ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है यही वास्तविकता है। आपके साथ यदि एक भी लौकिक विषय जुड़ा हुआ है तो ईश्वरप्रत्यक्ष नहीं होगा। "यह मेरा है" यही ईश्वर को प्राप्त होने नहीं देगा।

विचार कीजिए जिसको आप कहते हैं यह मेरा है, परन्तु मर जाने पर पता भी नहीं चलता कहाँ चला गया ? शरीर के बिना जीव को कहो एक तिनका बना दो तो एक क्या सारे मिलकर नहीं बना सकते, पुनः ममत्व मिथ्या है या नहीं ? यद्यपि भूमि, भवन आदि में अपनापन संबंध न हो तो व्यवहार भी न चलेगा, अतः गौण स्वामित्व तो होता है परन्तु मुख्य स्वामी ईश्वर ही

है । इसी प्रकार व्यवहार भी होगा; जैसे न्यास की सम्पत्ति होती है, सदस्य कहते हैं मैं व्यक्तिगत स्वामी नहीं हूँ परन्तु रक्षा, वृद्धि आदि करते हैं । सेना को देखिए, क्या टैंक, विमान उनके ही होते हैं? सैनिक प्राण देकर भी उनकी रक्षा करते हैं परन्तु अपना नहीं मानते हैं, राष्ट्र का मानते हैं । इसलिए कार्य नहीं चलेगा यह भ्रान्तिमात्र है । यदि सभी लोग मानें कि भूमि, भवन आदि ईश्वरप्रदत्त हैं तो बुद्धिमानों में झगड़े आदि नहीं होंगे, मूर्खों में कहीं हो भी सकते हैं । जीव और प्रकृति में निर्माण की सामर्थ्य नहीं है केवल ईश्वर में ही है जो इसको समझता है; इस रूप में विचार करता है उसको ममत्व हटाने में कठिनाई नहीं होगी ।

लोगों की आशा है कि आप कहेंगे कि मेरा ईश्वरप्रत्यक्ष हो गया है। आप का इस विषय में क्या विचार है ? अपनी उलझनों को हटाइए । जितनी शक्ति है पूरी लगावें, ईश्वर शेष शक्ति देकर समाधि लगवाएगा।

★ आप बाधकों को नष्ट करने का प्रयास करें ।

★ मैं और मेरा,

★ तीन एषणा,

★ मानापमान का भय,

★ भोगों के संस्कार;

इनका हनन करें, अहर्निश युद्ध करें, वह बल देगा ।

★ लौकिक पदार्थों से तृप्ति नहीं होती है, यदि यह देख लिया तो आपका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा । सब छोड़ दिया । विश्वानि दुरितानि सम्पूर्ण दुर्गुणों को छोड़कर कल्याणकारी गुण-कर्म-स्वभाव को प्राप्त करें। यदि ऐसा करते हैं तो हो नहीं सकता ईश्वर-साक्षात्कार न हो । यदि कोई लौकिक प्रयोजन शेष रहा तो ईश्वर-साक्षात्कार नहीं होगा।

★ लौकिक सुख व सुखसाधनों में यदि रुचि है तो ईश्वर-साक्षात्कार नहीं होगा।

★ दुःख व दुःखसाधनों में यदि ईर्ष्या-द्वेष शेष है तो ईश्वर-साक्षात्कार नहीं होगा।

★ मैं और मेरे की मान्यता से प्रेम है तो ईश्वर-साक्षात्कार नहीं होगा।

★ मान की इच्छा है तो ईश्वर-साक्षात्कार नहीं होगा।

★ पुत्र की इच्छा है तो ईश्वर-साक्षात्कार नहीं होगा।

★ धन की इच्छा है तो ईश्वर-साक्षात्कार नहीं होगा।

ये सब बाधक हैं । आप में जो वासनाएँ हैं, उनको यदि नहीं पकड़ते, नहीं मारते हैं, पूरी शक्ति का प्रयोग नहीं करते हैं तो ईश्वरसाक्षात्कार नहीं होगा । आप अपनी ओर से कोई न्यूनता न रहने दें तो ईश्वरप्राप्ति में कोई बाधा नहीं होगी ।



उपासना-अनिवार्यता

प्रत्येक योगाभ्यासी को ईश्वर की उपासना, ध्यान, योगाभ्यासादि के संबंध में यह निर्णय कर लेना चाहिए कि ईश्वर की उपासना करना, ईश्वरप्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहना, ध्यान, सन्ध्यादि प्रमुख कार्य हैं, अनिवार्य कर्तव्य हैं, यह मेरे जीवन के श्रेष्ठतम कर्म हैं । इस स्थिति में व्यक्ति उसको रुचिपूर्वक, श्रद्धापूर्वक, पूरे बल से करता है । इससे व्यक्ति की उसमें गति होती है, उत्कर्ष होता है और प्रयोग के साथ-साथ अनुभूतियाँ होती हैं । यदि व्यक्ति पूर्ण बल, रुचि, श्रद्धापूर्वक उपासना, ध्यान, सन्ध्या नहीं करता है तो परिणाम फल सामने नहीं आता । जब अच्छा फल सामने नहीं आता है तो उसमें अरुचि, अनुत्साह, अश्रद्धादि दोष आ जाते हैं। आज इसी का परिणाम है कि माता–पिता, आचार्य, अध्यापक न स्वयं इनको मानते हैं, न करते हैं न अपने बालक–बालिकाओं, शिष्यों को तन–मन–धन लगाकर अनिवार्यरूप से कराते हैं । यह दुष्प्रभाव ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी व संन्यासी प्रायः सभी में देखा जाता है ।

यदि कोई कृषक सारा झाड़–झंखाड़ उखाड़कर ठीक प्रकार से जलादि का प्रबन्ध करके खेती करता है तो क्या अन्न, फल नहीं होते ? होते हैं। इसी प्रकार श्रद्धा-रुचि से पुनः पुनः सन्ध्यादि करता है अपनी सन्तानों को भी कराता है उस स्थिति में फल सामने आते हैं । यदि बलपूर्वक करके ही न देखे तो परिणाम सामने नहीं आते । इसके विपरीत बिना श्रद्धा–रुचि के बलपूर्वक करता–कराता है तो फल नहीं आता, तब अरुचि हो जाती है; तब यही होता है जितनी शक्ति हो उतनी, जैसी-तैसी करनी है । किन्तु केवल दबाव मात्र से भी बिना विधि के यह कार्य नहीं होता। कभी सीख लेता

है तो भी उसी प्रकार नहीं करता, अबुद्धिपूर्वक विधिरहित केवल घण्टा पूरा कर देता है । किस विधि से उपासनादि कर्म करना है यदि इसको न जाना जाय, न बताया जाय तो ५० वर्ष में भी ज्ञान-विज्ञान, तेज, संयम, भक्ति उपलब्ध हो जाय संभव नहीं । विचारपूर्वक भी बिना बल, तपस्या के औपचारिकता मात्र करते हैं, बस किसी तरह से ढो रहे हैं; यह त्रुटि या उपेक्षा व्यापकरूप में है ।

योगाभ्यासादि के संबंध में यह भी जानना चाहिए कि वैदिक ऋषियों की परम्परा का महर्षि दयानन्द ने निर्देश किया है । पाठविधि में सारी व्यवस्था दी है । जहाँ सब छात्र—छात्राओं के लिए पठन—पाठन के साथ-साथ शारीरिक स्वास्थ्य, पुरुषार्थ और योगाभ्यास का विधान है वहाँ योगाभ्यास प्रमुख कार्य है । परन्तु परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए, नौकरी के लिए सब पढ़ते हैं किन्तु योगी बनने के लिए कोई नहीं पढ़ता है । योग मुख्य है, परन्तु व्यवहार में यम—नियम का पालन कोई नहीं मानता है । ऊपर से नीचे तक छल—कपट भरा हुआ है । उससे ब्रह्मचारी, संन्यासी, अध्यापक सभी वैसे ही बन गए । इस समय अपने जीवन को देखिए। जैसा कि सुना, कहीं वही दुर्गति तो नहीं होने वाली है ? यदि सावधान रहे तो बच जाएँगे, इसीलिए सुनाया जाता है ।

आज ईश्वर-भक्ति को लोक में निकृष्ट माना जाता है; सत्संग में आनेवाले को कुछ नहीं समझा जाता क्योंकि कहते हैं इससे दीन-हीन हो जाता है! अतः सारी बातों का अध्ययन करके पुनः देखना चाहिए कि क्या करना है, कितनी रुचि, श्रद्धा, अनिवार्य मानकर योगाभ्यास करना चाहिए? क्योंकि करने के पश्चात् फल सामने आता है और तब कठिन विषयों में भी श्रद्धा, रुचि बढ़ जाती है? इसलिए बिना किये यह परिणाम नहीं आएगा अपितु अरुचि या अश्रद्धापूर्वक जितना कर रहे थे वह भी छोड़ देंगे ।

अच्छा आप से पूछता हूँ — भूख लगने पर, चाय या भोजन बनने पर जो स्थिति होती है वही सन्ध्यादि में होती है या नहीं ?

व्यक्ति अपना दोष बताना अनुचित, अनावश्यक मानता है । अथवा किसी ने पूछ लिया तो बता दिया, नहीं तो नहीं; यह बुद्धि (स्थिति) योगाभ्यास के क्षेत्र में बाधक है । इस दोष से युक्त व्यक्ति कभी विकसित होकर समाधि प्राप्त कर लेगा, अपना और दूसरे का भला कर पाएगा, यह संभव नहीं है।

अतः जो नियम है उसका पूरी शक्ति से पालन करें अन्यथा दण्ड का भागी होंगे। इसलिए आप सावधान रहेंगे तो उन्नति होगी अन्यथा दुःख, बाधा देखनी पड़ेंगी। नहीं करेंगे तो विश्वासघात भी होगा, अनर्थ से बच नहीं सकते। करेंगे तो सफलता मिलेगी।

जिन्होंने संविधान बनाया यह कर्त्तव्य है, यह अकर्त्तव्य है; पालन करने पर उनका मुझ पर विश्वास होगा, विपरीत करने पर विश्वास न हो सकेगा। जो ऐसा सोचता है, वह नियमों को नहीं तोड़ता है। अतः आप सावधान रहें। मैं तो गुरुकुल में कभी भी नहीं मानता था कि कोई मुझे देख रहा है कि नहीं, इसलिए करें या नहीं। यह नियम है, इसके पालन में मेरा कल्याण है, यह मानकर चलता था। सत्य में यमनियमपालन में तो यह स्थिति होती है तब प्रगति–विकास, विवेक–वैराग्य होगा, समाधि लगेगी। जो देख कर करते हैं ऐसे लोग योगी, सत्यवादी, कार्यकर्त्ता होंगे? कभी नहीं। यदि आप भी ऐसा करते हैं तो नहीं बनेंगे। जानने मात्र से व्यवहार में न होने पर कुछ नहीं होगा। योग्यता-निर्माण, हावभाव, नियमपालन, विरुद्धत्याग, दोष करने पर स्वयं दण्ड लेना आदि सब इसमें आ जाते हैं।

आप मानसिक कार्यों को विचार कर करते हैं अथवा बिना विचारे कर डालते हैं? प्रायः बिना विचारे कार्य होता है; यह दोष है, इसे हटाना चाहिए। आन्तरिक निर्माण का कार्य तभी होता है। आप अभी कोई बाह्य योजना तो नहीं बनाते हैं? जो कोई बात स्वयं समझ में नहीं आए तो अधिकारी से पूछ लेना चाहिए। यहाँ कोई कठिनाई आए तो मुझे बताएँ।

साधक – कोई मानसिक विचार कब कर्म का रूप धारण करता है?

स्वामी जी – जब योजना बन जाती है, यह ऐसा है; इस प्रकार निर्णय हो जाने पर। निर्णय होने से पूर्व कोई विचार कर्म नहीं बनता है। यों तो संकल्प-विकल्प होता रहता है, वह कोई विचार कर्म नहीं।

विचार रहित कार्य होते रहते हैं, प्रायः विचारते ही नहीं हैं अथवा विचारते हुए भी ठीक निर्णय नहीं पाते हैं। यथा कभी विलम्ब हो जाने पर अधिक भूख लग गई तो मान लेता है आज अधिक भोजन कर लेना चाहिए। कभी किसी कारण से भूख कम लगी तब भी सोचता है पच जाएगा कोई बात नहीं पूर्व जितना ही खा लेते हैं। ऐसा निर्णय अविचारित कर्म है, दोष है। इसी प्रकार से विद्याविद्या का ग्रहणत्याग, शुभाशुभ का अनुष्ठान-अननुष्ठान,

शुद्ध-अशुद्धोपासना करना, न करना आदि में अनेकत्र विचार रहित अनिर्णीत कार्य होते रहते हैं। अभी जैसे बालक को देख रहे हैं सुन्दर लग रहा है, तब सोचने लगे इससे बात करूँ। अब ईश्वर को छोड़कर बालक की उपासना में लग गए, अकर्त्तव्य को कर लिया, कर्त्तव्य को छोड़ दिया। ऐसा ही अन्यत्र होता है। व्यक्ति दिनभर सुख व सुख-साधनों की उपासना में लगा रहता है, उसको पता ही नहीं रहता क्या करना है, क्या नहीं करना है।

जब तक लौकिक वस्तुओं के समान ईश्वर की उपासना नहीं करेंगे, तब तक ईश्वरप्राप्ति नहीं होगी, करेंगे तब होगी। परन्तु इस प्रकार कोई भी ईश्वर को मुख्य, आवश्यक नहीं मानता है। दिनभर जड़-चेतन की उपासना करता रहता है। जो बुद्धिमान् है वह परीक्षा करता रहता है ईश्वर की उपासना कर रहा हूँ या नहीं ? कल आपने सुना था कि योगाभ्यासी ईश्वर-भक्ति को सब कार्यों से बड़ा माने। जो भी कार्य हम कर रहे हैं विद्यापठनपाठन, शरीर-स्वास्थ्य निर्माण, गृहस्थादि में न्यायपूर्वक धनोपार्जनादि ये सब कार्य उत्तम हैं परन्तु ईश्वर-भक्ति = योगाभ्यास = उपासना इन सबसे उत्तम कार्य है। ये सब ईश्वरभक्ति के साधन हैं; ईश्वर-प्राप्ति के लिए शरीर को स्वस्थ, बलवान् बनाये; समाज, राष्ट्र की सेवा करे; न्यायपूर्वक धनोपार्जन करके उत्तम कार्यों में लगाये; परन्तु इनके साथ-साथ सबसे उत्तम कार्य उपासना भी करे; यह वैदिक मान्यता है।

आप देखेंगे अथवा स्वयं प्रयोग करेंगे, जैसे कुछ लोग कहते हैं कि मैं समाज की, राष्ट्र की सेवा करता हूँ, हमारी तो यही ईश्वर-भक्ति है। अज्ञानतावशात् अभिप्राय न समझने के कारण वे ऐसा कहते हैं। यद्यपि वहाँ स्वार्थ (लौकिक-सुख) मुख्य होता है अथवा अन्य के बराबर होता है। वस्तुतः विधिपूर्वक ईश्वरभक्ति = अच्छी प्रकार उपासना करने से जो सुख-शान्ति, बन्धनमुक्ति की स्थिति उपलब्ध होती है, तब व्यक्ति जितना राष्ट्र विश्व का उपकार कर सकता है, उतना अन्य भक्तिरहित स्थिति में कर ही नहीं सकता। कर्मक्षेत्र में जाने पर आप का भी परीक्षण होगा।

यह निरीक्षण-परीक्षण चलता रहता है तब शनैः शनैः परिणाम सामने आता है। यहाँ प्रथम अपना और दूसरे का सुख समान करना पड़ता है। जैसे अपने लिए उन्नति चाहता है वैसे ही अन्यों के लिए भी चाहता है। इस स्थिति में और भी समझ में आता है कि अन्यों का उपकार स्वोपकार

से प्रधान होना चाहिए। जैसे योग में अनुभूति होगी कि योगानुष्ठान से जो सुख मिलेगा वह अपने लिए गौण तथा अन्य के लिए प्रधान होगा।

★ स्वार्थ को छोड़े बिना समानता की भी स्थिति नहीं आती ।

★ अपने निर्माणकाल में भी जितना कर सकता है उतना परोपकार करता है । जितना जैसा अपने लिए चाहता है, उतना वैसा अन्यों के लिए भी चाहता है, पर जितना कार्य दिया जाता है अपनी योग्यतानुसार उतना करता है । तब उसकी स्थिति रहती है कि जो मैं योगाभ्यास करता हूँ इसका परिणाम बिना बदले की भावना से दूसरों के लिए होगा । प्राणिमात्र पर लगाऊँगा । यद्यपि परोपकार की प्रवृत्ति इतनी बढ़ती है कि उसे रोकने के लिए स्वयं से युद्ध करना पड़ता है। अति तीव्र भावना उत्पन्न होती है, उससे इस प्रकार युद्ध करता है कि यदि अभी से आरम्भ कर दिया तो आगे नहीं हो पाएगा। अभी लग गया तो जितना उच्चकार्य आगे कर सकता हूँ, नहीं कर पाऊँगा, साधारण उपकार हो सकेगा। वर्तमान में भी जो करता निष्कामता से करता है।

इसका प्रयोग – जब मैं वैराग्य की स्थिति में गाँव से नया-नया गुरुकुल आया था । तब स्थिति ऐसी थी कि जैसे भटकते हुए को कोई आश्रय मिल गया । तब ऐसा लगा अब अन्यों को भी अपनी तरह बना दूँगा । पूरे संसार को ऐसा बना डालूँगा, पर कैसे हो सकेगा ? विचार किया तो पता चला यह पढ़ो-वह पढ़ो । तब सत्यार्थप्रकाश उपलब्ध हुआ। पुनः सत्यार्थप्रकाश को पढ़ा तो लगा संसार को इसके माध्यम से अपनी स्थिति तक लाया जा सकता है । पर आगे विशेष साधन न मिलने से वैसा नहीं कर पाया; यह पृथक् बात है । परन्तु वहाँ जो निष्कामता थी वह कहीं भी नहीं । वहाँ स्वार्थ लेश भी न था । अतिशय परोपकार की भावनावशात् इस कार्य से स्वयं को बलपूर्वक रोकता था। इस प्रकार की परोपकार की जो विचारधारा होती है वही विवेक–वैराग्य से युक्तकर समाधि को प्राप्त कराती है ।

जब सृष्टि को अनित्य देखता है, भोगों में दुःख देखता है, ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता देखता है, मृत्यु को सामने देखता है, उस समय जो भावना उत्पन्न होती है, वह सामान्य स्थिति में नहीं होती है । संसार से प्रभावित व्यक्ति इस स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता । यहाँ तो यह स्थिति होती है कि अपने पास जो कुछ भी है, बुद्धि, बल, योगाभ्यास, अपना कुछ भी नहीं; सब ईश्वर का है पुनः उसे परोपकार में अति आनन्द आता है। किन्तु जब स्वार्थ बढ़ता है, लौकिक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, इस परोपकार को उखाड़

के फेंक देता है; यह बहुत बड़ा दोष है । अतः मैं खाऊँ अन्य नहीं, इसको समाप्त करना होता है । अज्ञानता से विपरीत विचारता है, लोक का अनुकरण करने से भी उलटा सोच लेता है। परोपकार से अपना और दूसरों का कल्याण होता है किन्तु स्वार्थ रहने पर ऐसा नहीं हो सकेगा । कोई मार-काट करके ऊपर जाने का प्रयत्न करता है, हम भी ऐसा न करें। हमें तो महर्षि पतञ्जलि, दयानन्द के समान परिवर्तन करना है।

जीवेश्वर-सम्बन्ध

ये जो ईश्वर के साथ हमारे पाँच संबंध बताए जाते हैं; आप इनका कितना प्रयोग करते हैं ? क्या आप उपासना और दैनिक जीवन में माता–पिता–आचार्य–राजा और उपास्य इन ५ संबंधों को मानकर चलते हैं या नहीं? हाँ जी आप बताएँगे –

साधक१ – उपासना काल में विशेषरूप से प्रयोग करते हैं, व्यवहार काल में कभी भूल भी जाते हैं, कभी संबंध बना लेते हैं ।

स्वामी जी – यदि ईश्वर से हमें ज्ञान प्राप्त करना है, आनन्द, बल प्राप्त करना है तो ये जो पाँच संबंध बताए जाते हैं तथा और भी संबंध हैं, उन सम्बन्धों को बनाकर सुरक्षित रखना चाहिए । उपासना काल में और दैनिक जीवन में भी ये पाँचों संबंध बने रहने चाहियें ।

अपनी स्थिति को देखिए, क्या ईश्वर के साथ दिन-रात सम्बन्ध बना रहता है, ध्यान से देखिए ? जितना उचित सम्बन्ध है उतना रखना चाहिए, रखना होगा। मानव जीवन की उन्नति का जितना बड़ा कारण ईश्वर है, उतना कोई नहीं है। सभी जीवात्माओं को मिला लें, भौतिक पदार्थ, पशु–पक्षी सभी को मिला लें, इनमें से कोई भी ईश्वर की सहायता के बिना तिल भर भी हमारी सहायता नहीं कर सकता । लौकिक माता–पिता के बल आदि की ईश्वर के बल आदि से तुलना करने पर अन्तर का पता चलता है । आप की क्या स्थिति रहती है ? जैसे लोक में मातादि की अनुभूतियाँ होती हैं क्या वैसे आपकी बुद्धि में 'ईश्वर मेरी माता है' यह तीनों कालों में अनुभूति होती है?

साधक१ – सदा रहती है ।

साधक२ – नहीं रहती है ।

साधक ३ – लगता तो है पर सम्बन्ध नहीं रहता ।

स्वामी जी – क्या जैसे बच्चे अपनी माता से याचनादि करते हैं वैसी बुद्धि बनती है ?

साधक ४ – नहीं बनती है. ।

स्वामी जी – इसके कारणों एवं निवारण के उपायों को जानें, अन्यथा ऐसी ही स्थिति रह जाएगी कि ईश्वर को विशुद्ध रूप में माता-पिता नहीं मान सकते। वैसे जब उससे सम्बद्ध रहने पर क्या उपलब्धि होती है, इसकी प्रतीति होगी तब सम्बन्ध बनाने का प्रयत्न करेंगे, अन्यथा नहीं । अतः जब तक अपनी अनुभूति काम नहीं करती है तब तक शब्द-प्रमाण को लेकर चलें। ऋषि कितनी श्रद्धा–विश्वास लेकर चलते हैं ? उनका अध्ययन कीजिए ।

आचार्य, गुरु के समान सम्बन्ध दिखाई देता है, व्यवहार आदि से जैसे उनका सम्मान करते हैं, वैसा ज्ञान होता है ?

साधक ५ – कभी होता है, कभी नहीं होता है ।

स्वामी जी – जैसे गुरु देखता है, छात्र सारे कार्य करते रहते हैं, ऐसे ही ईश्वर भी देखता है यह मानकर व्यवहार करते रहना चाहिए । अभ्यास से धीरे-धीरे हो जाता है । सभी क्रियाओं का समर्पण दिनभर करते रहना चाहिए, अन्यथा घण्टे-आधा घण्टे पश्चात् करना चाहिए । ईश्वर को तीनों कालों में गुरु कहा है यदि ऐसा नहीं जानते-मानते तो क्या लाभ ? शब्द-प्रमाण से इसको सिद्ध करना पड़ता है, आपको भी करना होगा ।

अच्छा ! ज्ञान कहाँ से आता है, कौन देता है; ऐसा विचारते हैं ?

साधक ६ – केवल सिद्धान्तरूप में मानते हैं ईश्वर देता है ।

स्वामी जी – सिद्धान्तरूप में मानकर बल देना चाहिए । केवल सिद्धान्त में मानते हैं, व्यवहार में नहीं तो विशेष लाभ नहीं होगा । व्यक्ति इसको दिनभर विचारे कि यह विषय मेरे सिद्धान्त में है, व्यवहार में नहीं है; यह ठीक नहीं है । इस दोष से तो स्वयं को रहित रखना होता है। अध्यापक आदि का भी दोष है क्योंकि वे ऐसा बताते नहीं । समाज, राष्ट्र, सहायकों के प्रति हमारा भी दोष आता है कि जैसा मैं बोलता हूँ वे मेरा व्यावहारिकरूप में नहीं समझें । आज तो सर्वत्र दिखाई देता है कि सिद्धान्तरूप में तो ठीक मानता है पर व्यवहार उलटा करता है । जैसे- अशुद्ध को शुद्ध मानते हैं; इसका परीक्षण करेंगे –

व्यास-भाष्य में एक योगाभ्यासी और लौकिक का दृष्टान्त उपस्थित किया। योगी अक्षिपात्र के समान होता है, इसको सामने रखिए । इस अपवित्रता को अपने में नहीं आने दूँगा । योगी के मन में थोड़ा भी राग प्रतीत होता है तो उसको चोट की तरह दुःख होता है, अन्य को कुछ भी प्रतीत नहीं होता। आप योगी बनने के लिए प्रयासशील हैं और मन में विपरीत विचार रखते हैं तथा इसकी उपेक्षा कर रहे हैं; यह ठीक नहीं है । योगविद्या सीखनेवाले को बाहर भीतर एक होना चाहिए । आप के प्रति आप के पास जो हैं मित्र-साथी, अध्यापक, उनके मन में, यहाँ तक कि समाज–राष्ट्र की बुद्धि में यह होना चाहिए कि आप बाहर-भीतर एक ही हैं ।

कभी विचारकर देखिए किस रूप में रहता हूँ । योगविद्या सीख रहा हूँ, दर्शन पढ़ रहा हूँ, लोग क्या कहेंगे ? यह भाव भी बनाना पड़ता है। एक व्यक्ति पुनः पुनः शिविर में भाग लेते थे उनको किसी ने पूछा, बार-बार शिविर में भाग लेते हैं; आपकी समाधि लग गई ? उसने कहा–इन्द्र को १०१ वर्ष लगे थे, मेरी इतनी जल्दी कैसे लग जाएगी ? यह तो समझाने के लिए है । व्यक्ति को उत्तर तो आना चाहिए, किन्तु यथार्थ। कुछ भी उत्तर दे दे, केवल पराजित करने के लिए उत्तर दे, ऐसा नहीं।

आप को ईश्वर के विषय में कोई पूछे कि जैसा पढ़ते हैं कि ईश्वर माता-पिता है तो क्या ईश्वर को वैसा ही मानते हैं, व्यवहार करते हैं ? तब उत्तर देना होगा कि नहीं । हो सकता है तब विपरीत प्रभाव पड़े । परन्तु यदि मानते हैं, वैसा ही व्यवहार करते हैं करते हैं तब कहेंगे हाँ। तब उचित प्रभाव होगा । इसलिए ईश्वर को दिनभर माता–पिता, आचार्य मानना अनिवार्य है । अकस्मात् भाग-दौड़ करते हुए छूट जाए यह भिन्न बात है, पुनः स्थिति बना लें ।

यदि सम्बद्ध है तो शुद्धाशुद्ध का भाव रहेगा, अन्यथा नहीं । वैज्ञानिक पूर्ण पुरुषार्थ करके अन्वेषण करते हैं किन्तु मेरी दृष्टि में उनका मन शुद्ध नहीं होता । नियम यह है कि ईश्वर की आज्ञा का पालन करने से, सम्बद्ध रहने से ईश्वर के समान पवित्रता आती है। ईश्वर को छोड़कर अविद्या, विपरीत उपासना, कामादि से बच नहीं सकते, दबे रहेंगे । यह बात केवल दबाने के लिए नहीं है। समझ में नहीं आता हो तो शब्दप्रमाण देखिए। ऋषियों के ग्रन्थों को पढ़ें। **वेदाहमेतं.....** इस मन्त्र का अर्थ स्मरण है ? पुनः पुनः प्रयोग में आने वाले मन्त्रों के अर्थ स्मरण में हों । बोलने के साथ–साथ हावभाव सामने

हों, इससे प्रभावशाली होता है। पूछने पर सन्तोषजनक उत्तर भी दे सकता है। अतः सज्जा रखनी चाहिए।

'ईश्वर है' यह तो आप कहते हैं, शब्द-प्रमाण, अनुमान-प्रमाण से भी यह बात आप के मन में कुछ बैठी है, पूरी तो नहीं। परन्तु इतना होने पर भी यह प्रतीत कम होता है कि मैं और ईश्वर ठीक-ठीक आबद्ध (साथ-साथ) हैं। यद्यपि ऐसा निश्चयात्मक-ज्ञान पर्याप्त ज्ञान-वैराग्य पर निर्भर है, पर आपका परिश्रम थोड़ा रहता है अतः आपकी परीक्षा हो जाय तो ठीक रहेगा। पहले आप बताओ –

साधक १ – उपासना काल में जब धारणा प्रदेश में एकाग्रता ठीक रहती है तो वहाँ ईश्वर की उपस्थिति अच्छी प्रकार से स्वीकार कर ली जाती है, इसके अतिरिक्त जब व्याप्य–व्यापक संबंध बना उपासना करता हूँ तब स्थिति ठीक बना ली जाती है।

स्वामी जी – यद्यपि अन्यों को छोड़ दें वैदिक धर्मियों को लेकर चलते हैं, वे ईश्वर को माता-पिता, उपास्यदेव, राजा कहते हैं, शब्द-प्रमाण से ईश्वर को मानते हैं, परन्तु यह जो स्थिति है ईश्वर को व्यापक और स्वयं को व्याप्य, दोनों को साथ-साथ जानना, मानना यह भिन्न स्थिति है। आप की क्या है?

साधक २ – भगवन् लगभग ७५% व्यवहार में प्रभु के साथ रहता हूँ और २५% भूल जाता हूँ।

साधक ३ – उपासना काल में ईश्वर को व्यापक देखने का प्रयास करता हूँ तो उस काल में अनुभूति होती है कि मेरे अन्दर ही विद्यमान है परन्तु व्यवहार काल में यह अनुभूति बनाकर नहीं रख पाता।

साधक ४ – उपासना काल में प्रायः स्थिति बनती है, कभी नहीं, व्यवहार में कभी बनती है प्रायः नहीं।

साधक ५ – प्रायः प्रयास करता हूँ व्यवहार में ५०% स्थिति बना पाता हूँ, उपासना में लगभग स्थिति रहती है।

साधक ६ – स्थूलरूप से स्मृति तो जैसे मैंने कल देखा था दिनभर रख लिया था परन्तु जो अत्यन्त संनिकटता वाली स्थिति है जैसी किसी व्यक्ति के साथ देखते हैं, इस प्रकार की अनुभूति कभी भी नहीं होती है।

स्वामी जी – तो इन्होंने सुनाया जैसे गुरुजी के सामने हम बात करते हैं और आमने-सामने आबद्ध हैं, जबकि आचार्य जो आत्मा है उसको प्रत्यक्ष

नहीं देखते पुनरपि प्रत्यक्ष मानते हैं, सीधा आबद्ध मानते हैं। क्या ऐसा मानते हैं कि आचार्य हमारे प्रत्यक्ष के विषय बने हुए हों ? नहीं होता, पर सन्देह नाम की वस्तु भी वहाँ पर नहीं रहती, किन्तु सीधा आबद्ध रहना, सहयोग लेना-देना आदि सब व्यापार ज्यों का त्यों चलते हैं, कोई सन्देह नहीं रहता है। तो जैसे आचार्य को अनुमान-प्रमाण, शब्द-प्रमाण से मानते हैं, सारे व्यापार करते हैं वैसे ही ईश्वर को भी माना जाता है जब तक प्रत्यक्ष न हो जाए।

साधक ७ — इतने स्तर की स्थिति तो नहीं बनती जैसी अभी इन्होंने कही, जिसमें हमारा प्रत्यक्ष व्यवहार होता है, इतनी गहराई नहीं आती है। शब्दानुमान के आधार पर उपासना काल में स्थिति अच्छी बनती है किन्तु वहाँ भी जो आदर्श स्थिति है वह नहीं होती है और व्यवहार काल में तो बहुत ही कम होती है ।

स्वामी जी — अच्छा अब इसी स्थिति को बनाना, ईश्वर से सीधा सम्बन्ध जोड़ना, पुनः समाधि लगाना, विवेक-वैराग्य की स्थितियों को उत्पन्न करना पुनः उनको दृढ़ बनाना ये सब हमारा कार्यक्रम इस लक्ष्य को लेकर है । देखो भौतिक वैज्ञानिक अपने क्षेत्र में सर्वस्व की आहुति देते हैं, कोई तो मर भी जाता है । पर वे इतना बल उस पर लगाते हैं जिसको अपनी दृष्टि में ठीक समझते हैं । तो ईश्वर-साक्षात्कार के विषय में, विशुद्ध वैदिक योगी बनने के विषय में, पढ़े-लिखे विद्वानों को लें, बिना पढ़े-लिखे को तो छोड़ो। कई बार ऐसा होता है कि बिना पढ़े-लिखे या जिनकी बहुत थोड़ी योग्यता होती है वे तो दिन-रात जूझते रहते हैं, ६—६ घण्टे लगाते हैं, बैठे रहते हैं आश्रमों में । पर इधर सन्ध्या भी पढ़े-लिखे थोड़े ही लोग करते हैं । इसलिए पढ़े-लिखे द्वारा सर्वस्व की आहुति देनी होगी और ऐसे हजारों लोग होने चाहिएँ। यदि वे हजारों नचिकेता की तरह जूझेंगे तो यह विद्या बचाई जा सकती है, व्यवहार में लाई जा सकती है; नहीं तो संसार से लुप्त जैसी हो रही है। लुप्त होते होते पता नहीं क्या हो जाएगा। अब आप उचित प्रयास करते हैं तो यह ऐसा हो सकता है । यदि आपने कोई न्यूनता रखी तो ये आपकी लाभ की उन्नत स्थिति होगी, पर कम होगी । कुछ तो करेंगे आप । बालक को ऐसी सूक्ष्म विद्या पहले माताएँ सिखाती थीं और पिता भी सिखाते थे, पुनः आचार्य सिखाते थे, उसके बाद पठन—पाठन के काल के मित्र सिखाते थे, जो योगाभ्यास करते थे, यह वहाँ भी होता था । परस्पर व्यवहार करते थे। पुनः प्रजा में भी अन्य कार्यों के साथ-साथ यही चलता था । योगाभ्यास

सभी आश्रमवाले करते थे, गृहस्थ लोग भी करते थे, वानप्रस्थ अपने ढंग से करते थे, संन्यासी उपदेश देते थे, सिखाते रहते थे तो ऐसी स्थिति में व्यक्ति को सुविधा होती थी आज की अपेक्षा। वर्तमान में तो कठिन इसलिए हो गया कि सारी बातें उलटी हैं । आज १० वर्ष का बालक दुनिया भर की विज्ञान की इतनी बातें सुना देगा जितनी कि पढ़ा-लिखा बड़ा व्यक्ति भी नहीं जानता । क्योंकि माता-पिता सब उसके पीछे लगे रहते हैं । यह सीखो, वह सीखो, लगातार दिन-रात सीखो । तब वह विज्ञान की सैकड़ों बातें सुना पाता है । कम्प्यूटर का काम करेगा, यह करेगा, वह करेगा, पता नहीं क्या-क्या करता रहेगा । इस ओर उसको कुछ नहीं आता, न माताजी को, न पिताजी को, न गुरुजी को, किसी को कुछ नहीं आता । आत्मा, परमात्मा के विषय में शून्य हैं । आप भी तो वहीं से निकलकर आए हो। अब देख लो ! यह सारा दण्ड भोगना पड़ेगा, जितनी आपने उलटी गति की, उलटे चलते रहे तो यहाँ वापस आने के लिए उतना ही भयंकर तप-त्याग करना पड़ेगा । क्योंकि उलटे कार्यों के दण्ड किसी न किसी रूप में तो भोगने ही पड़ेंगे । तो यह ध्यान में रखना है, डरने की, संकोच की बात कुछ भी नहीं है । संसार के अन्दर मनुष्यजीवन ईश्वर ने इसी के लिए दिया है कि ईश्वर को जाने और जनाएँ । शेष सब साधन हैं, इसके अतिरिक्त हमारा और कोई लक्ष्य नहीं है ।

आपका इन सम्बन्धों के कितना अनुकूल व्यवहार रहता है ?

साधक – शाब्दिकरूप में जानते हैं, पर व्यवहार उतना भी नहीं करते हैं।

स्वामी जी – सम्बन्ध के जानने पर अनुकूल व्यवहार नहीं करने से हानि होती है; क्या यह नहीं जानते अथवा लाभों को नहीं जानते ? लौकिक सुख साधनों के लिए लालायित रहते हैं, अतः सम्बन्धों को नहीं जान पाते। लोक, पुत्र, मान, धन की इच्छा उसे व्यवहार में आने नहीं देती है ।

जीवन में जो अव्यावहारिक स्थिति हो, उसे हटा देना चाहिए । जिन-जिन कारणों से व्यवधान पड़ता हो उन-उन की खोज करनी चाहिए और उन्हे हटाना चाहिए । जिन-जिन कारणों से वेदोक्त सम्बन्धों का व्यवहार नहीं हो रहा है; उनकी गवेषणा करके उन्हें हटा देने पर ईश्वर से सहायता मिलती है, उन्नति होती है, ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि होती है, थोड़े ही काल में समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं; यह परिणाम आता है ।

गम्भीरता में जाएंगे तो पता चलेगा कि हम दोनों के मध्य के सम्बन्ध का ध्यान क्यों नहीं रहता है ? ऋषियों, वेदों के द्वारा बताई बातों का आचरण क्यों नहीं करते ? कारण हैं प्रमादादि दोष । रागी, द्वेषी, आलसी न हो तब दोषों को हटा सकता है । लौकिक माता, पिता, भाई, राजादि से इतना अधिक जुड़ा रहता है कि ईश्वर को भुला देता है, भूला ही रहता है ।

लोक में देखिए, थोड़ी देर के लिए नास्तिकों, भोगवादियों को छोड़ दीजिए, जो आस्तिक कहलाते हैं, ऋषियों, वेदों को स्वीकार करते हैं, उन का भी ईश्वर से सम्बन्ध नहीं बना रहता है । जब कहा जाता है, वानप्रस्थावस्था में आ गए अब सम्बन्ध बनाने के लिए प्रयास करें, तो कहते है मेरा कार्य नहीं है । इतनी त्रुटि ! पढ़ते हैं, पढ़ाते हैं अच्छी बात है किन्तु ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तन–मन–धन से कोई प्रयास नहीं करते हैं । ये तो शिक्षक-उपदेशक-संन्यासिवर्ग की बात है। जीवन में जो विकास संभव था, सफलता हो सकती थी, जो विशेषता आती, सम्बन्ध के अभाव में कुछ नहीं हो सका । ऋषियों ने अपने ग्रन्थों में बहुत बल दिया कि ईश्वर–प्रणिधान करो, समर्पित रहो, ईश्वर को ही चाहो, लौकिक–फल पर अधिक बल मत दो । किन्तु ये न तो सम्बन्ध बनाते हैं न अपनी मान्यता में सुधार करते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का ध्यान रखना होता है कि मेरे जीवन की सफलता के क्या क्या कारण हैं ? कौन कौन से पदार्थ गुण, क्रिया, उपासना कारण हैं । इसके विपरीत यदि नहीं जानते तथा साधनों का संग्रह, रक्षा, वृद्धि नहीं करते तो असफलता होगी । उदाहरण – भौतिक वैज्ञानिक जड़ पदार्थों को उन्नति = सफलता का कारण मानते हैं । उनका बहुत अन्वेषण करते हैं । यद्यपि उनका विकास विश्व के लिए बहुत बड़ी देन है किन्तु पूर्ण उन्नति का कारण जो ईश्वर है, उसे उन्होंने छोड़ दिया । भूमि आदि पदार्थों को जीवन का आधार मानकर विविध उन्नति की, परन्तु ईश्वर से सम्बन्ध तोड़ लिया; उसका परिणाम यह हुआ कि सुख की अपेक्षा दुःख की ही वृद्धि हुई ।

ईश्वर के साथ कैसा सम्बन्ध रखें? जैसे शिशु माता–पिता, भाई तथा अन्य सम्बन्धियों के बीच केवल माता ही को देखता है, उसी को सब कुछ जानता है, और स्वयं जैसा है वैसा (सामने) समर्पित होता है, कोई छल–कपट आदि नहीं रखता। यही सम्बन्ध ईश्वर के साथ जीवात्मा का होना चाहिए । आप निश्चित जानें –

★ ईश्वर-सम्बन्ध के बिना उन्नति नहीं होगी ।

★ आपकी बुद्धि में यह बात बैठ जानी चाहिए और वैसा ही व्यवहार हो जैसा ऋषियों ने वर्णन किया अथवा वेदों में बताए सम्बन्ध के अनुसार। वहाँ शब्दप्रमाण में विश्वास होना चाहिए, वही आधार बनता है । विश्वास न होने पर शब्दप्रमाण आधार नहीं बनता है । यदि आपने अनुमान से स्वयं इतना मन्थन किया; कण-कण ढूँढ़ा कि क्या मेरी शक्ति है? कुछ नहीं। भौतिक शक्ति है? नहीं । सब को छान मारने पर अन्त में फल निकलेगा कि वस्तुतः सारे भौतिक पदार्थ ईश्वर की सहायता के बिना जीवात्मा की तिल भर भी सहायता नहीं कर सकते । जब यह निर्णय हो जाएगा तब जाकर यह स्थिति बनेगी । आप इस मान्यता को जानिए कि शब्द-प्रमाण को माने बिना विवेक-वैराग्य नहीं होगा । यदि केवल इतने मात्र से बिना शब्दप्रमाण के होता तो किसी का भी हो गया होता ।

साधक – उपासना में स्थिति रहती है परन्तु दिनभर नहीं, वहाँ भी शिशुवत् समर्पण नहीं होता और यदि इस प्रकार केवल ईश्वर-प्रणिधान में लग जाएँ तो सारा कार्य अवरुद्ध हो जाएगा ।

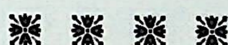
स्वामी जी – इस स्थिति में विचार करें एक पक्ष में यदि ईश्वर के लिए कार्य करने पर सब कुछ अवरुद्ध होगा, विश्राम काल में ईश्वर-प्रणिधान में लगूंगा तो विश्राम जाएगा; तो यह क्यों नहीं विचारते कि उसके बिना श्वास भी नहीं ले सकते । यदि शिशुवत् स्थिति होगी तो विद्या–आनन्द की प्राप्ति होगी । वस्तुतः वह आपकी बुद्धि में नहीं है, इसलिए उसमें रुचि नहीं होती। आपने कभी आर्याभिविनय पढ़ा या नहीं ? महर्षि दयानन्द की अत्यन्त श्रद्धा, विश्वास को देखिए, कितनी पूर्ण भावना है! पता चलेगा दयानन्द का जितना विश्वास था मेरा तो उसका अंश मात्र है । जब उपासना में प्रयोग करके देखते हैं, तब परिणाम प्राप्त होता है, बिना प्रयोग के फल दिखाई नहीं देता, उसके बिना प्रभाव नहीं होता तथा लौकिक संस्कारों से प्रभावित रहता है ।

साधक३ – सम्बन्ध कैसे बने, थोड़ा इसका आभास करायें ?

स्वामी जी – आप बैठकर विचार कीजिए, अपने शरीर को देखिए; कैसी विचित्र रचना है, सूर्यादि को देखो । इनकी रचना हमारे में से कोई नहीं कर सकता। कैसे कैसे जीवन चलता है, रसादि निर्माण होता है ? जो

भी जीवन है, बिना ईश्वर के कोई भी व्यवहार इस रूप में नहीं हो सकता। तब सम्बन्ध हो सकता है।

अब देखो ! ईश्वर ने वेदों में बार बार यह कहा कि तुम्हारा हमारे साथ माता, पिता, गुरु, उपास्य, राजा का संबंध है । यह सारा विवरण आता रहता है । जैसे लोक में पिता-पुत्र का संबंध होता है ईश्वर अपने साथ भी ऐसा संबंध जनाना चाहते हैं । यदि हम ऐसा जान लें तो ईश्वर से सम्बद्ध होकर पूरा लाभ उठा सकते हैं। नहीं तो उससे वंचित रहेंगे, अविद्याग्रस्त रहेंगे, उलटे चले जाएँगे, अधार्मिक बनेंगे, क्लेशों को भोगेंगे ।



स्थिति-धारण

योगाभ्यास का प्रमुख लक्ष्य ईश्वरप्राप्ति करना व कराना है अतः योगाभ्यासी को, जो समाधि को प्राप्त करना चाहता है, उसे सतत ध्यान रखना पड़ता है कि हमने किसी अन्य प्रयोजन को ईश्वरप्राप्ति के समान या उससे अधिक तो नहीं मान रखा है?

एक व्यक्ति दो कार्य करता है, उन दोनों कार्यों का समान मूल्य देखता है । कभी परस्पर में एक का मूल्य न्यून और दूसरे का अधिक देखता है। आप भी सतत आत्मनिरीक्षण के द्वारा देख सकते हैं कि किसी क्षण में असावधान होने पर आपका निश्चित किया हुआ लक्ष्य ईश्वरप्राप्ति नहीं रहेगा । उसके तुल्य या उससे अधिक भी कोई लक्ष्य दिखाई देगा।

आप बताएँगे कि क्या स्थिति रहती है ?

साधक १ –वर्तमान में ईश्वरप्राप्ति ही मुख्य लक्ष्य दिखाई देता है, रहता है। कभी कभी अध्ययन में रुचि अधिक हो जाने पर ईश्वरप्राप्ति लक्ष्य गौण बन जाता है । वहाँ स्वाध्याय के समय तृष्णा को कम करने का प्रयत्न करता हूँ।

साधक २ –व्यावहारिकरूप में ईश्वरप्राप्ति लक्ष्य मुख्य नहीं बन पाया है, सामान्य रूप से मन में अध्ययनादि मुख्य बना रहता है, इसके लिए प्रयास कर रहा हूँ कि यह गौण बन जाय और ईश्वरप्राप्ति लक्ष्य मुख्य बन जाए ।

साधक ३ – कभी कभी स्वल्प काल के लिए ईश्वरप्राप्ति जीवन का प्रधान लक्ष्य होना चाहिए, ऐसी अनुभूति रहती है, शेष काल लौकिक प्रयोजन की मुख्यता रहती है ।

साधक ४ – ईश्वरप्राप्ति ही मुख्य लक्ष्य है परन्तु परोपकारादि समान लगते हैं। यह उचित है या नहीं, पुनरपि अपनी योग्यता के अनुसार इनको साथ लेकर चलने का प्रयत्न करता हूँ।

स्वामी जी – उसमें यह जानना है कि परोपकार, समाज सेवा, राष्ट्रोद्धार, वेदांगों का पठन-पाठन आदि; ये सब जितने भी उत्तम कार्य हैं इनका परित्याग नहीं है अर्थात् ये अनिवार्य हैं, किन्तु ये ईश्वरप्राप्ति के तुल्य या उससे मुख्य हो जाएँ, ऐसा नहीं है। यदि इनका परित्याग करता है अर्थात् इन्हें अनिवार्यरूप से नहीं करता है तो व्यक्ति को इस मार्ग में जितनी सफलता मिलनी चाहिए, अर्थात् ईश्वर-साक्षात्कार की जो स्थिति है वह नहीं प्राप्त हो पाती। प्रायः व्यक्ति इस संबंध में बहुत कम विचार करता है। यदि करता भी है तो लौकिक प्रयोजन उसको ईश्वर से विमुख करते जाते हैं। एक होता है साधारण स्तर का व्यक्ति। ऐसे लोग लोक का उपकार करते हुए सन्ध्यादि करते रहते हैं। परन्तु प्राचीन पद्धति के अनुरूप देखा जाय तो उत्तम से उत्तम महान्, विद्वान् गृहस्थी का भी लक्ष्य ईश्वरप्राप्ति के लिए ही गृहस्थ में आना होता था। लक्ष्य वही रहता है शेष निम्न या उच्च साधन होते हैं। जो इस आश्रम से दूर रहता है जिसका कि ईश्वरप्राप्ति ही सीधा लक्ष्य होता है उसकी तो बात ही क्या? वे तो पूरा बल लगाते ही हैं। इधर गृहस्थ में रहनेवाले भी विचार करते हैं कि गृहस्थाश्रम के नियमों का पालन करेंगे, पञ्चमहायज्ञ करेंगे, पठन-पाठन करेंगे, राष्ट्र का उपकार करेंगे, यह सब करते हुए संस्कार बनेंगे, भूमिका के रूप में सज्जा हो जाएगी। उसी स्थिति में किसी को वैराग्य हो जाय तो वह गृहस्थाश्रम को तत्काल छोड़ देता है, जैसे कि याज्ञवल्क्यादि ने छोड़ दिया। यदि वहाँ भी ऊँचा वैराग्य नहीं हुआ तो वानप्रस्थ में जाकर मोड़ लेता है। समाधि लगाना है इसलिए गुरुओं, आचार्यों के पास जाकर पूरा बल लगाता है।

साधक ५ – वर्तमान में तो ईश्वरप्राप्ति ही मुख्य लक्ष्य रहता है और उसी के साधनों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न चलता है और सांसारिक लक्ष्य समझ में नहीं आता है। यह अलग बात है कि पूरे दिन भर बुद्धि में यह लक्ष्य बना रहे, यह नहीं रहता, पठन-पाठन के समय वही मुख्य हो जाता है, पर वहाँ भी लगता है, इस विद्या के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति होगी। ऐसा समझ में आता है।

स्वामी जी – देखो ! ऋषियों के वाक्यों को पढ़ते-पढ़ाते रहना चाहिए। **ईश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति कुतः ? अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्** । ऋ. भा. भूमिका । थोड़ी सी ईश्वर की प्रधानता का अनुभव करो। एक तो इस रूप में कि संसार में माता, पिता, राजा हमारी रक्षा करते हैं, गुरु भी पढ़ाते हैं, सूर्य-चन्द्र प्राकृतिक पदार्थ भी हमारे जीवन को सुरक्षित रखते हैं परन्तु स्मरण रखना, माता-पिता आदि अथवा पशु आदि भी ईश्वर की सहायता के बिना हमारा तिलभर भी उपकार नहीं कर सकते । या कर सकते हैं तो बताओ ! अच्छी तरह देख लो !

पुनः जड़वर्ग पूरी सृष्टि को लो । यह सृष्टि हमारा उपकार करती है, खाते-पीते हैं, इससे जीवित रहते हैं । पृथ्वी, जल, आदि हमको चाहिएँ। ये बने हुए पृथ्वी आदि और सूक्ष्मतम तीनों सत्त्व, रज, तम स्वतः सोचकर कुछ कर-करा के भी हमारा तिलभर उपकार नहीं कर सकते । न तो चेतन वर्ग कर सकता, न अचेतन वर्ग । जितना भी करते हैं, उनमें ईश्वर की प्रधानता देखिए, जब ईश्वर इनको विधिपूर्वक रचकर आँख, नाक, कान बनाता है, इससे देखना-सुनना, सूंघना आदि, पाचन की प्रक्रिया – यह रस बनेगा, रक्त बनेगा यह व्यवस्था करता है; तब जाकर पृथ्वी आदि जड़वर्ग हमारी रक्षा करते हैं । माता-पिता हमारी रक्षा करते हैं, पालन-पोषण जो भी करते हैं, वह सब ईश्वर की सहायता से करते हैं, स्वतन्त्ररूप से कुछ भी नहीं कर सकते । यह है एक ढंग ईश्वर की प्रधानता को देखने का।

जो व्यक्ति इस प्रकार विचार करता है उसकी ईश्वर के प्रति रुचि, श्रद्धा, प्रेम बहुत अधिक उत्पन्न होता है । वह कहता है यह ठीक है पृथ्वी आदि और सूक्ष्मतम तीनों सत्त्व, रज, तम भी हमारा उपकार करते हैं, इन बातों को मानना ही चाहिए, पर वह देखता है इसके मूल में तो सारा का सारा ईश्वर बैठा हुआ है । उसके बिना न तो चेतन पदार्थ हमारा भला कर सकते हैं न तो जड़ पदार्थ। पुनः देखो सब सत्य विद्याओं का आदि मूल परमेश्वर है, भौतिक विज्ञान, आत्म-परमात्म-विज्ञान, सारी विद्याओं का आदि मूल और सारे पदार्थों को बनाने से सब का आदि मूल परमेश्वर है ।

दूसरी दृष्टि से देखो ! भौतिक स्तर पर आप कितनी ही उपलब्धियाँ कर लो, न्यायपूर्वक चक्रवर्ती राजा बन जाओ परन्तु यह अनुभव नहीं कर सकते कि मैंने पाना था सो पा लिया, अब पाना बाकी कुछ भी नहीं रहा, कभी नहीं अनुभव कर सकते। बताओ ! अन्य कोई कर सकता है, क्या

ऐसा हो सकता है ? होगा ही नहीं। जब ऐसा होना ही नहीं तो दूसरे प्रयोजनों को पूरा करके हम क्या करना चाहते हैं ? ऐसा होगा नहीं कभी, आप अरबपति बन जाएँ, राजा बन जाएँ, पी-एच.डी. बन जाएँ, भौतिक वैज्ञानिक बन जाएँ, यह चीज तो आनी नहीं है। आकाश पाताल को खोजने लग जाएँ, ये बात तो कभी आएगी नहीं कि "पाना था सो पा लिया और पाना बाकी रहा नहीं" तो क्यों दौड़ूँ? पुनः क्यों हमारे दूसरे उद्देश्य प्रधान हो जाते हैं ?

ज्ञान के क्षेत्र में भी यही बात है। ईश्वर को जानकर जो सन्तोष होता है, ऐसे कोई बीस विद्या पढ़ ले पर वह सन्तोष उस क्षेत्र में होगा ही नहीं, जो ईश्वर को जानने से होता है। ऋषियों ने निर्णय दिए हैं, क्या ? **कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति?** किसके जान लेने पर यह सब ज्ञात हो जाता है? **द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ मुण्डक १/३-४-५ ॥** परा और अपरा इन दो विद्याओं को जानना चाहिए, इनमें वह परा विद्या है जिससे वह अविनाशी ब्रह्म जाना जाता है। **आत्मनि वा अरे विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति** ॥ बृह. उप. ४/५/६ ॥ परमात्मा को जान लेने पर सब ज्ञात हो जाता है।

जानना था जो जान लिया अब गौण चीजें रह गईं, अब उनको जितना जानो तो जानो अलग बात है। वहाँ सन्तोष होता है। केवल भौतिक विज्ञान सहित १०–१५ विद्या पढ़ लें परन्तु वह व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि मैंने जो जानना था सो जान लिया अब जानना बाकी नहीं रहा। नहीं होगा। धन–सम्पत्ति आदि की प्राप्ति में भी यही बात है। जब समाधि अवस्था में आनन्द मिलता है, उस समय कहता है जो पाना था सो पा लिया अब शेष नहीं रहा, यह स्थिति और किसी पदार्थ की प्राप्ति में होती ही नहीं है। तो आपको ईश्वर की प्रधानता समझ में आ गई या नहीं ?

आप जब तक अध्ययन, मन्थन, निर्वाचन नहीं करेंगे तब तक आपकी प्रगति लोक की ओर होगी, ईश्वर के क्षेत्र में नहीं हो सकती। आप देख सकते हैं जो व्यक्ति ईश्वरप्राप्ति को प्रमुख मानकर समाज का भला करता है, देश का भला करता है, विश्व का भला करता है, वह जितना उपकार और जिस ढंग से उपकार करता है, लौकिक कार्यों को प्रमुख माननेवाले उतना कभी नहीं करते, कर ही नहीं सकते हैं। तो इस प्रकार से आप अध्ययन करेंगे। यह ज्ञान-विज्ञान की बात है।

योग विद्या सीखने के इच्छुक व्यक्ति को अच्छी प्रकार विचारना चाहिए, सदा विचारे कि मानवजीवन का मुख्य प्रयोजन क्या है ? आपने बहुत कुछ

सुना है, पढ़ा है, पढ़ाया भी है। परन्तु इतने मात्र से समझ लेना कि जितना विचारना था उतना विचार लिया और कोई अपेक्षा नहीं है तो ऐसा मत मान लेना। सरल दिखाई देता तो है, सुना सुनाया है, परन्तु इतना होनें पर भी कोई ही अनुभव करता होगा कि वस्तुतः लौकिक-सुख में कृतकृत्यता नहीं है, सफलता का आधार नहीं है। अतः इस प्रकार निर्णय कर लेना और सतत निर्णय बनाये रखना होता है। यहाँ यह भी समझना चाहिए कि एक बार निर्णय जैसे-तैसे हो गया तो वर्षों तक चलता रहेगा; ऐसा नहीं है। कितने बार परिवर्तन होगा इसकी कोई गणना नहीं है। एक दिन में कितनी बार आवृत्ति हो जाती है पता नहीं। कितनी तीव्रता से परिवर्तन होता है कि मेरे जीवन का लक्ष्य ईश्वरप्राप्ति है पुनः लौकिक-सुख-प्राप्ति लक्ष्य हो जाता है। भ्रान्ति, संशय सदा बने ही रहते हैं। जब तक आप इस स्थिति में रहेंगे तब तक आपका तन–मन–धन, शक्ति–सामर्थ्य योगी बनने में नहीं लगेगा। अतः विशेष परिश्र्म नहीं किया तो परिणाम होगा कि विफलता की स्थिति देखनी पड़ेगी।

इन दो पक्षों में कभी कोई जीतता है कभी पराजित होता है। इस प्रकार दिनभर संघर्ष चलता रहता है। जब तक पढ़ी-सुनी बातों को प्रयोग में नहीं लाते हैं तब तक अनुभूति का विषय नहीं बनता, बुद्धि में बात बैठती नहीं है। एक बार बैठ जाने पर भी स्थिति टिकी रहे ऐसा भी नहीं होता। उच्चावस्था में भी जहाँ सम्प्रज्ञात से असम्प्रज्ञात में पहुँच गया, ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया, वहाँ कैसे रह रहा होगा ? क्या आराम से बैठा होगा, कुछ नहीं करना पड़ता होगा ! जिस तरह से कि पृथ्वी पर बैठे बैठे स्वतः भ्रमण होता रहता है; क्या ऐसा होगा ? नहीं। कहीं मान लें कि अब यों ही मुक्ति हो जाएगी, आगे कुछ नहीं करना होगा? आपकी क्या मान्यता है ? अपनी मान्यता भी देख लो या कोई निर्णय ही नहीं किया है ?

साधक– इसमें दोनों प्रकार के पक्ष हैं - एक तो सम्प्रज्ञात में ही सारे संस्कार दग्धबीज हो जाते हैं। दूसरी मान्यता में असम्प्रज्ञात में पूरे दग्धबीज होते हैं।

स्वामी जी – सम्प्रज्ञात में बहुत कुछ दग्धबीज हो जाते हैं, एक स्थिति मान ली। पर पूरे दग्धबीज हो जाते हैं, हम इस विचार को स्वीकार नहीं करते हैं। यदि पूरे दग्धबीज हो जाने की बात है और मुक्ति का अधिकारी बन जाता है तो असम्प्रज्ञात की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु इस सम्प्रज्ञात-समाधि को तो आगे चलकर हेय पक्ष में मान लिया है। आपको कुछ प्रमाण

भी चाहिए तो सूत्रकार ने जो बात कही— **व्युत्थाननिरोध.....अभिभव प्रादुर्भावौ.....।** यो.द. ४/१२ की व्याख्या पढ़ो। वे कहते हैं जब निरोध संस्कार उभरते हैं तो असम्प्रज्ञात समाधि और जब व्युत्थान-संस्कार उभरते हैं तो वह टूट जाती है । ऐसा क्यों लिखते ? यदि सम्प्रज्ञात में सब पूरा हो जाता है यदि ऐसी बात होती तो असम्प्रज्ञात-समाधि को प्राप्त होने के पश्चात् वहाँ तक जाने मात्र से वह मुक्ति में चला जाता, मोक्ष का अधिकारी बन जाता और एक बार उसकी असम्प्रज्ञात-समाधि हो जाने पर उसके टूटने की, गिरने की कोई बात ही नहीं रहती, न उसके लिए और प्रयास करना पड़ता; ऐसा होना चाहिए था । दूसरी बात इस अवस्था को प्राप्त कर लिया और उसको अब कोई और प्रयत्न न करना पड़े, ऐसा सिद्धान्त नहीं है । सतत उसको प्रयास करना पड़ेगा। वह कितनी बार भंग होगी, कितनी बार लगाएगा इसकी गणना करना कठिन है । कितने वर्षों तक लगाता रहेगा, टूटती रहेगी, लगाता रहेगा, बहुत लम्बी-चौड़ी बात है ।

साधक— और भी प्रमाण आता है कि व्यक्ति जब इस ऊँचे योग को सिद्ध कर लेता है तो उसका मन आत्मा के समान पवित्र बनकर रहता है या प्रलय में चला जाता है, तो वहाँ कुछ करना नहीं पड़ता है, ऐसी झलक आती है ?

स्वामी जी — हाँ यह कोई बात नहीं । जब यहाँ शरीर के साथ रहेगा तो वह सोएगा भी । नींद लेगा या नहीं लेगा ? नींद लेगा तो तमोगुण आएगा या नहीं आएगा ?

साधक— वह तो गुणातीत हो चुका है ।

स्वामी जी — गुणातीत गाढ़ निद्रा में भी रहेगा !!! (हंसी) ।

साधक —आत्मा को ये गुण दबा नहीं पाएँगे (उस काल में) ।

मध्यस्थ — (उपाध्याय विवेक भूषण जी) स्वामी जी ! आशुतोषजी जो कह रहे हैं वह स्थिति जीवन्मुक्त अवस्था के बाद की है, पहले की नहीं। हम जो चर्चा कर रहे हैं वह पहले की चर्चा है । जीवन्मुक्त होने से पहले की बात चल रही है ।

स्वामी जी — नहीं, वह जीवन्मुक्त क्यों न हो ? ध्यान देना यह है, प्रसंग यह खड़ा हो गया है कि जीवन्मुक्तावस्था में रहता है योगी, यह मानकर चलो; तब क्या वह सोता है या नहीं ?

साधक — सोएगा।

स्वामी जी — वहाँ तमोगुण होगा या नहीं ! तमोगुण रहा तो असम्प्रज्ञात समाधि रहेगी क्या ?

साधक — नहीं रहेगी ।

स्वामी जी —नहीं रहेगी तो जागरितावस्था में रहेगी । जागरितावस्था में यह स्थिति है, ठीक है न ! इस अवस्था में मन आत्मा के अनुकूल रहेगा। **आत्मकल्पेन वा व्यवतिष्ठते** ॥ यो. द. व्या. भा. १/५/५ ॥ मोक्ष हो जाएगा तो प्रलय में चला जाएगा ।

साधक — जागरितावस्था में जीवन्मुक्त योगी को भी कभी अज्ञान उत्पन्न हो सकता है ?

स्वामी जी — हो सकता है । उसके कई कारण होंगे । जैसे अतिरुग्ण हो जाना। क्लोरोफार्म सुंघा देना । जब ज्ञानतन्तु काम नहीं करेंगे तो उलटा दिखाई देगा आदि आदि कारण होंगे । क्योंकि वह नैमित्तिक है समाधि स्थिति उसको उपलब्ध है इसलिए ऐसा है । समाधि बिगड़ेगी तो तमोगुण का प्रारम्भ हो जाएगा। रोग के कारण, तमोगुणी विषैली औषधि के कारण सन्तुलन बिगड़ जाता है । व्याधि इसका विरोधी है । उस समय तमोगुण के आधार पर समाधि भंग होती है । यह पृथक् बात है कि वासनाओं के आधार पर भंग न हो। मान लो पीलिया रोग हो गया तो इसके प्रभाव को तो योगी भी नहीं हटा पाएगा। वासना के आधार पर न हो यह तो ठीक है । आ गया समझ में या कोई और शंका रह गई ?

एक बात का ध्यान रखना । ये जो योग सीखनेवाले होते हैं इनमें कई अपनी भिन्न-भिन्न स्थिति रखते हैं । कभी योग के गम्भीर विषय उपस्थित होते हैं । सिखानेवाला तब कहता है यह ऐसे करना और सीखनेवाला कहता है यह ठीक नहीं है । यह मतभेद हो गया । तो शिक्षार्थी कहेगा मुझे ऐसा करना अच्छा नहीं लगता, मैं तो वैसा करूँगा । तब वहाँ क्या होता है ? शिक्षक का जो अनुभव है वह तो सिद्ध है और यह सीखनेवाला जो है उसका स्तर निम्न है । यह अपने निम्न स्तर से मापता है । पुनः मार खाता है । एक सिद्धान्त बिगड़ गया तो सारे बिगड़ जाएँगे । इसको समझने के लिए हम कल्पना से एक उदाहरण बनाते हैं । मनु कहता है, अपमान की इच्छा करते रहो, सम्मान से विष के तुल्य डरते रहो । अब कोई आचार्य ब्रह्मचारी

को भिक्षा माँगने के लिए कहता है। भिक्षा माँगते समय वहाँ ब्रह्मचारी को कोई गाली देता है, कोई कीचड़ फेंकता है, कोई धक्का मारता है। तब आचार्य तो कहते हैं कोई बात नहीं सहन करो। ब्रह्मचारी कहता है नहीं आपकी इस बात को मैं बिलकुल नहीं मानूँगा। वह गाली देता रहे, कीचड़ फेंकता रहे और मैं सहन करता रहूँ ! अब यहीं मतभेद हो गया, बात बिगड़ गई। सिखाने वाले ने कहा ऐसा करो, आपने कहा नहीं। एक भी बात बिगड़ गई तो वहीं पर सारी स्थिति बिगड़ जाएगी।

सबकी बात छोड़ो, कोई एक जिसकी थोड़ी तीव्र बुद्धि होती है, वह ऐसा सोचता है कि दुनिया में मैं अकेला बुद्धिमान् हूँ। जबकि वह बुरी तरह से मार खाता है। श्रद्धा तो कम होती है, आचरण न्यून होता है, पर तर्क-वितर्क में निपुण होता है; सबको पराजित करता चला जाता है। तब पराजित करते-करते इतना अभिमान आ जाता है कि अपनी बुद्धि को सर्वत्र मापदण्ड बना लेता है। पुनः उल्टे को सुलटा कहना, करना सीख लेता है। कौन क्या कहता है ? दुनिया कुछ भी कहे मुझे ठीक लग रहा है; ऐसा मानने लगता है। तो आप भी ऐसे मत कर देना। क्यों जी ?

प्रशिक्षक की बात पर ध्यान देना चाहिए। नहीं देते हैं तो इसका अर्थ निकला आपने प्रशिक्षक को गौण मान लिया, उसकी उपेक्षा कर दी। इससे स्तर-हानि होती है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सिखानेवाले और सीखनेवाले की मान्यता में भेद हो तो सिखाने वाले की मान लेनी चाहिए क्योंकि सिखाने वाला उस केन्द्र तक पहुँचा सकता है जहाँ ले जाना चाहता है। अतः अपनी मान्यता को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। शिक्षक कहता है यह करो, वह कहता है मेरा तो मन नहीं मानता है। अब क्या होगा ? श्रद्धा के अभाव में मन नहीं लगता है। बताते समय बहुत शिष्यों में श्रद्धा होती है, किसी में नहीं भी होती है। जिसमें नहीं होती है वह सीख नहीं सकता। अपने सामने दूसरे की बात हेय समझता है। यही बाधा आपके सामने भी है। इसको छोड़ना पड़ेगा नहीं तो दुःखी होंगे। आप जिस कसौटी को लेकर चल रहे हैं वह न्यूनयोग्यतावशात् न्यूनमापदण्ड के कारण है। शिक्षक की योग्यता अधिक होती है। अपनी मानने पर निम्न कसौटी से ऊँची बात नहीं पकड़ सकते। प्रमाणरूप में उपनिषद् सामने रखें—**नैषा तर्केण मतिरापनेया.......॥** कठ २/९। गुरु जो कहता है उसको समझो एकाएक तर्क मात्र से मत उड़ा दो।



व्यवहार

मानवजीवन को सफल बनाने के लिए एक साधन है व्यक्ति का व्यवहार अर्थात् वह बुद्धिपूर्वक अन्यों से कैसा व्यवहार करता है और स्वयं के साथ कैसा व्यवहार करता है ? अन्यों से व्यवहार का तात्पर्य है उनके गुणों को जानकर ग्रहण करना किन्तु उनमें जो दोष हैं उनसे बचकर रहना। किन्तु यह अनुचित होगा कि न तो दूसरे के गुणों को जाने, न ही ग्रहण करे । इससे व्यवहार की एक कड़ी भंग मानी जाएगी । आपको यह दिखता है कि व्यवहार में दोनों बातें होती हैं ? लोग ऐसा करते हैं या नहीं ? पूरी तरह से नहीं करते हैं । दो भाग बना लो । एक तो कि जो गुणवान् व्यक्ति हो हमसे संबद्ध हुआ हो, कितना ही गुणवान् व्यक्ति हो पहले उसके गुणों को जानना और जानकर ग्रहण करना । गुणग्रहण न करना प्रायः यह स्थिति देखी जाती है । आजकल ऐसे बुद्धिमान् निपुण व्यक्ति बहुत कम हैं जो दूसरे के गुणों को जो अपने जीवन की उन्नति के कारण हों, उनको जानता हो, समझता हो और जीवन में ले आता हो । अब देखो जैसे आप मन्त्र पाठ करते हो; इसको ऐसा मत समझना कि यह व्यवहार का भाग नहीं है । इसमें जो उपदेश दिया जाता है; पहले तो गहराई से इसको समझना, पुनः इसके अनुरूप जीवन को बनाना । आप में यह कार्य बहुत कम अंश में चलता होगा । गहराई में जाना और उपयोगी को जानकर ले लेना ऐसा बहुत कम प्रयोग होता है। साधारण रूप से सुन लेता है, गहराई में जाता नहीं है । आगे बढ़ो तो सुनता भी नहीं है । ऐसा व्यक्ति कभी योगी बन जाय और ईश्वर तक पहुँच जाय ऐसा नहीं हो सकता। बात साधारण सी दिखती है इसलिए लोग इधर ध्यान ही नहीं देते हैं ।

यहाँ एक बात ध्यान रखने योग्य है कि भूल से व्यक्ति दोषों को भी गुण मान लेता है । जब हम दूसरे के गुणों को ग्रहण करने लगते हैं उस समय एक असावधानी होती है कि गुणों से प्रभावित होकर उसके दोषों को गुण मान लेते हैं और अपने जीवन में ढाल लेते हैं । यथा हम गए आबू पर्वत, वहाँ उनकी विशेषताएँ देखने को मिलीं । अब एक व्यक्ति ने सुना, समझा यह, वह । पुनः उसने उनके गुणों को पकड़ा और साथ-साथ उनकी जो मान्यताएँ हैं जिनसे व्यक्ति उन्नत हो ही नहीं सकता है, असंभव बाते हैं; उनको भी पकड़ लिया । पूछे जाने पर हमारे से संबद्ध एक बुद्धिजीवी

ने बताया २०—२५ वर्ष से यहाँ हूँ। वह दोषों को गुण मानकर चल दिया, चलते-चलते २० वर्ष खो दिए। वहाँ आपने देखा होगा कि उन लोगों में सेवा भावना भरी जाती है; चाहे वह बुद्धिपूर्वक हो या न हो। वह उस सेवाभाव से प्रभावित हुआ और अन्य बातें जो हानिकारक थीं उन्हें भी स्वीकार कर लिया। जबकि एक बुद्धिमान् व्यक्ति, किसी की पाँच मान्यता गलत है २—३ अच्छी है तो केवल २—३ अच्छी को पकड़ लेता है, उलटी को नहीं पकड़ता है। इसमें अपवाद भी है कि कभी-कभी एक के पकड़ने में ५ दोष आते हों, हावी होते हों तो एक गुण भी छोड़ देना चाहिए। इसमें दृष्टान्त लेना हो तो महर्षि दयानन्द को देख लो। उनका ३५—४० वर्ष का जीवन ऐसा ही चलता गया। जिस जिस साधु-संन्यासी के पास गए, उनमें जो जो बात अच्छी लगी, उनको झट पकड़ते हैं, चाहे वह कोई हो और उसमें जो अशुद्धि = **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्यादि** थी उनको नहीं पकड़ा; कहा गुरुजी यह बात तो मैं नहीं मानता। इसलिए चौथा नियम बनाया कि सत्य के ग्रहण .....। और आगे बढ़ो तो जो सर्वथा सर्वदा इस नियमानुसार उद्यत नहीं है वह योगी बन नहीं सकता। अच्छी तरह याद कर लो, दोहरा लो। आप दिनभर अपने जीवन में इसको देखा करो।

सत्यासत्य के ग्रहणत्याग का एक विभाग स्वयं से जुड़ा हुआ है और दूसरा अन्य (समाज) से जुड़ा हुआ है। अपने से जुड़ा हुआ बड़ा सूक्ष्म है। हमने क्या समझा ? प्रमाणों से माना कि ईश्वर आनन्दस्वरूप है, सर्वव्यापकादि है और यह मानने के पश्चात् हम पुनः ईश्वर के साथ वैसा ही व्यवहार नहीं करते हैं जैसा करना चाहिए। माता, पिता, गुरु, राजा, उपास्य प्रमाणों से सिद्ध है पर हम इसके अनुकूल व्यवहार नहीं करते हैं। स्वयं के साथ यह व्यवहार नहीं होता है। अतः सत्यासत्य व्यवहार की मर्यादा पूरी की पूरी बाहर भीतर से है। सत्यासत्य के ग्रहण-त्याग में उद्यत रहो। उद्यत रहने वाला कहेगा कि यह सत्य है कि व्यक्ति दिनभर ईश्वर-प्रणिधान में रहता हुआ सारे कार्य कर सकता है, दिनभर ईश्वरोपासना में रह सकता है। यह सत्य है कि ईश्वरोपासना में आनन्द है अन्यथा लोकोपासना में क्लेश है। यह प्रमाण सिद्ध हो गया पर वह ऐसा करने का प्रयत्न नहीं करता है तो सत्यासत्य के ग्रहण-त्याग में उद्यत नहीं है। किन्तु ऐसा करना एकाएक पूरा-पूरा होता है यह नहीं कहा जा रहा है। यह पूरा होता है, कहा जा रहा है। चलते-फिरते व्यक्ति ईश्वरानन्द को ले सकता है, अपनी अविद्या को हटा सकता है। सत्य के ग्रहण में

ईश्वर से विद्या का ग्रहण करो और अविद्या का नाश करो । ईश्वर के साथ रहकर धर्माचरण करो, अधर्म का नाश करो । अन्याय को उखाड़कर फेंक दो । यह है अपने साथ सत्यासत्य का व्यवहार ।

समझ में आ गया होगा ! [वासुदेवजी सोचने लगें यह तो ब्रह्मचारियों के काम का होगा, मैं तो व्यापारी हूँ; ऐसा तो नहीं है ? क्यों नानकजी नींद तो नहीं आ रही है ?]

एक भाग जो अपने से संबद्ध है इसका इतना संकुचित क्षेत्र नहीं है कि केवल दूसरे से बात कर ली, यह तो अन्दर से बाहर तक दोनों ओर आर-पार जाती है । कहीं भी गोते लगाओ सब जगह यही मिलेगा, जो-जो प्रमाणों से सिद्ध होता है वह वह ग्राह्य है उसके लिए उद्यत रहना चाहिए। परन्तु एक व्यक्ति समाधि को समझ तो गया पर एकदम समाधि लगा लेगा यह तात्पर्य नहीं है। परन्तु उसके लिए जितना परिश्रम अपेक्षित है उतना पूरा बल लगाता है; बस इतना है । वही परिश्रम करते-करते समाधि तक पहुँच जाता है; यह है उद्यत रहना । इसलिए सन्तुलन रखना चाहिए ।

कुछ बातें ऐसी होती हैं, मोटे रूप में होती हैं, उनको तो हम झट पकड़ लेते हैं । हमने यात्रा में कहा देखो साथ रहना, इधर-उधर मत होना, नहीं तो हम भटक जाएँगे । अब बताने पर भी जब हम चलने लगते हैं वह देखने लग जाता है, हम उसको ढूँढ़ने लगते हैं । दूसरी जगह गए पुनः खिसक गया । कहाँ गया ? उधर गया । अब यह व्यक्ति सत्यासत्य के ग्रहण-त्याग में बिलकुल उद्यत नहीं है । वह यह भी नहीं देखता है कि समाज की क्या हानि होगी ? यह भी नहीं देखता कि मेरा दूसरों पर क्या दुष्प्रभाव पड़ेगा? देखो जब हमारे दोषों के कारण हमारा दूसरों पर दुष्प्रभाव पड़ता है तो उनको दुःख होता है । तब यहाँ अहिंसा का पालन तो हो नहीं रहा है। पुनः हिंसा करता हुआ ईश्वर तक कैसे पहुँच जाएँगे ?

आप को पता चलेगा कि व्यवहार का ढंग कैसा है, कितना है ? तब आप उसको समझेंगे, पकड़ेंगे तब सफलता मिलेगी । यदि आलस्य, प्रमाद किये तो कुछ आपके गुण होंगे उससे लाभ मिलेगा परन्तु पूर्ण सफलता, ईश्वर-साक्षात्कार, समाधि आदि स्थिति में नहीं जा सकते हैं ।

अब चलो आज के वैज्ञानिकों में । उनमें अत्यन्त-गवेषण-क्षमता है, मृत्यु पर्यन्त खूब परिश्रम करते हैं; यहाँ तक अच्छा है । किन्तु ईश्वर के साथ उनका

जो संबंध होना चाहिए था, ईश्वर को जानना, उसके गुणों को लेना आवश्यक था, उसको छोड़ दिया अतः विफल हैं, सफल हैं ही नहीं । लंगड़ी बातों को लेकर चल रहे हैं । एकांगी हैं । आविष्कार तो किये परन्तु ऐसे किये कि सबके लिए विनाशकारी । जाना तो, परन्तु पूर्ण नहीं । वह अपने लिए और दूसरों के लिए हानिकारक सिद्ध हो गया। अन्तिम परिणाम आना चाहिए था कि व्यवहार अपने और दूसरे, दोनों के लिए सुखदायी होता ।

एक स्थल पर आई हुई महर्षि दयानन्द की बात सुनाता हूँ । उन्होंने कहा एक बात तो जैनियों की ठीक है कि प्रकाश में भोजन करना चाहिए क्योंकि अन्धेरे में भोजन करे तो कीड़े-मकोड़े कुछ भी खा जाय, पता नहीं चलता । तो इससे यह बात निकलती है कि सत्य जहाँ मिलता हो ले लो।

अब आप देखो ! वह दोनों बात न लेना । एक ओर आपने देखा कि आबू पर्वतवालों में सेवाभाव कितना है ? अरबों–खरबों की सम्पत्ति, कितना लम्बा-चौड़ा संसार बनाया है उन्होंने और एक-एक व्यक्ति बंधा बैठा है, जीवन खपा दिया । अब आपने सोचा इनका सेवाभाव बड़ा विचित्र है, ग्राह्य है ले लेना चाहिए। पुनः इनका परमधामवाला भगवान् भी ठीक होगा । यह गुण के साथ दोष पकड़ना हुआ । बहुत बड़ी जनसंख्या ऐसी मिलती है कि गुण तो देखा, किन्तु न उस गुण को पकड़ा न तो उनके भगवान् को, बस जाकर आ गए । तो क्या कार्य किया ?

अब यह भी देखा इतना लम्बा-चौड़ा संगठन, उसका नाम है । उनमें अनुशासन = मिलकर रहना, आज्ञापालन वाली बात है । अब आप मिलकर रहनेवाली बात तो पकड़ते नहीं हैं, उसको छोड़ देते हैं, जबकि मिलकर रहने से हम उन्नति करते हैं और कोई भी काम करना चाहें कर डालते हैं ।

यह संगठन सबको बनाना नहीं आता है । तन–मन–धन से परस्पर के लिए अर्पित रहना पड़ेगा, तब संगठन बनेगा, वैसे तो बनता नहीं । किन्तु अपना-अपना भला करता रहे और दूसरे को संगठित कर दे ऐसा नहीं होगा। संगठन बनाने के लिए अहिंसा-व्रत का पालन करना होगा तथा अत्यन्त सेवाभाव अपनाना होगा तब संगठन हो पाएगा। संगठन से जो सहायता मिलती है बिना संगठन के नहीं मिलती है । बाहर से, अन्दर से हमारे ऊपर आक्रमण होते हैं; संगठित हों तो हम बच जाते हैं ।

यद्यपि संगठन में कुछ हानि भी होती है क्योंकि संगठन में दूसरे के अधीन रहना पड़ता है । औरों की कुछ ऐसी बातें माननी पड़ती है जो हमें स्वीकार

नहीं होतीं । हम अपने तन-मन-धन से संगठित लोगों को उन्नत करते हैं। परन्तु लाभ अधिक होता है यह हमारी बुद्धि में हो तो लगेगा कि बहुत कुछ हानि उठाकर भी हम संगठित रहना चाहते हैं । एक व्यक्ति केवल अपना लाभ देखता जाय वह संगठन में नहीं चल सकता।

अब दूसरी बात देखो । जहाँ हमने सेवा का गुण देखा वहाँ पर विद्या का गुण, जैसी विद्या होती है, आत्मा-परमात्मा को जानने की, समाधि की, तत्त्वज्ञान की विद्या वहाँ नहीं है । वहाँ जो विद्या पूर्वक अपने और दूसरे के साथ व्यवहार होता है वह उनको नहीं आता है । क्या समझ में आया? दोहरा लो । जो विद्या से अपने साथ कैसे व्यवहार करना है, हमें क्या ध्यान करना है, मन को कैसे रोकना है, ईश्वर को कैसे खोजना है और दूसरों के साथ कैसे बातचीत करनी है; दूसरों को कैसे विद्या पढ़ानी है आदि वहाँ नहीं है । जब बातचीत में प्रमाण मांगते हैं तो वे कहते है प्रमाण क्या है? उससे क्या लेना देना है ? प्रमाणों से क्या संबंध है ? अपना अनुभव करो, करवाओ; यह उनकी शैली है । प्रमाण पूर्वक उन्हें बोलना कहा जाय तो बड़ा कठिन है । यही उनकी विफलता का कारण बन गया ।

अब जो बात अच्छी है उसको तो रखना चाहिए । जो अच्छी नहीं उसको हटा देना चाहिए । उन्होंने वेदों की, दर्शनों की अच्छी-अच्छी बातों को भी ठोकर मारी, उनका खण्डन करना आरम्भ कर दिया । अब बताओ कैसा व्यवहार आया? चाहिए तो था दूसरे से गुण ले लेना । यह बात मुमुक्षुजी ने उनके सामने रखी कि यह बात करोड़ों वर्षों से चली आई है उसको आपने एकदम धक्का दे दिया, कहीं का कहीं उखाड़कर फेंक दिया; यह क्या किया? अब वे उसको सिद्ध नहीं कर सकते हैं कि हमने ठीक किया है । इसलिए अपने लिए व अन्यों के लिए हानिकारक कर दिया । जब एक शंका की गई कि देखो आपकी पुस्तक में ईश्वर का अवतार लिखा है, नहीं कैसे कहते? आरम्भ में कहा हम नाराज नहीं होते हैं, खण्डन करने पर नाराज हो गए।

एक बात पर ध्यान देना चाहिए कि व्यक्ति को इन कसौटियों से व्यवहार करते समय ईश्वर के साथ अनुचित व्यवहार न हो जाय । कैसे? जैसे किसी ने उन्नति की, व्यवहार सीखा, गुणों को उपार्जित किया, सब किया तब उसके मन में बात आई कि मैं बहुत अच्छा व्यक्ति हूँ, मैं निपुण हूँ, मैंने कितने

गुणों को इकट्ठा कर लिया है ! अब यहाँ पर ईश्वर के साथ ठीक व्यवहार नहीं रहा। परन्तु इसको वहाँ कौन देखता है ? यहाँ देखना है कि सत्यासत्य के ग्रहण-त्याग की गहराई कहाँ तक जा रही है। वह निपुण हो गया, बुद्धिमान् है, कसौटी से बोलना भी आता है और यम-नियमों के पालने से उसमें जो गुण आए, उसमें दोष आया कि मैं बहुत बुद्धिमान् हूँ, विद्वान्, बलवान्, लेखक हूँ और ईश्वर को वहाँ उसने छोड़ दिया। तो सत्यासत्य के ग्रहणत्याग में यह व्यक्ति उद्यत नहीं है। अब इसको कौन पकड़ता है ? जो इस बात को जानता है कि यह बल-विद्या-धन जो मेरे पास आया; यह मेरा नहीं है, परमात्मा का है वह व्यवहार-कुशल है। परन्तु आप किसको मानते हो ?

बात को लेखबद्ध करना, कंठस्थ, सुसज्जित रखना; ये बातें प्रत्येक क्षेत्र में काम आती हैं। जैसे पहाड़ों पर अन्धेरे में कार सुरक्षित, सावधानीमय चलाई जाती है तब तो वह बचा लेती है। ऐसे ही वह देखता रहता है कहाँ भूल हुई, अब क्या करें? यदि कंठस्थ रखता है, सुरक्षित रखता है तो झट देख लेता है, कसौटी से कस लेता है यह ठीक है या नहीं। अब दर्शन की बात जोड़ दो **"इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानिः"**॥ सांख्य ४/१४। समाधिवाला ऐसे सावधान रहता है। आप कहाँ सावधान रहते हैं! दिनभर की तो छोड़ो प्रातः सायं भी समाधि नहीं लगती है। व्यवहार कुशलता कहाँ आई? अब देखो ! इन्होंने जीवन लगाया, भवन बनाया पर यह नहीं सोचा हमारा जीवन क्यों हुआ, कैसे हुआ ? यह कुछ नहीं। पड़े हैं अपना खाया-पीया, लेट गए। आप को तो कहते रहते हैं आज उनके लिए भी कुछ कह दें। ये माताएँ अपना खाती-पीती, आराम करती हैं। सारी तो नहीं कुछ तो समाधि के लिए अभ्यास करती होंगी, शेष अपने बेटे-पोते, सगे-सम्बन्धियों के लिए पसीना बहाती रहती हैं और परमात्मा के लिए कुछ नहीं। बचा समय तो ईश्वर से जोड़ देना परन्तु मुख्य समय अपने परिवार के लिए लगाना ! कहाँ है व्यवहार ! क्यों वासुदेव जी ? जब बायां-दायां पैर उठना कठिन हो गया तब आया आश्रम में। यहाँ आके औरों से सेवा लेगा। सेवा नहीं मिली तो कहेगा क्या तुम्हारा आश्रम है व्यर्थ की दीवारें खड़ी कर रखी हैं ? किन्तु अब भी बचा धन परिवार को दे देगा आश्रम में नहीं देगा, वहीं झोंकेगा। पता नहीं ऐसी बुद्धि लोगों ने कहाँ से सीखी ?

आत्मवद् व्यवहार :

वेद में जो कहा –

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।

यजुर्वेद ४०/७।

जैसे अष्टाध्यायी स्मरण होने पर, उसका अर्थ जानना सरल हो जाता है । वैसे व्याकरणोपरान्त वेदमन्त्र का अर्थज्ञान सरल हो जाता है । यथा– यस्मिन् = जिस ईश्वर के जान लेने पर, सर्वाणि = सभी, भूतानि = जीवात्माएँ, आत्मा + एव = अपने ही, अभूत् = हो जाते हैं, विजानतः = विद्वान् का। तत्र = उस विद्वान् योगी में, कः = नहीं कोई, मोहः = अविद्या, शोकः = क्लेश रहता है, एकत्वम् = अपने जैसे सब, पश्यतः = द्रष्टा का (उसके) हो जाते हैं ।

मुख्य बात है ईश्वर को जान लेने पर सभी प्राणी आत्मतुल्य दिखाई देते हैं । आपको कैसा दिखाई देता है ?

साधक – नाममात्र आत्मतुल्यता दिखाई देती है ।

स्वामी जी – अहिंसा को लेकर चलेंगे तो आत्मवत् देखना अनिवार्य होगा । जब तक दोषों को दूर नहीं करेंगे, कोई उन्नति नहीं होगी । लौकिक व्यक्ति का इस विषय में कोई ध्यान नहीं है । इस प्रकार से आत्मनिरीक्षण करने वाले प्रायः संन्यासी भी नहीं मिलेंगे । सूक्ष्मता से जीवन का ज्ञान, उसकी निर्माण-विधि, उसके विनाशक तत्त्व अविद्यादि को दूर करना नहीं जानते हैं। शुद्ध-पवित्र जीवन से उनका कोई प्रयोजन नहीं रहा । यदि पूर्ण परिश्रम, तपस्या नहीं की तो आप का भी जीवन वैसा ही हो जाएगा ।

साधक – आत्मवद् और यथायोग्य व्यवहार का क्या समन्वय है?

स्वामी जी – जैसे हम अपने लिए चाहते हैं कि सुख मिले, वैसे ही दूसरा भी चाहता है; ऐसा समझना = मानना, अन्यों के लिए भी सुख चाहना। किन्तु सहायतादि देते समय स्थिति को देखकर यथोचित सहायता करना। जैसे किसी समाजसेवी को ५ सहस्र की सहायता, उससे अधिक योग्य दूसरे को १० सहस्र की सहायता दी जा सकती है । अर्थात् मानसिकरूप में सहायता योग्य मानते हुए यथाशक्ति साधन प्रदान करना।

साधक – धर्म, विद्यादि में अपने से ऊँचे स्तर वाले के लिए क्या भावना रखनी चाहिए तथा निम्न स्तर वालों के प्रति क्या भावना रखनी चाहिए?

स्वामी जीं – मानसिक रूप में सबके लिए भद्रता की कामना समान होगी किन्तु साधन के आदान-प्रदान में समानता न होकर योग्यतानुसार व्यवहार होगा।

इस स्थिति में जाने वाले के लिए कहा – **तत्र को मोहः कः शोकः।** इस स्थिति को प्राप्त करने में क्या समस्या दिखाई देती है ? किसी को तो समस्या का पता ही नहीं चलता । कोई जानकर भी प्रयत्न नहीं करता, पूरा संघर्ष नहीं करता । अहिंसा पालन करते समय कष्ट आने पर छोड़ देता है । वैसे ही बाधाओं से प्रेम करता है, जैसे एषणादि से ।

❖ ❖ ❖ ❖

बाहर-भीतर की एकता

अच्छा ! व्यवहार में यम-नियमों की बात प्रमुख रहती है । कल्पना करते हैं आप मन में सोचते होंगे, देखो ! भोजन में यह कमी है । भोजन ऐसा नहीं बनता है । हम को फल देते हैं, भला इस आधे-आधे टुकड़े में क्या होता है? बाहर किसी को बताया तो नहीं है, मन-मन में सोचते रहे; इतना सा फल, वह भी सड़ा–गला ? व्यक्ति ऐसे ही मन में सोचता रहता है पर जब उसे कहा जाय भाई ऐसी कोई बात तो नहीं है ? कहेगा नहीं ! नहीं ! ऐसा कुछ नहीं है । झूठ बोल देता है । आपमें कोई ऐसा तो नहीं करता है ? करोगे तो मार खा जाओगे । संकोच करता है, डरता है, सोचता है क्या कहेंगे बड़ा खाऊ (पेटू) है । यदि ऐसा भाव रखते हैं तो विफल हो जाएँगे । "जो अन्दर है वह बाहर रखो ।" डरना नहीं। यदि वह दोष होगा तो दोष मान लिया जाएगा । आपको समझाएँगे कि यहाँ दोष है । दोष नहीं होगा तो आपको समझा दिया जाएगा कि यह दोष नहीं है । कल्पना करें जो फल बाँटते हैं उसमें किसी ने कहा देखो जी साधकों को इतना फल मिलना चाहिए था पर नहीं मिलता है ? यहाँ वह समझता है कि वाह! इतना धन इनके पास है, इतने दान लेते हैं और देखो थोड़ा-थोड़ा फल देते हैं! तो हम कहेंगे कि हमारी अर्थव्यवस्था इतनी ऊँची नहीं है जिससे आपकी तृप्ति की स्थिति में पहुँच जाएँ तथा अन्य कार्य भी होते हैं । वह कहेगा हाँ यह बात तो ठीक है । तो घटना आ गई समझ में ! सोचने का ढंग तो आ गया ? जहाँ बिना बताए अनेक दोष होते हैं, वहीं बताने पर कितने कम दोष होते हैं; पर यह व्यवहार सब नहीं जानते ।

अच्छा दूसरी बात सुनो । आप मुझे मेरा दोष बताएँगे तो आपको डर तो नहीं लगता ? क्यों जी ? मैं तो यह प्रयोग करता हूँ भाई डरना नहीं है आपने।

जो दीखता है वह बताना है। आप डरते हैं संकोच करते हैं। मन में तो रखते हैं पर बताते कुछ नहीं । मैं तो इसी को भयंकर दोष मानता हूँ ।

साधक — लोक में तो ऐसा करने से बहुत हानि होती है ?

स्वामी जी — यह लोक है हम तो परलोक में रहते हैं ! हम कहते हैं आपके लोक में हानि होती है हमारे लोक में तो यही लाभप्रद है । वह मतभेद हो गया न जो मैंने बताया था ! ऐसे मतभेद होता है । और कुछ समझ में नहीं आया हो तो बताएँ । सारी कहें ?

साधक — ऐसी भी स्थिति होती है कि वर्तमान में तो लगता है कि इनका यह व्यवहार ठीक नहीं है । पर उसी समय उसको नहीं बताते हैं। पुनः कालान्तर में विचारने पर लगता है कि वैसा ही उचित था ।

स्वामी जी — हाँ ऐसा होता है ।

साधक — इसलिए तत्काल बताना उचित नहीं लगता है ।

स्वामी जी — नहीं, उसमें भी ऐसा होता है, एक तो तत्काल नहीं बताते हैं कि और काम में लग रहे हैं; तब तो नहीं बताते हैं परन्तु आगे भी नहीं बताते हैं तो मनःस्थिति खराब होती रहती है । मन में तो वैसा मानता रहता है । दूर जाकर पता चल जाता है, कई बार तो नहीं चलता है । वह ज्यों का त्यों मान्यता लिये चला जाता है ।

दूसरी बात है कि यदि बताने वाले का यह स्वभाव है, वह सिखाता है कि जो मन में हो उसे बताओ, यदि दोष होगा तो मान लिया जाएगा। दोष नहीं होगा तो आपको समझा दिया जाएगा । अब यदि नहीं बताते हैं तो आज्ञाभङ्ग होती है और ऐसा करने पर बाहर भीतर एक होके खुले ढंग से विचारते हैं । जो बाहर–भीतर एक होके नहीं विचार सकता वह योगविद्या में प्रवेश नहीं कर सकता, न सीख सकता है न सिखा सकता है ।

मध्यस्थ (उपा० म०) — विद्यार्थियों के लिए एक सुझाव यह भी है कि आचार्य की बात यदि दोषपूर्ण दिख रही है तो उसको वह सीधा दोषपूर्ण न मान ले। प्रश्न के रूप में या जिज्ञासा के रूप में वह पूछे कि आपका यह व्यवहार मुझे समझ में नहीं आ रहा है ।

स्वामी जी — हाँ ऐसे बताएँगे वे ।

उपा० म० — इसमें कोई बाधा नहीं पड़ती है ।

स्वामी जी — जैसे किसी ने कहा जी आप तो दिन में सो रहे थे! सामान्यरूप से तो कहा जाता है दिन में नहीं सोना चाहिए । मन में था तो

पूछ लिया । उसका उत्तर मिलेगा । देखो ! रात्रि में नींद नहीं आती, घण्टों तक जगना पड़ता है । उसकी पूर्ति दिन में कर लेते हैं । तो उसको समझ में आ गया अवस्था विशेष में ऐसा हुआ; नहीं तो दिन भर उसी को लेकर घूमता रहेगा।

ये सारी बातें स्पष्ट रूप में चलती हैं बाहर भीतर की एकता । जो हम सार्वभौम महाव्रत कहते हैं न! उसकी इतनी गहराई है कि नीचे से लेकर ऊपर समाधि तक सारे व्यवहारों में व्यापक रहता है । बार बार इसलिए कहते पूछते रहते हैं कि आपका भय दूर हो जाय, संकोच दूर हो जाय । तभी तो आप सीख सकते हैं, नहीं तो योग सीखने में नहीं आएगा थोड़ा बहुत तो आएगा विशेष गति नहीं होगी । सब नस-नाड़ियाँ-छिद्र बता दिये जाते हैं यहाँ ऐसा होता है, यहाँ ऐसा होता है । प्रायः जहाँ तक हमारी बुद्धि की दौड़-धूप है, वहाँ तक छोड़ते ही नहीं हैं । आप जो मन में इधर-उधर की बातें सोचते हैं वह हम भी सोचते हैं या नहीं सोचते हैं ? मानव मनोवृत्ति कैसी होती है, कितनी होती है, अध्ययन में वह लगभग सारी बातें आ जाती हैं। न बताओगे तब भी आएँगी।



सन्तोष

मानसिक स्तर पर आप मनोविज्ञान के क्षेत्र में देख सकते हैं कि एक थोड़े से काल में व्यक्ति बहुत ऊँची स्थिति का अनुभव करता है, कुछ ही काल में बहुत नीची अवस्था का अनुभव करता है । कुछ ही काल में बहुत सुखी हो जाता है कुछ ही काल में बहुत दुःखी हो जाता है । अब आप ध्यान देंगे जो हम दुःखी होते हैं, वह दुःख कहाँ से आ जाता है ?

साधक १ – तमोगुण से उभर आता है ।

स्वामी जी – जीवात्मा उभार लेता है या स्वयं उभर आता है ?

साधक २ – दोनों बातें हैं स्वयं भी जीवात्मा उभारता है और चलं च गुणवृत्तं के कारण दुःख भी जीवात्मा को दबा देता है ।

साधक ३ – ऐसा ही है, कारण तो गुण ही होते हैं, जीवात्मा अपनी ओर से भी उभारता है ।

साधक ४ – रजोगुण जब सत्त्वगुण को दबा लेता है तब दुःख की स्थिति उत्पन्न होती है। इसमें जीवात्मा भी अपनी ओर से ऐसा कर सकता है, कर लेता है। कभी शरीरादि की अवस्था, भोजन, रोगादि के कारण रजोगुण स्वतः उभरकर दुःखी करता है।

साधक ५ – एक तो जीवात्मा स्वयं अज्ञानता से ऐसा कार्य करता है जिससे रजोगुण बढ़ जाता है। दूसरा कारण चलं च गुणवृत्तं है।

स्वामी जी – देखो कितनी बातें निकलती हैं। यदि हम समझ जाते हैं तो जो ढ़ेर सारी समस्याएँ उभरती हैं सब हल हो जाती हैं। यदि नहीं समझते हैं तो कुछ ऐसी बातें पकड़ लेते हैं जिससे दिनभर दुःखी रहते हैं। कल्पना करते हैं जैसे किसी ने जीवानन्द जी से कहा देखो ! इतनी बड़ी बड़ी मूंछ-दाढ़ी पक रही है, बुढ़ापे में योग सीखने आया है, जवानी खो दी इसने यों ही। और भी कहा – लक्कड़ जैसा शरीर है, ये सीखेगा योग! अपने पड़े रहते कहीं आश्रम में, कहीं से रोटी भिक्षा में मांग लेते। इन्होंने ध्यान से सुना और पुनः देखा कि मैं तो बहुत कुछ सीख रहा हूँ, बहुत उपलब्धि हो रही है; परन्तु उसने बिना कारण के क्यों कहा कि तू बूढ़ा हो के लक्कड़ सा शरीर बना के योग सीखने आया, देखो इसका क्या मतलब है ? इन्होंने यह दिमाग बनाया। पुनः कमरे में चले गए वहाँ दुःखी बैठ गए वहाँ दुःखी, भोजन में दुःखी, शौच के लिए गए वहाँ दुःखी। मन-मन में बड़े दुःखी। यह दुःख कहाँ से आ गया और किसने बुला लिया ? यह व्यक्ति को पता रहना चाहिए।

साधक – स्वयं दुःख अनुभव किया। उसके ऐसा कहने से मुझे दुःख नहीं मनाना चाहिए था, मेरी कमजोरी थी, मैंने ऐसा अनुभव किया।

स्वामी जी – अच्छा यह व्यक्ति जानता है कि दुःख कहाँ पर रहता है; एक बात। द्रव्य क्या है उसका यह पता रहना चाहिए। कोई भी गुण द्रव्याश्रित रहता है तो उसका आधार क्या है ? ईश्वर, जीवात्मा या प्रकृति है ? कोई तो होगा ? यहाँ देखना है दुःख का आधार द्रव्य क्या है ?

साधक – रजोगुण है, उसके आश्रित रहता है।

स्वामी जी – ठीक है। अब आप देखेंगे कि जिसने ऐसे शब्द कहे, अपमान किया, चिढ़ाया। इसके पश्चात् यह व्यक्ति दुःख उत्पन्न कर सकता है और लेशमात्र भी दुःखी न हो, ऐसा भी रह सकता है। अपने हाथ में

है यह बात । यदि चित्त, मन, इन्द्रियाँ समझी जा चुकी है कि ये जड़ पदार्थ हैं मैं चलाता हूँ । यह दुःख रज द्रव्य के आश्रित रहता है । मैं इन इन्द्रियों को छेड़ छेड़कर इसको पैदा करता हूँ तो क्यों करूँ? उसने जब यह विचार किया तो जो दुःख होना था, नहीं हुआ । आप इसका प्रयोग करके देख सकते हैं । बिना प्रयोग के तो यह पक्का होता नहीं ।

दूसरी बात, यह तो किसी ने कहा है उसके कहने से यह दुःख हुआ है। हम स्वयं स्मृतिवृत्ति उभारकर भी महादुःख उत्पन्न कर लेते हैं, जैसे दूसरे स्थान पर आपको बड़ी सुविधाएँ थी, यहाँ वे उपलब्ध नहीं हो रही हैं और जब उस बात को याद करेंगे कि वहाँ कितनी सुविधाएँ थीं ? यहाँ उपलब्ध नहीं हो रही हैं । यह आपकी न्यूनता हुई कि उसकी पूर्ति नहीं हो रही है तो अब दुःख होना आरम्भ हो गया । व्यक्ति स्मृतिवृत्ति के इस दुःख को नितान्त रोक सकता है । कुछ समझ में आया या नहीं आया ?

अच्छा अब आपके घर की बात = निकटतम बात । अब ध्यान, उपासना में आपका मन नहीं लग रहा है । उखड़ गया । फिर लगाया, फिर उखड़ गया। पुनः पुनः करके आप कहने लगे आज तो सारा घण्टा बेकार हो गया। कुछ पल्ले ही नहीं पड़ा । बड़ा बेकार जीवन है । अब स्वयं दुःखी होना आरम्भ कर दिया । क्या समझ में आया ? इस प्रकार आप दुःखी होते हैं या नहीं ?

साधक – पुरुषार्थ करके असफल होने पर ऐसा विचारते हैं कि समय व्यर्थ गया ।

स्वामी जी – वहाँ उस प्रकार दुःख होता है न ? वहाँ होना और न होना दोनों धाराएँ चलती है । वहाँ दुःख होना आवश्यक नहीं है । समय बेकार गया; वह परिज्ञान तो कर लें पर दुःखी नहीं होना है । यदि आप यम-नियमों पर ध्यान दें तो वह सन्तोष के अन्तर्गत आ जाएगा। क्या समझ में आया ? दुःखी नहीं होंगे आप । पुरुषार्थ खूब किया पर वृत्ति नहीं रुकी, ध्यान नहीं जमा, सफलता नहीं मिली । आप ने ध्यान दिया । एक ध्यान दो सन्तोष की ओर । दूसरा इस ओर कि किस दुःख की उत्पत्ति कहाँ से हुई है ? अत्यन्त पुरुषार्थ करना, उसमें सफलता न मिलने और मिलने पर कोई शोक नहीं । पूर्ण पुरुषार्थ करना और जो हो जाय बस ठीक है। दुःख से बचने का यह एक उपाय है ।

लम्बी चौड़ी बातें, पता नहीं क्या-क्या; कोई बात नहीं वहीं समाप्त करो। कुछ नहीं है। नहीं तो उसको बढ़ाते जाओ, सोचते जाओ बढ़ता जाएगा; सोचते जाओ बढ़ता जाएगा। दिमाग चक्कर काटने लगेगा और वही आगे चलकर इतना तीव्र हो जाएगा कि उसको रोकना चाहो तो भी नहीं रुकेगा। नींद नहीं आएगी, भूख नहीं लगेगी, रातभर दाएँ—बाएँ करवट बदलता रहेगा। ध्यान दो; यदि पता चला यही सन्तोष है, इसी को 'सन्तोष' कहते हैं, तो इससे भी यह रुकता है। परन्तु यह कुछ निम्न स्तर का उपाय है; इससे भी उत्कृष्ट उपाय है कि मन को, बुद्धि को, आत्मा को अधिकार में करता है कि इस दुःख को उत्पन्न करनेवाला कौन है ? मैं। यह दुःख रहता है रजोगुण के आश्रित तो मैं दुःख उत्पन्न क्यों करूँ और स्वयं उत्पन्न कैसे हो जाएगा?

और सुनो। एक घण्टा गया; उपासना नहीं हुई एक यह हानि हुई और इससे दुःखी हुआ यह दूसरी हानि। तो प्याज भी खाए और जूते भी खाए! एक तो घण्टा चला ही गया पर उसकी दूसरी मार पड़ी कि मेरा समय बेकार हो गया यह दुःख। क्या जीवन है इससे तो कुछ नहीं हो रहा; यह दूसरी मार है। वह यह नहीं जानता कि एक घण्टा गया यह समय की मार तो पड़ी ही; तू दूसरी मार स्वयं मार रहा है। बुद्धिमान् क्या करता है ? एक चोट जो लगी सो लगी, घण्टे में जो हानि हुई सो हुई अब दण्डा लेकर तू स्वयं अपने सिर पर क्यों मार रहा है, नहीं मारता। इस मानसिक स्तर को रोकने की विद्या जड़ और चेतन का विज्ञान है। यह जड़-चेतन विज्ञान यदि ठीक रहता है तो चाहे जिसको वह रोक देता है, कोई भी धारा क्यों न हो। एक घण्टा हमने पुरुषार्थ किया, वह चला गया; थे उसके कुछ कारण यह जान लिया अब आगे नहीं होने देंगे। सोचने का ढंग यही तो है और क्या है ? कुछ नहीं।

एक व्यक्ति अपना कुर्ता धोने लगा, उसमें सौ रुपये का नोट था। गरमारम पानी, साबुन से उबाला हुआ; उसमें झट से घोंट दिया। जब वह कालान्तर में देखने लगा तो सड़ा-गला मिला, भयंकर लगने लगा। कहने लगा देखो बड़ी भारी भूल हुई; नोट ही चला गया ? अब सोचने वाला कहता है असावधानी से इसमें डल गया। अच्छा डल गया तो डल गया फिर क्या है ? आगे ऐसा नहीं करेंगे। खतम। बात समाप्त। क्या समझ में आया ? वहीं समाप्त हो गया और यह पुनः याद करता है कहता है क्यों चला गया, इसे तो दान में ही दे देते। देखो ऐसा हो गया ! वही व्यक्ति ध्यान में बैठा, वह सौ

का नोट ध्यान आ गया। **सोचने की जगह दे दी उसको,** अब उपासना नहीं होगी; यदि जगह नहीं दी होती तो उपासना हो भी जाती । कैसे ? **यह तो ईश्वर का है, नाशवान् है, क्या मतलब दुःखी होने से ?** सन्ध्या-काल में सोचा तो प्याज भी खाना जूते भी खाना पड़ेगा। एक तो ईश्वर का आनन्द जाएगा और यह नोट तो गया ही गया है । बुद्धिमान् यही समाधान करता है। हम जितने भी कार्य करते हैं उन सब में यह प्रयोग होता रहता है ।

अपनी वृत्तियों को यह व्यक्ति समेटता है, छोटी बना देता है, छोटी बनाकर रोकता है, रोककर पुनः हल्का-फुल्का बन जाता है । जो सोचना चाहता है वह सोचता है जो नहीं सोचना चाहता वह नहीं सोचता है । अब हल्का-फुल्का बन गया । यदि इसको इस तरह भारहीन नहीं होना आता है तो गदहे की तरह भार ढ़ोता रहता है, दिन-रात दुःखी रहता है। एक घटना आई उससे दुःखी, दूसरी हुई उससे दुःखी, तीसरी आई उससे दुःखी होना आरम्भ हो गया । घर से दूरभाष आया, सुन लिया, वह वहीं से दुःखी होना आरम्भ कर देता है । इस प्रकार व्यक्ति के साथ में घटनाएँ जुड़ती रहती हैं और वह दुःखी होता जाता है । परिणाम होता है उसकी बुद्धि मन्द होती चली जाती है, काम करना बन्द कर देती है। संस्कार बिगड़ते हैं, सोचने का ढंग उलटा हो जाता है ।

तो जब जब हम उपासना में या दैनिक व्यवहार में कुछ भी बातें करते हैं, घटनाएँ होती हैं, होती ही रहती हैं । उनके होने पर हमको देखना-सुनना, पुनः उसके संबंध में निर्णय करना, विचार करना, उसका समाधान ढूँढ़ डालना चाहिए । आप साधक हैं योग विद्या सीखना चाहते हैं और कभी-कभी अपने काम-क्रोध, राग-द्वेष के संस्कारों को देखकर कहें कि इस पर कितना परिश्रम कर लिया, कितने वर्ष बीत गए जूझते हुए, इतने हमने पढ़े-पढ़ाए, आज भी लगे ही रहते हैं, इतने पर भी कोई सफलता तो दिखती ही नहीं है ? अथवा मानके चलो कोई दुःखी हो गया । दुःखी होने पर यदि इस प्रकार सोचना नहीं आया, बुद्धिमत्ता से कार्य नहीं लिया तो एक परिणाम स्वरूप बाहर निकल सकता है, योगमार्ग को छोड़ सकता है । उसके मन में एक बात बैठ गई जैसे ये इतने दिनों से वर्षों से दूर नहीं हो रहे हैं आगे भी नहीं होंगे और ऐसे ही सताएँगे । यह मार्ग तो उपयोगी नहीं दिखता, इस मार्ग को छोड़ देना चाहिए । बुद्धिमान् व्यक्ति देखता है कि **सफलता-विफलता**

जो जीवन का अंग है, इससे व्यक्ति बच नहीं सकता । पुनः विचारता है जीवात्मा अल्पज्ञ है, बेचारा थोड़ा सा जानता है । ईश्वर से लेकर गुजारा करता है आँख-नाक बनानी आती नहीं । पृथ्वी, जल, अग्नि उसके वश में नहीं कि जब चाहे वर्षा करवा ले, भूकम्प को रोक दे; यह इसके वश की बात नहीं । भला बेचारा जीवात्मा इतना सामर्थ्यहीन है तब यदि इसमें उसको सफलता नहीं मिली तो आश्चर्य की क्या बात है ?

दूसरे प्रकार से वह सोचता है इस सफलता–विफलता को तू क्या सोच रहा है ? ये तो तमोगुण हैं, इतने दिन परिश्रम किया योगाभ्यास किया अब आराम करो, आलसियों का काम है पड़े रहो । वह कहता है यह तो तमोगुण का स्वभाव है आलसी बन के पड़े रहना, विषय भोगों में फंस जाना । यह मेरा जीवात्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है । जीवात्मा धार्मिक है, पुरुषार्थी है, उसका स्वभाव तो ईश्वर से मिलता जुलता है; वह यह सोचता है । यह तो तमोगुण का स्वभाव है जो मेरे अन्दर आ गया है । ऐसा क्यों सोचता हूँ? ऐसी स्थिति में व्यक्ति स्वयं को सुरक्षित रख लेता है ।

पुनः वह देखता है, अब तक सफलता नहीं मिली; तो क्या हार मान के छोड़ देना ठीक है या पुनः विचारकर पुरुषार्थ आरम्भ करना यह ठीक है ? वहाँ पर भी गुणों का प्रभाव हमको रोकता है तब हम कहेंगे नहीं; यह तमोगुण का स्वभाव है या रजोगुण का स्वभाव है सत्त्वगुण का स्वभाव नहीं है और मैं जो पुरुषार्थ करता हूँ उसका फल किसी न किसी रूप में ईश्वर तो देता ही है । इस रूप में हम स्वयं को जमाते हैं । व्यक्ति स्थिर हो जाता है जो भी **पुरुषार्थ करूँगा उसका फल अवश्य मिलेगा।** धर्म करूँगा तो सुख मिलेगा, अधर्म करूँगा तो दुःख मिलेगा । यह मान्यता भी व्यक्ति को आलसी नहीं बनने देती, निराशावादी नहीं बनने देती; आशावादी बनाती है । इधर मनमानी करुँ तो याद रख परमात्मा के न्यायालय में छूट नहीं मिलती; मत कर ! क्यों जी ? छोड़ के बैठ जाओ।

परमात्मा जैसा कोई योद्धा नहीं है जो उसको फल देने से रोक देगा, परमात्मा की भाँति कोई सर्वशक्तिमान् नहीं है जो परमात्मा की व्यवस्था को रोक सकता हो । कभी कहो मैं नहीं करता, मैं तो हाथ पर हाथ रखकर बैठूँगा, पड़ा रहूँगा, खा–पी लूँगा किसी तरह । नहीं ! तू परमात्मा की व्यवस्था से बाहर नहीं जा सकता । कोई गया ही नहीं कभी आज तक, आगे भी नहीं जा सकता । तीन काल में जब व्यवस्था से बाहर नहीं जा सकता तब

कहाँ दौड़ लगाएगा ? इसलिए पुरुषार्थ करो; यही मार्ग हमारे सामने आया। इससे क्या होता है ? व्यक्ति में जो अन्तर्निहित बल, साहस है वह उभर जाता है । पुनः ईश्वर से, विद्वानों से, ग्रन्थों से शक्ति मिलती है । आगे चलकर वही व्यक्ति इतना बलवान् बन जाता है कि दूसरों को भी प्रेरणा देने लगता है ।

यह आपको जो बताया जा रहा है इसमें जड़-चेतन का विभाग पूरा आधार बनता है । दूसरी बात स्वाभाविक गुण जीवात्मा का स्वभाव, सत्त्व–रज–तम का स्वभाव; इनसे व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता है कि मेरा स्वभाव क्या है ? जीवात्मा स्वभाव से पवित्र है, परोपकारी है, धार्मिक है पुनः आलसी–प्रमादी कैसे हो रहा है ? यह तो तमोगुण का प्रभाव इस पर हावी हो गया है अतः इससे दूर होना चाहिए । यद्यपि जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है पर उसका फल भोगने में परतन्त्र है इसलिए ईश्वर की व्यवस्था को भी सदा देखते रहना चाहिए । अच्छे काम को करना या न करना, बुरे काम को करना या न करना इसके हाथ में है, पर कर देने पर बुरे कर्म का दण्ड न मिले ऐसा नहीं, वैसे ही अच्छे का फल न मिले यह भी नहीं है; इसलिए चुपचाप नहीं बैठ सकता। अच्छे काम करेंगे तब भी, न करेंगे तब भी परिणाम भोगना पड़ेगा, बुरे काम करेंगे तब भी, न करेंगे तब भी परिणाम तो भोगना ही पड़ेगा। तब इसने सोचा ईश्वर की व्यवस्था से तू बाहर नहीं जा सकता अतः उसका जो आदेश है तू उसे कर। **कुर्व्वनेवेह कर्माणि जिजिविषेच्छतं.....नान्यथेतोऽस्ति**॥ यजुर्वेद. ४०/२। अच्छे काम करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा कर इस तरह पाप तेरे पीछे नहीं लगेंगे ।

आप कभी निराशावादी तो नहीं हो जाते हैं ? ये सारी विचारधाराएँ व्यक्ति के सामने आती हैं; उभरती हैं, उभारते हैं। उभारना भी एक काम है । बुद्धिजीवी व्यक्ति विचारता रहता है । विचारों से प्रमाणों से काट–छाँट करके अलग-अलग कर लेता है यह ऐसा है, वह वैसा है । जब घटना घटती है झट निर्वाचित सिद्धान्त को काम में लेकर आगे बढ़ जाता है। पहले से निर्वाचन किया नहीं, काट-छाँट की नहीं, प्रमाणों से तोला नहीं, पुनः जब अवसर आता है तब मार खा जाता है ।

तो हमको जड़-चेतन का विज्ञान जितना-जितना होता जाता है उतनी-उतनी सफलता इन विचारधाराओं पर प्राप्त करते जाते हैं। दैनिक विचारधाराओं में यह सफलता का कारण है । जितनी प्रवृत्तियाँ है, मन के विचार हैं वे

जड़-चेतन के विज्ञान से यथावत् चलते रहेंगे, धर्म पर चलते रहेंगे। जड़-चेतन का विज्ञान नहीं रहा तो हम धर्म पर चल पाएँगे और अधर्म से रुक जाएँगे; ऐसा नहीं होगा। जीवात्मा स्वयं अच्छे-बुरे ज्ञानकर्मोपासना इन तीनों को करता है। अब जड़-चेतन का विज्ञान जीवात्मा के पास है तो शुद्धज्ञान, शुद्धकर्म, शुद्धोपासना करेगा अन्यथा उलटा करेगा। वैसे मन, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण उसके वश में नहीं रहेंगे यदि जड़-चेतन के विज्ञान से सम्पन्न है तो सबको वश में कर डालेगा।

दूसरी बात – जो हमारे ऊपर प्रभाव पड़ता है उसके दो क्षेत्र हैं। एक तो जीवात्मा स्वयं सत्त्वादि गुणों को उभारता है पुनः उसका परिणाम उसको भोगना पड़ता है। एक सीमा तक इनको रोक भी देता है। एक सीमा से आगे यथा अतिगाढ़निद्रा, रुग्णावस्था, अतिताप, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि उसकी शक्ति से बाहर हो जाते हैं। उस स्थिति में ये गुण हमको प्रभावित करते हैं। उस स्थिति में हम कितना ही बल लगाएँगे वह स्थिति हमारे वश में नहीं आएगी। मान लो पता चल जाए, हमारे वैज्ञानिक कहें कि एक ग्रह चल पड़ा है हमारी पृथ्वी से टकराएगा। तो इसको कोई वैज्ञानिक रोक नहीं सकता। भूकम्प को नहीं रोक पा रहे हैं, सुना होगा आपने। पता ही नहीं लगा पा रहे हैं कैसे भूकम्प आता है! जैसे पहले से समुद्री तूफान का पता लगा लेते हैं, वैसे भूकम्प का पता नहीं लगा पाते हैं। आनन्द प्रकाश जी आर्य (रुड़की, उत्तरांचल) भूकम्प के वैज्ञानिक हैं और पक्के वैदिक धर्मी हैं; वे ऐसा सुनाया करते हैं। अपने वर्माजी भी वैज्ञानिक होते हुए वैदिक धर्मी हैं।

कभी-कभी योगाभ्यासी लम्बे काल तक पुरुषार्थ करता है, तप–त्याग सब कुछ करता है, पुनरपि उसको शान्ति नहीं मिलती, समाधि नहीं लगती, मन, इन्द्रियाँ वश में नहीं आतीं तब वह सोचता है मैंने यह जो मार्ग पकड़ा है, कठिन है इससे कुछ सिद्ध होनेवाला नहीं है। इस पर चलकर क्या करना है? कोई विकल्प ग्रहण करना चाहिए। तब वह इस शुद्ध वैदिक योग मार्ग को छोड़कर केवल भोगमार्ग में पड़ जाता है, वहाँ आसक्त हो जाता है। आप भी सावधान रहिए, ऐसी स्थिति में इस मार्ग को छोड़कर केवल भोगमार्ग न अपना लेवें। यदि आपने मान लिया कि योगमार्ग से अन्य कोई सुखदायी मार्ग है तो आप योगमार्ग को छोड़ देंगे। इसके विपक्ष की बातें भी सुनते रहनी चाहिएँ। वेद का निर्णय है ईश्वर को जाने बिना समस्त दुःख

निवृत्ति तथा नित्यानन्द प्राप्ति का और कोई मार्ग नहीं है। **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं.......** । इस मन्त्र में कहा कि योगी कहता है संसार के लोगों ! मैंने ईश्वर को जान लिया, आप भी जानो। अन्त में कहा **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।** दुःखों से छूटकर किसी अन्य मार्ग से सुखोपलब्धि हो जाय ऐसा कोई मार्ग इसके अतिरिक्त नहीं है। यह निर्णय दे दिया, इसलिए यहाँ कोई विकल्प नहीं है। पुनः उपनिषत्कार ने भी विकल्प का खण्डन कर दिया। **इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः** ॥ केनोपनिषत् २/५ ॥ हे मनुष्य! इसी जन्म में ईश्वर को पा लिया तो तेरा जीवन सफल है, यदि इस जीवन में ईश्वर को नहीं प्राप्त किया तो तेरा महाविनाश हो गया। इस प्रकार कहा और कोई मार्ग नहीं है, विकल्प नहीं है।

जब मानवजीवन में ऐसी स्थितियाँ आती हैं, ऐसी अवस्था देखता है तो खिन्न, दुःखी, अशान्त होकर दूसरा मार्ग ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है। जो दोनों पक्षों को जानता है वह यह जानता है कि दूसरा मार्ग तो है ही नहीं; यदि है ही नहीं तो दूसरे मार्ग की बात ही मत करो। एक सत्संगी व्यक्ति थे वे कहा करते थे मैंने सब देख लिया अब लगता है इस मार्ग को छोड़कर जाऊँ कहाँ? मैंने तो सारे विकल्प सोच समझकर छोड़ छाड़कर यही मार्ग निर्वाचित कर लिया, इसलिए अब जीवनभर यहीं रहूँगा, कहीं नहीं जाऊँगा।

क्यों जी ! कभी अशान्ति होती है तो इस मार्ग से मुड़ने की इच्छा तो नहीं होती ?

साधक१ – कभी नहीं जी, स्वप्न में भी नहीं ।

स्वामी जी – या बुढ़ापा आ गया, इसलिए मुड़ने की इच्छा नहीं होती? अब सुनो ! मन्त्र में जो बात कही –

यस्मिन्त्सर्वाणि .... तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ यजु. ४०/७ । हे ईश्वर! जो योगाभ्यासी आपको जान लेता है वह समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के तुल्य समझता है। अपने लाभ-हानि, सुख-दुःख को जैसा जानता है वैसा ही दूसरी आत्माओं के भी हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि को समझता है। इस स्थिति में उस योगाभ्यासी के जीवन में अविद्या नाम की वस्तु नहीं रह जाती है। तब उसको शोक=क्लेश नहीं पीसते हैं।

जो ईश्वर को जान जाता है उसकी क्या स्थिति होती है, इसको बता करके कहा – **अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये सम्भूतिमुपासते** ॥ यजु० ४०/८।

जो व्यक्ति ईश्वर की उपासना नहीं करते हैं, योगी नहीं बनते हैं और इससे विपरीत मार्ग पकड़ते हैं तो भयंकर अन्धकार में गोते लगाते हैं। गदहा, घोड़ा, सूअर, भेड़-बकरी पता नहीं क्या-क्या बनते हैं। कौन ? जो प्रकृति = कारण की उपासना करते हैं। परमाणु, न्यूट्रोन—प्रोटोन; इनकी उपासना करते हैं, इनकी खोज में लगे रहते हैं और उसी से हमारा जीवन सफल हो जाएगा, ईश्वर की पूजा, उपासना आवश्यक नहीं है, ऐसा मानते हैं वे। पुनः कहा— ततो भूय..... । उससे भी भयंकर दुःख सागर में वे डूबते हैं जो कार्य की उपासना करते हैं। दिन-रात कपड़े धोने में लग रहे हैं, आभूषणों से लदे-लदे घूम रहे हैं, कोठी बनाने में लग रहे हैं, कार पे कार, कोठी पे कोठी खरीद रहे हैं। एक-एक घर में ६—६ कार, एक के पीछे दूसरी, तीसरी, चौथी। घर भर रखा है। जो इनकी उपासना करते हैं वे उससे भी भयंकर दुःखसागर में डूबते हैं। अब देख लो। छोटे छोटे बालक—बालिकाओं का शृंगार करो, ये करो, वो करो, चोटी बनाओ, बिन्दी लगाओ, नहीं तो रोएँगे ? ऊपर से नीचे तक कपड़ों से लाद दिया। आवश्यकता नहीं हो तो भी जुराब या क्या इंगलिश में बोलते हैं, वो पहना रखी है, गरमी में जूते पहना रखे हैं, फंसा रखे हैं, हवा तक लगती नहीं है। और दिनभर ऊपर से खिलाते रहते हैं। परन्तु लकड़ी की तरह सूख गया या ढ़ोलक जैसा उसका पेट बन गया। बनाना तो था सुन्दर अच्छा शरीरवाला पर बना दिया कुछ और। अच्छा खिलाते, अच्छा पिलाते, समय पर खिलाते-पिलाते तो सुन्दर शरीर बन भी जाता।

कई बार ऐसा लगता है इनको भयंकर अन्धकार में जाने दो। पुनः सोचते हैं नहीं नहीं, ऐसे कैसे छोड़ दें। ये भयंकर उलटे मार्ग पर चलते जाएँ और हम बैठे-बैठे देखते रहें; यह ठीक नहीं है। परमात्मा भी ऐसा करता तो दुनिया को बनाना छोड़ देता। वह क्यों नहीं कहता मत बनाओ संसार को। जब वह नहीं छोड़ता तो हम क्यों छोड़ दें ? अब आपको समझाते रहते हैं, पर मानते नहीं, समय पर उठते नहीं, याद नहीं करते, मौन नहीं रहते तो लगता है जाने दो इनको। पुनः सोचते हैं नहीं, परमात्मा भी जाने नहीं देता है इनको। वह तो कहता है बताओ, सिखाओ, छोड़ो मत इनको, भले ये बुरा मान जाएँ।

तो वेद ने क्या कहा ! देखो ! जो ईश्वर को नहीं मानते, उसकी उपासना= भक्ति नहीं करते, उसके अन्दर तल्लीन नहीं होते किन्तु कारण को ही उपास्य

मानते, उन्हीं की खोज करते हैं, वे भयंकर दुःख-सागर में डूबते हैं। और ये जो नाच-गाना, घूमना, सोना, खाना-पीना, सोना-चाँदी सम्भूति हैं; जो इनकी उपासना करते हैं, वे और भयंकर दुःख-सागर में डूबते हैं। या तो व्यक्ति कार्य की उपासना करेगा या कारण की उपासना करेगा या ईश्वर की उपासना करेगा; इससे बाहर तो जा नहीं सकता। [हाँ जी सत्यनारायण जी ओट में बैठ के सो मत जाना! फिर यह मत कहना कि समझ में नहीं आया। आएगा कैसे जब सोने में आनन्द लेंगे।] तो बाहर नहीं जा सकते, ईश्वर या कारण या कार्य अथवा जीव की उपासना कर लेंगे।

आप किसकी कर लेते हो अपनी बताओ! आशीष जी ?

आशीष जी – कारण-जगत् की, कार्य-जगत् की और ईश्वर की, तीनों की ही उपासना करते हैं।

स्वामी जी – मतलब तीनों की कर लेते हो।

अब आप रणवीर जी!

रणवीर जी – तीनों की।

स्वामी जी – हाँ सुमेरु प्रसाद जी!

सुमेरु प्रसाद – तीनों की।

स्वामी जी – आत्मप्रकाशजी!

आत्मप्रकाश जी – तीनों की, कार्य-जगत की विशेषतः।

स्वामी जी – आशुतोष जी!

आशुतोष जी – तीनों की होती है और जीवोपासना भी कभी होती है, जीवों से प्यार करना, ये चार हो गए।

स्वामी जी – असम्भूति वाले पक्ष में उतने नहीं, सम्भूति वाले में हैं।

पूरे पदार्थ को विभाजित कर लेने पर, पूरी काट-छाँट करके प्रमाणों से परीक्षा कर लेनी चाहिए। आवृत्ति करते रहो, टकराते रहो, तब तो बच जाओगे, नहीं तो बच नहीं सकते। एक बात याद रखिए। जो व्यक्ति सत्त्वगुण को बढ़ाते-बढ़ाते, संस्कारों को बनाते-बनाते, सत्संग—स्वाध्याय से सत्त्वगुण प्रधान हो जाता है उसको इन बुराइयों से टकराने में ही आनन्द आता है। जो आलसी, प्रमादी, सोते रहने वाले हैं उनको तो पड़ा रहने में ही आनन्द है। इसी संबंध में उपनिषत्कार कहते हैं, कठ में प्रकरण आया कहने लगे मानव जीवन के

समक्ष क्या समस्या आती है ? उन्होंने कहा उसके सामने दो मार्ग आते हैं— श्रेय और प्रेय । एक मोक्ष का मार्ग दूसरा भोग का मार्ग । ये सबके सामने आते हैं । व्यक्ति इनसे दूर नहीं जा सकता । हाँ जी कुछ याद है?

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

कठोपनिषद् २/२ ।

व्यक्ति के सामने जब दोनों मार्ग आते हैं तब जो मन्दबुद्धि है, बेसमझ है, अविद्या से परिपूर्ण है, वह प्रेय = भोगमार्ग को अपनाता है और जो बुद्धिमान् तत्त्ववेत्ता है, वह श्रेयमार्ग को अपनाता है । अब भारत और बाहर में कितने व्यक्ति बुद्धिमान् हैं इनको अंगुलियों पर गिन लिया करो, दस व्यक्ति हैं या नहीं ? आपकी गणना तो बीच में करेंगे न ? न श्रेय में न प्रेय में । आप तो श्रेय को पकड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं । पूरा अपना लिया हो, इस स्थिति में तो नहीं पहुँचे हैं न?



अवैकल्पिक निर्णय

व्यक्ति के ज्ञान—कर्म—उपासना विद्युत् की भाँति परिवर्तित होते रहते हैं। ज्ञान—अज्ञान, उलटे—सीधे कर्म, उलटी-सीधी उपासना दिनभर चलेगी। अब देखो! इनको रोका जाएगा तो कितना प्रयास करना पड़ेगा ? परन्तु तब व्यक्ति असत्य, अज्ञान को उखाड़ पाता है, जब सत्यज्ञान के अन्दर अपने आपको रखना चाहता है और इतना प्रयास करता है । सत्यज्ञान के आधार पर पहले स्वयं को जमाना चाहता है, अधर्म—अन्याय को छोड़ने के लिए तैयार होता पुनः औरों को सत्य पर आरूढ़ कराना चाहता है, औरों की प्रकृति-विकृति की उपासना को उखाड़ने का प्रयास करता है और ईश्वर की उपासना कराने का प्रयत्न करता है । यही उसका दिनभर का काम रहता है । यह कहने मात्र की बात नहीं है, मानवजीवन के साथ स्वाभाविक बात है । क्षण-क्षण में अविद्या, अधर्म, अन्याय से टकराएँगे और विद्या की उपलब्धि करेंगे, धर्म-न्याय पर चलने का प्रयत्न करेंगे तो बच जाएँगे । प्रत्येक क्षण लौकिक उपासना से टकराएँगे और ईश्वर की उपासना में रहने का प्रयत्न करेंगे तो बच जाएँगे। ये तीनों बातें ऐसी चलती रहेंगी । इसलिए या तो अविद्या, अधर्म, विपरीतोपासना

से लुट-पिटकर जीवन समाप्त कर लो या कमाओ तीनों से और विद्या, धर्म, ईश्वरोपासना को जमाओ ।

अब देखो ईश्वर कैसा है ? सर्वशक्तिमान् । आप इसका अर्थ क्या करेंगे ? आपके मन में कोई शंका तो नहीं ?

साधक१ – जो अपने सब काम अपनी सामर्थ्य से पूर्ण करता है, अर्थात् उसको किसी के सहयोग की आवश्यकता नहीं होती है ।

स्वामी जी – कोई आपके मन में शंका उत्पन्न कर देवे तो उसका क्या उपाय करोगे आप ? यदि वह कहे कि देखो बिना प्रकृति के ईश्वर एक तिनका भी नहीं बना सकता है, तो ईश्वर सर्वशक्तिमान् कैसे हुआ?

साधक१ – उपादान कारण को लेकर ..... ।

स्वामी जी – हाँ जी आप बोलो ।

साधक२ – ईश्वर के कुछ नियम हैं, वह अपने नियम के विरुद्ध नहीं चलता है; जैसे ईश्वर के अपने नियम हैं सृष्टि की उत्पत्ति, विनाश, कर्मों का फल देना, वेदों का ज्ञान देना....... ।

स्वामी जी – हाँ जी आप क्या उत्तर देंगे ?

साधक३ – अपनी अपेक्षा की पूर्ति के लिए बाधित नहीं होता । दूसरे के लिए साधनों का उपयोग कर लेता है, अपने लिए नहीं ।

स्वामी जी – वह तो ठीक है, पर जो आप सर्वशक्तिमान् की बात कर रहे हैं उसका उत्तर यह तो नहीं है । वह तो यह कहेगा, उसकी शंका ही यही है कि प्रकृति के बिना कर नहीं सकता, सहायता की बात भिन्न है।

साधक३ – प्रकृति के बिना तो चीज बनेगी ही नहीं ।

स्वामी जी – यही तो वह कह रहा है, इसी पर तो शंका है ।

साधक४ – उसका स्वामी है, उसका सदुपयोग करेगा, प्रकृति स्वयं तो कुछ करेगी नहीं ।

स्वामी जी – नहीं-नहीं; ऐसे समाधान नहीं हो सकता । आप बोलते हैं उस भाषा में जो साधारण लोग बोला करते हैं, यह बात ऐसे नहीं निभती है। यों तो हम बहुत कुछ भी कह देंगे । प्रश्न ही यह है बिना प्रकृति के क्यों नहीं कर सकता ?

ध्यान दें; इसको कहते हैं वक्ता का तात्पर्य । वक्ता की दृष्टि में भी सर्वशक्तिमान् का तात्पर्य है कि उपादान की उपस्थिति रहते हुए ही जो अन्यों

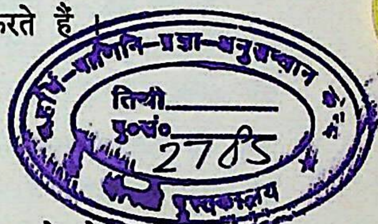
की सहायता नहीं लेता, स्वयं कर लेता है । यहां यह भी तात्पर्य नहीं है कि बिना उपादान के कुछ भी बना दे । अर्थात् संभव को बिना अन्य की सहायता के कर ले यह तात्पर्य है । पर जीवात्मा ऐसा नहीं कर सकता ।

अब सर्वशक्तिमान् का पाठ और ध्यान करो – ओं सर्वशक्तिमान् । हे ईश्वर! आप सर्वरक्षक और सर्वशक्तिमान् हैं। प्रकृति को लेकर रचना, पालन और संहार करते हैं, कर्मफल और वेदज्ञान देते हैं ।

अब **"ओं सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते । त्वामभि प्रणोनुमो जेतारमपराजितम्"**॥ ऋ. १/११/२ का पाठ और ध्यान करो –

हे ईश्वर ! आपकी मित्रता में हमारा जीवन निर्भय रहे । हे ऐश्वर्यशाली अनन्त ज्ञान-बल-आनन्द-क्रिया-सृष्टिरचनारूप लौकिक ऐश्वर्य के स्वामिन् ! कभी पराजय को प्राप्त न होने वाले आपकी मित्रता में हम निर्भय रहें । यद्यपि हम जीवात्मा अपनी स्वतंत्रता से अच्छे-बुरे कर्म करते हैं उस काल में आप हमें नहीं रोकते परन्तु इनका फल देते समय आप को कोई बाधित नहीं कर सकता । अतः जेता को हम बार-बार नमस्कार करते हैं ।

❖ ❖ ❖ ❖



चेतावनी

जड़-चेतन के विभाग में जड़ को जड़, चेतन को चेतन मानना; इस संबंध में क्या अनुभव होता है ? पृथक्त्व का ज्ञान व्यवहार और उपासना काल में कितना रहता है, उपासना में कैसी स्थिति रहती है ?

साधक १ – आध्यात्मिक विषयों में अभी तक पूर्वजीवन में और संस्कारों को देखते हुए शरीर और आत्मा के विषय में अधिक पुरुषार्थ किया हुआ लगता है, अतः ईश्वर की अपेक्षा इन दोनों में अधिक स्पष्ट अच्छी स्थिति अनुभव में आती है ।

साधक २ – परीक्षण करके तुलनात्मक अध्ययन करके कहा जा सकता है, अभी तक इस संबंध में तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया है ।

साधक ३ – जब किसी एक को विषय बनाकर प्रयोग करता हूँ तो आत्मा, शरीर, मन आदि का एक स्तर पर पृथक्त्व विशेष अनुभव उपासनाकाल में होता है, किन्तु । व्यवहार काल में पूर्वकृत प्रभाव थोड़ा सा रहता है ।

साधक ४ – व्यवहार या उपासना काल में इस विषय पर विचार करके शरीर से पृथक्ता की अनुभूति बना पता हूँ, शेष काल में यह अनुभूति नहीं रहती है ।

साधक ५ –स्थूल रूप से देखने पर ऐसा लगता है प्रायः विचाररूप में यह स्थिति बनाये रखते हैं, परन्तु सूक्ष्मता या व्यावहारिक दृष्टि से इसमें न्यूनता दिखाई देती है ।

साधक ६ – उपासना और निदिध्यासन काल में अच्छे स्तर का अनुभव होता है और व्यावहारिक जीवन में स्थिति का बनना-छूटना सामान्यतया होता रहता है, कभी उससे निम्न भी हो जाती है ।

साधक ७ – चिन्तनोपरान्त कभी-कभी पूरी तरह से दिखाई देने लगता है कि दोनों पृथक्-पृथक् हैं । पुनः छोड़ देते हैं कि अब तो ऐसा हो गया और व्यवहार में भी रहेगा ही, परन्तु कुछ ही काल में स्थिति दब जाती है। उपासनाकाल में इसी पर बल विशेष लग जाता है कि इसकी पृथक्ता देखनी है।

स्वामी जी – इससे यह समझना चाहिए कि इसी प्रकार अभ्यास करते करते यह जड़-चेतन की स्थिति, पृथकत्व का ज्ञान बढ़ता जाता है और अनुभव भी बढ़ते जाते हैं । जो कठिनाई रहती है वह भी कम होती जाती है । जो जड़ को चेतन मानने के संस्कार होते हैं वे निर्बल पड़ते जाते हैं । उपासना काल में इस विषय में अधिक प्रगति होती है, व्यवहारकाल में उसकी अपेक्षा निर्बल स्थिति रहती है । पुनः व्यवहार में भी विकास होता है । वहाँ भी अपना नियंत्रण बढ़ाता जाता है । इसी प्रकार योगाभ्यास, सत्संग आदि करते-करते तथा इन्हीं ग्रन्थों के पठन–पाठन से विकास होता जाता है । वही व्यक्ति पुनः किसी भी विषय में लम्बे काल तक अपने मन को स्थिर रखना चाहे तो उसमें कोई कठिनाई नहीं होगी ।

इस प्रकार प्रशिक्षण में, पढ़ी–सुनी ज्ञात बातों पर कम ध्यान दिया जाता है, प्रयोग नहीं किया जाता तो जो स्थिति जितनी ऊँचाई तक आई, विकसित हुई, वह निर्बल पड़ जाती है । सत्संग, आर्ष ग्रन्थों का स्वाध्याय, दीर्घकालोपासना, नहीं करते या इनको गौण समझते हैं, परीक्षण मुख्य नहीं रहता, व्यवहार में भी पर्याप्त ध्यान नहीं देते हैं तो वह स्थिति निर्बल होती होती, संस्कार निर्बल होते होते ऐसी स्थिति हो जाएगी कि वर्तमान स्थिति दब जाएगी और पुरानी स्थिति पुनः उभर आएगी । यहाँ तक होगा । इसलिए योगाभ्यास में भाग लेने वाले, प्रशिक्षण शिविरों में भाग लेने वाले लोग, सत्संगी जब शिक्षण

शिविर में आते हैं, तब उनकी जो स्थिति बनती है वही गाँवों, नगरों में चले जाने पर प्रायः नहीं रहती है, नीचे गिर जाती है। आपका भी ऐसा ही होगा। अधिक मात्रा में शैथिल्य आता है तो आपका आध्यात्मिक स्तर गिरता-गिरता नीचे दब जाएगा और लौकिक वृत्तियाँ प्रबल हो जाएँगी । यह जड़-चेतन के पृथक्त्व की मान्यता हटकर सांसारिक स्तर पर जाकर रुक जाएगी ।

जितनी शक्ति है, बुद्धि है, साधन है, यह तो है । जो नहीं है उनका उपार्जन करना। जिन बाधकों को समझा उनसे अधिक की खोज करके जानना और उनको हटाने के लिए साधनों का प्रयोग तीव्रता (अधिकमात्रा में) से करना । बाधकों को दूर हटाने में अधिक प्रयास करना । स्वलक्ष्य की पूर्ति के लिए पूरी शक्ति लगा देना। यदि ऐसी स्थिति रहती है तो अज्ञान, कुसंस्कार, उलटे विचार, कुप्रवृत्तियाँ निर्बल होती जाती हैं और ज्ञानादि प्रबल होते जाते हैं । ऐसा न किया जाय तो आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ निर्बल होती जाती हैं; अविद्या कुसंस्कार, लौकिक भोग प्रवृत्तियाँ प्रबल होती जाती हैं ।

बाधकों को जानना, बाधकों की स्थिति में अत्यन्त सावधान रहना कि कभी आक्रमण न कर दें । सतत एक योद्धा के स्तर पर अपने आप को रखता है । कभी आक्रमण न हो जाय । ऐसे वह रहता है । क्षणभर का भी विश्वास नहीं है कि काम-क्रोध-लोभ-मोह का आक्रमण नहीं होगा। इतनी सावधानी आप वर्तेंगे तो बच जाएँगे और अविद्या, कुसंस्कार आदि को दबाकर, मार-मार कर दूर करते-करते एक शुद्ध जीवन की विशुद्धावस्था में पहुँच जाएँगे। पुनः एक स्थिति आपके मन में आएगी कि मैं स्वस्थिति को उन्नत बनाता हुआ ऊँचा करता हुआ अन्यों को इस विद्या को सिखाऊँ। जैसे मेरे अन्दर अविद्या-कुसंस्कार थे वैसे दूसरे के भी हैं जिन्हें मैं अपनी तरह हटा दूँ । यदि नहीं करते हैं, नीचे की ओर जाते हैं तो पुनः आध्यात्मिक से लौकिक बन जायेंगे । ऐसा व्यक्ति पुनः अन्यों को भी लौकिक प्रेरणा देने लगता है, आध्यात्मिकता से नीचे गिराने लगता है । कारण, उसको यह अच्छा लगने लगता है । संसार के भोगों को भोगना, एषणा की पूर्ति करना उद्देश्य बन जाता है। वह मानने लगता है यही अच्छा है, इसमें शांति रहती है। आध्यात्मिकता में अत्यन्त तप-त्याग, खाना-पीना, सोना सब में नियंत्रण, अत्यन्त सावधानी, बड़ा परिश्रम करते रहना पड़ता है। कोई शांति नहीं मिलती है। इससे अच्छा तो यही है कि अन्यों की तरह पड़े रहो । ऐसा सोचने लगता है ।

इस प्रकार से तुलनात्मक अध्ययन चलता रहता है। बाधकों की गवेषणा करता रहता है। पुराने बाधकों को सावधानी से रोकता है, उनको हटाता है। अभ्यास करते-करते इस तरह और नया अनुभव उसको होता है। बाधक कैसे आता है, कौन लाता है, कैसे आक्रमण होता है आदि अनुभूतियाँ होती रहती हैं। एक विचार मानसिक स्तर पर रहता है कि जिनको मान-प्रतिष्ठा, धन मिलता है, चाहे भौतिक वैज्ञानिक हो या किसी विषय में प्रगति किया हुआ अन्य विद्वान् हो, जिसकी यशकीर्ति फैली; मैं इन लौकिकों जैसा बनूँ या इन सब से दूर ऋषियों जैसा, जो लाखों तत्त्ववेत्ता पतञ्जलि आदि ऋषि हुए; मेरा जीवन उनके जैसा हो? इनमें एक धारा तो रहेगी ही। आप यदि ऐसा सोचेंगे तो ऐसे बन जाएँगे, लौकिकों की तरह सोचेंगे तो लौकिकवत् बन जाएँगे। जैसे वेदमन्त्र में संकेत दिया, प्रार्थना की है— **परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्व........ अमृतामनु** । भक्तों जैसा मैं बन जाऊँ। वह ऐसा सोचता है तो ऐसा बनता है और लौकिकों को ध्यान में रखता है तो उन जैसा बन जाता है। साधारण जैसा बनने की बात सोचता है तो साधारण बन जाता है।

कभी आपको ईश्वर-साक्षात्कार तक होने वाली अपनी उन्नति में आशा बनी रहती है या निराशा हो जाती है ?

साधक १ – कुल मिलाकर आशा का पक्ष अधिक रहता है।

साधक २ – कभी-कभी ऐसा लगता है सफलता मिलने वाली है पर वह नहीं मिलती है, तब लगता है यह तो बहुत कठिन है।

स्वामी जी – हाँ प्रभाव तो दोनों रहेंगे परन्तु यह कठिन है। एक बात है, इसको सोचने का ढंग है, शीघ्र मिलना एक स्थिति है, पर वह ऐसा सोच सकता है मिलेगी, भले ही कुछ देर में मिलेगी। ऐसा न सोचे कि नहीं मिलेगी। यह विचार ठीक नहीं है कि नहीं मिलेगी क्योंकि यह सिद्धान्त-विरुद्ध है। कोई भी कार्य जो लोक में हुआ भले ही ईश्वरप्राप्ति हो, जहाँ एक व्यक्ति पहुँचा वहाँ प्रत्येक पहुँच सकता है; सिद्धान्त तो यह है। क्यों जी आप क्या सोचते हैं?

साधक ४ – कभी आशा कभी निराशा रहती है।

स्वामी जी – अच्छा ! निराशा क्यों रहती है, निराशावादी का कौन सा स्थान है; इसको देखना चाहिए। कठिनाई तो है, इतने काल में होगा या नहीं; ऐसा तो है पर कभी भी नहीं मिलेगा, ऐसा तो नहीं है न ?

साधक ३ – आशा का पक्ष प्रबल रहता है ।

साधक ६ – आशा का पक्ष रहता है और यह भी रहता है कि हमने पूर्ण पुरुषार्थ करना है, आगे मिलेगी ही ।

स्वामी जी – वैदिक सिद्धान्त यह कहता है कोई भी कार्य हम करेंगे, अच्छे कार्य में सफलता मिलेगी । एक पृथक् बात है कि जितनी करेंगे उतनी ही मिलेगी। जो भी हम शुभाशुभ ज्ञानकर्मोपासना करेंगे, उतने स्तर पर हमको उसका फल मिलेगा ही ऐसा मानकर चलना चाहिए । कालसीमा पृथक् एक वस्तु है । यहाँ ऐसा समझना चाहिए जहाँ हमारा अन्तिम लक्ष्य है वहाँ पहुँचना है, उससे पीछे हटने की बात हमने स्वीकार नहीं करनी है और जिस लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं उसके लिए पूरा प्रयास करते ही रहें । पीछे हटकर कहाँ जाएँगे ? दो ही स्थिति रहेगी या तो अन्तिम लक्ष्य को पूरा करेंगे अथवा विफल हो जाएँगे। दूसरा तो विफलता ही है । मान लो पहले को छोड़ते हैं, लौकिक मार्ग को अपनाते हैं ! उससे क्या हो जाएगा ? भोग भोगकर, जो कुछ करना है अपने ढंग से कर कराकर वह चक्कर ही लगना है । बात पुनः वही आएगी; कहेगा यहाँ दुःख है फिर उससे हटेगा, फिर इस पर चलेगा । यदि मानेगा कि भोगों में सुख है तो विविध भोगों के पश्चात् बात आएगी यह ठीक नहीं है, यहाँ दुःख है पुनः चलो वहीं । तो दृष्टान्त वही हुआ प्याज भी खाए जूते भी खाए ! मार लगती रहेगी लुटता-पिटता रहेगा पर अन्तिम स्तर हाथ नहीं लगेगा। कठोपनिषद् २/६ में आता है – **पुनर्पुनर्वशमापद्यते मे** । अन्यत्र आता है **देवयान, पितृयान, जायस्व म्रियस्व।** देवयान = मुक्ति, पितृयान = मनुष्य जन्म लेते रहना और नीचे गिरकर गदहे, घोड़े, सूअर आदि बनते रहो यह तीसरा मार्ग जायस्व म्रियस्व है । अच्छा देखो ! हम जब विचार करते हैं तो पता चलता है कि कितना काल हो गया इन चक्रों में पड़े हुए, यदि हम मुक्ति से नहीं आए तो इतना सृष्टिकाल चला गया? पर इसमें तो अब तक हमको शांति मिली नहीं, आगे भी दिखती नहीं है पुनः ऐसा ही होता रहेगा । तो सत्यार्थ प्रकाश में वानप्रस्थ-संन्यास की चर्चा में वह संकेत आता है कि –

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

मुण्डक १/२/१२ ।

ईश्वर अमृत है वह क्रिया से प्राप्त नहीं होता है । अतः तत्त्वज्ञान के लिए गुरुजी के पास जाता है । समझाने के लिए सारा विवरण है। यहाँ कहना चाहते हैं केवल कर्म से कोई ईश्वर को प्राप्त करना चाहे, जैसे सांसारिक पदार्थों को प्राप्तकर लेता है; ऐसा ईश्वर नहीं है । उसके लिए शुद्ध-ज्ञान, शुद्ध-कर्म, शुद्ध-उपासना तीनों चाहिएँ । आप देखेंगे कि इस वर्तमान काल में केवल भोगवाद, अर्थवाद, अधिकारवाद इतना प्रबल है कि करोड़ों में एकाध कोई विरला व्यक्ति ही ऐसा सोचनेवाला होगा कि इसको अपने जीवन में नहीं आने दूँगा और समाज राष्ट्र से भी इसको निकालकर फेंकूँगा । केवल भोग ही लक्ष्य, केवल ऊँचे से ऊँचा अधिकार प्राप्त करो, धर्म मर्यादा पालन की कोई आवश्यकता नहीं है; यह सिद्धान्त घातक है, सबके लिए भयंकर है; अपने जीवन से इसे समाप्त करूँगा और पूरे संसार को भोगवाद, अर्थवाद, अधिकारवाद से हटाने के लिए टकराऊँगा; ऐसा विरला सोचता है ।

एक रोचक कथा है न पंचतन्त्र में । गीदड़ के बच्चे को शेरनी पालने लग गई । उसके अपने बच्चे भी थे । धीरे-धीरे सारे बड़े हो गए । एक दिन कोई हाथी आ गया । शेर-बालक ने कहा इसको मारना है । गीदड़-बालक ने कहा नहीं, यह हमको मार डालेगा । सारे पुनः भागकर माँ के पास चले आए । अन्त में शेर-बालक भी आ गया । तब गीदड़-बालक शिकायत करने लगा माँ देखो यह भाई हम सबको मरवा देता । उस हाथी के साथ लड़ने को तैयार हो गया था ! शेरनी बोली –

शूरश्च कृतविद्यश्च दर्शनीयोऽसि पुत्रक ! यस्मिन्कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ॥ लब्धप्रणाश श्लोक ३८ ।

बेटे ! तुम शूरवीर, विद्वान् और सुन्दर भी हो परन्तु जिस कुल में तुम्हारा जन्म हुआ है वहाँ हाथी नहीं मारा जाता है ! इसलिए यहाँ से चुपचाप चले जाओ वहाँ, जहाँ तुम जन्मे हो क्योंकि यहाँ तो हाथी मारा जाता है । भाग जाओ शीघ्र, नहीं तो मारे जाओगे ।

यह कथा आप पर भी लागू हो जाएगी । कभी ऐसा न कहला देना कि कहाँ का योगी बन गया ! स्वामी जी ने जो ढंग सिखाया वह कोई जीने का ढंग है ? पसीनं पसीना, खाते-पीते मन को रोको, क्या दिन, क्या रात, चक्कर बांध दिया; यह भी कोई जीवन है ? तब आपको कोई यह न कहे भाई तू ऐसे संस्कारों से आया, संस्कारों ने तुझे दबा डाला, इसलिए उलटा

दिख रहा है; वैसे ठीक है यह, कुसंस्काररूप हाथी को मारो । मेरा मतलब है कि ये दृष्टान्त इसको समझाते हैं कि जैसा स्वभाव बनाओ वैसा बन जाता है । अपनी बुराइयों को उखाड़ने का स्वभाव बनाओ तो ऐसा बन जाएगा। बुराइयों से हारने का बनाओ तो हारने का बन जाएगा । पुनः गीदड़ी के बच्चे की तरह भागते रहो, माँ की गोद में चले जाओ । घर में जाकर कहो माताजी, पिताजी नमस्ते ! मैं तो आपकी सेवा ही करूँगा, साधु बनना मेरे वश की बात नहीं है । ऐसा मतकर देना। पुनः लोग कहेंगे ये तो ऊँचे स्तर पर योगाभ्यास सीख रहे थे, यह क्या हो गया ? ये दोनों बच्चे इन्हीं के हैं ? हाँ इन्हीं के हैं, एक और घर पर छोटा सा है, कुल तीन हैं । पुनः लोग मेरे पास आएँगे, स्वामी जी! आपने योग सिखाया था, देखो ये कच्चे-बच्चे तीन-तीन, चार-चार पैदा हो गए । इनको आपने बताया था कि कच्चे-बच्चे पैदा करते रहो और योगाभ्यास करते रहो ! मैं कहूँगा नहीं तो! तब वे कहेंगे, पुनः ऐसा कैसे हुआ ?

तो इससे भी बचते रहना पड़ता है । आपने देखा होगा न हरिश्चन्द्र की कथा (नाटक), सत्य बोलने का व्रत । सब कुछ लुट गया, बेटा मर गया, सारा राज्य चला गया । पर वह कहता है - नहीं, सत्य नहीं छोडूँगा । कथा आती है न पत्नी बेटे का दाह-संस्कार करना चाहती है, परन्तु कर दे नहीं सकती। वह कहता है यहाँ श्मशान घाट पर तो कर लगता है, वह कर दे दो तब यहाँ शव जला सकती हो अन्यथा नहीं। ले जाओ अपने पुत्र को। देखो ! कितना सत्य का पालन करने वाला व्यक्ति है । यह राजा हरिश्चन्द्र की कथा हमको सत्य पर अडिग रहने की प्रेरणा देती है और युधिष्ठिर की कथा सत्य से गिरने की प्रेरणा देती है। युधिष्ठिर की कथा सुनी है? भयंकर युद्ध में द्रोणाचार्य सबको समाप्त करते जा रहे थे तो लोगों ने सोचा यह तो सबको मार डालेगा। कुछ करो । क्या करें ? इसको अपने पुत्र से बहुत मोह है, कहो मर गया, सुनकर एकदम मूर्छित हो जाएगा । पुनः भीम को तैयार किया गया उसने जाकर कहा **"अश्वत्थामा हतः"**। पर द्रोणाचार्य ने नहीं माना । पुनः युधिष्ठिर जी से कहवाया गया । **अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा ....**। अगला शब्द सुनाई नहीं पड़ा । युधिष्ठिर का कथन सुनते ही एकदम प्रभावित होकर गिर गया और अभिमन्यु वध के बदले मारा गया ।

तो यह युधिष्ठिर का प्रयोग झूठ की ओर ले जाता है। लेकिन सामान्य व्यक्ति उसी को अपनाता है। राम के विषय में आता है – **करिष्ये प्रतिज्ञाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥** अयो. का. सर्ग १६८/३० । मैंने अपने जीवन में कभी झूठ नहीं बोला, न बोलूँगा। यह आदर्शवान् व्यक्ति होता है। वह अपने मार्ग से इधर उधर नहीं होता है। ये आदर्शवाद और अवसरवाद दोनों परस्पर टकराते रहते हैं। दोनों धाराएँ चलती रहती हैं। इस मार्ग पर चलनेवाला योगाभ्यासी आदर्श को लेकर चलता है। कठोपनिषद् २/२ में आता है –

श्रेयश्च प्रेयश्च .... श्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥

बुद्धिमान् श्रेय का निर्वाचन करता है और भोगवाद को छोड़ता है, भोगवादी इसके विपरीत प्रेय का निर्वाचन करता है उस पर चलता है। आपको ध्यान से देखना पड़ेगा, तब सुरक्षित रहेंगे नहीं तो पुनः इस अत्यन्त भोगवाद के चक्र में फंसेंगे। यह और विचित्र बात है कि आज जो योग प्रशिक्षण देते हैं, बड़े बड़े आश्रम हैं, अरबों की सम्पत्ति है परन्तु आप देखेंगे सारा चक्र भोगवाद और अर्थवाद पर चल रहा है। उसी को योगवाद कहा जाता है। योग के नाम पर इतना बड़ा चक्कर! इन बातों पर आपको सावधानी रखनी पड़ेगी।



विधि-खण्ड

अब हम मन्त्र का पाठ करते हुए ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करेंगे ।

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रं तन्न आसुव ॥
यजुर्वेद ३०/३

ओं सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै । ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥
तैत्तिरीयारण्यक ९/१ ।

इस मन्त्र का अर्थ ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका से ही स्मरण कर लेना चाहिए। आचार्य और शिष्य के मध्य में कैसा व्यवहार होना चाहिए, इस बात की सिद्धि के लिए मन्त्र में प्रार्थना की गई है । यहाँ ईश्वर से प्रार्थना है कि हम दोनों आचार्य और शिष्य इस प्रकार से व्यवहार करें –

परस्पर एक दूसरे की रक्षा करें । परस्पर एक दूसरे के सुख-साधनों का उपभोग करें । परस्पर सब प्रकार के बल को बढ़ाएँ । परस्पर के पढ़े-पढ़ाये पाठ तेजस्वी हों । परस्पर प्रेम से रहें, कभी द्वेष न करें ।

साधक – मन्त्र में अवतु तथा भुनक्तु पद प्रथम पुरुष के हैं; परन्तु यहाँ पर उत्तम पुरुष में अर्थ किया गया, ऐसा क्यों ?

स्वामी जी – शब्दार्थ में पाणिनीय व्याकरणानुसार अर्थ नहीं किया गया है, या पुरुषव्यत्यय समझना चाहिए अथवा सभी प्रार्थनायें हमारे ही पुरुषार्थ से सिद्ध होती हैं, यह अभिप्राय इससे लेना चाहिए । ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने उत्तम पुरुष परक ही अर्थ किया है । यथा – "हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर ! आपकी कृपा, रक्षा और सहाय से हमलोग परस्पर एक दूसरे की रक्षा करें और हम सब लोग परम प्रीति से मिलके सबसे उत्तम ऐश्वर्य अर्थात् चक्रवर्ती राज्य आदि सामग्री से आनन्द को आपके अनुग्रह से सदा भोगें।"

यहाँ विशेष ध्यान रखना चाहिए कि पढ़ते-पढ़ाते समय ऐसी कोई बात नहीं होनी चाहिए कि जिससे विद्याप्राप्ति में कोई बाधा उपस्थित होकर विद्याव्यवहार ही नष्ट हो जाए ।

पढ़ने और पढ़ाने वालों के क्या-क्या गुण होने चाहिएँ इसे सत्यार्थ प्रकाश आदि अन्य आर्ष ग्रन्थों में देखना चाहिए यहाँ पर संकेत मात्र समझें ।

समय–समय पर दोनों को अपना-अपना निरीक्षण–परीक्षण करते रहना चाहिए कि कहीं दोषों से लिप्त तो नहीं हो रहा हूँ ! आलस्य, प्रमाद आदि का प्रतिकार व्यक्ति को करते रहना चाहिए, उससे जीवन विकसित होता चला जाता है । यदि ऐसी दृष्टि नहीं रही, निरीक्षण–परीक्षण नहीं किया तो गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग नहीं हो पाएगा ।

ईश्वरप्राप्ति के लिए कितने तप, त्याग, भक्ति आदि करने पड़ते हैं; उदाहरण के लिए उपनिषद् में आरुणि, सत्यकाम आदि की कथाएँ पढ़नी चाहिएँ । इन्द्र–विरोचन का दृष्टान्त पढ़ना चाहिए । थोड़ा परिश्रम, थोड़ी श्रद्धा वालों की स्थिति विरोचन वाली होती है । इन्द्र जैसी सफलता के लिए तो गुरु के प्रति महान् श्रद्धा, अतिकाल, अत्यधिक परिश्रम, त्याग, तपस्या, ज्ञान–विज्ञान की अपेक्षा होती है ।

❖ ❖ ❖ ❖

ज्ञान के विषय में विचार

अब ज्ञान के विषय में विचार करते हैं । विद्या = ज्ञान । दोनों पर्यायवाची शब्द हैं । आर्योद्देश्यरत्नमाला में महर्षि ने विद्या की परिभाषा लिखी है–

विद्या – जिससे ईश्वर से लेके पृथिवी पर्यन्त पदार्थों का सत्यविज्ञान होकर, उनसे यथायोग्य उपकार लेना होता है, इसका नाम 'विद्या' है । (रत्न सं.१७)

परिभाषा के अन्तर्गत सम्पूर्ण विद्या का ग्रहण समझना चाहिए । अर्थात् परा–अपरा, लौकिक–आध्यात्मिक, ईश्वर, जीव, प्रकृति; इन सब का ग्रहण इसमें हो जाता है । तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो वैज्ञानिक केवल अपरा विद्या को ही पूर्ण विद्या मानते हैं, उसी से कृतकृत्यता समझते हैं। इस प्रकार उनका ज्ञान अनेक क्षेत्रों में शुद्ध नहीं है । वैज्ञानिक सन्मार्ग पर नहीं जा रहे हैं । उनका ठीक मार्ग पर चलना मान लेना बहुत बड़ी भ्रान्ति होगी। उनके एकाङ्गी ज्ञान को सर्वथा शुद्ध मानना उचित नहीं है।

वैज्ञानिकों की मान्यताओं को जानने के लिए उनकी प्रामाणिक पुस्तकों को देखना चाहिए । जो-जो अशुद्ध मान्यताएँ उपलब्ध होती हैं उनसे सम्बन्धित व्याख्यानों, लेखों, उद्धरणों, लेखकों और वक्ताओं तथा पृष्ठसंख्या सहित प्रमाणों का संग्रह रखना चाहिए । उनके समाधान हेतु हमारे पास तर्क और प्रमाण

भी संगृहीत होने चाहिएँ। पं. उदयवीर जी ने अपनी किसी पुस्तक में एक वैज्ञानिक मान्यता लिखी है कि "भौतिक पदार्थों का विकास होते होते चेतना उत्पन्न हो जाती है, वही जीव है अथवा चेतन का प्रसार ही जड़ है । यहाँ उदाहरण के लिए भावमात्र लिया है, ठीक-ठीक जानने के लिए उस-उस स्थल को देखना चाहिए । अभिप्राय यह है कि भौतिक क्षेत्र में भी वैज्ञानिक लोग भटके हुए हैं ।

विद्या के अन्तर्गत भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ज्ञानों को लेना चाहिए अर्थात् जिससे लौकिक-सुख और मोक्ष-सुख की प्राप्ति हो वह पृथिवी से लेकर ईश्वर पर्यन्त पदार्थों को जनाने वाला ज्ञान 'विद्या' है । वेद में वह सारा ज्ञान है जिससे मनुष्य की पूर्ण उन्नति हो सकती है। पदार्थ ज्ञान के साथ-साथ उनसे यथायोग्य उपकार लेने की कला भी विद्या का ही भाग समझनी चाहिए। इसलिए किसी विषय को पढ़ने के पश्चात् यह भी विचार करना चाहिए कि मैं इससे यथायोग्य उपकार ले सकता हूँ कि नहीं ? यदि कोई ज्ञान धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के अनुकूल न हो तो उसे ऋषियों की मान्यता के विपरीत समझना चाहिए।

उपासना में भी प्रथम ईश्वर से ज्ञान ग्रहण करना चाहिए और उसका व्यवहार में कैसे प्रयोग करें अर्थात् उससे उपकार लेना आना चाहिए । दिन-रात हम जो भी ज्ञान ग्रहण करते हैं, सबके विषय में ऐसा ही समझना चाहिए ।

साधक – वेदों को अपरा या परा विद्या मानना चाहिए ?

स्वामी जी – ईश्वर के स्वरूप में स्थित जो स्वाभाविकरूप में वेदज्ञान है उसे अपरा के अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए । सृष्टि में उपलब्ध वेद में से जो आध्यात्मिक या मुक्ति से सम्बन्धित ज्ञान से अतिरिक्त शेष लौकिक पदार्थ सम्बन्धित ज्ञान, मन्त्र, छन्द, स्वर आदिमय वेद को अपरा विद्या के अन्तर्गत समझना चाहिए । स्वामी दयानन्द सरस्वती का भी यही अभिप्राय लगता है कि आत्मा-परमात्मा-परक विद्या 'परा विद्या' तथा प्रकृति-परक विद्या 'अपरा विद्या' के अन्तर्गत है।

साधक – स्तुति-प्रार्थना-उपासना करने से ईश्वर कैसे ज्ञान देता है?

स्वामी जी – पर-वैराग्य प्राप्त होने पर, समाधि में ईश्वर में मग्न होने पर विशेष आनन्द देगा । समाधि होने पर आनन्द की जो विशेष अनुभूति (ज्ञान) होती है वह और कहीं भी उपलब्ध नहीं होती है ।

साधक – वह ईश्वर का आनन्द है या सत्त्वगुण का है, यह कैसे स्पष्ट होता है, उसका क्या लक्षण दिखाई देता है ?

स्वामी जी – स्पष्ट अन्तर हेतु कोई लक्षण नहीं दिखता । केवल विशेष है ऐसा लगता है । लोक में ईश्वर में मग्नता के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। यह गम्भीर और विशद विषय है ।



विद्याग्रहण पद्धति

व्यक्ति के क्रियाकलाप का प्रारम्भ ज्ञान से होता है । व्यक्ति जब विद्याध्ययन करता है तो किस प्रकार से करता है उसकी पद्धति भी ऋषियों ने बताई है– **तत्र चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवत्यागमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति** ॥ महाभाष्य पस्पशाह्निकम्। चार प्रकार से विद्या सार्थक होती है आगमकाल से, स्वाध्यायकाल से, प्रवचनकाल से और व्यवहारकाल से ।

आत्मेन्द्रियार्थसंनिकर्षमात्राद् गन्धादिज्ञानमुत्पद्यते॥ न्याय दर्शन वात्यायन भाष्य ३/२/२२। अर्थात् आत्मा मन के साथ संयुक्त होता है, मन श्रोत्र के साथ, श्रोत्र आचार्य के शब्द के साथ संयुक्त होता है । तब आत्मा = शिष्य अपनी बुद्धि से शब्दार्थ–सम्बन्ध को जानकर विद्या से युक्त हो जाता है । यह विद्याग्रहण की रीति है ।

जब आप विद्याग्रहणकाल में अपने मन–इन्द्रियों पर अधिकार करके रुचिपूर्वक विद्या को सुनते हैं तो उसका संस्कार बन जाता है । वक्ता जैसे जैसे बोलता है, उपदेश करता है, उस–उस प्रकार से श्रोता के ऊपर विशेष प्रभाव पड़ता है। आप ऐसा देख सकते हैं या आगे अनुभव करेंगे। आप को समाधिप्राप्ति का वर्णन सुनाया गया यदि आपने ध्यान से उसे सुना तो आप के ऊपर उसका विशेष प्रभाव पड़ेगा ।

बहुत ध्यान एवं रुचिपूर्वक सुनने पर, वक्ता जिस स्थिति का वर्णन कर रहा होता है, श्रोता उस स्थिति को समझ लेता है अर्थात् स्वयं को उस स्थिति में पहुँचा हुआ देखता है । परन्तु जो बाह्य विषयों में लगा रहता है, ध्यान से नहीं सुनता है तो वह उस स्थिति से रहित = वञ्चित रह जाता है, दूर गया हुआ सा रह जाता है । ध्यान से सुननेवाले को लगता है कि मेरी भी स्थिति वैसी है या हो सकती है, जैसा कि वर्णन किया जा रहा है । एक उदाहरण –

जैसे कि वक्ता ने कहा — समाधि की अवस्था इस प्रकार से आती है। उसको प्राप्त करने के ये उपाय हैं। जब व्यक्ति अनित्य को अनित्य, नित्य को नित्य, अशुद्ध को अशुद्ध, शुद्ध को शुद्ध, दुःख को दुःख, सुख को सुख, जड़ को जड़, चेतन को चेतन जानने लगता है तो उसके मन में वैराग्य उत्पन्न होता है। वैराग्य के पश्चात् उस स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए अभ्यास किया जाता है; उस स्थिति में समाधि प्राप्त होती है।



मन में नहीं बैठती है तो बैठाने के उपाय

इस प्रकार उपदेष्टा उपदेश कर रहा होता है, श्रोता ध्यान से सुन रहा होता है। यहाँ श्रोता स्वयं जिज्ञासा करता है कि अनित्य को अनित्य और नित्य को नित्य इत्यादि को कैसे जानते है ? तो क्रमशः वक्ता ने कहा— यह जो हमारा शरीर है, यह विनाशी है। श्रोता स्वयं जिज्ञासा करता है शरीर को विनाशी = नाशवान् कैसे जाना जाता है? उपदेष्टा उपदेश कर रहा होता है, मरे हुए शरीर को देखकर यह पता चलता है। शरीर की स्थिति को देखकर पता चलता है कि यह उत्पन्न होने वाला और मरने वाला पदार्थ है। इसलिए मरे हुए शरीर को देखना चाहिए।

आप कहते हैं जाने हुए विषय सतत नहीं रहते तो क्या आपने—

- सर्वस्व देकर प्रयत्न किया ?
- तीनों कालों में सत्य क्या है; इसके निर्णय में आप ने बल लगाया ?
- लम्बा काल लगाया ? **स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः॥** यो. द. १/१४। वह तो लम्बे काल तक, लगातार तपस्या, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धापूर्वक सेवन किया हुआ दृढ़ अवस्था वाला होता है।

जानते हुए भी व्यवहार में देखने का प्रयत्न नहीं करते हैं। वैसा कोई व्यक्ति भी दिखाई नहीं देता है, न सिखाने वाला, न करने वाला ? जैसे कि मन को जड़ मानकर ऐसी स्थिति बनानी कि किसी भी अनिष्ट विषय से हटाकर अभीष्ट विषय में लगा लें। यह कठिन क्यों लगता है ? इसमें भी पूर्वोक्त कारण ही समझना चाहिए। यदि आप इस विषय में खोज करेंगे, प्रयोग करके देखेंगे तो ज्ञात होगा कि शास्त्रों का पठन-पाठन हो या कोई भी विषय हो, किसी से भी मन को निर्विषय कर सकते हैं।

इस प्रकार से जो शरीर की अनित्यतादि सिद्ध की जाती है वह पहले मन में नहीं बैठती है तो इसे बिठाने के लिए स्वयं से पूछना चाहिए कि "क्या यह शरीर सदा ऐसा ही बना रहेगा या मरेगा" ? इसके लिए जब किसी शरीर को नष्ट होते हुए देखते हैं तो अपने शरीर की उससे तुलना करनी चाहिए कि मेरा भी शरीर इसी प्रकार नाशवान् है या नहीं ? वहाँ संशय होता है। दो विरुद्ध विचार उत्पन्न होते हैं – एक तो यह मेरा शरीर भी नाशवान् है। दूसरा उस स्थिति को भुलाकर कहता है नाशवान् नहीं है।

अन्तिमरूप में मृत्यु की प्रतीति नहीं होती, शतप्रतिशत दिखाई नहीं देती पर ऐसा नहीं है कि अन्तिमरूप में मृत्यु की प्रतीति नहीं होती है। कल्पना कीजिए आज रात्रि १० बजे निश्चय से भस्मीभूत हो जाएँगे। उस समय जीवित रहना चाहनेवाले की जो स्थिति होती है, क्या आपको वैसा अनुभव होता है? यदि नहीं तो परिपक्वता नहीं है। जब तक यह स्थिति नहीं आ जाती तब तक दिनभर यह अवस्था बनाये नहीं रख सकते हैं। मृत्यु सिद्ध हो या असिद्ध, कारण समक्ष हो या नहीं, किन्तु यथार्थ अनुभूति जब तक कर नहीं लेते तब तक दैनिक जीवन में विनाशशील स्थिति की कोई बात ही नहीं होती है।

व्यक्ति जब सोचता है कि यदि समझ में नहीं आ रहा है तो लाकर छोडूँगा। टालमटोल न करके पीछे लग जाता है। पूरा करके छोड़ता है। उसको समाधि की प्राप्ति होती है। किन्तु जो इसके विपरीत मानता है, यथा –

★ कहने की बातें हैं न कि आचरण की, बस लिखा है और क्या!

★ ये सब बातें एक जन्म में नहीं १०–१५ जन्मों में समझ में आती हैं।

★ यह तो संभव ही नहीं है सर्वदा सर्वथा दुष्टों से, सर्पादि से भी वैरभाव न रखा जाए।

★ समझ जाने पर भी क्या मिलेगा ? यदि संभव भी है ?

ऐसा सोचने वाला व्यक्ति कभी विद्वान् नहीं होगा। समझ में आ जाने पर भी जीवन में नहीं उतारा तो छोड़ देगा। यदि माप को नहीं जानता तो उसकी प्रगति नहीं होगी। प्रगति का इच्छुक तो शयन, विश्राम छोड़कर सदा लगा रहता है। ईश्वरोपासना को बढ़ाता है, एषणाओं को क्षीण करता रहता है। अपने लिए पुरुषार्थ करता है और दूसरों के लिए भी। केवल स्वार्थी व्यक्ति योगी पद को प्राप्त नहीं कर सकता। क्यों नहीं प्राप्त कर सकता ? ईश्वर की ऐसी आज्ञा होने से तथा अपरोपकार ईश्वर के अनुकूल न होने से।

जो दुःखों से छूटना चाहता है वह अपने और दूसरों के लिए वैसा ही करता है । व्यवहार समान होने से ईश्वर के साथ मित्रता होती है, क्योंकि ईश्वर का ऐसा ही स्वभाव है । जो सबके लिए कल्याण चाहता है ईश्वर उसको विशेष ज्ञान देकर समाधि लगवाता है । जो नहीं चाहता उसको ज्ञान नहीं देता और उसकी समाधि भी नहीं लगती ।

आप सब व्यवहार करते हुए खाते–पीते, चलते–फिरते, पढ़ते–पढ़ाते हुए यह मानते रहें मैं शरीर नहीं हूँ, न बुद्धि, न मन, न नाड़ियाँ, न भूमि, जल, अग्नि, आकाशादि २४ पदार्थों में से कुछ नहीं हूँ, मैं तो आत्मा हूँ। मैं आत्मा हूँ यह जानते–मानते हुए भी ऐसा नहीं मानना कि मैं बहुत बुद्धिमान् हूँ अन्यथा वह संकटपूर्ण स्थिति आ जाएगी क्योंकि जीवात्मा जो कुछ जानता है सब ईश्वर प्रदत्त ज्ञान से जानता है। ईश्वर के बिना हमारी उन्नति संभव नहीं है। इस प्रकार दिनभर ईश्वर के साथ सम्बन्ध रहना चाहिए । ''मैं शरीर से भिन्न हूँ'' जब यह ज्ञान होता है तब ऐसा नहीं करना चाहिए कि यह मेरा ज्ञान है, शरीरादि मेरे हैं, इतना विद्वान् हूँ । ज्ञान ईश्वर से आए हैं पुनः मेरे कैसे हो सकते हैं ? हाँ ! इस विद्या को ग्रहण करने का जो स्वाभाविक ज्ञान है वह मेरा है ।

कौन सा ईश्वर का ज्ञान है कौन सा मेरा ? यहाँ जानना चाहिए कि जो स्वाभाविक ज्ञान है वह मेरा है, ईश्वर का नहीं ? किन्तु वह नाममात्र का है उससे व्यवहार करने में समर्थ नहीं हो सकता । ईश्वरप्रदत्त ज्ञान से ही व्यवहार में समर्थ होता है । चक्षु आदि निमित्त के बिना स्वाभाविक ज्ञान को अभिव्यक्त भी नहीं कर सकता ।

साधक – जैसा ज्ञानगुण न्यूनमात्रा में अपना है वैसे दया आदि गुण भी अपने हैं?

स्वामी जी – ओम् । किन्तु अन्यत्र जहाँ दयाधिक्य दिखाई देता है वह ईश्वर का जानना चाहिए । पदार्थों के विषय में ज्ञान समान हो सकता है किन्तु मात्राधिक्य भेद है । शरीर से पृथक् हो जाने पर कुछ नहीं जानता, यदि अपना विशेष ज्ञान होता तो मूर्छित नहीं होता। व्यवहार में ईश्वर का ज्ञान मुख्य है ।

साधक – यदि ईश्वर की दयालुता को देख रहे हैं तो क्या ईश्वर को देख रहे हैं ? जैसा कि गुण–गुणी के प्रसङ्ग में कहा गुणमात्र से गुणी का प्रत्यक्ष होता है ?

स्वामी जी – जैसे रचना को देखने मात्र से रचनाकार का दर्शन नहीं होता अथवा ज्ञान, दया आदि को उससे जुड़े देखना आंशिक दर्शन कह सकते हैं । केवल यह प्रत्यक्ष का नियम नहीं है कि गुणमात्र से गुणी का प्रत्यक्ष होता है, वस्तुतः समवाय सम्बन्ध के होने पर गुण-गुणी का प्रत्यक्ष जानना चाहिए । जहाँ गुण-गुणी के प्रसङ्ग में कहा कि जब ईश्वर में मग्न होता है तब दोनों का प्रत्यक्ष होता है, वहाँ समवाय सम्बन्ध सहित जानना चाहिए । एक बात और – वहीं जब जीवात्मा समाधि में ईश्वर का साक्षात्कार करता है तब समस्या आती है व्यापक का ध्यान रखने पर व्याप्य का ध्यान नहीं रहता और व्याप्य का ध्यान रखता है तब व्यापक का ध्यान नहीं रहता है। ऐसा ही जीव और प्रकृति के विषय में भी जानना चाहिए कि प्रारम्भिक स्थिति में साधक को एक का ध्यान रखने पर दूसरे का ध्यान नहीं रहता है । कालान्तर में दोनों का प्रत्यक्ष होता है ।

ज्ञान के विषय

यह हमारा कार्यक्रम ज्ञान से सम्बन्धित है । ज्ञानप्राप्ति के मुख्य तीन विषय हैं; ज्ञान-कर्म-उपासना । ज्ञान के भी मुख्य दो विषय हैं जड़ और चेतन। किन्तु मुख्य दो विषय होते हुए भी अन्य विषय इसके साथ जुड़ जाते हैं और आवश्यक होने से जुड़ने भी चाहिएँ ।

ज्ञान का सबसे स्थूलरूप है जड़ पदार्थों (प्रकृति) का ज्ञान। इसमें सांख्य के मत में प्रकृति एक सामूहिक और अनादि पदार्थ है । कोई भी पदार्थ अनादि क्यों होता है, इस बात को भी जानना चाहिए । अर्थात् जिस पदार्थ के उत्पत्ति और विनाश के कारण नहीं होते हैं, वह पदार्थ अनादि (या नित्य) होता है, क्योंकि कार्य पदार्थ के उत्पाद और विनाश के कारण उपलब्ध होते हैं। जैसे घड़ा, मकान आदि के । अब यदि जीवात्मा के विषय में सन्देह हो तो उसका भी समाधान इसी नियम से ऱूर लेना चाहिए कि उसके उत्पत्ति और विनाश के कारण नहीं हैं, अतः वह अनादि या नित्य है ।

सृष्टि उत्पन्न हुई इसका विनाश होता है, इससे पता चलता है यह स्वयं नहीं बनी। न जीवात्मा बनाता है, न बना सकता, न अभाव से भाव में आती, न अनादिकालीन है, न ईश्वर के स्वरूप से उत्पन्न हुई। इस प्रकार अनेक

पक्ष हैं । ये पदार्थ नित्य-अनित्य हैं यह ज्ञान होते हुए व्यवहार में सतत अनित्य को अनित्य देखना, नित्य को नित्य देखना, इसका नाम विवेक है। इसके परिणामस्वरूप वैराग्य उत्पन्न होता है ।



विवेक

समाधि की प्राप्ति के लिए विवेक की आवश्यकता होती है । विवेक की परिभाषा इस प्रकार जाननी चाहिए – विवेक उस ज्ञान का नाम है जिससे व्यक्ति किसी विषय के यथार्थ स्वरूप को व्यावहारिकरूप में उपस्थित रखता है । जैसे एक व्यक्ति यह जानता है कि आत्मा नित्य और शरीर अनित्य पदार्थ है । इसको १००% निश्चित रूप में जानता हुआ उसी के अनुकूल व्यवहार करता है । तब समझना चाहिए कि इस व्यक्ति में विवेक है । अन्य उदाहरण लें, जैसे; मैं आत्मा हूँ । शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार से एक भिन्न पदार्थ हूँ । ऐसा जानता हुआ व्यवहार करने में समर्थ होता है।

यह विषय अर्थात् शरीर अनित्य है, संसार अनित्य है, विनाशशील है, यह विद्या से सम्बन्धित विषय है । इसको न जानना, न मानना अविवेक की स्थिति है । यथावत् बोध होना विवेक = ज्ञान की स्थिति है । जब यह स्थिति आएगी तो भोक्ता और भोग दोनों ही समाप्त हो जाएँगे । छः अरों वाला संसारचक्र अवरुद्ध हो जाएगा ।

शरीर अनित्य है, उत्पन्न हुआ है, नाशवान् है; यह हम जानते हैं, परन्तु प्रयोग में, व्यवहार करने में असमर्थ हैं, इसलिए यह विवेक नहीं कहा जाएगा। इस नाशवान् स्थिति को स्पष्ट रूप में समझने के लिए आप उत्तर दीजिए–

प्रश्न – क्या आप मानते हैं कि आज रात्रि में निश्चयरूप से हमारी मृत्यु होगी या विकल्परूप में मानते हैं या मानते ही नहीं ?

साधक – घटना विशेष या किसी निश्चित कारण के उपस्थित होने पर निश्चित मानते हैं, वैसे नहीं ।

स्वामी जी – तो यह आपका विवेक नहीं अविवेक है । जब आप यह मानेंगे कि आज निश्चितरूप से मृत्यु हो सकती है, तो वह विवेक होगा। विवेक से आपका बहुत कम सम्बन्ध है ।



अब हम दर्शन के आधार पर विचार करते हैं । ऋषि क्या कहते हैं? ऋषियों को साथ लेकर चलेंगे तो भ्रान्ति नहीं रहेगी, सरलता होगी, बाधा नहीं रहेगी । विवेक की परिभाषा, उत्पत्ति, साधन, बाधक आदि के विषय में ऋषि मान्यता के अनुसार चलेंगे, उनको महत्त्व देंगे तो परोक्ष विषय भी सरलता से पार कर लेंगे । जैसे, महत्तत्व नाम की कोई वस्तु है ? विवेक के क्षेत्र में उसे मानना चाहिए या नहीं ? ऋषि का मत ग्रहण कर लिया तो प्रत्यक्ष करने की अनिवार्यता नहीं रहेगी। जैसे कि सांख्य दर्शन १६/१ में कहा — **सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः । प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्च-तन्मात्रेभ्यः पञ्चस्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ।**

अर्थ — सत्त्व, रज, तम की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं । १ प्रकृति, १ महत्तत्व, १ अहंकार, १ मन, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ और पुनः ५ तन्मात्राएँ, इन तन्मात्राओं से ५ स्थूलभूत उत्पन्न हुए । ये २४ और १ पुरुष (आत्मा) कुल २५ पदार्थों का समूह सम्पूर्ण पदार्थ हैं। सांख्यकार यहाँ इन २४ तत्त्वों का विवेक कराना चाहते हैं ।

विवेक प्राप्त करने के लिए पर्याप्त तप-त्याग, पुरुषार्थ करना पड़ता है। इसमें व्यक्ति को प्रथम अपना शरीर नाशवान् दिखाई देता है, पुनः अन्यों का । एक बार स्थिति बन जाने पर दिनभर बनाये रखता है । जिसकी यह स्थिति बन जाती है कि मेरा शरीर नाशवान् है, वह अपने विषय में इसी स्थिति को बनाये रखते हुए पुनः अपने सम्बन्धी, परिवार, ग्राम, नगर, देश पुनः संसार में जितने लोग हैं उन सबको नाशवान् सिद्ध करता है । इसके पश्चात् समस्त प्राणियों को नाशवान् सिद्ध करता है।

अपने शरीर के विनाशी सिद्ध हो जाने पर तथा शेष मनुष्य, पशु—पक्षी आदि के शरीर विनाशी सिद्ध हो जाने पर एक विचार उत्पन्न होता है कि आज तो ये विद्यमान हैं, भविष्य में नष्ट हो जाएँगे परन्तु इनकी सन्तानें तो रहेंगी । सन्तति परम्परा का जो तारतम्य चलता रहेगा वह अनन्त काल तक रहेगा या वह भी विनष्ट हो जाएगा ? तो निर्णय आता है कि एक न एक दिन वह परम्परा भी समाप्त हो जाएगी । परन्तु यह भी इतना सरल नहीं

है कि केवल नाम लिया (तो काम चल जाएगा) अन्यथा लोग क्यों माने बैठे हैं कि यह क्रम चलता ही रहेगा ?

तो सन्तान परम्परा भी विनष्ट हो जाएगी, इसको वह यथार्थरूप में देखना चाहता है । जिसको प्रमाणों से वस्तुतत्व सिद्ध करने का अभ्यास है और योग्यता होती है तो वह अनेक प्रकार से यथार्थ को सिद्ध कर लेता है । जो ऐसा नहीं कर सकता उसकी स्थिति भिन्न हो जाती है। कभी न कभी लम्बे काल में सन्तति परम्परा नष्ट हो जाएगी यह स्थूल विचार पद्धति है। अतः वह गहराई से छानबीन करता है । शब्द-प्रमाण और अनुमान-प्रमाण से इस निर्णायक स्थिति पर पहुँचता है । जैसे –

मेरे माता-पिता हुए, उनके माता-पिता रहे, उनके माता-पिता होंगे। पुनः उनके, उनके, उनके..... इस प्रकार पीछे-पीछे जाता है । वह सोचता है जैसे मेरे माता-पिता, उनके माता-पिता पुनः उनके माता-पिता, पुनः उनके, पुनः उनके यही परम्परा पीछे भी रही । पुनः जैसे मेरे माता–पिता या दादा–दादी, नाना–नानी नहीं रहे पुनः उनके नहीं रहे, पुनः उनके नहीं रहे । क्या ऐसा भी समय रहा जब कि किसी के माता–पिता ही नहीं हुये हों ? क्या इस प्रकार इस परम्परा का आरम्भ हुआ है या सदा से सतत चलता आ रहा है और आगे भी चलेगा? सर्व प्रथम उत्पन्न होते हुए किसी को किसी ने तो देखा नहीं और न कोई भी सबसे अन्तिम को देख सकेगा । जैसे सर्वप्रथम को नहीं देखा वैसे सर्वान्तिम को भी नहीं देख सकेगा ।

यह सन्तति परम्परा, उत्पत्ति, विनाश अनादि–अनन्त है ? इस प्रकार नित्य है अथवा अनित्य है । कहीं पर इसका आरम्भ हुआ और कहीं पर समापन होगा। इसी के साथ दूसरी विचारधारा भी जुड़ जाती है, यथा यह सृष्टि पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा आदि सहित नित्य है या अनित्य ? प्रथम बार उत्पन्न हुई है या इससे पूर्व भी उत्पन्न होकर नष्ट हुई पुनः उत्पन्न हुई या कभी उत्पन्न ही नहीं हुई थी? जैसे यह शरीरादि इसी के अन्न–पान आदि से उत्पन्न होकर विनष्ट होता जा रहा है आगे भी ऐसा होता रहेगा। तो पृथ्वी आदि पाञ्चभौतिक पदार्थ भी ऐसे ही उत्पन्न हुए, नष्ट होंगे अथवा नित्य हैं ? न इन्हें भी किसी ने बनते देखा न नष्ट होते हुए देख सकेंगे।

यहाँ शब्दप्रमाण, अनुमानप्रमाण और प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध करने की प्रक्रिया में प्रत्यक्षप्रमाण तो घटित नहीं होगा । शब्दप्रमाण घटित होगा परन्तु इस विषय में मान्यता भेद होने से संशय उपस्थित होगा । यहाँ एक पक्ष तो अनादि

मानता है, दूसरा पक्ष उत्पन्न हुआ मानता है। अतः संशय होता है — **समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः** ॥ न्याय दर्शनम् १/१/२३ ।

अर्थ—समान धर्म मिलने से (अनुभूत होने से), समान—असमान धर्म मिलने से, विरुद्ध धर्म मिलने से, होते हुए मिलने से, न होते हुए भी मिलने से, नहीं होते हुए न मिलने से, नहीं होते हुए भी मिलने से संशय होता है।

मन्थनकाल में यदि स्वयं को मार लिया और अन्य मनुष्यों को बचा लिया, उनका विनाश नहीं किया तो लगेगा — जब मैं मर जाऊँगा तब कुछ लोग कहेंगे बड़ा दुष्ट था। कुछ लोग कहेंगे बड़ा अच्छा था। कुछ उदासीन रहेंगे। भावी सन्तति परम्परा का विनाश करते समय यह सब ऊहापोह होगा। अन्ततः मनुष्य सहित सब प्राणियों के समाप्त हो जाने पर, यहाँ तक कि पृथ्वी, सूर्यादि के समाप्त हो जाने पर एक स्थिति आएगी आकाशवत्। सारा संसार अपने कारण में लीन दिखाई देगा। इस स्थिति में वह वैदिक मान्यतानुसार—बुद्धिधारण करेगा कि विनाश के होने पर भी, जिससे शरीर आदि संसार का निर्माण हुआ, उसका विनाश नहीं होता है। जीवात्माएँ सभी रहती हैं पर मुक्तों को छोड़कर शेष सब मूर्च्छित अवस्था में रहती हैं। इस स्थिति में वह पुनः सर्वव्यापक, आनन्दस्वरूप ईश्वर की गवेषणा करता है।

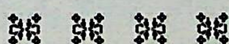
पीछे हम प्रकृति से स्थूल भूत तक निर्माण क्रम से पहुँचे। पुनः स्थूलभूत से प्रकृति तक विनाश क्रम से चलते हैं। प्रथम स्वयं को मारना, पुनः परिवार, पुनः ग्राम-नगर, पुनः पृथ्वी, सूर्य आदि सभी को समाप्त करना। सब कुछ के प्रलय के पश्चात् स्थूलभूत पञ्चतन्मात्रा में विलीन हो जाएँगे। पुनः तन्मात्राएँ और इन्द्रियाँ अहंकार में, अहंकार महत्तत्व में, महत्तत्व पुनः प्रकृति में विलीन हो जाएगा।

आप ये बताएँ इनके अनित्यत्व में संशय तो नहीं है ? ईश्वरादि के नित्यत्व में संशय तो नहीं है ? इस (संशय) का परिणाम है कि लोग अनित्य को नित्य जानते हैं, नित्य को अनित्य मानते हैं। संसार के करोड़ों लोग इसके दुष्परिणाम को नहीं जानते। शरीर के विषय में तो उतना साहस नहीं करते किन्तु पृथ्वी आदि के विषय में झट कह देते हैं ये नित्य हैं। वस्तुतः ईश्वर विधिवत् निर्माण करता, पालन करता और विनाश = प्रलय करता है, अतः यह बनना—बिगड़ना क्रम चलता रहेगा।

आपने ये सब बातें पढ़ रखी है, सुन रखी है, अतः आपको शंका नहीं होती है परन्तु व्यवहार आपका उलटा दिखाई देता है, उससे सिद्ध होता है कि आपने गम्भीरता से विचार नहीं किया है । अपनी बुद्धि से निर्णय नहीं करते हैं । व्यक्ति को जानना चाहिए कि जिन शास्त्रोक्त बातों को मेरी बुद्धि स्वीकार नहीं कर रही है, परन्तु परिणाम भी वैसा नहीं आ रहा है तो समझना चाहिए मेरी दृष्टि (बुद्धि) वास्तविक नहीं है । मानते तो हैं जीते रहेंगे, पर ऐसा होगा क्या ? अतः हमारे ज्ञान का बहुत सा भाग शब्दप्रमाण पर निर्भर है, इसलिए बहुत सी अनुभूतियाँ हम शब्दप्रमाण के आश्रय से बनाते हैं । शब्दप्रमाण से सिद्ध बातों को अपने ज्ञान में बैठा लेने से बहुत परिश्रम नहीं करना पड़ता है । पुनः अनुमान से बार–बार अभ्यास करके उसको दृढ़ करना होता है । पुनः पुनः प्रमाणों से परीक्षा करके बुद्धि में बात बैठाने पर वैसी ही स्थिति बन जाती है । परन्तु इसे भी स्थिर रखने के लिए पुरुषार्थ की अपेक्षा होती है ।

ये जो हम पढ़ते हैं, सीखते हैं, शरीर, पृथ्वी आदि नाशवान् हैं तो इस विषय में ऐसा अभ्यास होना चाहिए कि एक बार बुद्धि चलाने पर सब नाशवान् दिखाई देने लगे । एक बुद्धि से सबको विनाशशील देखें। एक बार यदि सभी को नाशवान् सिद्ध कर लिया तो ऐसा दिखेगा, अन्यथा सिद्ध नहीं किया तो सम्पूर्ण एकबार में विनाशशील नहीं दिखाई देगा । अन्तिम परिणाम यह है कि आपको इस विषय में पूरा मन्थन करके अच्छी, निपुण, कुशल स्थिति बनानी पड़ेगी । जब वह स्थिति होगी तब न भोग रहेगा न भोक्ता । तब सुख–दुःख और उसके साधनों के प्रति राग-द्वेष समाप्त; यह परिणाम निकलेगा।

सुख और सुख साधनों में राग तथा दुःख और दुःख के साधनों में द्वेष होने पर समाधि की स्थिति भंग हो जाती है, इसके लिए उपर्युक्त स्थिति अनिवार्य है । उस स्थिति के प्राप्त होने पर चाहे जहाँ, सरलतापूर्वक मन को लगा सकते हैं । हजारों प्रकार की विचारधाराएँ भी प्रलयावस्था के प्रभाव से बाधित नहीं करेंगी । इसके लिए आपको यह सब करके देखना होगा।



आप सभी इन अंशों को अच्छी प्रकार समझें । आर्षग्रन्थों को पढ़ें और प्रयोग करें । आप देखेंगे परिस्थिति उत्पन्न होने पर भय लगता है। यदि इसका ग्रहण नहीं करेंगे तो योग में प्रगति नहीं होगी ।

एक मूल सिद्धान्त सर्वत्र काम आता है । तीनों कालों में क्या सत्यासत्य है उसे प्रथम जानना । पुनः सत्य को ग्रहण कर लेना तथा असत्य को छोड़ देना । कथनमात्र सरल होता है, करना कठिन होता है । इसलिए महर्षि दयानन्द ने पाँच कसौटियाँ लिखकर कहा – पुनः पुनः इनसे परीक्षा करके सत्यासत्य को जानना। सत्य सिद्ध हो जाने पर कोई तो उसी काल में, कोई वर्षोपरान्त, कोई २०–२५ वर्ष पश्चात् भी ग्रहण करेगा । ऐसा ही मिथ्या को छोड़ने के विषय में। ऐसा ही अन्य विषयों में भी जानना चाहिए । सत्यासत्य की खोज समाधि अवस्था तक पहुँचाती है । प्रायः व्यक्ति पूर्ण सत्यग्राही नहीं होता है, कहीं हठ-दुराग्रह, अभिमानादि के कारण सत्य को स्वीकार नहीं करता। मैं इस स्थिति तक पहुँच सकूँ, ईश्वर से यह प्रार्थना करें ।

कभी आप ऐसा देखते हैं जैसा कि कोई व्यक्ति संसार में किसी से बात करते हुए पुनः दूसरे से बात करने के लिए उससे सम्बन्ध बनाता है। ऐसे ही अभ्यासी संसार से बात करते हुए ईश्वर से बात करने के लिए पुनः ईश्वर से निवेदन करता है, ऐसा दीखता है ? भोजन, शयनादि के काल में लोक से सम्बन्ध रहता है, उसके साथ कार्य करता है, बात करता है, पुनः ईश्वर से सम्बन्ध करने के लिए उपासना में भिन्न स्थिति इसी प्रकार होती है या नहीं ?

कभी समस्त वस्तुओं से सम्बन्ध तोड़कर ईश्वर का सब कुछ मानकर पुनः उससे सम्बद्ध हुई अनुभूति को देखते हैं ?

संसार को नाशवान् मान लेने पर लौकिक सम्बन्ध सरलता से टूट जाते हैं । जब निश्चित रूप से संसार को नष्ट हुआ सा मानता है तो स्वामित्व सहसा चला जाता है ।

संसार चला गया, ऐसा कभी दीखता है ?

साधक- नहीं !

स्वामी जी - इसका मतलब नित्यानित्य का ज्ञान नहीं हुआ । दर्शनों का अभिप्राय नहीं समझ पाए, यदि ऐसा नहीं दिखाई देता है तो । पुनः तो कोई नित्य

मानकर आनन्द से रहता है, उसका क्या बिगड़ता है। कुछ भी डरता नहीं। आपको वास्तविकता स्वीकार करने में भी कठिनाई हो रही है।

वस्तुतः यह सत्य ज्ञान-विज्ञान-प्रक्रिया है। सत्यग्राही तो वस्तु को लेकर उसके स्वरूप को देखता है। पहले और पश्चात् की स्थिति क्या है? यह बालक कहाँ से आ गया। पीछे जाते जाते पूर्ण परिणाम को देखता है, नित्य है अथवा अभावात्मक है? यदि ऐसी गवेषणा नहीं की तो सत्यज्ञान के लिए क्या गवेषणा की?

सांख्यकार ने कहा – **सत्त्वरजस्तमसां.......**। पुनः कहा विपरीत चलो– पञ्चस्थूलभूत टूट-फूटकर तन्मात्रा में चले जाएँगे, तन्मात्रा अहंकार में, अहंकार महत्तत्व में, महत्तत्व पुनः प्रकृति में चला जाएगा। इस प्रकार विवेक को बताने के लिए ही तो लिखा। उसका लक्ष्य था अविद्या को जानकर साधक उसे नष्ट करे। जीवात्मा को नहीं जानता है न ईश्वर को (अतः कहा) प्रकृति से पृथ्वी तक चलो, पुनः पृथ्वी से प्रकृति तक। सब को प्रलय में पहुँचाता है।

प्रत्यक्ष को छोड़िए, अनुमान से तो प्रलय दीखता ही है। बुद्धि में तो बैठता ही है। मुझे तो दीखता है, आपको नहीं दिखाई देता है, क्या कारण है? मैं गड़बड़ हूँ या आप अथवा दोनों? मेरी भ्रान्ति है, या आपकी भ्रान्ति है या दोनों की?

अपने जन्म से पूर्व अपने शरीर का अभाव मानते हैं या नहीं? विनाश के कारण उपस्थित होने पर सतत अनुभूति रहती है? जैसे कुछ वर्ष पहले पंजाब में स्थिति थी, आज भी कश्मीर में है। कोई भी देख सकता है। उनकी बुद्धि वैसी बन गई है कल मरेंगे या आज ही। जब यह हो जाता है न मेरा न तेरा तब आगे डर कम हो जाता है। उन्मत्त होता है, चिन्ताग्रस्त होता है या निर्भीक हो जाता है। जहाँ युद्ध होता है, जैसे हिमालय पर, वहाँ एक तो शीत आदि से ठिठुरता है, ऊपर से विमानों का भय; कब बम गिरा दें।

इस प्रकार वह मृत्यु के सामने अपने आप को देखता है। छः मास तक देखता है। ऐसी घटनाओं को लेकर विचार करता है, पुनः अन्तिम निर्णय आता है, मृत्यु के मुख में स्थित हूँ। पुनः पास वाले को देखता है। मित्र हो तो अधिक प्रभाव पड़ता है। उसी को लेकर नाशवान् मानने की स्थिति में जाता है; ऐसा करना होता है।

कभी-कभी सृष्टि के जीवों को देखिए; कितने प्राणी क्षण भर में मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, कितने उत्पन्न होते हैं? इनकी कोई गणना नहीं कर सकता।

एक मत यह भी है, जिसको महात्मा बुद्ध का मत कहते हैं। उनकी मान्यता है प्रत्येक क्षण पूरा पदार्थ नष्ट होता है और पुनः पूरा उत्पन्न होता है। इसको क्षणिकवाद कहते हैं। इसे तो हम नहीं मानते हैं किन्तु प्रत्येक पदार्थ आंशिक रूप में शनैः शनैः प्रत्येक क्षण नष्ट होता जाता है, ऐसा हम मानते हैं।

समाधि के लिए पूरे संसार का त्याग करना पड़ता है। सारे (लौकिक) लक्ष्य–प्रयोजन छोड़ने होते हैं। वह देखता है वस्तुतः किस रूप में यह संसार है, इसको देखने की स्थिति लाता है। अन्त में जानता है, इनमें से कोई भी बना हुआ नहीं था। वैदिक परम्परा में ईश्वर विद्यमान था, है, रहेगा। जीवात्माएँ सोई हुई सी थीं। प्रकृति मूर्छितवत् पड़ी थी। उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। इस प्रकार शब्द-प्रमाण और अनुमान-प्रमाण के आधार पर चलता है।

यदि यह अवस्था थी तो वह पुनः आएगी या नहीं ? विचार करने पर ज्ञात हुआ आएगी, जैसी पहले थी। कुछ नहीं दिखाई देगा। पुनः अपने शरीर से चलता है। क्योंकि अपने शरीर के चले जाने पर सारा गया हुआ दिखाई देता है। पुनः पूरे संसार के प्राणी को गया हुआ देखता है। स्वयं को पूछता है; तेरा यह शरीर रहेगा या नहीं ? इसी को विचारते हुए गम्भीरता में जाने पर प्रमाण मिलता है कि जिसके द्वारा यह होता है वह कोई स्थायी कारण होना चाहिए। पुनः सभी को प्रलय में ले जाकर देखता है तो यह वर्त्तमान संसार दो प्रलयों के बीच आकर चकनाचूर हो जाता है। यह प्रलय का सम्पादन है, ऐसा करना होता है।

सभी ऋषि कहते हैं ऐसा विचार करो। क्यों नित्यानित्य का वर्णन किया ? इसलिए कि इसके बिना विवेक नहीं हो सकता। बिना विवेक हुए वैराग्य नहीं होगा। बिना वैराग्य के अभ्यास नहीं हो सकता। अभ्यास के बिना समाधि नहीं होती।

ऋषि तो कहते हैं अनित्य को अनित्य, नित्य को नित्य जानो। शुद्ध को शुद्ध, अशुद्ध को अशुद्ध, सुख को सुख, दुःख को दुःख, चेतन को चेतन, जड़ को जड़ समझो। पूरा संसार देखना होगा। अतः कहा **सत्त्वरजस्तमसां.......** । इस प्रकार २४ तत्त्व जड़ समझो। जीव और ईश्वर चेतन हैं। इस प्रकार विवेक–वैराग्य होने पर समाधि. होती है।

कोई कहे इतना क्या करना, विरोचन की तरह खाओ, पीओ, मस्त रहो तो उत्तर है इन्द्र की तरह क्यों नहीं अभ्यास करें, उसने तो १०१ वर्ष लगाए।

एक बात उपस्थित होती है, प्रलयवत् अवस्था बना लेने पर भी वैसी अनुभूति नहीं बनी रहती है, भङ्ग हो जाती है, तब ऐसा करना चाहिए—

साधक वहाँ बने हुए प्रलय के उसी ज्ञान पर पुनः अभ्यास करता है औ वही अवस्था बना लेता है। व्यवहार काल में प्रलयावस्था को तोड़ देता है, कार्य करके पुनः उसी स्थिति को बना लेता है। आगे वैसे ही कार्यान्तर में छोड़ता-बनाता जाता है। जब उपासना में बैठता है तो प्रलयावस्था को पूरी तरह बनाये रखता है।

नवीन अभ्यासी क्या करे, उसके लिए तो स्थिति कालसाध्य, पुरुषार्थसाध्य ही रहेगी। कालान्तर में वही अभ्यस्त होकर आगे बढ़ता है, उसी को प्रलयावस्था बनाये रखना कठिन नहीं पड़ता। वह दोनों को लेकर चलता है, कार्य और कारण अवस्था को। दोनों को मानकर व्यवहार करता है। सूर्य, चन्द्र आदि को अनित्य मानकर चलता है।

आप महर्षि दयानन्द के जीवन को देखिए। बहन की मृत्यु को देखकर अत्यन्त स्तब्ध हुए थे। न रोये, न चिल्लाये, न चिन्तित हुए, क्या हुआ? किन्तु जब आगे चाचा की मृत्यु देखी तो अति रोए। मान लिया कि मृत्यु मुझे भी नहीं छोड़ेगी। पंडितों को पूछना आरम्भ कर दिया, कैसे मृत्यु से बच सकते हैं? उनके मस्तिष्क में मृत्यु उपस्थित हो गई।

आगे सुनिए मेरा जैसे हुआ। सतत स्थिति के कारण चिन्तन आरम्भ हुआ। उस समय इच्छा रहती थी कभी नहीं मरूँ। ऊथल-पुथल हुआ पर यह परिणाम निकला। शान्त वातावरण होने पर पुनः सोचना आरम्भ किया। अन्त में लम्बे कालोपरान्त यह परिणाम निकाला कि कोई उपाय नहीं है जिससे शरीर को जीवित रखा जा सके। स्वयं ऊहा करता था, कोई बताने वाला नहीं था। पुनः लगा कि यदि रक्षा की संभावना नहीं है, मृत्यु होगी ही तो उस स्थिति को देखना चाहिए, मरने पर क्या होता है? जैसे मर जाने वालों का क्या होता है?

अतः **संयोगाश्च वियोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्** ॥ बा. रा. अ. का. १०५/१६। इस प्रकार एक-एक कर सबको विनाश में पहुँचाता है, ऐसे ही सूर्यादि को भी। सब का प्रलय हो जाने पर ईश्वर का स्मरण कर सब कुछ उसको समर्पित करना चाहिए। समर्पण शब्दानुमान के आधार पर होगा।

इससे नितान्त स्वामित्व की समाप्ति होती है। भोक्ताभोग्य की स्थिति नहीं रहती है।

साधक – मृत्यु से पूर्व जो कष्ट होता है उसमें मृत्यु की स्थिति कारण है या कष्ट–पीड़ा या अन्य कुछ....... ।

स्वामी जी – कष्ट भी कारण है, भोगों का छूटना भी कारण होता है। मैं नहीं रहूँगा, यह भी भय का कारण बनता है।

ध्यानकाल में जो चित्रादि दिखाई देते हैं, उनको प्रलय में पहुँचाकर उपासना करनी चाहिए। यदि बाधा हो तो उपेक्षा कर दें। प्रलय न बन पाए तो यह उपर्युक्त प्रयोग करें।

साधक – आप उपासना में इसका प्रयोग करते हैं?

स्वामी जी – मैं उपासना में प्रथम तो अनित्य को अनित्य, नित्य को नित्य, पुनः अशुद्ध को अशुद्ध, शुद्ध को शुद्ध, जड़ को जड़, चेतन को चेतन यह विभाग करके यह अनित्य है इसको हटा दिया। ऐसे ही अन्यों का पूरे का विभाग करके उपासना आरम्भ की। पुनः इसमें जो बाधक आया इसको हटाता गया; ऐसा करता हूँ।



विद्याविद्या का क्षेत्र

योगदर्शनकार ने एक बात कही कि विद्याविद्या का क्षेत्र चार भागों में विभक्त है। **अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या**॥ २/४। जो अनित्य हैं उसको नित्य जानना, नित्य को अनित्य, अशुद्ध को शुद्ध, शुद्ध को अशुद्ध, जड़ को चेतन एवं चेतन को जड़ जानना यह अविद्या हुई इसके विपरीत अनित्य को अनित्य, नित्य को नित्यादि जानने से विद्या का स्वरूप आता है।

अर्थात् चारों विभाग ऐसे हैं जिसमें विद्या और अविद्या प्रकट होती है; जहाँ अविद्या नीचे दबती है वहीं विद्या उत्पन्न होती है। जहाँ विद्या नीचे दबती है वहीं अविद्या उत्पन्न होती है।

पुनः क्या विभाग किया? हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय।



नित्यानित्य

ज्ञान का प्रथम क्षेत्र – व्यक्ति के जीवन पर अविद्या का प्रभाव पड़ता है तब प्रथम भाग होता है अनित्य को नित्य जानता है, नित्य को अनित्य जानता है। शरीरादि पदार्थ, सूर्य, चन्द्र आदि अनित्य हैं; इनको नित्य जानता है । ईश्वर–जीव–प्रकृति ये नित्य हैं; इनको अनित्य जानता है।

शरीर, पृथ्वी आदि पञ्चभूत, तन्मात्रा, इन्द्रिय, अहंकार, महत्तत्व पर्यन्त लोक–लोकान्तर सब उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं । अब यह ज्ञान हुआ कि सृष्टि सर्वदा नहीं रहती । इसका निर्माता जीव नहीं है, स्वयं उत्पन्न नहीं होती, अभाव से भाव में नहीं आई । अन्त में निर्णय हुआ कि ईश्वर इसका निर्माता है। पुनः सृष्टि के सूक्ष्म–मध्यम–स्थूल सब का निर्माता, पालक ईश्वर है तो जीवात्मा इन वस्तुओं से जो ममत्व जोड़ता है वह बन्धन का कारण है। उससे ईश्वर प्राप्ति नहीं होगी ।

अब देखिए, अनित्यों का निर्माता ईश्वर है परन्तु उनका नहीं जो उत्पन्न नहीं हुए हैं । वे कौन हैं ? वैदिक मान्यता के अनुसार तीन पदार्थ नित्य हैं, वे अनुत्पन्न हैं। एक ईश्वर, दूसरे अनेक जीव (जाति में एक) तीसरी प्रकृति जिसके कण सामान्य-विशेषरूप भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले हैं । जड़त्व तथा समुदाय रूप में इनके एकत्व कथन का नाम प्रकृति है । शब्दप्रमाण से यह सिद्ध है कि ईश्वर–जीव–प्रकृति तीनों अनादि हैं, उत्पन्न नहीं होते हैं । इनको बुद्धि में स्थापित करना, स्वीकार करना, मानना परिश्रमसाध्य है।

जब अन्य सभी उत्पन्न हैं तो ये तीन कैसे अनुत्पन्न हैं, यह साध्य विषय है । इसकी पञ्चावयव से सिद्धि करो; कैसे करेंगे ?

साधक –

प्रतिज्ञा – तीनों अनुत्पन्न हैं ।

हेतु – किसी का भी मूल न होने से ।

(**व्याप्ति** – जिन-जिन का मूल होता है, वे-वे उत्पन्न होते हैं ।)

उदाहरण – यथा घट ।

उपनय – ये वैसे नहीं हैं ।

निगमन – घट के समान समूल न होने से अनुत्पन्न हैं ।

स्वामी जी – एक नियम है विशुद्ध निश्चयात्मक ज्ञान से वैराग्य उत्पन्न होता है । आप जब शरीर, समस्त प्राणी, पृथ्वी आदि समस्त सृष्टि को उत्पन्न

मान लेंगे, विनाशधर्मा मान लेंगे। आपका ज्ञान इस रूप में शरीर से लेकर महत्तत्व पर्यन्त निश्चित हो जाएगा, तब वैराग्य होगा। प्रकृति केवल विद्यमान रहती, महत्तत्व आदि कुछ भी उत्पन्न नहीं होता, आगे भी जो उत्पन्न होगा वह विनाश के मुख में जाएगा, इसका नाम विवेक = तत्त्वज्ञान है; इससे वैराग्य होता है। वैराग्य से अभ्यास सिद्ध होता है ।

अन्य कोई कार्य नहीं है, अतः आपकी सारी शक्ति इसके लिए लगनी है । जो भी बाधा आए सब स्वीकार करो, भले ही मृत्यु हो । सब साधन ईश्वर के हैं।

आप की क्या स्थिति है, आपको लगता है कि मेरा शरीर नाशवान् है?

साधक – ऐसी अनुभूति नहीं हो रही है ।

स्वामी जी – इस स्थिति में विचारक की इच्छा होती है कि कभी नहीं मरूँ। अत्यधिक दुःख होने पर मरने की इच्छा उत्पन्न हो जाए; यह पृथक् बात है । वैसे कोई मरना नहीं चाहता । पर देखा जा रहा है संसार में लोग उत्पन्न हो रहे हैं और मर रहे हैं । तुम कैसे जीते रहोगे ? वैसे तो लोग ऐसा विचार भी नहीं करना चाहते हैं, जैसा स्वामी दयानन्द ने किया। ऐसा व्यक्ति ही इसको जान पाता है । जब वह देखता है कि मृत्यु अवश्य होगी तो इसका उपाय जानना चाहता है कि क्या कोई ऐसा उपाय है जिससे मृत्यु से बच जाएँ ? वह सोचता है – बताते हैं कि देवता अमर होते हैं! ये पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि भी तो अमर हैं; व्यक्ति ऐसा जानता-मानता हुआ आशा करता है कि हो सकता है आगे कोई उपाय निकल आए जिससे मैं भी अमर हो जाऊँ ? यह असफल है ।

कोई सोचता है जब मरेंगे तब मरेंगे अभी क्या लेना-देना है उससे, जब होगा तब देखा जाएगा; वह भी असफल है ।

जो यह सोचता है कि कहाँ जा सकता हूँ बचकर ? कहीं नहीं, मरना तो निश्चित है । यदि मृत्यु निश्चित है तो क्यों नहीं अभी देख लूँ। इस स्थिति में विचार करने पर (सफलता मिलती है, संस्कार जागते हैं) संस्कार के कारण भी विनाश के कारण दिखाई देने लगते हैं ।

मृत्यु के विषय में यह स्थिति होनी चाहिए कि जैसे युद्ध में, आगे से गोली लगेगी या पीछे से; मृत्यु तो होनी ही है । युद्ध में सेना की जो स्थिति उस काल में होती है, व्यक्ति की भी वही स्थिति सदा रहनी चाहिए । ऐसा

परिपक्वज्ञान नहीं हुआ तो वह इस मार्ग से पलायन करेगा। जो विशेष चिन्तन करके यह स्थिति नहीं बनाता वह इस स्थिति को छोड़कर पुनः संसार में जाएगा ।

पुनः पुनः विचारता है कि पृथ्वी आदि सदा रहते हैं; क्या यह सत्य है ? एड़ी से चोटी तक एक कर देता है । सारा संसार छान मारता है, पर उसे कोई उपाय नहीं सूझता है तो अन्त में निश्चय करता है कि जब पृथ्वी आदि सदा नहीं रह सकते तो हमारे इस शरीर का क्या अस्तित्व है ? इतिहास में भी कोई नहीं मिलता है जो अमर हो गया हो! आज भी कोई अमर विद्यमान नहीं है ।

लौकिक-सुख और सुख-साधनों में प्रवृत्त, लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा से ग्रस्त व्यक्ति इस प्रकार का अन्वेषण नहीं कर सकता । इस प्रकार कोई निर्णय नहीं निकाल सकता । वह तो इस विषय को विचारने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझता । धन-धान्य साधन-सम्पन्न व्यक्ति तो इस विषय को उपस्थित ही नहीं करना चाहता ।

हाँ कोई ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति भी मृत्यु को देखकर पुनः उस तथ्य की पूर्ण गवेषणा करे, अन्तिम निर्णय निकाले तो उसे भी यह बात जँच जाएगी, जँच जाती है । जब वह स्वयं सहित सब को मृत्यु के मुख में देखता है तो सारा सुख उसे दुःखमय प्रतीत होने लगता है । वह देखता है मैं तो इन सबसे वञ्चित हो जाऊँगा । जो कोई सर्वसाधन सम्पन्न है और लोक में दुःख की अनुभूति करता है तो वह योग में प्रवेश कर सकता है । कहा भी है –

क्षयान्ता निचया सर्वे....। संयोगाश्च वियोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥

(वा० रामा० अयो. का. १०५/१६)

अभिप्राय यही है कि जो इस दुःख से बचना चाहे वह सर्वसाधनसम्पन्न होकर भी लौकिक-सुख और सुख-साधनों में दुःख का अनुभव करे, तो वह योगी हो सकता है । जो इनमें दुःख अनुभव नहीं कर सकता वह योगी नहीं हो सकता, उसको योग की स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती ।

आप थोड़े सुख-साधन वाले हैं, परन्तु आप पर भी यही नियम लागू होगा। दुःख का अनुभव करते हैं तो योग में प्रवेश कर सकेंगे, यदि सुख

का अनुभव करते हैं तो कभी नहीं कर सकते । यह नियम केवल राज्य, भोग, धन, ऐश्वर्य वाले के लिए ही नहीं हैं, किन्तु निर्धन-धनवान् सबके लिए समान है। दरिद्र, श्रीहीन लोक में दुःख मानते हैं किन्तु साधनाभाव में; लौकिक-साधन-सम्पन्न होने पर दुःख नहीं मानते हैं, अतः उनका दुःखदर्शन यथार्थ नहीं है ।

ऐसे ही लोग सन्ध्यादि में बैठते तो हैं, पर नाममात्र के लिए । उनकी कोई विशेष गति नहीं होती । उन्हें भी सुख-साधनों में सुख ही दिखाई देता है, दुःख नहीं दिखाई देता है । वे कभी नहीं सोचते हैं कि मृत्यु होगी या नहीं ? मरने के उपरान्त क्या होगा ? जैसे इस शव की गति हुई, नामोनिशान मिट गया, क्या मेरी यही दशा नहीं होगी या होगी ही?

तो इस प्रकार योगाभ्यास के लिए जिन-जिन साधनों की अपेक्षा समझते हैं, उन-उन की कैसे उपलब्धि होगी ? क्या-क्या बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं? उनका क्या निदान होगा ? कैसे सुरक्षितरूप से आगे प्रगति कर सकते हैं; आदि सब प्रकार सुसज्जित रहने चाहिएँ ।

ध्यान में बैठकर विचार करें – आपको क्या लगता है ? कल सूर्योदय होगा या नहीं ?

साधक १. नहीं दिखता है ।

अन्य साधक –दिखता है ।

स्वामी जी – यदि नहीं दिखता है तो सूक्ष्म विषयों को कैसे समझ पाएँगे, इतनी मोटी बुद्धि ? हमारा जीवन ही इसलिए है कि तीनों कालों में सत्य क्या है, उसको जान लेना है । सारी सम्पत्ति ईश्वर की है । शरीर, इन्द्रिय, भूमि को ईश्वर का मानना सत्य है । कितना प्रतिशत मान के चलते हैं यह भिन्न बात है। जैसा यह नहीं दिखाई देता, वैसे ही मृत्यु भी दिखाई नहीं देती होगी । पूर्ण सत्यग्राही और पूर्ण असत्यत्यागी न होने से यह स्थिति बनी है । मन–वचन–शरीर से पूर्ण सत्य माने, बोले और व्यवहार करे ऐसा व्यक्ति मिलना कठिन है ।

आप ३-४ वर्षों से विद्यालय में रह रहे हैं। वहाँ बताया गया कि भवनादि सब विद्यालय के हैं । आपको समझ में आ गया कि हाँ ये सब विद्यालय के हैं मेरे नहींहैं। तो जैसे भवनादि को विद्यालय का मानकर प्रयोग करते

हैं वैसा ही ईश्वर का मानकर भी प्रयोग करना सम्भव है । सब कुछ ईश्वर का होते हुए इनको नाशवान् भी मानना अनिवार्य है क्योंकि यदि नाशवान् नहीं मानेंगे तो प्रश्न होगा कि ईश्वर ने उत्पन्न नहीं किये किन्तु स्वयं अनादि हैं ? उपासनाकाल में धीरे-धीरे अनित्यता की विस्मृति होती है; इसे बनाये रखने का प्रयत्न करते रहना चाहिए ।

अनित्यता की सिद्धि एक बार हो जाने पर भी सदैव एक सी स्थिति बनी नहीं रहती है । प्रलयावस्था बना लेने पर भी संसार दिखना सतत बन्द नहीं होता, मध्य-मध्य में स्थिति छिन्न-भिन्न होती रहती है । जैसे आपने सुन्दर रूप को देखा और देखते ही प्रलय में बदल डाला तो यही स्थिति लगातार स्थिर नहीं रहेगी । कभी ऐसा भी होगा पूर्ण बल लगाने पर भी आकर्षण नहीं हटेगा। वहाँ जन्मजन्मान्तर की वासनाएँ कारण बनी रहती हैं । मन को जड़ मानकर बहुत प्रयत्न करने पर रूप का आना बन्द होगा अथवा आँख हटा लेने पर इधर-उधर देखने से विषय निरुद्ध हो जाएगा किन्तु मन में आकार-प्रकार बना रहेगा । इसलिए विषय को उपस्थित (विद्यमान) मानकर व्यवहार में मनोनिरोध करना बहुत कठिन होता है, पर प्रलय में बदलकर मनोनिरोध करना सरल होता है ।

साधक – हेयोपादेयशून्या स्थिति कब आती है ?

स्वामी जी – प्रथम विवेक होगा, उसके पश्चात् वैराग्य होगा, उसके पश्चात् हेयोपादेयशून्या स्थिति आएगी । इसके पूर्व अनित्यतादि का ज्ञान होना चाहिए।

साधक– क्या विषय को प्रत्यक्ष देखते हुए हेयोपादेयशून्या स्थिति आती है ?

स्वामी जी – आती है, परिपक्वता होने पर; परन्तु यह बात आपको समझ में आ गई कि शरीर नाशवान् है, अथवा नहीं ? एतदर्थ प्रथम अपने शरीर को अनित्य देखिये, पुनः अन्य सभी शरीरों को । यह सब बुद्धि से देखने का प्रयत्न करें । जब यह स्थिति आएगी तो हेयोपादेयशून्या समझ में आएगी ।

❈ ❈ ❈ ❈

नाशवान् और व्यवहार में समन्वय

जब हम कहते हैं शरीर नाशवान् है, तब वैसी ही स्थिति की अनुभूति होनी चाहिए और दिनभर ऐसा ही दिखाई देना चाहिए। इस विषय में एक शंका होती है, उसका समाधान भी आना चाहिए। जैसे कि एक पक्ष में तो शरीर नाशवान् दिखाई देता है दूसरे पक्ष में सारा व्यवहार भी करते हैं। ध्यान करते हैं, चिन्तन करते हैं; तो इनमें समन्वय कैसे किया जाता है ?

इसका समाधान है कि उत्पन्न वस्तु की एक अवस्था होती है कार्यावस्था और दूसरी होती है कारणावस्था। जब शरीर परमाणुरूप में था वह इसकी कारणावस्था थी। अब वर्तमान में कार्यावस्था है। जब नाशवान् रूप में देखते हैं तो कार्य से कारण रूप में जाने वाला है (जा रहा है) अथवा कारणावस्था आनेवाली है, ऐसा देखते हैं। आनेवाली यह कारणावस्था प्रमाणों से सिद्ध है। जैसे आप राजस्थान के बीकानेर क्षेत्र में ज्येष्ठ मास में जाएँ तो आपको टिब्बा ही टिब्बा दिखाई देगा, पत्ते का, हरियाली का नामोनिशान नहीं दिखाई देगा। परन्तु बरसात में जाएँगे तो हरा–भरा दिखाई देगा, देता है ! इस हरी–भरी स्थिति को पूर्वरूप में देखता है तो वैसा ही दिखता है, पत्ते का कहीं नाम नहीं। आँख बन्द करके वैसा ही सत्य दिखाई देता है।

इसी प्रकार आज उत्पन्न हुए बालक को देखिए। आज बालक है, आगे युवा होगा, पुनः वृद्ध होगा, आगे चलके मर जाएगा। शव बनकर पड़ा होगा। पुनः जला दिया जाएगा। उसके पश्चात् राख भी उड़ जाएगी। नाम व निशान मिट जाएँगे। क्या इस स्थिति को कोई मिथ्या सिद्ध कर सकता है, क्या यह स्थिति नहीं होगी ? यह कोई कल्पना नहीं है, मिथ्या नहीं, यथार्थ सत्य है, इसे कोई झूठा नहीं कर सकता।

इसी प्रकार जब वर्त्तमान शरीर को जन्म से पूर्वावस्था में ले जाकर देखते हैं तो माता–पिता, पृथ्वी, जल, अग्नि आदि के रूप में ही पाते हैं, उन्हीं से आया हुआ पाते हैं। यह एक की नहीं मनुष्यमात्र की यही स्थिति होगी। उनके भी पीछे चलते जाएँ तो एक ऐसी स्थिति दिखेगी जहाँ कोई मनुष्य नहीं था, केवल वृक्ष–वनस्पति, अन्नादि थे तथा उनके भी पीछे पृथ्वी आदि मात्र थे। यह प्रमाण से सिद्ध है। आप जब इस स्थिति में जाएँगे कि मेरी राख भी नहीं बची तो ममाहं नाम की कोई वस्तु रहेगी ही नहीं। यह एक निश्चित घटना है। और निश्चित घटना भले ही करोड़ों वर्षों में घटनेवाली हो

पर आज ही होनेवाली है ऐसी दिखती है । अर्थात् घटना जब होगी तब होगी परन्तु आज ही निश्चय पूर्वक जानी जा सकती है । स्वामी ओमानन्द जी, विद्यानन्द जी, दीक्षानन्द जी चले गए । अब वहाँ उनके नाम का एक दाना भी नहीं रहा । यह तो उदाहरणमात्र है । हमारी और आप की सब की, प्राणिमात्र की यही स्थिति होगी ।

अभी मैंने चक्षु बन्द कर लिये हैं अब कोई विषय नहीं आ रहा है। कालान्तर में आँख खोलकर पृथ्वी आदि में यह स्थिति बनाई जा सकती है। इसमें क्रम रहेगा प्रथम स्वयं को मारना, पुनः परिवार, पुनः ग्राम, पुनः नगर पुनः पृथ्वी, सूर्य आदि सभी को समाप्त करना । सब कुछ के प्रलय के पश्चात् इनका चित्र रहेगा पुनः स्वानुभव को भी समाप्त कर देने पर वह भी अवरुद्ध हो जाएगा ।

आँख बन्द करके देखिए । बड़े से बड़े राजा–महाराजा, संन्यासी, विद्वान् आदि सभी चले गए । वही स्थिति आज भी आनेवाली है, इसका सम्पादन करें। प्रथम अपने विषय में पुनः अन्यों के विषय में –

साधक १ अनुभूति – स्थिरता तो आई पर भय आदि कुछ नहीं लगा।

स्वामी जी – गम्भीरता नहीं रही । आपने अपने को यथार्थ रूप में मारा नहीं। स्वयं को मृत्यु के समीप पहुँचा नहीं पा रहे हैं । क्या शतप्रतिशत सच नहीं है कि यह शरीर छिन्न–भिन्न हो जाएगा ? निश्चय से स्थिति आएगी।

प्रायः मृत्युकाल की, उस क्षण की कल्पना नहीं कर पाते हैं । इसके लिए वृद्धों को, मृत्युग्रस्त को समीपता से देखकर उपमान प्रमाण से स्वयं को मृत्यु से ग्रसित समझना चाहिए । इससे अधिकार, आदान–प्रदान, सुख-दुःख, सुनना-सुनाना, चिन्तन, भाषण आदि व्यवहारों में बहुत परिवर्तन होता है।

अनुमान से तीनों कालों की बातों को सिद्ध करता है । जो आज है, जो पहले था, जो आगे होगा, उन सब को विषय बनाता है । जहाँ हम अन्य विषय में प्रमाण से सिद्ध बातों को मानते हैं तो इसे भी मानना चाहिए । नहीं मानने पर स्वयं से पूछना चाहिए कि यह भी अनुमान-प्रमाण से सिद्ध है, तो इसे सत्य माने या झूठ, पहले इसका निर्णय करो। अनिवार्य कर देना चाहिए 'समाधान करो' । पीछे लग जाओ, जहाँ जाए वहाँ जाओ । इससे क्या होगा कहीं अवकाश नहीं रहेगा अर्थात् सभी स्थितियों में निर्णय को प्रधान व आवश्यक मानकर प्रयत्नशील रहना चाहिए। ऐसा करने पर निर्णय निकलेगा। यह पृथक् बात है कि किसी का आज निर्णय होगा, किसी का कल, परसों, अगले मास में, अगले वर्ष में । हो सकता है किसी का इस जीवन में भी

न निकले । क्योंकि पुरुषार्थ, रुचि, सत्यासत्य को ग्रहण त्याग आदि की प्रवृत्ति इसके कारण होते हैं।

आपकी प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ? इसलिए कि मन में संशय है, अथवा अन्य कार्यों में लग जाते हैं । जिज्ञासु स्वयं से पूछता है — इससे बढ़कर महत्त्वपूर्ण और कौन सा कार्य है ? शौच, व्यायाम, पठन-पाठन, स्वाध्याय, प्रचार आदि क्या ये सब सदा चलेंगे ? कभी नहीं रुकेंगे ? यदि रुक जाएँगे तो बहाना मात्र हुआ ! मृत्यु की अनिवार्यता तो बनी ही रही । इसलिए सर्वाधिक प्रमुखता उसको देनी पड़ेगी ।

ध्यान देने योग्य बात है कि **"तीनों कालों में सत्य क्या है, उसको धारण करना और असत्य क्या है, उसको छोड़ना है ।"** जो इसी को उद्देश्य बनाकर चलता है, वह पूरी शक्ति लगा देता है, कुछ नहीं छोड़ता। विवशता होने पर रुकता है, तब कर भी क्या सकता है ?



मृत्यु-निर्णय

जो इस भयंकर स्थिति से निकल गया, वह भय से दूर हो गया। उसके जीवन से भय की स्थिति समाप्त हो गई । उसे भय लगता ही नहीं । भय हो भी किस बात का ! जो नष्ट होना था, जो हानि होनी थी, वह हो गई। सृष्टि से लेकर विनाशपर्यन्त भय की जितनी स्थितियाँ हो सकती हैं, उन सभी को अनुमान से देख लिया । पुनः वह निर्भय होकर विचरने लगता है।

अच्छा आप को प्रतीत होता है कि मैं जन्म से पूर्व नहीं था और आगे भी नहीं रहूँगा ?

साधक — नहीं था यह तो प्रतीत होता है, किन्तु जन्म हुआ है यह प्रतीत नहीं होता । जहाँ से स्मृति है वहाँ तक की प्रतीति होती है उससे पूर्व की नहीं। आगे भविष्य में नहीं रहूँगा ऐसा भी नहीं लगता ।

स्वामी जी — उत्पन्न होते हुए और मरते हुए को देखता है, फिर भी मनुष्य चाहता है मैं तो सदा बना रहूँ ! कितना आश्चर्य है । महाभारत में यक्ष-युधिष्ठिर संवाद प्रकरण में एक बात आती है — **अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् । शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥**

इसलिए सोचना चाहिए; स्वयं से पूछना चाहिए कि तू क्यों नहीं मरेगा ? अच्छा एक बात है, जब व्यक्ति अन्तिम निर्णय करने लगता है तब बहुत

भय लगता है। मृत्यु का निश्चय होने से पूर्व विशेष स्थिति उत्पन्न होती है। उसका सारा हावभाव बदल जाता है। यदि स्थिति में परिवर्तन नहीं आया, सामान्य स्थिति बनी रही, प्रतिदिन के समान खाता–पीता रहा तो समझना चाहिए विवेक उत्पन्न नहीं हुआ है। मृत्यु का ज्ञान नहीं हुआ है।

मेरी तो जब यह स्थिति आई थी तब आँख बन्द करके चलता था। पहले तो लोग मुझे पागल कहा करते थे, बाद में बातचीत करने पर, मेरी बुद्धिपूर्वक बातें सुनीं तब उनको वास्तविकता का पता चला।

जब व्यक्ति मृत्यु का निर्णय करने लगता है तब उस काल में मृत्यु के सारे हेतु विचार रूप में दिखाई देते हैं। यदि काले साँप से डरता है तो काला साँप दिखाई देगा। सामने आता हुआ दीखेगा। ऐसे ही चोरों से, डकैतों से। ये सब लक्षण हैं अर्थात् जिस–जिस से डरता है, बचता है उनमें से कोई भी दृश्य आ सकता है। जिसने मृत्यु के विषय में इन सभी कारणों का विचार नहीं किया, आगे–पीछे नहीं जानता, तो वह जीत नहीं सकेगा। अपरिपक्व हुआ तो डरेगा।

मृत्यु के सामने आने पर जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन आता है, सब उथल–पुथल हो जाता है। प्रतिदिन लम्बे काल तक मन्थन करने के पश्चात् मेरी यह स्थिति आई थी। पढ़े हुओं की अपेक्षा जो अनपढ़ हैं, दोनों की स्थिति सामान्य नहीं होगी परन्तु गम्भीरता में जाने पर वही भयंकर समान स्थिति हो सकती है; दोनों में मोह समान होने से। गंगा प्रसादजी ने लिखा है – किसी युद्ध की बात है। कोई सैनिक युद्ध के लिए जा रहा था। दोनों ओर से गोलियाँ चल रही थीं। आगे बढ़े तो दुश्मन की गोली से मृत्यु निश्चित और पीछे हटे तो अपने पिछले साथी गोली मार डालेंगे। इस स्थिति में संयोग से एक सैनिक युद्ध के पश्चात् जीवित रह गया। उससे जब पूछा गया कि आप की कैसी स्थिति है? तो उसने कहा किसकी स्थिति पूछ रहे हैं ? नाम बताने पर उसने कहा वह तो मर गया!

तो कहने का अभिप्राय है बौद्धिक रूप से इस स्थिति को प्राप्त करना पड़ता है। अपनी मृत्यु का निर्णय लेना पड़ता है। आपकी भी वही स्थिति होनी चाहिए। अनुमानादि प्रमाणों से यद्यपि यह सब सिद्ध है।

साधक१ – अनुमान-प्रमाण से विचार करते समय कदाचित् जब मृत्यु का आभास होने लगता है तो वहाँ भी अतिभय होता है ? यदि उस स्थिति में साहस नहीं रहा तो मृत्यु भी हो सकती है ?

स्वामी जी – किसी की हो सकती है, परन्तु जिसने पूर्वापर पूर्ण विचार किया है उसकी मृत्यु की संभावना नहीं रहती । जो यह समझता है कि मृत्यु से भय होगा तो उसे पुनः विचारना चाहिए कि कहाँ जाएगा बचकर? क्या आगे मृत्यु नहीं होगी? तब वह नहीं डरता है ।

साधक१ – यदि विचारने पर भी मृत्यु दिखाई न दे और लगे कि मरूँगा ही नहीं, तो?

स्वामी जी – यह उसकी भ्रान्ति होगी । यह तो सर्वसाधारण प्रत्यक्ष है । इसकी तो उपेक्षा की ही नहीं जा सकती है अतः तब और बल लगाना चाहिए ।

मृत्यु के निर्णयकाल में जो शास्त्रों से अनभिज्ञ है, वास्तविक सिद्धान्तों से अपरिचित है, उसकी भटकने की बहुत संभावना रहती है । जैसे; भूत–प्रेत आदि बन जाएँगे, नष्ट हो जाएँगे आदि । अतः शास्त्रों के आधार पर सिद्धान्तों को साथ में लेकर ही चिन्तन करना चाहिए । इसके लिए–

- पुनः पुनः मृत्यु को देखना चाहिए । (चिन्तन करना चाहिए)
- मृत्यु के प्रसंग का वर्णन करना (और सुनना) चाहिए ।
- स्वयं की विपरीत मान्यता का खण्डन करना चाहिए, जैसे कि मैं क्यों नहीं मरूँगा ? क्यों संशय है ? हेतु उपस्थित करो । पञ्चावयव द्वारा उत्तर प्राप्त करने में न्यून समय लगता है । सत्यग्राही, असत्यत्यागी व्यक्ति हेतु आदि उपस्थित करके शीघ्र सफल हो जाता है । टाल–मटोल करनेवाला कभी नहीं सफल होता । अतः इस विषय में जो पूर्ण सत्यग्राही है वही सफल होता है । वही विवेक–वैराग्य को लेकर समाधि को प्राप्त होता है, अन्य नहीं । पूर्णरूपेण सत्यग्राही कौन है; इसकी भी विवेचना करनी चाहिए। भोजन, वस्त्र, मान, धन आदि लौकिक साधनों में प्रीति, लोक से डरने वाला सत्यग्राही नहीं हो सकता । यह एक यथार्थ विज्ञान है, इसके प्रयोग से निश्चय से समाधि की प्राप्ति होती है ।

शरीर नाशवान् है, यहाँ तक हम पहुँच चुके हैं। पूरे दैनिक जीवन में आप शरीर को नाशवान् मानते हुए या स्थिति बनाकर रह सकते हैं। आप में इतनी सामर्थ्य होनी चाहिए कि जागरण से लेकर शयन पर्यन्त नाशवान् स्थिति दिखाई देती रहे । उससे बच भी नहीं सकते । बिना स्थिति बनाये कार्य नहीं चलेगा ।

शुचि-अशुचि

विवेक का दूसरा क्षेत्र है – व्यक्ति अशुद्ध पदार्थ को अशुद्ध जानता है। यदि सूक्ष्मता से जानना चाहे क्या शुद्ध है क्या अशुद्ध है, क्या मिश्रित क्या अमिश्रित, क्या विकारी क्या अविकारी, क्या सत्य क्या असत्य तो परीक्षण से पता चलता है। पदार्थ की दृष्टि से ईश्वर शुद्ध है या अशुद्ध? जीवात्मा शुद्ध है या अशुद्ध ? प्रकृति शुद्ध है या अशुद्ध ? एतदर्थ यह परिभाषा है– जो दुःख है, दुःख का कारण है, हेय है वह अशुद्ध है। जिससे सुख की वृद्धि हो और सुख बढ़ता हो वह शुद्ध है।

प्रकृति शुद्ध भी है और अशुद्ध भी है। सत्त्व शुद्ध है, रज और तम अशुद्ध हैं। ये जो लौकिक पदार्थ हमारे सुख के कारण हैं वे शुद्ध हैं, शेष अशुद्ध हैं। हमारे भोजन के पदार्थ जिनमें कोई शरीर को स्वस्थ करते हैं, बल बढ़ाते हैं, कोई रोग उत्पन्न करते हैं, शरीर को विकृत, निर्बल करते हैं। ये सब शरीर की अपेक्षा से शुद्ध या अशुद्ध हैं। तत्काल निर्मित भोजन शुद्ध है, कालातीत वासी सड़ा–गला अशुद्ध है। जो सात्त्विक शुद्धिप्रधान हैं यद्यपि वे भी मिश्रित हैं, यहाँ प्रधानता का ग्रहण है। गाढ़ी निद्रा तमः प्रधान, भागदौड़, उखाड़–पछाड़ रजः प्रधान, ध्यान-जप सत्त्व-प्रधान हैं।

जीवात्मा स्वभाव से शुद्ध है। अविद्या, अधर्म इसके गुण नहीं हैं, न इसमें सड़न-गलन है। प्रकृति के आश्रित सत्त्वादि, अविद्या, अधर्मादि से अशुद्ध हो जाता है। जीवात्मा भोक्ता है किन्तु उसमें सुख–दुःख मिल नहीं जाते केवल उनका भोग करता है। इनसे सम्बद्ध जीवात्मा इन्हीं जैसा हो जाता है, किन्तु उसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। तमोगुण से सम्बद्ध होकर अधर्माचरण करता है, उससे अधार्मिक = खराब हो जाता है। ईश्वर भी प्रकृति से कार्य करता है किन्तु अशुद्ध नहीं होता है, उस पर प्रकृति का प्रभाव नहीं पड़ता है। जीवात्मा प्रकृति के बिना कुछ नहीं कर सकता। आँख में पीलिया हो जाने पर किसी भी प्रकार से श्वेत नहीं देख सकता। **सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति** ॥ यो० द० ३/५५। बुद्धि और पुरुष की समानरूप से शुद्धि हो जाने पर कैवल्य होता है। अविद्यादि धर्म मेरे नहीं हैं; ऐसा ज्ञात हो जाने पर इन्हें सरलता से हटाया जा सकता है।

ईश्वर शुद्ध है। ईश्वर में न सत्त्व है, न रज, न तम, न अविद्या, अधर्म है। ईश्वर में कोई ऐसा भाग नहीं जिससे दुःख होता हो। अविद्या, अधर्म, अन्याय अशुद्ध हैं। ईश्वर की उपासना शुद्ध, अनीश्वर की उपासना अशुद्ध है।

विवेक में अशुद्धि का दूसरा क्षेत्र है – जो अशुद्ध ज्ञान-कर्म-उपासना हैं उनको अशुद्ध जानना-मानना चाहिए। जो शुद्ध ज्ञानकर्मोपासना हैं, उनको शुद्ध जानना-मानना चाहिए। अशुद्ध को अशुद्ध जानना, मानना और छोड़ना चाहिए। शुद्ध को शुद्ध जानना, मानना और ग्रहण करना चाहिए। योगदर्शनभाष्य १/८ में कहा - **चित्तमलप्रसङ्गेनाभिधास्यन्ते**। चित्त के दोष ज्ञापन के समय बताएँगे कि अविद्या पांच प्रकार की होती है। जितने मिथ्याचरण अन्याय, अनुपासना आदि कर्म हैं सब अशुद्ध हैं। जो पहली बात है शुद्ध को शुद्ध, अशुद्ध को अशुद्ध, जानना यह कठिन है। प्रथम तो शाब्दिक रूप में भी समझ में नहीं आते, आ भी जायें तो बुद्धि में नहीं बैठते। बुद्धि में आ जायें तो आचरण में नहीं आते; यह कठिनाई रहती है।

एक बात ऋषि ने कही – अविद्या के क्षेत्र में अशुद्ध पदार्थ को शुद्ध मानकर चलता है, अशुद्ध आचरण को शुद्ध मानकर चलता है। इनके सुधार की रीति है कि अशुद्ध पदार्थ को अशुद्ध, अशुद्ध आचरण को अशुद्ध मानकर चलना। शुद्ध पदार्थ, शुद्ध आचरण व शुद्ध-उपासना को शुद्ध मानकर चलना।

विवेक की दृष्टि से, शरीर के सम्बन्ध में क्या समझना चाहिए ? यद्यपि शरीर एक दीर्घ उपकरण है, महान् साधन है। ऐसा उपकरण है जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि होती है। आयुर्वेद के ऋषि लेखक ने कहा – **धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्**॥ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उत्तम मूल = कारण आरोग्य है। शरीर आरोग्य का आधार है। रोग इस शरीर, जीवन और श्रेय = मोक्ष सुख का अपहरण कर्त्ता है, विनाशक है। इतना होते हुए भी यह शरीर अशुद्ध है। व्यक्ति अशुद्ध शरीर को शुद्ध मानता है। इसको बताने के लिए महर्षि व्यास ने यह बात कही –

स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिताः ह्यशुचिं विदुः॥

(यो० द० व्यास भा० २४)

शब्दार्थ – स्थानात्= जहाँ से उत्पन्न होता है, बीजात्= रजवीर्य के कारण, उपष्टम्भात् = हड्डी आदि अवरोध के कारण, निःस्यन्दात् = मल-मूत्र-पसीने के चूते रहने से, निधनात् = मर जाने से, कायम् = शरीर को, आधेयशौचत्वात् = सदा शुद्धि की अपेक्षा रहने से, पण्डिताः = विद्वान् लोग, हि = निश्चय से, अशुचिम् = अशुद्ध, विदुः = जानते हैं।

विद्वान् इस शरीर को अशुद्ध मानते हैं, अविद्वान् इस शरीर को शुद्ध मानते हैं । अविद्वान् यह नहीं विचारता कि मेरा शरीर मल-मूत्र से भरा हुआ, अशुद्ध है, अतः अपने शरीर से आसक्त हो जाता है । इसको सुन्दर देखता हुआ सुख की अनुभूति करता है, यद्यपि दिन-रात इसकी शुद्धि में लगा रहता है, किन्तु इसका मल रुकता नहीं । तब ऋषि ने कहा- शौच = शुद्धि करो । अन्दर-बाहर शुद्धि करने पर देखेंगे, परिणाम आएगा- **शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः** ॥ यो० द० २/४० । शुद्धि करने से अपने ही शरीर से घृणा हो जाती है, तब अन्य के भी शरीर को ऐसा ही अशुद्ध जानकर उनसे संसर्ग नहीं करता है । उसको अपना ही शरीर अच्छा नहीं लगता । अपने ही शरीर से राग नहीं होता, दूसरे के भी शरीर को छूना नहीं चाहता। जब अपने मल-मूत्र को दूर करता है,-प्रत्यक्ष ध्यान से देखता है; तब समझ में आता है, यह मल-मूत्र से पूरित है । पुनः मन में राग = आकर्षण नहीं रहता । शरीर में राग का परिणाम होता है, एक शरीर से छूटकर दूसरे शरीर में जुड़ जाता है, यह दोष होता है। जब शरीर से जुड़ता है तब लगता है यह शरीर मैं और मेरा है । यह मिथ्याभिमान है । उस अभिमान के कारण जो उससे सुन्दर नहीं होता उससे घृणा करता है । जो दूसरे को नीच मानता है, घृणा करता है वह अहिंसा का पालन नहीं कर सकता ।

यह शरीर कितना मूल्यवान् है, इससे पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि होती है, इससे सुरक्षा होती है, अतः इसको सुरक्षित रखना चाहिए, सड़ने-गलने, रुग्ण होने नहीं देना चाहिए, किन्तु सर्वथा शुद्ध देखेगा तो दोष आ जाएगा।

प्रथम अपने शरीर में राग होता है, रुचि होती है, तब उसको सुन्दर बनाने लगता है, पुनः स्वाध्याय, सत्संग छोड़ देता है, ऐसा आजकल देखते होंगे। यद्यपि शरीर को शुद्ध रखना चाहिए, वस्त्र शुद्ध होने चाहिएँ, स्वस्थ भी रहना चाहिए, परन्तु दिन-रात शरीर की सज्जा में लग जाना, न सन्ध्या, न स्वाध्याय, न आत्मनिरीक्षण, कुछ नहीं करना; इसको कहते हैं अन्धानुकरण। ऐसे करते हुए अपने से बड़े को देखकर भावी पीढ़ी भी केशादि संवारने में ही लगी रहती है ।

व्यक्ति जब शरीर में अत्यासक्त हो जाता है, उसमें रस लेने लगता है, तब परिणाम होता है, ईश्वर के ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय, आत्मनिरीक्षण आदि में रुचि नहीं रहती। आगे शरीर से ममाहं का सम्बन्ध हो जाता है । जब ममत्व होता है तब सुन्दरतम मानता है, पुनः अभिमान उत्पन्न होता है ।

जब शरीर को सुन्दर मानकर आसक्त होता है तब काम–वासना भड़क जाती है। अतः बाल्यकाल में ही इन दोषों से बचने के लिए उपाय सिखाना चाहिए, जैसा कि पहले सिखाते थे। बालक को स्वस्थ, धार्मिक, विद्वान् बनाओ किन्तु अविद्या से नहीं। शृंगार–आभूषण से देहाभिमान, विषयाशक्ति उत्पन्न होती है। वर्तमान में जो शृंगार में लथपथ रखते हैं उनके विषय में ऋषि कहते हैं – आभूषण से देहाभिमान, विषयासक्ति जहाँ उत्पन्न होती है, वहाँ चोरी, अपहरण, प्राणहानि भी हो जाती है। कई बार देखा होगा आभूषण वाले को उठाकर ले जाते हैं और आभूषण छीनकर मारकर फेंक देते हैं।

जैसे आपको कटिवस्त्र सुन्दर लगता है, सब क्षेत्रों में यही भावना होती है। कोई शिर पर झाड़–झंखाड़ उगाकर वहीं उलझ जाता है। यह शृंगार की विचारधारा तो हाथ में करवस्त्र (रुमाल) रखने से भी हो जाती है। प्रथम तो शरीर धारण करने पर आत्मा भी अन्याय, अधर्म आदि से भर जाती है उस पर अच्छे वस्त्र, उसमें भी अन्यायपूर्ण व्यवसाय से धनोपार्जन करता है जिससे मन, इन्द्रिय सारा जीवन अपवित्र हो जाता है परन्तु तब भी उसको पवित्र मानता है, तथा और भी उन्मत्त हो जाता है। योगाभ्यासी देखता है शरीर के साथ सम्बन्धाभिमान तो नहीं है ? सबको प्रलय में समेट देता है। अथवा मलमूत्रमय सारा देखता है।

आप अपना प्रयोग करके देखें, सुन्दर शरीर को भी देखें। आप तो क्या ये जो चिकित्सक होते हैं, २०–२० वर्ष से शरीर के चीर–फाड़ में लगे रहते हैं, वे भी आसक्ति रहित नहीं हो पाते, आपकी तो बात ही क्या। चिकित्सक कहते हैं – रात–दिन काट–काटकर सिलता हूँ, दूसरा व्यक्ति उसको देख भी नहीं सकता, पुनरपि राग = कामवासना उत्पन्न होती है। कैसे मलिनता को हटाया जा सकता है ? क्या सुन्दर शरीर को देखकर दूर ही रहना चाहते हैं या देखना चाहते हैं ? देखने की इच्छा होती है ? यदि होती है तो यह रुचि योगाभ्यास में प्रगति करने नहीं देगी। इसलिए कहा जिस स्थान से यह उत्पन्न होता वह भी अपवित्र है, तुम इसको पवित्र मानते हो ! इसका बीज भी अपवित्र है। यह तो एक चलता–फिरता शौचालय है, आँखादि से सतत झरने की तरह गन्दगी बहती रहती है। तभी तो मरने के पीछे जलाओ–जलाओ करने लग जाते हैं।

जब आपको बताया जाता है, शरीर अपवित्र है। तो आप क्या मानते हैं ? आपको कैसा दीखता है ?

साधक १ — विचारकाल में अपवित्र दीखता है, कालान्तर में स्थिति छूट जाती है, तब शुद्ध दिखाई देता है ।

साधक २ — चर्ममात्र शरीर को देखते हुए भी शुद्ध प्रतीत होता है, विशेष विचारने पर अशुद्ध लगता है ।

स्वामी जी — चलते हुए हम अपने और दूसरे के शरीर को देखते हैं, उस समय हम सूक्ष्मता से नहीं देखें, ऊपर ऊपर देखें तो गहराई में न जाने पर शरीर शुद्ध, पवित्र, सुन्दर दिखता है । उसके पश्चात् सुन्दर दिखने पर देखने से राग होता है । आपने न्याय में पढ़ा होगा — **तन्निमित्तं त्ववयव्यभिमानः** ॥ ४/२/३ ।

भावार्थ — रागादि का कारण वस्तुओं को अवयवी मानना है ।

अवयवी = शरीर, पुष्प, वाहन, मिष्टान्न आदि संघात-वस्तु-विशेष, जिसको लौकिक व्यक्ति सुख-पिण्ड मानकर सुखद जानकर, देखने, पाने के लिए लालयित रहता है । विशेषकर मानव शरीर के विषय में भाष्यकार ने कहा— परस्पर स्त्री, पुरुष के जिस शरीर को देखने मात्र से कामवासना उत्पन्न होती है, पृथक्-पृथक् एक अवयवी दिखाई देता है वह क्या है? केश, त्वचा, रक्त, कफ, मांस आदि । उसको स्त्री, पुरुष मत कहो, उसका नाम बदल दो। पृथक्-पृथक् हड्डी, मांस खण्डमात्र कहो । तब राग = आकर्षण नहीं होगा ।

कोई एक कहता था सुन्दर शरीर को देखता हूँ तो कामवासना भड़कती है । मैंने कहा — चमड़े उधेड़ लो, फिर देखो । आगे मांस, हड्डी दिखेगा, पेट में खाया-पीया मल-मूत्र का भण्डार; ऐसा देखने से वासना उत्पन्न नहीं होगी । जैसे यह करवस्त्र पूरा फैला हो तो सुन्दर दिखता है । इसी का एक-एक सूत्र पृथक्-पृथक् करके देखो तो आकर्षण रहेगा ? नहीं। यथा मरा हुआ सुन्दर पशु चर्मरहित होने पर कुत्सित दिखाई देता है । यह एक स्थिति है। दूसरी स्थिति है प्रलय । इसमें विद्यमान शरीर को खण्ड–खण्ड करके अभाव रूप में देखता जाता है।

अभी एक कुत्ता घूम रहा था, सहसा यान से टक्कर में मर गया। कोई विशेषता नहीं । खींचकर फेंक दिया । दूसरे दिन फूल गया। अब गृध्रादि से टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर कैसा लगता है ? मरने से पूर्व उसका स्वामी उससे प्रेम करता था अब नाक बन्द करके दूर से ही चला जाता है । यह

अशुद्धि है। प्रलयावस्था बना कर देखना भिन्न है, अशुद्धि देखना भिन्न स्थिति है। प्रलय में शुद्धाशुद्ध का प्रश्न नहीं रहता, वहाँ तो शरीर का अभाव ही हो जाता है। परमाणु को प्राप्त होकर पृथक्-पृथक् ही रहता है। यहाँ तो पिण्ड के रूप में विद्यमान रहता है, इस स्थिति में हड्डी, मांस, मलमूत्रादि देखकर राग हटाता है।

साधक १ – आकृति से युक्त विद्यमान पदार्थों को देखते हुए सरलता रहती है या आकृति रहित प्रलयावस्था बनाकर ?

स्वामी जी – दोनों ही बौद्धिक हैं। जब शरीर को देखते हैं तब उसमें बुद्धि से प्रविष्ट होते हैं – यह क्या है ? यह पृथ्वी आदि पाँच भूतों का पञ्जर है, इससे अतिरिक्त कुछ नहीं। सर्वत्र पड़ी हुई पृथ्वी के समान साधारण है। पूरे शरीर में सात धातुएँ हैं – रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य। पञ्जर इन्हीं धातुओं में आ जाता है। भूतों की दृष्टि से पाँच प्रकार का है। आगे सूक्ष्मता में जाएँ तो तन्मात्रादि प्रकृति पर्यन्त। इसलिए वहाँ पर कहा रागद्वेषादि की उत्पत्ति का कारण 'अवयवी' मेरे लिए सुखदायी है। यदि खण्ड-खण्ड रूप में देखें तो वासना नहीं उभरेगी।

अन्य उपाय – इस शरीर को अधर्म, अन्याय, पापयुक्त वासना से देखना अपवित्र कर्म है ऐसा मानकर वहाँ से दृष्टि को हटा लेता है। आपने पढ़ा होगा, जैसे वित्तर्क = अहिंसादि भङ्ग करने का विचार उत्पन्न होता है तब प्रतिपक्ष भावना की जाती है। ब्रह्मचर्य भङ्ग करने पर हिंसादि वितर्क लोभक्रोधमोह पूर्वक होने से उसका दुःख भोगना पड़ेगा।

यदि इस युद्धकला को जानते हैं तब योग में प्रवेश होगा। सार्वभौमरूप से यम-नियमादि का पालन करना ही होगा। विरुद्ध विचार होने पर यह स्थिति लानी ही पड़ेगी अन्यथा आपकी ताड़ना होती रहेगी। सत्यादि के विपरीत हैं वितर्क चोरी, अब्रह्मचर्यादि। जब ये वितर्क उत्पन्न होवें तो यह सूत्र उपस्थित करना चाहिए – **वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिताः लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥** यो० २/३४।

लोभ-क्रोध-मोह, कृत-कारित-अनुमोदित, मृदु-मध्य-अधिमात्र, लघु-मध्यादि और भी सूक्ष्म भेद उच्चस्तरीय हैं। **दुःखाज्ञानान्तफलाः** बहुत अधिक दुःख और अज्ञान मिलेगा। कीड़े आदि को कितना अज्ञान होता है, कैसे चलते हैं ? कुत्ते को देखो, न रक्षा करने वाला, न न्यायालय, कोई भी पीट देता है। पूरे जीवन स्नान नहीं करते हैं, कुछ नहीं पता होता।

आपको लगता है कभी मैं भी कुत्ता था या ईश्वर मुझे भी ऐसा बना देगा ? शब्दप्रमाण से जंचता है परन्तु स्वयं प्रतीत नहीं होता। दुःखी को देखकर कहते हैं; इन पापों से बचो, कभी ऐसा न बनना पड़े । चोरी, अविद्या, मिथ्योपासना के ये फल हैं, कैसे ?

अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ॥ न्याय १/१/४०। **अर्थ** – किसी वस्तु का स्वरूप अज्ञात होने पर उसका यथार्थ स्वरूप जानने के लिए हेतु उपस्थित करके जो ऊहा = संभावना की जाती है वह तर्क कहलाता है।

अज्ञात तत्त्व का निर्णय करने के लिए कारण पूर्वक संभावना करने से तर्क उत्पन्न होता है। इस तर्क के द्वारा वह जानना चाहता है कि कुत्ता कैसे बना, क्या कारण है जिससे यह बनता है ? पुनः पक्ष-विपक्ष चलाकर अनुमान से निर्णय करता है चोरी आदि की होगी जिससे यह बन गया।

बालक परिवार में, विद्यालय में, अन्यत्र रहता हुआ उस प्रकार की चेष्टा देखता है । उनको प्रशिक्षण दिया जाता है कि चोरी अच्छा कर्म है । पुनः वे चोरी करते-करते उस स्थिति में पहुँच जाते हैं कि चोरी को शुद्ध मानने लगते हैं । करते-करते उसको लगता है जीवन में यह अच्छा कर्म है, इससे मेरा कल्याण होगा, उन्नति होगी, धन मिलेगा, उससे सब सिद्ध हो जाएगा। वर्तमान काल में थोड़े से लोगों को छोड़ दीजिए, अन्यथा नीचे से ऊपर तक चलो तो चोरी को अच्छा मानते हुए मिलेंगे। वे समझते हैं कि इससे उपलब्धि होती है, अधिकार मिलता है ।

चोरी अनेक प्रकार की होती है । लोगों को प्रभावित करके, बुद्धिपूर्वक वञ्चना से धन प्राप्त करे तो यह भी उपदेशकों की चोरी मानी जाएगी।

यहाँ समझना चाहिए कि लोगों की यह बुद्धि बन गई है कि चोरी करना अच्छा कर्म है, उन्नति का कारण है, मेरा धर्म है, कर्त्तव्य है । अभी जिसका अभ्यास हो गया, सारे करते हैं । आप में है जिसने चोरी नहीं की हो ?

इस समय योगाभ्यास में आकर चोरी को अधर्म, अशुद्ध मानता है, उसके त्याग के लिए पूरा बल लगाता है । शरीर से नहीं करता है, वाणी से भी कहता है कि नहीं करूँगा परन्तु मन से करता है । मानसिक स्तर पर देख सकते हैं सुन्दर पदार्थ को देखकर चुराकर ले लेने की इच्छा होती है । एक ओर तो पढ़ा कि यह बुरा कर्म है, दूसरे पक्ष में चोरी कर लेना चाहता है।

यहाँ करने वाला दूसरा दिखाई देता है। यह जीवात्मा मानता है कि मैं तो नहीं चाहता इसको तो कोई और चाहता है। पुनः उसको रोकता है, ऐसा मत करो। आत्मा तो नहीं चाहता किन्तु मन तो चाहता है, इस प्रकार मन को दोषी ठहराता है। इच्छा करके रोकता है। आप देख सकते हैं जैसे यह चोरी का दृष्टान्त है, इसको मन में देखिए। जिस कार्य की इच्छा नहीं करनी चाहिए, उसको करता है। तब ज्ञान नहीं होता है कि यह अनुचित इच्छा मैंने की है। कोई भी अपने मन में इसको देख सकता है।

आपके सामने भी बहुत सुन्दर वस्तु आ गई, बिना मूल्य दिए उसके ग्रहण की इच्छा हुई। उसको देखकर आप ऐसी स्थिति बनाएँ कि मुझे ऐसी इच्छा नहीं करनी चाहिए। पर वहाँ बलाद् इच्छा होती है कि इसको ले ही लेना चाहिए। यह कार्य एक ओर तो बुरा दिखता है, दूसरी ओर अच्छा; दोनों ही स्थितियाँ मन में रहती हैं। अच्छा है! नहीं! नहीं! बुरा है। अच्छा मानकर प्रवृत्ति, बुरा मानकर निवृत्ति होती है।

बुरे को बुरा ही मानूँ, अच्छे को अच्छा; जब ऐसी इच्छा होती है तब यह सम्भव नहीं है कि बुरा अच्छा प्रतीत हो। प्रायः लम्बे काल में परीक्षा पूर्वक निर्णय किया, निर्णय किये वर्ष बीत गया, पर आज पुनः पता चला कि अब भी पिछले किये गए बुरे कर्मों को बुरा ही मानूँ यह कठिन है, उनको अच्छा मानने की ही इच्छा होती है। वस्तु, शरीर, इन्द्रिय, धन-सम्पत्ति सब को अपना मानना, यह शुभ-कर्म लगता है। आज कोई कहे ईश्वर की दृष्टि से यह अन्याय है, अतः ईश्वर का मानकर चलना चाहिए, पुनरपि समझने-समझाने पर भी, प्रमाण से सिद्ध होने पर भी "यह मेरा है" यही मानकर चलता है और इसको अच्छा मानता है। आपको ऐसा दिखता है? यदि आप अनुभव करेंगे तो दिख जाएगा।

इसलिए अशुद्ध को शुद्ध मानना अविद्या है। यह सारा ज्ञानकर्मोपासना का क्षेत्र है। आज ये जो लड़के-लड़कियाँ नाच-गान देखते हैं, माता-पिता दिखाते हैं। उनका चरित्र दूषित होता है, किन्तु उसको बुरा कोई नहीं मानता है। मद्यपान को भी अच्छा मानते हैं। असत्याचरण को अच्छा मानते हैं।

आगे और भी सूक्ष्मता में चलें — ईश्वर की उपासना अच्छी या लोक की उपासना अच्छी अथवा कभी ईश्वर की उपासना अच्छी कभी लोक की? यहाँ लौकिक प्रधानता के कारण ईश्वरोपासना को अशुद्ध मानते हैं यह जानना

चाहिए । पिछले जन्म का ऐसा अभ्यास रहा । लौकिक-उपासना को अच्छा मानकर करते हैं, ईश्वरोपासना को बुरा मानकर छोड़ देते हैं ।

आप ध्यान देकर देखेंगे यह जो मलिनता–अशुद्धि–अपवित्रता है, यह प्रतीत होता है, जैसे कि स्वयं मलिनता से ओत-प्रोत हूँ । प्रायः मलिनता से ओत-प्रोत होता हुआ भी मलिनता से ओत-प्रोत हूँ ऐसा स्वीकार नहीं करता। राग-द्वेष अविद्या है, व्यक्ति राग-द्वेष से ओत-प्रोत रहता है । आपने पढ़ा पर आपको कैसा लगता है ?

साधक १ – बहुत थोड़ा दिखता है ।

स्वामी जी – पहले भी बताया जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं; अपवित्र हैं पर हमको पवित्र दिखाई देते हैं । अपवित्र कर्म पवित्र लगता है । अपवित्र पदार्थों को ग्रहण करने की, अपवित्र कर्म को करने की इच्छा होती है । जैसे किसी कारण से लोभादि से झूठ बोलने की इच्छा होती है । आज व्यापार में प्रत्येक व्यक्ति प्रायः सोचता है, उसको क्या लिखूँ, क्या कहूँ, इस प्रकार बहुत मात्रा में मिथ्या योजना बनाता है । जो सत्याचरण करना चाहता है, उसको मारने के लिए, उसका बहिष्कार करने के लिए, दूर फेंकने के लिए, कष्ट-बाधा देने के लिए ऊपर से नीचे तक टूट पड़ते हैं । यदि आज की स्थिति देखो तो धर्माचार्य हो या राजनीतिज्ञ सत्याचरणी को जीने नहीं देते और स्वयं मिथ्याचरण व छल-कपट से दूसरों को पराजित करके जीतना चाहते हैं। आप अपवित्रता को लेकर चलेंगे तो कैसे सत्य की प्रतीति होगी ? कठिनाई होगी।

जब आपके ऊपर बाधा आएगी, घटना घटेगी तब क्या करेंगे ? जब कभी झूठ बोलने की इच्छा होती है तब विचारते हैं कि यह बुरा है ? क्या आप जाति, देश, काल, सिद्धान्त से रहित निरन्तर मन, वाणी, शरीर से अहिंसादि का पालन करते हैं ? अथवा करना चाहिए आपको ऐसा लगता है ?

साधक १ – नहीं करता हूँ ।

साधक २ – सीमितरूप में करता हूँ ।

स्वामी जी – कभी विपरीत व्यवहार करने वाले के प्रति द्वेष होता है?

साधक ३ – होता है ।

स्वामी जी – द्वेष कहाँ रहता है ? किससे उत्पन्न होता है ?

साधक ३ – मन में । संस्कार से उत्पन्न होता है ।

स्वामी जी – संस्कार कैसे उत्पन्न होते हैं, उनको बिना ज्ञान के कैसे रोक सकेंगे? संस्कार दूषित होने पर अविद्या उत्पन्न होती है, पुनः अविद्या से मिथ्या संस्कार। अज्ञानावस्था में अशुभ-संस्कार उत्पन्न होते हैं। उस संस्कार से पुनः अविद्या उत्पन्न होती है। इस समय आप देखेंगे, अविद्या कहाँ से उत्पन्न होती है? एक पक्ष में मिथ्याज्ञान, मिथ्याकर्म, मिथ्योपासना, दूसरे पक्ष में शुद्धज्ञान, शुद्धकर्म, शुद्धोपासना। संक्षेप में इस पक्ष में तीन और उस पक्ष में तीन आ गए।

आत्मा में मलिनता = अशुद्धि रहती है या नहीं?

साधक – अविद्या का उद्भवस्थान आत्मा ही प्रतीत होती है।

स्वामी जी – जीवात्मा स्वभाव से शुद्ध है। अविद्या, अधर्म इसके गुण नहीं हैं। न इसमें सड़न-गलन है। किन्तु प्रकृति से सम्बद्ध होने के कारण सत्त्व-रजस्-तमस् से उत्पन्न अविद्या, अधर्मादि से अशुद्ध हो जाता है, उन्हीं जैसा हो जाता है, किन्तु उसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। जीवात्मा केवल सुख–दुःख का भोग करता है किन्तु उसमें सुख–दुःख मिल नहीं जाते।

साधक – जब आत्मा में मलिनता नहीं रहती है तब वह अशुद्ध कैसे हो जाता है?

जैसे स्वच्छ पानी खरपतवार के साथ मिलकर मलिन तथा दुर्गन्धित हो जाता है। देखिए, इस अविद्या के कारण यम-नियम प्रभावित होता है। अविद्या मन में रहे या बुद्धि में, या जीवात्मा में, तीनों के सम्बद्ध होने से उनको वैसा कर देती है। खीर खाने से जो सुख होता है, उस सुख से आत्मा सम्बद्ध होता है या नहीं? आत्मा में सुख प्रविष्ट न हो किन्तु सम्बद्ध तो होता ही है। **चिदवसानो भोगः** ॥ सांख्य १/१०४। भोग की समाप्ति चित् (जीवात्मा) पर्यन्त होती है।

स्वामी दयानन्द कहते हैं– जो कोई ऐसा कहे कि जीव कर्त्ता, भोक्ता नहीं तो उसको जानो कि वह अज्ञानी, अविवेकी है। [स.प्र. ९वाँ समुल्लास] किसी की यह एक आपत्ति है कि यदि जीवात्मा को भोक्ता मानें तो वह विकारी होगा, विकारी होने से अनित्य होगा? जब समस्या आती है तो खोज करने से उसका समाधान आता है, न करे तो कुछ नहीं होता। जैसे विचार कहाँ से आते हैं? गवेषणा से ज्ञात हुआ कि 'मैं ही विचारों को उठाता हूँ'। गवेषणा न करने वाले हजारों लोग मानते रहे हैं कि विचार स्वयं उत्पन्न होते हैं।

हमारा कथन है जीवात्मा भोक्ता होने से विकारी हो जाएगा, ऐसा मानना ठीक नहीं है। ईश्वर सुख–दुःख को जानता है वह क्यों नहीं विकारी होता; यदि अनुभव करने से विकार होता हो तो ईश्वर में भी होना चाहिए?

आप की समझ में आ गया होगा कि भोक्ता होने से विकारी हो जाएगा; ऐसा नहीं है ? यदि जीवात्मा को भोक्ता मानें तो वह विकारी होगा, विकारी होने से अनित्य होगा यह शंका आप में है या नहीं ? भोग से सम्बन्ध तो होता है क्योंकि बिना सम्बन्ध के कैसे अनुभूति होगी! वस्तुतः भोग बुद्धि में वर्तमान रहने पर जीवात्मा में प्रविष्ट होकर उसका अंश बनता हो, ऐसा नहीं है। अविद्या मलिनता बुद्धि में स्थित होते हुए भी जीवात्मा में मात्र कही जाती है।

साधक – क्या ईश्वर सुख–दुःख का भोग करता है ?

स्वामी जी – नहीं।

- **सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्......॥**

यो.द. ३/३५।

- **तत्रेष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नं भोगः** व्या.भा. २/१८।

भोग कहते हैं प्रत्यय-अविशेष = तद्रूप हो जाना और यह अविद्या के कारण होता है। सदा विद्यायुक्त ईश्वर में यह संभव नहीं है। सुख–दुःख को जाने बिना कर्मों का फलस्वरूप सुख–दुःख कैसे देगा? अतः अनुभव करना मात्र भोग नहीं है।



अशुद्धि-ग्रहणत्याग-विधि

जो शुद्ध है उसको शुद्ध जानकर ग्रहण करना, जो अशुद्ध है उसको अशुद्ध जानकर छोड़ देना। ऐसे ही शुद्ध भक्ति, उपासना ग्राह्य हैं, अशुद्ध त्याज्य हैं।

आप जब कभी विचार करते हैं अथवा आपके मन में पदार्थों के प्रति ज्ञान उत्पन्न होता है तो वहाँ एक बात देखेंगे कि अशुद्ध-पदार्थ और अशुद्ध-आचरण तथा शुद्ध-पदार्थ और शुद्ध-आचरण; इन चार विभागों में सभी पदार्थों को मानकर स्वीकार (ग्रहण-त्याग) करते हैं। मानसिक स्तर पर प्रथम यह मानते हैं कि अमुक कर्म अच्छा है। जब आत्मनिरीक्षण करके देखते हैं और करने को उद्यत होते हैं तो लगता है कि वह तो सिद्धान्त के विरुद्ध है। जब ज्ञान होता है कि यह शुभ नहीं है तब इसको रोक देते हैं।

जब कभी कोई वस्तु किसी को देनी हो तब लोभ–मोह–वैर आदि के कारण विचारता है, यह वस्तु मेरे पास है तो, किन्तु वह (जिसको देना है) ठीक नहीं है, तब कह देता है नहीं है। विचार करने के पश्चात् देखता है यह तो असत्य है। लोभ का प्रभाव कम होने पर असत्य को स्वीकार करता है, पुनः कहता है, यह उसे दे दूँगा। जब आप स्वादिष्ट भोजन को देखते हैं, भूख लगने पर स्वादिष्ट भोजन लूँगा ऐसा सोचते हैं अर्थात् खीर आदि को देखकर खाने की इच्छा होती है तब आनन्दप्रद मानते हैं न; इसमें कोई दुःख नहीं है। यदि आप असतर्क हैं तो कहते हैं आनन्दप्रद है खाओ। यदि सतर्क हैं तो देखेंगे यह तो ४ प्रकार के दुःखों से युक्त है, सुख मानकर नहीं खाऊँगा, शारीरिक निर्वाहमात्र के लिए ग्रहण करूँगा।

कोई किन्हीं साधन-सम्पन्न परिवार या व्यक्ति को देखकर मानता है ये तो बहुत सुखी हैं। ये जिन सुखों से युक्त हैं जिनको भोगते हैं वे बहुत अच्छे हैं, भोगने योग्य हैं। इनको इस प्रकार भोगना ही चाहिए। लौकिक व्यक्ति तो उसको स्वीकार करके वैसी ही स्थिति प्राप्त करना चाहता है। वह उसको ग्राह्य व शुद्ध मानता है। योगाभ्यासी पहले मानसिक रूप में स्वीकार तो कर लेता है परन्तु पुनः कहता है तेरी मान्यता अशुद्ध है। कालान्तर में हो सकता वह भी वैसा हो जाय। भारत में प्रायः आचरण से सम्बन्धित नियमभङ्ग = आचारहीनता में दोष मानते हैं। आश्रम के अनुरूप मन-इन्द्रिय का संयम पालन करना होता है। किन्तु विदेश में स्वच्छन्द होकर ब्रह्मचर्य का भङ्ग करते हैं। विवाह के पूर्व ही सन्तानोत्पत्ति हो जाती है। इस दुराचार को कोई वहाँ के देशवासियों के लिए उनकी अच्छी व्यवस्था मानते हैं। यह मान्यता अशुद्ध है, अपवित्र है।

हम शरीर के विषय में जानते हैं, प्रमाण से सिद्ध है, लेखबद्ध है कि शरीर अशुद्ध है परन्तु अपने शरीर के प्रति या दूसरे शरीर के प्रति दिनभर अपवित्र बुद्धि नहीं दिखाई देती है, और ऐसा लगता है यही स्थिति बनी रहे। ऐसा नहीं होना चाहिए किन्तु अपवित्र पदार्थ-कर्म-उपासना के विषय में 'यह अपवित्र है' तथा पवित्र पदार्थ–कर्म–उपासना के विषय में 'यह पवित्र है' हमारी ऐसी बुद्धि बनी रहनी चाहिए।

व्यवहार में आपकी क्या स्थिति रहती है; अपना या दूसरे का शरीर सतत पवित्र या अपवित्र देखते हैं ?

साधक१ – प्रथम पवित्र देखते हैं, पुनः अपवित्र मानते हैं।

स्वामी जी — पहले तो यहाँ पवित्र देखता है, पुनः ध्यान देता है यह तो पवित्र नहीं है; यह बुद्धि बनती है । इसी प्रकार आचरण के भाग में जैसे, चोरी आदि से प्राप्त अपवित्र धन-सम्पत्ति को प्रथम पवित्र मानकर चलता है। इसी प्रकार असत्य भाषण, असत्य मन्तव्य, असत्य व्यवहार को शुद्ध-पवित्र मानता है । योगाभ्यासी जब सावधान होकर मन में अशुद्ध को शुद्ध मानकर स्वीकार करता है तब उसको ज्ञान होता है, मैं तो असत्य आचरण करने को उद्यत हूँ; यह तो अपवित्र है । कभी वाणी—शरीर से बचा रहा पर मन से कर लिया, जब सतर्क हो गया तो ज्ञात हुआ यह अपवित्र है, पुनः रोक देता है । मिथ्या ज्ञानकर्मोपासना सब विपरीत को शुद्ध देखता है, जब मन से देखता है तो कहता है नहीं, यह तो अशुद्ध है, इसको शुद्ध मानकर क्यों स्वीकार कर रहा हूँ । जिसको विद्या मानकर ग्रहण कर रहा हूँ वह अविद्या है । गम्भीरता में जाने पर देखता है शरीर—इन्द्रिय—नाडियाँ, स्वर्णादि धन सारे पदार्थों को अपना मानता हूँ, ईश्वर का नहीं मानता; यह तो अन्याय है । पहले मान लिया पुनः समझ में आया, यह तो असत्य है, वस्तुतः तो ईश्वर का ही है । जो जानता है वह तो ऐसा कर लेता है, छोड़ देता है जो नहीं जानता है वह तो दिनभर अशुद्ध मानकर ही चलता रहता है । जो हमारा नहीं है उसको अपना मानना अशुद्ध है, किन्तु लोग जानते ही नहीं हैं । क्यों महाशय जी!

आगे चलिए । एक व्यक्ति विचार करता है सुख कहाँ है ? तो कहता है पाँचों इन्द्रियों के विषय सुखदायी हैं, इनमें लेशमात्र भी दुःख नहीं है। इन दुःखपूरित विषयों को शुद्ध-सुखद मानकर ग्रहण करता है, यह अशुद्ध को शुद्ध मानना है ।

किसी ने कहा यह सृष्टि स्वयं बनी हुई है । स्वयं ही मानव—पशु—पक्षी आदि के शरीर बन गए । इनको बनाने वाला कोई नहीं दिखता, न पहले था। यह स्वयं निर्माण का ज्ञान अशुद्ध है। ईश्वर चौथे, सातवें आसमान, कैलाश पर्वत, क्षीरसागर या अन्यत्र रहता है ऐसा सुना, पढ़ा, स्मरण किया और मान लिया कि यह ठीक है, ऐसा ही मानकर पूजता है। इसको शुद्धरूप में स्वीकार करता है; यह अशुद्ध का ग्रहण है ।

काम, क्रोध, लोभ, मोहादि दोष अन्दर दिखाई देते हैं, प्रतीत होते हैं, ये हमारे ही गुण हैं, मुझ जीवात्मा में भरे पड़े हैं, जन्म-जन्मान्तर से मेरे ही

है, मैं ही लेकर आया। इनको हटाना सम्भव नहीं, ये तो स्वाभाविक है; यह अशुद्ध ज्ञान है, इसको शुद्ध मानकर स्वीकार करता है। यदि उसने जाना सुना, पढ़ा और विचार किया कि यह तो अशुद्ध है, मेरा स्वरूप तो शुद्ध है, पुनः उसको छोड़ देता है। कामादि दोष जीवात्मा के गुण नहीं हैं, ऐसे ही सुख–दुःख आदि भी स्वाभाविक नहीं हैं। सुख–दुःख जीवात्मा के स्वाभाविक गुण हैं यह अशुद्ध मान्यता है, क्योंकि प्रमाण से विचार करने पर ये प्राकृतिक सिद्ध होते हैं। पुनः समाधि में जो आनन्द प्राप्त होता है वह तो जीवात्मा का है? यह भी अशुद्ध है। यद्यपि ऐसा ही सिखाया जाता है, उपदेश किया जाता है कि जीवात्मा ने अपने स्वरूप को भुलाकर सुख-दुःख को अपना स्वरूप मान लिया है। जब वह विचार करता है कि वह तो शुद्ध ब्रह्म है, शरीरादि से भिन्न आनन्द स्वरूप है तो सारे बन्धन टूट जाते हैं। ऐसा मानने पर पुनः बन्धन में नहीं आता। ब्रह्मानन्द का यह जो स्वरूप ग्रहण किया यह अपवित्र है।

आप का मत है ईश्वर मेरे पास नहीं है। कहा जाता है, सुना जाता है पर स्वीकार नहीं करते। बाहर से कहते हैं या शब्दों से मानते हैं। वस्तुतः जीवात्मा में होता हुआ, प्रकृति में होता हुआ सर्वव्यापक है; यदि हमारी यह बुद्धि काम करती तो यह शुद्ध-ज्ञान है, ईश्वर सर्वत्र है, जहाँ जीव है वहाँ, जहाँ प्रकृति है वहाँ, जहाँ कोई नहीं वहाँ भी। ऐसा नहीं मानना मिथ्या-ज्ञान है।

जो व्यक्ति मन में विचार करता है, मानता है कि मेरे ज्ञान–कर्म–उपासना को ईश्वर नहीं जानता; यह अशुद्ध है। आप क्या विचारते हैं, आपके सारे ज्ञान–कर्म–उपासना को जानता है या भूल जाता है, या यह मानते हैं कि कैसे सारा जान सकेगा? यदि ऐसी अशुद्ध मान्यता रही तो पुनः क्या करेंगे? विरोध करेंगे अशुद्ध को शुद्ध मानकर स्वीकार नहीं करना है। अशुद्ध को अशुद्ध, शुद्ध को शुद्धरूप में ही स्वीकार करना है। ऐसे ही कर्म–उपासना और अन्य पदार्थों के सम्बन्ध में जानना चाहिए।

हम ऐसा क्यों करेंगे? इसलिए कि अशुद्ध ज्ञानकर्मोपासना से बन्धन-कष्ट को प्राप्त होंगे, शुद्ध ज्ञान–कर्म–उपासना से ज्ञान, आनन्द, बल, मुक्ति को प्राप्त होंगे। परन्तु आपका ज्ञान कितना शीघ्र परिवर्तित होता है, जानते हैं! सहसा ही सुन्दर–शुद्ध देखेंगे, जबकि अभी-अभी यथार्थ सुनकर गए

होंगे। यदि ज्ञान को पकड़कर नहीं रखा तो तत्काल अज्ञान प्रविष्ट होकर प्रभावित करेगा। अशुद्ध रूप को ग्रहण करने में तत्पर हो जाएँगे।

आप दिन भर ईश्वर को छोड़कर अन्य की उपासना करते रहते हैं, पर पता नहीं चलता; स्वयं को देखिए ।

साधक १ – दिखाई नहीं देता है ।

स्वामी जी – आदिवस ईश्वर जो ज्ञान-बल-आनन्दस्वरूप है उसको नहीं छोड़ूँगा, सदा उसके साथ प्रसन्न रहूँगा, किसी भी शरीर में सुखप्रद बुद्धि नहीं करूँगा; यदि ऐसी शुद्ध उपासना नहीं की तो विपरीत करेंगे। ईश्वर की स्तुति–प्रार्थना–उपासना को छोड़कर जीव–प्रकृति के ज्ञान–कर्म–उपासना में लगेंगे, उसको ही सुखद मानकर ग्रहण करेंगे। यह अशुद्ध का ग्रहण है।

यदि सावधान रहता है तो जैसे ही शुद्धोपासना को छोड़कर अशुद्धोपासना आरम्भ करता है, ईश्वर को छोड़ अन्य की उपासना आरम्भ करता है, तत्काल परिवर्तित कर लेता है, अन्य को छोड़ ईश्वर की उपासना करने लगता है।

इसका शुद्ध ज्ञान कैसे हो ? तो पूरे संसार को प्रलय में ले लिया। ईश्वर से सम्बद्ध होकर आकाशवत् स्थिति देखता है । जब उसे छोड़ता है तो संसार दिखाई देता है, तब सर्वत्र राग-द्वेष भरा दिखाई देता है । काम-क्रोध से युक्त हो जाता है । मन-इन्द्रियों के पीछे चलता है । मन-इन्द्रियाँ उसके पीछे नहीं चलतीं। पुनः अब वह देखता ईश्वरोपासना छोड़ी तो मन-इन्द्रियों का दास होना पड़ेगा, राग-द्वेष उत्पन्न होंगे । इस प्रकार सतत पराधीनता दिखाई देती है, बाधा दिखती है । पुनः प्रयास से ईश्वरोपासना आरम्भ करता है । प्रकृति की उपासना में कृतकृत्यता न मानकर ईश्वर की उपासना में कृतकृत्यता मानता है । ऐसी जो स्थिति रहती है वह शुद्धोपासना का ग्रहण है। जब ईश्वरोपासना होती है तब ज्ञान, आनन्द मिलता है तो पता चलता है कि शाब्दिक रूप में जानने मात्र से अनुभवात्मक ज्ञान नहीं होता है ।



सुख-दुःख

विवेक का तीसरा क्षेत्र – दुःख में सुख-बुद्धि और सुख में दुःख-बुद्धि, इसका नाम अविद्या है तथा दुःख में दुःख-बुद्धि और सुख में सुख-बुद्धि का नाम विद्या है ।

आप ध्यान से आत्मनिरीक्षण करके देखेंगे । देखने की प्रथम बात यह है कि सुख का स्वरूप क्या है, किस द्रव्य का गुण है, किस-किस स्थिति में मिलता है ? भिन्न-भिन्न आश्रयों में मिलने वाला सुख का स्वरूप भिन्न-भिन्न है अथवा एक है ? व्यक्ति देखता है कि कहीं दुःखमिश्रित सुख है, कहीं दुःखमिश्रित नहीं, कहीं क्षणिक है, कहीं लम्बे काल तक रहता है ?

सुमेरु प्रसाद जी बताएँगे कि यह दुःख क्या है ?

उत्तर – बाधा, पीड़ा, क्लेश, बन्धन, पराधीनता यह सब दुःख है। इसके विपरीत अबाधा, अपीड़ा, स्वतन्त्रता, प्रसन्नता ये सब सुख के स्वरूप हैं ।

स्वामी जी – अच्छा ! यह दुःख क्या है ? यह किस द्रव्य का गुण माना जाता है ? आपको इसका निर्णय तो करना ही पड़ेगा। अब तक कहाँ पहुँचे हैं, आप बताएँगे ?

सुमेरु प्रसाद – एक सुख तो ईश्वर का है, इस विषय में तो कोई सन्देह नहीं है पर दूसरा जिसे लौकिक-सुख कहते हैं वह संसार का ही धर्म है या जीवात्मा का है; यह अभी निर्णीत नहीं हुआ है ।

जीवानन्द जी – जीवात्मा का होना चाहिए ।

विशाल जी – श्रुतपठितानुसार सुख गुण सत्त्व का है ।

आत्मप्रकाश जी – एक प्राकृतिक-सुख सत्त्वगुण का अभी तक समझ में आया है । दूसरा ईश्वर का है ही ।

आशुतोष जी – एक तो ईश्वर का निर्णीत है दूसरा प्रकृति के सत्त्वगुण का है । यह मेरा निर्णय है और शास्त्रों का मत भी यही समझ में आता है।

स्वामी जी – इस विषय में वर्षों तक लम्बे लेख-प्रतिलेख चलते रहे; पक्ष-विपक्ष में विविध बातें आईं, जैसे कुछ लोग कहते हैं जो नित्यानन्द मोक्ष-सुख है, वह जीवात्मा का व्यक्तिगत है, वह सुख प्राकृतिक सत्त्वगुण का नहीं है । परन्तु अपनी बुद्धि के अनुसार आज तक हमें जो बातें समझ में आईं, उनके आधार पर दोनों पक्षों को देखते हुए यह निर्णय हो गया कि

जो नित्यानन्द मोक्ष-सुख है, वह जीवात्मा का व्यक्तिगत नहीं है, वह सुख ईश्वर का है तथा लौकिक-सुख भी जीवात्मा का व्यक्तिगत स्वाभाविक सुख नहीं है वह भी प्राकृतिक है, सत्त्वगुण का है ।

अब आ गया दुःख पक्ष, वही बात यहाँ भी लागू होगी कि दुःख गुण किस का है ? यह भी जानना आवश्यक है । बताओ–

साधक १ – रजोगुण का ।

स्वामी जी – और सुख जीवात्मा का था ?

साधक १ – अनुभव तो जीवात्मा ही करता है ।

स्वामी जी – आप का मतलब थोड़ा सा विचारणीय है, कोई बात नहीं, हम ऐसा नहीं कहते कि मान लो । परीक्षा पूर्वक जो निर्णय निकला हो आज तक उसको सुनाओ और इसको ही क्रियारूप में लाएँगे यहाँ तक पहुँचना है । किसी मिथ्या सिद्धान्त का प्रतिपादन करना, कुछ सम्मान प्राप्त करना, किसी का खण्डन करना आदि उद्देश्य नहीं है, उद्देश्य तो केवल है सत्य को जानने-जनाने का । क्योंकि यह कोई साधारण बात नहीं है, सारे भौतिक वैज्ञानिक लगभग एकाध को छोड़कर कोई भी यथावत् समझ नहीं पाया । ईश्वर वाला सुख तो स्वीकार ही नहीं करता।

प्राकृतिक सुख-दुःख के विषय में लोग ऐसे सोचते हैं कि यह तो एक मान्यता है क्योंकि एक व्यक्ति जिसको सुख समझता है उसी को दूसरा दुःख समझता है । परन्तु ऐसा नहीं है एक ऐसा भी दुःख होता है; जिसको दोनों ही समानरूप से दुःख मानते हैं तो उसको क्या कहेंगे? नहीं आया समझ में ? कुछ दुःख ऐसे हैं जिनको दोनों दुःख ही समझते हैं और उससे दोनों छूटना चाहते हैं।अब वहाँ तो यह नहीं कह सकते कि जिसको एक सुख समझता है उसी को दूसरा दुःख समझता है ! इसलिए सब स्थलों पर यह नियम नहीं है कि सारे के सारे विरुद्ध रूप में अनुभव करते रहें । एक जिसको सुख कहे दूसरा उसी को दुःख कहे, सर्वत्र ऐसा नहीं है । जैसे– बाधा, पीडा, बन्धन, क्लेश, अशान्ति ये सभी को अप्रिय लगते हैं किसी को भी प्रिय नहीं लगते । कई स्थलों पर देखो, कोई परीक्षण कर लो, जैसे समान स्तर के दो व्यक्ति हों, बुद्धि, स्वास्थ्यादि से समान हों, तब उनके ऊपर प्रयोग करके देखो । थोड़ा सा किसी को चाकू मार दो । हाँ कोई विकृत मस्तिष्क वाला न हो, दोनों ठीक-ठाक हों तो वहाँ पर चाकू मारने

से या डंडा ही मारने से ऐसा नहीं हो सकता कि कोई कहने लगे हाँ अच्छा लग रहा है और मारो ! दूसरा कहे मत मारो मुझे दुःख हो रहा है । दोनों ही दुःखी होंगे, दोनों ही बचना चाहेंगे। इससे भिन्न संसार में नहीं होता है।

एक बात इसमें और है; आप प्रत्यक्ष-प्रमाण से परीक्षण करके देखो। एक व्यक्ति जो मच्छर के काटने से या ततैये को छेड़ने से दुःख मानता है उसके सामने ततैये को छेड़ दो और उसको वहाँ से भागने मत दो या बिच्छू छोड़ दो, दो-चार काटते रहें। ऐसे ही इधर दूसरे को इससे विपरीत अच्छी स्थिति में रखो। अब देखो पहले वाले की बुद्धि का स्तर नष्ट हो जाएगा, गिर जाएगा, शरीर क्षीण या समाप्त हो जाएगा तथा दूसरा व्यक्ति स्वस्थ, प्रसन्न, बलवान्, बुद्धिमान् रहेगा । सारी बातें प्रत्यक्ष-प्रमाण से परीक्षित हैं कोई भी देख सकता है। सुख और दुःख के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं । स्वभाव से ही ऐसा है । हमारी दृष्टि में तो सिद्ध है कि सुख एक गुण है और दुःख भी एक गुण है । वैशेषिक की भाषा में इसको पदार्थ कह दो कोई बात नहीं।

बाधा, पीडा, क्लेश, बन्धन, पराधीनता यह सब दुःख है । इसके विपरीत अबाधा, अपीडा, स्वतन्त्रता, प्रसन्नता ये सब सुख के स्वरूप हैं; यह बात आपको समझ में आ गई और जो कहा जाता है कि दुःख नाम की कोई वस्तु, पदार्थ, गुण आदि नहीं है, सुख नाम की कोई वस्तु नहीं है, केवल मान्यता है यह सत्य नहीं है किन्तु वस्तुतः सुख, दुःख भी गुण हैं । या नहीं आया समझ में? जैसे ज्ञान एक गुण है, वैसे ही सुख भी एक गुण है, दुःख भी एक गुण है । यदि यह सिद्ध होता है दुःख एक गुण है, बाधा-पीड़ा करने वाला एक पदार्थ है, सुख एक गुण है, स्वतन्त्रता, स्थिरता, रुचि उत्पादक एक पदार्थ है, तब तो सुख प्राप्त करने के लिए और दुःख को हटाने के लिए पुरुषार्थ करना उचित है, अन्यथा पदार्थ ही सिद्ध नहीं होता तो उसके लिए पुरुषार्थ की अपेक्षा ही नहीं रहती है । यदि सुख-दुःख कोई गुण नहीं हैं, वस्तु-तत्व नहीं हैं तो इस संसार की रचना, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय, मुक्ति की प्राप्ति आदि सब व्यर्थ हैं, किसी काम के नहीं हैं । पर ये यन्त्रों से तो नहीं दीखते होंगे, हमारे वैज्ञानिक बताएँगे कि किसी वैज्ञानिक ने मशीनों से सुख-दुःख को देखा है ? नहीं देखा बस! उनकी परिभाषा में तो संभवतः वस्तु-तत्त्व ही सिद्ध नहीं होंगे ? क्योंकि न तो सुख-दुःख की कोई लम्बाई-चौड़ाई सिद्ध होती है न कोई और रूपरेखा। अच्छा ! ज्ञान को तो वे भी मानते होंगे परन्तु यह भी नहीं दिखता है पुनः कैसे मानते होंगे ?

वैज्ञानिक वर्मा महोदय – सोचा नहीं इस पर, विचारकर बताऊँगा।

स्वामी जी – अच्छा ! रणवीर जी बताएँगे, ज्ञान कोई वस्तु है क्या, कैसा है काला, पीला, भार, रंग-रूपवाला ?

रणवीर जी – ज्ञान गुण तो है पर काला, पीला आदि नहीं है ।

स्वामी जी – पुनः क्या है ?

रणवीर जी – स्वयं एक स्वतन्त्र गुण है ।

स्वामी जी – न्यायदर्शन के पंञ्चावयव से समझाना हो तो कैसे समझाओगे, आप में कोई समझा सकते हों तो समझाएँ –

साधक १ –

प्रतिज्ञा – ज्ञान एक वस्तु है ।

हेतु – क्रिया का साधक होने से ।

(व्याप्ति– जिस-जिस से किसी क्रिया या गुण की सिद्ध होती है वह-वह वस्तु होती है।)

उदाहरण – यथा द्रव्य ।

उपनय – वैसा ही ज्ञान है ।

निगमन – द्रव्यवत् क्रियासाधक होने से ज्ञान वस्तु है ।

स्वामी जी – तो इसी प्रकार से सुख-दुःख एक गुण है यह सिद्ध हुआ। अब हमको निर्वाचन करना है सुख-दुःख गुण किसका है ? इसका उत्तर है दुःख गुण केवल प्रकृति-प्राकृतिक पदार्थों का है और सुख गुण प्रकृति-प्राकृतिक पदार्थों का है और ईश्वर का भी है। प्रकृति हम तीन प्रकार के पदार्थों के समुदाय को कहते हैं, उसमें भी सत्त्वादि एक पृथक् समूह है उनकी संख्या कितनी है ? निश्चित पता नहीं । ऐसे ही रज, ऐसे ही तम भी पृथक्-पृथक् समुदाय हैं। सुविधा के लिए तीनों समुदायों को एक वर्ग मान लेते हैं । इसको ही प्रकृति कहते हैं । **प्रकर्षेण क्रियते प्रक्रियते संसारो यत इति प्रकृतिः।** प्रकर्षता से जो/जिससे संसार बनाया जाता है अर्थात् जो सांसारिक पदार्थों का उपादान कारण बनती है, उसका नाम प्रकृति है । इसके तीन विभाग हैं । इन तीन में से सुख गुण सत्त्व का है, दुःख गुण रज का है, अज्ञान गुण तम का है । जो हम कहते हैं सुख-दुःख प्रकृति के गुण हैं, तो इस विषय में यह जानना चाहिए कि जब प्रकृति कार्यरूप में परिणत

होती है तब ये गुण प्रकट होते हैं। प्रकृतिरूप मूलावस्था में नहीं। आपको ध्यान होगा, वृत्तियों के प्रकरण में कहा— **सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः॥** व्यास भाष्य १/११ । ये सारी वृत्तियाँ सुख–दुःख–मोह स्वरूपवाली होती हैं। **तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यं, कस्मात्? तपिक्रियायाः कर्मस्थत्वात् ॥** व्यास भाष्य २/१७ । दुःख के समय रजोगुण सत्त्वगुण को ही सन्तप्त करता है, तपन क्रिया (सत्त्वगुणरूप) कर्म में स्थित होने से । सत्त्वकर्म के सन्तप्त होने से उसके पीछे पुरुष = जीव भी सन्तप्त (दुःखी) होता है । वस्तुतः पुरुष में दुःख नहीं होता, दुःख तो रजोगुण में होता है।

एक वर्ग कहता है, जीवात्मा न तो सुख को भोगता है, न तो दुःख को। सुख–दुःख को शरीर, इन्द्रियादि ही भोगते हैं, पुरुष तो निर्लेप होता है । उसमें सुख का लेप नहीं चढ़ता । आपको दीखता है हलुआ मुझमें जा रहा है ? वस्तुतः शरीर में जाता है, वहाँ बल, उर्जा उत्पन्न होते हैं। शरीर में बल होने पर आत्मा उसका उपभोग करता है । जैसे बल का भोग करता है, वैसे सुख का भोग करता है, किन्तु उसमें सम्मिश्रण नहीं होता है, सम्बन्ध मात्र होता है । क्या प्रकृति का अन्तिम कण एक दूसरे में मिश्रित होता है? नहीं । उसी प्रकार सम्बन्धमात्र से नया पदार्थ बनता है । संयोगमात्र होता है। यहाँ सत्त्व का सुख, रज का दुःख, तम का अज्ञान मिलकर ही परिणाम देते हैं । सुख-दुःख प्रकृति के गुण हैं किन्तु जीवात्मा उनसे मिलकर ही उनको भोग सकता है ।

एक दूसरा सुख जो ईश्वर का गुण है । परन्तु प्रश्न होता है सुख गुण ईश्वर का क्यों हैं? अथवा ईश्वर सुखस्वरूप क्यों हैं?

साधक— परम पिता परमात्मा में दुःख का लेश भी नहीं है ।

स्वामी जी — जीवात्मा में भी लेशमात्र दुःख नहीं है तो सुखस्वरूप होना चाहिए ! अतः अनैकान्तिक हेत्वाभास है । यहाँ न्यायप्रधान बात चल रही है । परन्तु यहाँ एक बात ध्यान रखने योग्य है । यद्यपि न्याय होना चाहिए किन्तु न्याय के साथ-साथ श्रद्धा भी होनी चाहिए । बिना श्रद्धा के न्याय अन्याय हो जाता है और बिना न्याय के श्रद्धा अन्धश्रद्धा हो जाती है । अतः श्रद्धा के साथ प्रमाण भी रखा जाय । वैदिक सिद्धान्त में तर्क को पर्याप्त स्थान दिया गया है, पर श्रद्धा को भी है, किन्तु श्रद्धा उतनी नहीं रखते हैं, जितना तर्क, यह दोष है । आचरण शिथिल होने पर तर्क प्रबल होने से श्रद्धा को छोड़ देते हैं । दोनों का सन्तुलन रखा जाए तो ऐसा मार्ग, ऐसी परम्परा, विशुद्ध

रीति, उन्नति और ईश्वरप्राप्ति का मार्ग भूगोल में कहीं नहीं है । यदि यह सन्तुलन बन जाय तो आप में भी तर्कप्रधान आचरण गौण होकर श्रद्धाप्रधान हो जाएगा ।

अविद्या के तीसरे भाग सुख–दुःख की चर्चा में अब यहाँ योगदर्शनकार के प्रसङ्ग को लेते हैं । उसने कहा –

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ २/१२ । जिन कर्मों के मूल में अविद्या होती है उनका फल वर्तमान और भावी जन्म में मिलता है, भोगना पड़ता है ।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ २/१३ । अविद्यामूलक (क्लेश के बचे रहने पर) कर्माशय का फल जाति, आयु और भोग के रूप में प्राप्त होता है ।

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ २/१४ । उस जीवनकाल में जो भोग होता है यदि पुण्य से मिला तो सुख देगा, यदि पाप से मिला तो दुःख देगा।

यह मानवशरीर पुण्य-विशेष के कारण मिला, अतः सुखदायी है । पशु–पक्षी–कीटादि का शरीर पाप-विशेष के कारण मिलने से दुःखबहुल होते हैं । आगे कहा हे सांसारिक लोगों सावधान हो जाओ, इस भ्रान्ति में नहीं रहना कि धर्म का आचरण करेंगे तो उनका फल अच्छे, सम्पन्न, विद्वान्, नीरोग माता–पिता के घर में मनुष्य का जन्म मिलेगा ही, जाति–आयु–भोग तीनों उपलब्ध होंगे जिससे शुद्ध सुख मिलेगा ही। ऋषि कहते है कहीं भी जन्म मिले, सम्पन्न गृह–परिवार, भले ही चक्रवर्ती सम्राट बन जाए । लौकिक स्थिति कोई भी ले लो, वहाँ जो भी सुख मिलेगा उसमें परिणामादि चार प्रकार के दुःख सम्मिलित होंगे । इतना कहने के पश्चात् कहा विद्वान् योगियों के लिए तो संसार का चक्रवर्ती साम्राज्य-सुख भी दुःख ही स्वीकार किया गया है । आप की क्या अनुभूति है?

साधक १ – विचार करने पर तो लगता है किन्तु व्यवहार में नहीं लगता।

स्वामी जी – इसका बार-बार प्रयोग करने पर वृत्ति-निरोध द्वारा, आप देखेंगे कि इस अवस्था में जाने पर वहाँ पुण्य से प्राप्त सांसारिक सुख भी दुःख ही प्रतीत होगा । कोई देता भी हो तो लेने को तैयार नहीं होगा ।

परन्तु कितने काल में होगा, इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए कितने ज्ञान-वैराग्य, तप-त्याग की अपेक्षा होगी यह पृथक् बात है। अतः व्यक्ति का जब तक अपना अनुभव नहीं हो तब तक शब्द-प्रमाण के आधार पर चलना चाहिए। हाँ जी, हमारे भौतिक वैज्ञानिक वर्मा जी बैठे हैं इनके सदृश एकाध को छोड़ दें शेष तो स्वीकार ही नहीं करते हैं सारा सांसारिक सुख दुःखमय है। आजकल भौतिक वैज्ञानिक ही संसार के गुरु-आचार्य हैं, संसार इन्हीं को मानता है, और किसी की सुनता ही नहीं। इस मान्यता के प्रचार में आज लोगों की ऐसी बुद्धि हो गई कि संसार में इन्द्रियों का भोग ही सब कुछ है। जैसे हो सके इनका संग्रह करो। अब तो बालक-बालिका भी दिनभर इसी भोग-विलास में पड़े रहते हैं। आजकल के बालक-बालिकाओं के लिए ईश्वर नाम की कोई वस्तु है, सब कुछ देने वाला है आदि कुछ भी नहीं। सन्ध्या, शिष्टाचार, बड़ों की बात मानना, दिनचर्या आदि सारा समाप्त हो गया। इस स्थिति में आप योग सीख रहे हैं, पुनः कितना ज्ञान-वैराग्य होना चाहिए जिससे भोगवाद के सामने डट सकें। आप के समक्ष समस्या आएगी। एक ओर तो भौतिक वैज्ञानिक कहते हैं जैसा हम मानते हैं, वैसा मानो। लोक से अतिरिक्त कोई सुख नहीं है, केवल कथनमात्र है, लोक-सुख के लिए सब कुछ करो, इसका आविष्कार करना हम बताते हैं। दूसरे पक्ष में ऋषि कहते हैं सारे संसार का सुख ४ प्रकार के दुःखों से मिश्रित होने से बुद्धिमान् के लिए दुःख ही है, अतः इन्द्रिय-सुख ग्राह्य नहीं है। साधारण इसका ग्रहण करें, तत्त्ववेत्ता आत्मा-परमात्मा के ज्ञाता तो सांसारिक सुख को दुःख ही मानते हैं।

ऋषि ने कहा सांसारिक पुण्य कर्म से जाति-आयु-भोग मिलेंगे किन्तु उस सुख में परिणामादि ४ दुःख मिश्रित रहेंगे। जब आप व्यवहार करते हैं तब ४ प्रकार के दुःख दिखते हैं या नहीं ?

साधक – विशेष विचार करने पर दिखते हैं।

स्वामी जी – सतर्क रहने पर दिखते हैं, भुला देने पर पुनः नहीं दिखते। परीक्षण से अधिक समझ में आता है।

❖ ❖ ❖ ❖

परिणाम-दुःख

परिणाम-दुःख के विषय में ऋषि क्या कहते हैं ?

साधक – भोग में जो तृप्ति नहीं हो पाती ।

स्वामी जी – परिणाम दुःख को किस दृष्टि से देखता है ?

साधक – मेरी कामना पूर्ण हो जाएगी, तृप्त हो जाऊँगा, परन्तु होता है दुःख ही । दुःखी ही रह जाता है ।

स्वामी जी – इन विभागों को अच्छी प्रकार से जानना चाहिए । जैसे कोई भोग करता हुआ विचार करता है इनको भोगकर शान्त हो जाऊँगा, आगे पुनः आवश्यकता नहीं रहेगी । परन्तु होता ऐसा है कि इन्द्रियों के भोगों की जो तृष्णा होती है वह जाग जाती है । तब क्या-क्या परिणाम होते हैं ये जानने चाहिएँ। व्यक्ति इन्द्रियों की, मन की अर्थात् अपनी तृष्णा को शान्त करने के लिए भोगों में पड़ता है, परन्तु ऋषि कहते हैं, इससे इच्छा बढ़ती ही है। जिस-जिस को भोगने की इच्छा करता है, उसका भोग करने पर इन्द्रियाँ कुशल हो जाती हैं । जैसे कोई एक किलो अंगूर प्रतिदिन नियत समय पर खाता है । ४ दिन पश्चात् १२ बजे नहीं मिला, या मिला तो अच्छा नहीं मिला, अच्छा मिलने लगा तो रुपये नहीं रहे। अब इस अभाव में अंगूर की इच्छा उसको दुःखी करती है । पहले दुःख नहीं होता था, अब असमय मिला, अपर्याप्त मिला या नहीं मिला तो कष्ट हुआ । इसी उदाहरण से सभी इन्द्रियों के विषय में देख सकते हैं। प्रमाण देख लेना मनु ने कहा है –

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥ मनु.

भावार्थ – भोग कर लेने से भोग की इच्छा शान्त नहीं हो जाती है किन्तु जैसे घृत डालने पर अग्नि और बढ़ जाती है वैसे ही भोग करने पर भोग की इच्छा बढ़ जाती है ।

उन्होंने तो गृहस्थ का सुख भोगने के पश्चात् लिखा होगा । पहले गृहस्थ में रहकर देखा, सारा अनुभव किया, पुनः लिख दिया । यदि यह बुद्धि होवे कि भोगने पर तृष्णा बढ़ेगी ही तो भोग की इच्छा नहीं होगी। अब उसने जान लिया।

कभी दूसरों को देखकर भी ज्ञान होता है । उसने देखा अरबपति-खरबपति, राजा, सर्वसाधनसम्पन्न खूब भोगते हैं, परन्तु छोटी–छोटी बातों पर दुःखी रहते

हैं । सेवकादि होने पर भी दुःखी रहते हैं । वहाँ यह भ्रान्ति होती है सुख होगा, तृप्ति होगी ।

एक बात और । किसी ने शब्दप्रमाण से, किसी ने अनुमान से यह जान लिया । एक साक्षात् भोगकर देखता है दूसरा सांसारिकों को भोगते हुए देखता है । ये भोग करते हुए भी दुःखी हैं । पुनः सोचता है क्या मुझे मिल गया तो मैं सुखी हो जाऊँगा ? बिना प्राप्ति के ही बुद्धि से प्राप्त करके देख लेता है, जैसे प्रलय को बुद्धि से देखा जाता है, वैसे ही सारी सम्पत्ति को ग्रहण करके बुद्धि से देख लेता है । तब कहता है मुझे नहीं चाहिए। यह है बोध की पद्धति । बौद्धिक स्तर पर स्वयं को लाकर देखता है । राजाओं को विपक्षी, शत्रु कैसे दुःख देते रहते हैं ? दूसरे पक्ष में अपने शरीर, इन्द्रियों को देखता है, इनके शिथिल हो जाने पर कैसे दुःख होता है ? आपको कोई कहे दिल्ली में, मुम्बई में इतना धन दिया जा रहा है वहीं रहो, तो आप वहीं रहोगे ? आप विचार करेंगे तो देख सकेंगे उसकी रक्षा, समस्या समाधान के लिए कितनी बाधा होती है? दिन-रात लगा रहता है । स्वाध्याय, भोजन, व्यायाम सब छोड़-छाड़ कर पीछे पड़ जाता है, सूखी रोटी भी नहीं खा पाता है, क्या सुख मिला ?

नचिकेता ने कहा – ये नाच–गान सब अपने घर में रखो मुझे नहीं चाहिए। यह कथा ऐतिहासिक हो या आलंकारिक, आचार्य–ब्रह्मचारी विषयक हो या ईश्वर–जीव विषयक, भेदमात्र से कोई समस्या नहीं; विषय वस्तु यथार्थ है । आपने सुना होगा महात्मा बुद्ध को जब वैराग्य हुआ तब उनको लोग सुख-साधनों में डुबोए रखते थे पुनरपि वही अवस्था हो जाती थी । महर्षि दयानन्द को देख लीजिए। एक पक्ष में धन-सम्पत्ति और दूसरे पक्ष में वैराग्य (मृत्युभय); क्या हुआ उनके जीवन में ?

परिणाम-दुःख का चिन्तन-मनन करने से व्यक्ति यद्यपि थोड़े काल में नहीं किन्तु प्रयोग करते-करते कुछ काल में परिणाम-दुःख को देख सकता है ।

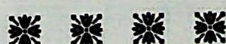
अब ये जो बोलते हैं **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'** इसका परिणाम-दुःख के साथ समन्वय करते हैं –

आपने सुना होगा कि व्यक्ति सांसारिक इन्द्रिय भोगों के लिए लालायित रहता है, चाहे बालक हो या वृद्ध; इसी में लगे रहते हैं, पर यहाँ क्या परिणाम

आता है ? **न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यं यतो भोगाभ्यासमनु विवर्द्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति** ॥ यो. द. व्या. भा.२/१५ । भोगों को निरन्तर चालू रखने से इन्द्रियों को तृष्णा रहित नहीं किया जा सकता अपितु जैसे-जैसे भोगों को भोगता जाता है वैसे-वैसे राग = तृष्णा बढ़ती जाती हैं और भोगते-भोगते इन्द्रियों की कुशलता = निपुणता = लोलुपता तीव्र होती जाती है । पुनः ऋषि ने कहा– ये जितने जड़-पदार्थ हैं सोना, चाँदी और चेतन मनुष्यादि सुख-साधन व्यक्ति सब को ग्रहण करता है । कहीं पर न्यायपूर्वक कहीं पर अन्यायपूर्वक । इनके संग्रह में अनेक अशुभ आचरण करता है । अतिमात्रा में पहुँच जाता है। लोक में देख सकते हैं लोग इनके संग्रह के लिए कितना पाप करते हैं? ऋषि कहते हैं जब पाप, पुण्य, मिश्रित सकाम-कर्म करता है तो उसका ढ़ेर का ढ़ेर हो जाता है, उससे पुनः विविध योनियों में विविध प्रकार के दुःखों को भोगता है ।

एक पक्ष में जिससे उसको सुख होता है चेतन या जड़ से, उसके संग्रह उपार्जन में विविध अन्याय करता है । संग्रह कर लेने पर उसकी रक्षा में संलग्न होता है, पुनः **अर्जन, रक्षण, क्षय, संग, हिंसा** दोष उत्पन्न होते हैं। भोग में अत्यासक्त हो जाने पर उसको छोड़ना चाहता है, पर संगदोष के कारण छोड़ नहीं सकता है । हिंसा दोष से विनाश का प्रयत्न करता है । साधक वहाँ इन हिंसादि दोषों को देखकर उन ~~सुख~~-सुख-साधनों की इच्छा नहीं करता है । इतने दोष ! नहीं चाहिए। यहाँ तो लेने के देने पड़ जाएँगे! जब वैराग्य होता है, तब हेयोपादेय नहीं रहता, न राग, न द्वेष, शान्त विचरता है । भर्तृहरि ने कहा – **भोगे रोगभयं ....** । भोग में रोग का भय रहता है ।

जो परिणामरूप में दुःख को देखता है, वह भोगों में नहीं पड़ता है। इस योग्यता में कितना काल लगेगा यह पृथक् बात है । जब तक दिखाई नहीं देता तब तक शब्दप्रमाण से काम चलाता है । ऋषि ने लिखा दुःख भयंकर होता है। आगे प्रयोग से दिखाई भी देगा । दिखाई देने पर छोड़ना सरल हो जाता है ।



ताप-दुःख

पुनः कहा दूसरा ताप-दुःख है, वह क्या है ? — जो भी जड़-चेतन पदार्थ हमारे सुख में बाधक बनते हैं उनसे हम दुःखी—सन्तप्त होते हैं, शरीर, मन में जलन होती है, तब उस जड़ या चेतन को समाप्त कर देना चाहते हैं। जहाँ जहाँ दुःखप्रद जड़ या चेतन पदार्थ होते हैं वहाँ वहाँ जाकर उनके विनाश के लिए सब कुछ करते हैं। इस संसार में प्रत्यक्ष देख सकते हैं, जो-जो जड़-चेतन हमारे भोग में बाधक होते हैं, तृष्णापूर्ति के विचार में बाधक बनते हैं, वे जहाँ-कहीं भी हों उनको न्याय या अन्याय से नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उनके प्रति अतिद्वेष बना रहता है। मन में लगता है कि सबको नष्ट कर दें। संसार में बाधा नाम की वस्तु ही न रहे, ऐसा विचारता है।

उपर्युक्त ताप-दुःख तो होता है ही, किन्तु उसके द्वेष के आधार पर अन्याय करता है, उससे पाप का संग्रह होता है। उसका परिणाम होता है पुनः जन्म-जन्मान्तर के रूप में दण्ड जीना-मरना, जीना-मरना। आप देखेंगे संसार में मनुष्य कुछ हैं ६ अरब लगभग, कीड़े मकोड़े कितने हैं? एक ही खेत में कितने कीट-पतंग हैं, ऐसे पूरे भारत में कितने होंगे, भूमि पर कितने हैं, जल में मछली आदि कितने प्राणी रहते हैं ? मनुष्य तो उनके समक्ष बिन्दु मात्र है। यह इसलिए है कि इन जीवात्माओं ने सुख के लिए विविध पाप किये। उन्हीं का दण्ड भोगने के लिए यह सारा चक्र है। आप यह भी देख सकते हैं एक व्यक्ति धनार्जन के लिए अन्याय का प्रयोग करता है, उस अन्याय के माध्यम से बाधक का विनाश करता है। उससे पाप-राशि का संग्रह होता है, पुनः कीटादि योनि में दुःख भोगता है।

एक ताप-दुःख दर्शन का उदाहरण — जैसे कोई दूध लेकर बैठा है। भोजन नहीं करता केवल दूध ही लेता है। अब पीने की तैयारी करने लगा। इतने में अन्धेरा हो गया और अन्धेरे में कोई बाहर से प्रविष्ट हुआ। अन्धेरे में घुसते ही पात्र में ठोकर मारी, सारा दूध गिर गया। उस समय भूख भी बहुत तीव्र हो तो कैसा लगेगा ? जो सुख की संभावना थी मिट्टी में मिल गई। आप को कैसा लगेगा ?

साधक १ — ऐसा कि उसी को निगल जायें।

स्वामी जी — हमने कहा इसी अविद्या को दूर करो। भोगों में जो सुख दिखाई देता है, उस अज्ञान को नष्ट करें। आपने यदि इन अज्ञानों से सन्धि-समझौता नहीं किया तब तो आपकी अविद्या नष्ट हो जाएगी अन्यथा नहीं।

संस्कार-दुःख

सांसारिक सुख और सुख-साधनों के उपयोग से उस सुख की अनुभूति, पुनः अनुभूति से संस्कार उत्पन्न होते हैं। उस संस्कार से उस सुख-साधन-प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न होती है। उससे पुनः उसी प्रकार का कार्य करता है। उसी हेतु प्रयत्न और अन्वेषण करता है। जब व्यक्ति ने जान लिया कि जो सुख—साधन हैं, उनके उपभोग से उत्तेजना = वेग होता है, सुखद मानकर उनकी प्राप्ति का प्रयत्न करता है तो उनमें राग उत्पन्न होता है। जो सुख भोगा उससे सम्बन्धित प्राप्ति की इच्छा वर्तमान में बैठे हुए बिना योजना के तथा चलते-चलते भी उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति में व्यक्ति कोई योजना नहीं बनाता है, प्रमाण से परीक्षण नहीं करता, तत्काल प्राप्त करना चाहता है। विद्युत् की तरह इच्छा उत्पन्न हो जाती है।

अब इसके मूल में चलते हैं। उस सुख को भोगने की इच्छा क्यों उत्पन्न होती है ? क्यों प्राप्त करना चाहता है ? इसलिए कि परीक्षा विशेष नहीं करते हैं। वस्तुतः कोई योजना सहसा स्वयं नहीं उत्पन्न होती है, किन्तु करते हैं। वहाँ देख सकते हैं कि जिसमें सुख देखते हैं उसको प्राप्त करने की इच्छा करते हैं। जिसमें दुःख मानते हैं, उसकी इच्छा नहीं होती। जैसे किसी ने कहा, अन्धेरा है और रास्ता लम्बा, काला सर्प वहाँ रहता है। तब आपने कहा मुझे तो अभी जाना है, लाओ करदीप और मेरे साथ चलो, वहाँ तक छोड़ आओ, नहीं तो काट खाएगा, मर जाऊँगा। ऐसे ही जिसमें सुख होता है उसको चाहते हैं, जैसे आपको आज उपवास करना था परन्तु आज ही हलुआ बनना निश्चित हो गया। तब आपको कहा गया कि कल उपवास कर लेना तो आपने कहा हाँ ठीक है, प्रतिदिन तो बनता नहीं है। इस प्रकार लौकिक सुख के आश्रय को चाहते हैं, और दुःख के आश्रय को हटाते हैं; इसका मूल कारण है अविद्या।

इस अविद्या की दो धाराएँ चलती हैं एक तो पूर्व भोगकाल में अविद्या काम कर रही थी जहाँ अज्ञानता से सुखद ही माना, दुःखद नहीं माना। उसी के संस्कार पड़ गए, वहीं से अविद्या चल रही है। कालान्तर में भी वही संस्कार अविद्या को उत्पन्न करता रहेगा।



आपको क्या सिखाया जाता है ? आप यदि क्षणभर भी असावधान हो गए! क्षण भर ! तो अज्ञान, अधर्म, कुसंस्कार आक्रमण कर देंगे, इतने ही काल में कर देंगे। क्षणभर में पूरा आक्रमण हो जाएगा, इतना सावधान रहना पड़ता है। तो ये सारी विवेचनाएँ ईश्वर तक पहुँचाने के लिए की जा रही हैं। परिणाम यह हो कि आप दुःखों से छूट जाएँ। नित्य आनन्द को प्राप्त कर लेवें। पुनः औरों को समाज को, राष्ट्र को, आगे बढ़ें तो विश्व को ये चीजें सिखाएँ। अन्य लोगों को भी इसी बुद्धिवाले, इस मार्ग पर चलने वाले बनाएँ।

बात आती रहेगी, कोई आप की बात सुनेगा या नहीं सुनेगा, कोई आप को कुछ कहता रहेगा, उस समय आपको मार भी डाले, परन्तु इस भय से आप रुकेंगे नहीं, उस काम को करते रहना है।

आप अपने मन को खुला छोड़कर नहीं विचार सकते। मन को खुला छोड़ते ही संकट की घण्टी बज जाती है। योगाभ्यासी ऐसा नहीं कर सकता। अज्ञान जनित संस्कार सतत अविद्या को उत्पन्न करते हैं। खुला छोड़ते ही अविद्या उत्पन्न होनी आरम्भ हो जाएगी। जैसे ही अविद्या उत्पन्न होने लगे तत्काल रोकें। आपने सुना है कि बिना परीक्षण के मानसिक कर्म होते हैं, जैसे विद्या को अविद्या मान लेना और अविद्या को विद्या, अधर्म को धर्म मान लेना, जो धर्म हैं उनको अधर्म मान लेना, ईश्वर की सुखप्रद उपासना को दुःखप्रद मान लेना, छोड़ देना और लौकिक वस्तुओं की दुःखद उपासना को सुखद मानकर उसका अनुष्ठान करना; ये छः बातें दिनभर उभरती रहती हैं। बिना परीक्षण के प्रयोग होता रहता है। बुद्धिमान् व्यक्ति देख-देख कर, परीक्षा कर-करके सत्य को पकड़ लेता है, असत्य को छोड़ देता है। कोई क्षण खाली नहीं जाने देता। अच्छा आपको ऐसा करते रहने से बन्धन तो नहीं प्रतीत होता ?

साधक १ – पूरे समय ऐसा करना बन्धन लगता है।

स्वामी जी – पूरे समय रखना क्या कठिन है ? जैसे प्रलय अवस्था बनाते हैं तो पदार्थ रहते हैं किन्तु उनके आकार-प्रकार से सम्बन्ध नहीं रहता है। वहाँ एक-एक गुण को लेकर विवेचन नहीं करता (यह दुःखद है आदि)

केवल पूरे को समाप्त कर देता है। दूसरे प्रकार से निरोध करने में परिणामादि दुःख, अशुचि आदि विवेक सब करना पड़ता है।

यहाँ तो अनित्य जान लेने पर न भोक्ता रहा न भोग्य रहा; यह स्थिति चलती है। इस स्थिति को बनाने में ऐसा विचारता है – हे ईश्वर वर्तमान सृष्टि से पूर्व आप अखण्ड–एकरस थे आगे भी रहेंगे।

इस विषय में यह प्रयत्न करेंगे कि संस्कारयुक्त विद्या की अवस्था में विरोधी ज्ञानों से अविद्या के संस्कारों को मारेंगे। आपने यो. द.२/४ में य पढ़ा है– **अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्॥** भोग के विपरीत संस्कारावस्था का नाम है दग्धबीजावस्था। संस्कार के दग्धबीज होने पर भोग के सामने होने पर भी इच्छा नहीं होती है, जैसे भुना हुआ बीज पानी डालने पर भी नहीं उगता।

कभी ऐसा तो नहीं विचारते हैं इस दग्धबीजावस्था को कैसे प्राप्त कर सकूँगा? यह कहने लगो कि इस जन्म में तो मेरे वश का नहीं है!

जब व्यक्ति मान लेता है कोई और मार्ग भी नहीं है, तब कठिन नहीं लगता। कठिन हो या सरल, करना तो है ही। विकल्प दिखने पर कठिन लगता है।

जिस बात को, कर्म को अच्छा नहीं मानते हैं, जिस मिथ्याज्ञान को दुष्ट मानते हैं, उनसे यदि सतर्क नहीं रहे तो सहसा अशुभ संस्कार की उत्पत्ति हो जाएगी। जो भी दुष्ट ज्ञानकर्मोपासना है वह अच्छी लगने लगेगी। आपने खाते–पीते समय कभी देखा होगा, उस समय यदि सुख की दृष्टि से देखेंगे, छूएँगे तो तत्काल संस्कार उत्पन्न होगा। थोड़ी मात्रा में भी सुखदृष्टि से ग्रहण किया तो संस्कार बनेगा और पुनः वैसी ही प्रवृत्ति उत्पन्न होगी।

१५ वर्ष के भोजन के संस्कार हैं, स्मृति उठती है। उसके उठने पर वैसी ही प्रवृत्ति होती है, इच्छा उत्पन्न होती है। सांख्यकार ने वासना के विषय में क्या लिखा है स्मरण है? **न श्रवणमात्रात्तत्सिद्धिरनादिवासनाया बलवत्वात्॥** २/३। सुनने मात्र से विवेक सिद्ध नहीं होता, अनादि वासनाओं के बलवान होने से। सांख्यकार जानते हैं अतः लिखते हैं = बताते हैं असावधान रहा तो मार खाएगा। इसलिए पहले के संस्कारों को मारो और दूसरे नयों को उत्पन्न मत होने दो। यही प्रक्रिया है। और क्या करेंगे? पहले वाले से प्रेम नहीं करना है। कभी कभी पूर्व का स्मरण कर सुख लेता है। जैसे

मित्रादि के साथ ऐसे खेलते-कूदते थे, बहुत सुख मिलता था । यह तत्काल उठ गया । इससे क्या हुआ ? मारने के स्थान में नया उत्पन्न कर लिया।

असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत् ॥ सांख्य ४/८ ।

अर्थ – असाधनों = बाधकों का स्मरण करना बन्धन का कारण बनता है, भरत के समान ।

अब का क्या करोगे? असाधनों को साधन मान के पकड़ने से भरत के समान बन्धन होगा। जिससे मुक्ति मिलती है वह तो आपको बन्धन का कारण दीखता है, जिससे बन्धन होता है वह मुक्ति का कारण दिखता है। पुरानी सुखद बातों का स्मरण करना सुख का कारण मानते हैं, वस्तुतः दुःख का, बन्धन का कारण होता है। आपने विचार किया कि जब ५ या ८ वर्ष के थे तब माता जी दूध, फल देती थीं । इस सुख को याद करना बन्धन का कारण है।

दुष्ट-कर्मों के माध्यम से भी व्यक्ति लौकिक-सुख को भोगने की चेष्टा करता है, और उत्तम धर्मयुक्त साधन से भी । चोरी, अन्यायादि माध्यम से भी धन का उपार्जन होता है, न्यायपूर्वक धर्मादि माध्यम से भी धनोपार्जन होता है । परन्तु दोनों ही प्रकार से उपार्जित लौकिक-सुख परिणामादि-दुःख से युक्त होता है । अधर्मोपार्जित से तो कीड़े आदि योनि की प्राप्ति होती है। धर्मोपार्जित से अच्छे माता–पिता, निरोग, बुद्धिमान् मनुष्य शरीर की प्राप्ति होती है परन्तु योगी बनने का इच्छुक क्या विचारता है– कितना ही पुण्य करो, बड़े से बड़े घर में जन्म ले लो परन्तु चार प्रकार के दुःखों से पीछा नहीं छूटेगा। इस स्थिति में धर्म से प्राप्त धार्मिक सुख भी त्याज्य है । आप कभी विचारते हैं भोगा हुआ सुख का संस्कार दुःखद होगा ? रस लेकर भोगने पर सुख के संस्कार और रस न लेकर भोगने पर विवेक के संस्कार बनते हैं ।

अपनी स्थिति बताइए –

साधक १ – आंशिक संस्कार बनते हैं । मानता तो यही हूँ सुख न लूँ।

स्वामी जी – वैसे तो स्वाभाविक सा लगता है । इसमें सुख तो स्वाभाविक है, मेरा भोग है; इसमें छोड़ने की क्या बात है ? लड्डू, खीर में दुःख का क्या मतलब है ? बड़ी मुश्किल से तो मिलता है, कभी-कभी मिलता है, तो इसी को कहो दुःखरूप है ? पर वह याद करता है– **विषयसुखं चाविद्येत्युक्तम्**॥ व्यास भाष्य २/१५ । विषयों में सुख मानना अविद्या व्यास

ने कहा है । वात्स्यायन भाष्य कभी याद हो उसने भी विषय-सुख को समझाने के लिए क्या बतलाया? माना बहुत उत्तम भोजन हलुआ, खीर आदि बने हैं और उसमें १ तोला जहर मिला दिया। अब कहते हैं बुद्धिहीन उसको हलुआ समझ कर खा लेता है और मारा जाता है, बुद्धिमान् व्यक्ति उसको विष समझकर नहीं खाता है और बच जाता है ।

आप सोचते हैं कैसा संघर्ष आ पड़ा । इतनी बड़ी बला हमारे सिर पर टूट पड़ी। संसार के अरबों लोग खाते-पीते और मस्त रहते हैं और हम कैसे रगड़ा खा रहे हैं ! कोई शान्ति नहीं, चैन नहीं, मारो–काटो, हटाओ! इसी में लगे रहो ।

सुख-दुःख-संज्ञाभेद

अविद्या के तीसरे भाग में यह बात कही गई कि व्यक्ति दुःख को सुख समझता है और सुख को दुःख समझता है; यह अविद्या है । परन्तु विवेक के लिए कहा जाता है कि लौकिक सुख को भी दुःख समझो । यहाँ शंका हो सकती है कि लौकिक सुख है पुनः उसको दुःख क्यों समझा जाय? आपको यह शंका होती है या नहीं ?

साधक १ – होती है ।

स्वामी जी – इसका समाधान क्या ढूँढा आपने ?

साधक १ – उस समय तो सुख दिखता है परन्तु कालान्तर में चार प्रकार के दुःख प्राप्त होंगे, इसलिए दुःखरूप मानना चाहिए ?

स्वामी जी – आपको कितना समय इसमें लगेगा जब 'यह दुःखरूप ही है' यह निर्णय हो जाएगा ।

साधक १ – इसका कोई काल निर्धारित नहीं किया जा सकता । समाधि लगने से पूर्व पूर्व तो यह रहता ही है कि इसमें सुख है, समाधि दृढ़ हो जाने पर अनुभव हो सकता है कि यह दुःख है ।

स्वामी जी – अच्छा आप ये बताएँगे इसको दुःख सिद्ध करने के लिए सांख्यकार कपिलाचार्य ने क्या बात कही, है कुछ याद ?

साधक १ – कुत्रापि कोऽपि सुखी न ॥ ६/७ ।

कहीं भी कोई भी व्यक्ति सुखी नहीं है ।

तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः ॥ ६/८।

उस सुख को भी दुःख से घिरा होने से विवेकी पुरुष दुःखपक्ष में डाल देते हैं ।

स्वामी जी – अब विचार कर लो अच्छी तरह कि योगी तो समाधि लगाने पर सुखी हो जाते हैं शेष दुःखी रह जाते हैं ?

साधक १ – शरीर के रहते हुए कोई नितान्त सुखी नहीं हो सकता।
अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥ छान्दोग्य ८/१२/१।

स्वामी जी – अच्छा ! कभी कोई घटना या व्यवहार को देखते हैं जहाँ व्यक्ति सुख को दुःखयुक्त होने से छोड़ देता है ?

साधक १ – अनुभव का विषय नहीं बना केवल शब्दप्रमाण और अनुमान के आधार पर ग्रहण नहीं करना है, यह भाव प्रमुखतः रहता है, पर ये दुःख हैं ऐसा प्रायः नहीं लगता ।

साधक २ – संसार के जितने सुख हैं सब दुःखरूप ही हैं, केवल प्रभु की शरण ही है जिसमें नितान्त सुख है ।

स्वामी जी – आप के कमरे में दो व्यक्ति रहते हैं । आप दोनों के वस्त्र दरवाजे के पास टंगे हुए हैं जहाँ से आना-जाना बना रहता है। आपने विचार किया इधर आना-जाना नहीं है अतः अपने वस्त्र को तो थोड़ा इस ओर ले लें तो कोई नहीं छूएगा, उसका उस ओर दरवाजे के पास में कर दिया जाय ?

आपने कभी ऐसा देखा कि दूध लेने के लिए आश्रमों में कहीं-कहीं अपना कमण्डलु या बाल्टी = पात्र रख देते हैं । एक व्यक्ति अपना पीछे का पात्र आगे रख देता है, दूसरे का पहले से आगे रखा पीछे हटा देता है । ऐसा नहीं होता है क्या ? होता है । वह क्यों होता है ? इसलिए कि सुख होगा पहले दूध मिलेगा । बुद्धिमान् क्या करता है, वह सोचता है, इसमें सुख तो मिलेगा पर पहले दूध मिलने पर दूसरे व्यक्ति को जब पता चलेगा तो झगड़े खड़े हो जाएँगे इससे तो बड़ा अशान्त वातावरण हो जाएगा, सन्ध्या भी न हो पाएगी और यह व्यक्ति भी कहेगा कि देखो अपना पात्र आगे कर दिया और मेरा पीछे कर दिया ! इसमें से तो दुःख निकलेगा सुख कहाँ से होगा ? इस प्रकार से व्यक्ति को यह दिखने लग जाए कि वास्तव में

यह जो सुख है यह दुःखरूप ही है। व्यासभाष्य में इसको समझाने के लिए एक बात कही— जो व्यक्ति इन्द्रियों के भोगों को भोग-भोग करके अपने दुःख को हटाना चाहता है और सुखी होना चाहता है, वह वासनाओं को उभारकर सांसारिक भोगों में स्वयं को झोंक देता है, अपने आप को समर्पित कर देता है। तब क्या होता है ? दुःख दूर हो जाएगा ? नहीं। पुनः क्या बात कही— **वृश्चिकविषभीत इवाशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी विषयानुवासितो महति दुःखपङ्के निमग्न इति** ॥ यो.द. व्यास भाष्य २/१५। आप दुहरा लो नहीं तो याद नहीं रहेगा। शब्द-प्रमाण से वंचित रह जाओगे। क्या अर्थ हुआ? जो सुख का इच्छुक व्यक्ति भौतिक सुखों में सुख मानकर प्रवृत्त होता है उसकी ऐसी ही स्थिति होती है जैसे कि किसी ने बिच्छू के भय से दूर भागना आरम्भ किया तो आगे उसे साँप ने काट लिया। बिच्छू के विष से थोड़ा दुःख होता अब तो सर्पविष से मर भी सकता है।

तो ये व्यक्ति की जो **"महति दुःखपङ्के निमग्नः"** स्थिति है इसको ध्यानावस्थित होकर अपनी बुद्धि में बैठाना चाहिए कि यदि मैं लौकिक सुखों को भोगूँगा तो महान् दुःख कीचड़ में फँस जाऊँगा। दृष्टान्त बनाना चाहो तो एक कल्पना करो। एक लम्बा चौड़ा गड्ढा है, कूएँ की भाँति। किसी ने कुआँ खोदकर मान लो आधा भर दिया। एक व्यक्ति उसमें उतर गया और एक बिच्छू उसकी ओर आने लगा। तो बिच्छू के काटने के भय से दूसरी ओर भागा, उधर एक साँप था, उसने काट खाया। मृत्यु का दुःख प्राप्त हुआ। इसका क्या अभिप्राय है यहाँ पर ? जो अन्दर वासनाएँ उभरती हैं, व्यक्ति का मन, आत्मा सन्तप्त होता है दुःखी होता है, उसको यदि भोग सामग्री नहीं मिली तो बड़ा सन्तप्त होता है। उस दुःख को हटाने के लिए जब व्यक्ति भोगों में पड़ता है तब महान् दुःखसागर में डूबता है। परिणाम क्या निकला ? यह जो विषयवासना सताती है वह बिच्छू का डर है और भोगों में जो पड़ जाता है वह काले साँप की काटी हुई स्थिति है।

वात्स्यायन भाष्य में क्या कहा ? उदाहरण दिया मान लो बहुत उत्तम भोजन हलुआ आदि बना है, उसमें एक तोला विष डाल दिया तो कहते हैं — जो बुद्धिमान् व्यक्ति नहीं है अविद्वान् है, अज्ञानी है वह उस भोजन को हलुआदि मानकर खाता है और जो बुद्धिमान् है वह उसको हलुआ नहीं विष मानकर छोड़ देता है। यह विद्वान् और अविद्वान् में अन्तर है। पुनः कहा — यह व्यक्ति जो हलुआ समझ के खाता है वह मारा जाता है और

जो विष मानकर छोड़ देता वह बच जाता है। तो भयंकर मृत्यु दुःख भोगना हो तो संसार के भोगों को भोग लो और बचना हो तो मत भोगो। कौन सा ठीक दिखता है आपको ?

विद्यालयों/गुरुकुलों में पढ़नेवाले छात्र/ब्रह्मचारी सोचते रहते हैं जल्दी से जल्दी पढ़ लो, शास्त्री, आचार्य बन जाओ। फिर नौकरी मिलेगी, खूब धन मिलेगा, कार में बैठेंगे, कोठी बनाएँगे और फिर खूब आनन्द से रहेंगे। जल्दी से जल्दी भागो गुरुकुल से निकलकर। उनके मन में ऐसा होता है या नहीं ?

साधक १ – नहीं पता ?

स्वामी जी – आप बताओ ? गुरुकुल में अध्ययन करने से भी पता चलता है। एक विद्यार्थी देखा, वह सोचता था, बोलता भी यही था कि जल्दी से जल्दी इस कारागार से बाहर निकल जाएँ। पढ़-पढ़ा के भाग के जल्दी कैसे निकलें ? कालान्तर में वही विद्यार्थी शास्त्री आदि योग्यता प्राप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो गया। पुनः लम्बे काल पश्चात् मिला तब कहने लगा इसमें तो कुछ भी नहीं है, हम तो खाँ म खाँ फंसे, मूर्ख निकले। इन भोगों में है ही कुछ नहीं। व्यक्ति वही है जो पहले उसमें स्वर्ग समझता था। ये माता-पिता सब तो नहीं, प्रायः अपने बेटे-बेटियों को धक्का दे-दे के, धक्का दे-दे के गृहस्थ में जाओ, गृहस्थ में जाओ कह के, वहाँ डाल देते हैं। आप तो कीचड़ में डूबे ही थे, उनको भी डुबो देते हैं। अब बताओ क्या करोगे ?

किसी ने एक बात उठाई। श्रीराम, श्रीकृष्णजी महाराज, याज्ञवल्क्य, जनक आदि कितने बड़े-बड़े महान् लोग गृहस्थ में गए थे तो क्या वे बेसमझ थे, उनमें इतनी विद्या नहीं थी, वे यह नहीं समझते थे कि इसमें दुःख भरा है? पुनः क्यों गए ?

यदि आपसे कोई पूछे कि वे गृहस्थ में गए थे तो विद्वान् होते हुए गए थे या अविद्वान् होते हुए गए थे, क्या बताओगे ?

साधक २ – शाब्दिक विद्वान् थे, पर तत्त्वज्ञान, वैराग्य की स्थिति नहीं थी, ऐसा कहा जा सकता है।

स्वामी जी – याज्ञवल्क्य को तो गृहस्थ में जाने पर पता चला कि मैं मूर्ख हूँ। वे जा चुके थे, पहले पता चल जाता तो जाते ही नहीं। है

न ऐसा ही ? इन लोगों को भ्रम हो जाता है कि वे तो तत्त्ववेता थे, भाई वे गृहस्थ में गए तो सब को जाना चाहिये। नहीं ! वस्तुतः वे आत्मा, परमात्मा इन विषयों को विवेक-वैराग्य पूर्वक नहीं जानते थे। अल्पज्ञता अर्थात् वह विद्या इनके पास नहीं थी जिससे इनको दिखाई देता कि इनमें दुःख है।

अब स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का अध्ययन करो। वे कहते हैं प्रसङ्गवशात् कि देखो –

प्रश्न – जो क्रमशः तीनों आश्रमों से होता हुआ चौथे में जाएगा उसको कामवासना नहीं सताएगी और आराम से संन्यासी बन जाएगा। पहले यदि संन्यासी बनेगा तो कामवासना सताएगी वह अपने जीवन का निर्वाह नहीं कर पाएगा !

तो स्वामी जी का कथन (उत्तर) है – "जो न निभा सके तो वह ब्रह्मचर्य से संन्यास न लेवे। जो रह सकता है वह क्यों न लेवे ? जैसे रोगी के लिए वैद्य और औषधि की आवश्यकता होती है वैसा ही यह गृहस्थाश्रम है।" क्या आया समझ में ? नीरोग के लिए वैद्य और औषधि की आवश्यकता नहीं होती है, रोगी के लिए होती है। इसलिए कड़वी भाषा में बोलें तो जितने गृहस्थ में जाते हैं सारे रोगी होते हैं। यह भी लिखा; यह कार्य (ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यासग्रहण) पूर्ण विद्वान् और जितेन्द्रिय व्यक्ति का है।

एक स्थिति आपने देखी होगी जैसे-तैसे लोग राजनीति में चले जाते हैं और मतदानों में जीतते हैं। चुनाव में मत संख्या बढ़ जानी चाहिए चाहे मतदाता अंगूठाटेक क्यों न हो और इसी आधार पर वे जीतते हैं। इसी प्रकार ये सभी के सभी एकाध को छोड़ जो गृहस्थ के विषय में अंगूठा टेक होते हैं और वहाँ चले जाते हैं पुनः उद्घोष करते हैं – भाइयों, बहनों, सुनो! गृहस्थ आश्रम जैसा और कोई आश्रम नहीं है, सबसे बड़ा है यह आश्रम। लोग कहते हैं हाँ जी हाँ, ठीक है आपकी बात। ऐसा देखा नहीं आपने ? संन्यासी, उपदेशक भी बेचारे डरते हैं, बोलते नहीं हैं; यदि हमने खंडन कर दिया तो ये हमको रोटी भी नहीं देंगे। इसलिए स्वामी दयानन्द यह कहते हैं – तुम यह कहते हो संन्यासी को सोने-चाँदी का दान नहीं देना चाहिए। यह छल-कपट कर रहे हो। तुम समझते हो यह हमारे अधीन रहेगा, रोटी देंगे तो खा लेगा नहीं तो नहीं। नचाते रहेंगे और नाचता रहेगा ?

एक बार हम पाठ पढ़ रहे थे। एक सन्यासी महात्मा पाठ पढ़ा रहे थे। वे गृहस्थ की अत्यधिक पुष्टि करते थे, वहाँ जाओ आनन्द ही आनन्द है। तो हमें तो ये बातें याद रहती थीं आपकी तरह नहीं कि सत्यार्थ प्रकाश में कहाँ लिखा है ? ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में कहाँ लिखा है ? कुछ अता-पता ही नहीं, आपकी तो ऐसी स्थिति है। हम तो ऐसे स्थलों को याद रखते थे। कोई बात पढ़ते समय या वार्तालाप में काम आती है। तो हमने कहा स्वामी जी ! गृहस्थ आश्रम के लिए स्वामी दयानन्दजी ने कहा है कि "रोगी को जैसे वैद्य और औषधि की आवश्यकता होती है" । यह तो रोगी का लक्षण है गृहस्थाश्रम ! उन्होंने कहा कहाँ लिखा है ? हमने बता दिया। पुनः उन्होंने कहा – ऐसा तो करोड़ों में से कोई एकाध होता है। तो मैं इसलिए सुना रहा हूँ कि कहीं आप मार न खा जाओ। लोग उलटी बातें रखते रहते हैं, उनमें पहला तो न पढ़ना कारण होता है, पढ़ भी लिया तो अपनी बात (दोष) की पुष्टि करना होता है, भले ही उलटी हो। एक दिन एक विद्वान् प्रवचन कर रहे थे, कहते-कहते उन्होंने यह बात कह दी कि ऋषि दयानन्द को छोड़कर जितने भी ऋषि हुए सारे गृहस्थी हुए। प्रवचन पूरा होते ही मैं पण्डित जी के पास गया और बोला, पण्डित जी यह बतलाओ– आपने कहा ऋषि दयानन्द को छोड़कर शेष सारे ऋषि गृहस्थाश्रमी हुए हैं तो महाभाष्यकार ने लिखा है ८८ हजार ऋषि हुए हैं और उनमें ८ गृहस्थ में गए और सारे, ब्रह्मचारी रहे। अब बताओ ! **तत्राष्टाशीतिः सहस्राणि उर्ध्वरेतषामृषीणां बभूवुः ....॥** सूत्र – एकोगोत्रे, अष्टाध्यायी महाभाष्य ४/१/९३ ।

यह जो परम्परा ढ़ीली हुई नीचे गई, इसका कारण है, **इतरथा अन्ध-परम्परा। उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः** ॥ सांख्य ३/८१/७९।

विद्या को ग्रहण करने वाला होने से, उसका उपदेष्टा गुरु होने से तो जीवन्मुक्त लोग पैदा होते हैं। यदि नचिकेता की तरह ग्रहण करने वाला और यमाचार्य की तरह बताने वाला ये दोनों नहीं होते हैं तो इससे भिन्न अवस्था में अन्ध-परम्परा चल पड़ती है। सारा भौतिक वैज्ञानिकों का दल अन्ध-परम्परा में हैं और जो विद्यालयों में पढ़े-पढ़ाये जाते हैं; सब अन्ध-परम्परा में है।



विविध-बाधित-सुख

लौकिक-सुखों में दुःख देखना बहुत परिश्रम साध्य है, बहुत संघर्षपेक्षित है, पर असम्भव कुछ भी नहीं है। किन्तु कितने प्रयोग की अपेक्षा है, कितने अध्ययन—अध्यापन की अपेक्षा है, जब ये बातें समझ में आ सकती हैं? किसी को २० वर्ष लगेंगे किसी को ३०—४०, ५०—६० भी लग सकते हैं और परिश्रम करते-करते पक्ष ढीला कर दिया तो पूरी बात ८० वर्ष में भी समझ में न आए! उसका क्या परिणाम होगा? वह परिश्रम अगले जन्म में काम आएगा।

कभी व्यक्ति तुलनात्मक अध्ययन करता है। वह अपने बौद्धिक स्तर पर एक दृश्य उपस्थित करता है। मान के चलो, वह कहता है मैं लौकिक पदार्थों में सुख मानकर उन पदार्थों का ग्रहण, भोग करता हूँ तो कैसी स्थिति होगी? कहेगा — इतनी धन-सम्पत्ति चाहिए, इतने लोग चाहिएँ, इतनी कोठियाँ, कारें, इतना बैंक में संगृहीत धन, सेवक, कारखाने, विमान। आप देखते जाओ और आगे बढ़ते जाओ। पुनः क्या होता है? कहते हैं — इतनी कार कोठी बनाने के लिए इतना धन कहाँ से लाएँगे? इतने सेवकों को कहाँ से वेतन देंगे? अच्छा सारा बना भी लिया, जुटा भी लिया तो आजकल के आतंकवादी की तरह कोई धक्का देकर भगा दे, छीन ले तो क्या होगा? ध्यान देंगे जब वह सुखभोगवाली सारी स्थिति को उपस्थित करता है तो, उसमें संकट देखता है। **विषयाणाम् अर्जन—रक्षण—क्षय-संग-हिंसा-दोषदर्शनाद् अस्वीकरणम्॥** यो० व्या० भा० २/३०।

अब अर्जन दोष को देख लो। कोई कहता है पढ़-लिखकर २५/३० वर्ष का होकर, एम.ए., बी.ए., आचार्य, प्रोफेसर, वैज्ञानिक बनकर इतना-इतना धन कमाकर अपने घर के समान वालों से संबंध करूँगा। पुनः २०/३० वर्ष खपाता है धन कमाने में। यदि न्यायपूर्वक कमाता है तो बहुत समय लगेगा, अन्यायपूर्वक कमाये तो दूसरी स्थिति है। मान लो कमा लिया। कोठी बना ली २० लाख की। अब कल्पना कीजिए, राजकीय विभाग से सूचना मिली कि ये जो यहाँ पर नई-नई कोठियाँ बनी हैं; गिराई जाएँगी क्योंकि इस जगह तो विमान अड्डा बनेगा, उसके लिए इसका निर्वाचन हो गया है। अब उसको पता चला कि अब तो हमारी कोठी जाएगी? बस नींद नहीं आएगी या हृदय गति ही बन्द हो जाएगी।

प्रथम तो इतना उपार्जित कैसे करें, अर्जित कर लिया तो बने पर संकट कि इसको कैसे बचाएँ। जब नष्ट होने लगता है तो बड़ा दुःख होता है, कभी हृदयगति बन्द होने पर मर ही जाता है।

यहाँ एक के पीछे दूसरा दुःख लगा हुआ है और वह जो बेचारा शेखचिल्ली था एक दिन किसी सेठ जी का एक घी से भरा घड़ा ले जा रहा था। उसने सोचा एक घड़ा ले जाने के आठ आने मिलेंगे। आठ आने की एक बकरी खरीदूँगा। बकरी के कच्चे-बच्चे होंगे उनको बेचकर विवाह करूँगा। एक नहीं दो विवाह कराऊँगा। दोनों के बच्चे होने पर एक को गोद में लूँगा, दूसरी का आएगा तो ऐसे भगा दूँगा, दूर भाग जा ! उतने में घड़ा गिर गया, सारा घी बिखर गया। घड़े वाले सेठ जी ने कहा मेरा तो सत्यानाश कर दिया। इसने कहा तेरे तो घड़े का सत्यानाश हो गया मेरा तो परिवार का परिवार चौपट हो गया!

तो यहाँ व्यक्ति लुट-पिटकर लक्कड़ जैसा खड़ा रह जाता है, इसलिए संसार के चक्कर में मत फंस जाना !

अब हम विचार करते हैं कि सुख के प्रति हमारी और क्या दृष्टि रहती है ? आप, मैं या पूरे संसार के लोग क्या सोचते हैं मुझे विशुद्ध-सुख मिले या दुःखमिश्रित ? क्या समझे दुहरा लो!

साधकगण – मुझे विशुद्ध-सुख मिले या दुःखमिश्रित ?

स्वामी जी – आपकी क्या दृष्टि रहती है ?

साधक – मुझे विशुद्ध-सुख मिले और वह सुख स्थायी हो तथा उसमें दुःखमिश्रित न हो।

स्वामी जी – सांसारिक-सुख, इन्द्रियों से उपलब्ध सुख क्षणिक ही मिलता है स्थायी नहीं मिलता, कहीं भी देख लो। कभी-कभी शंका उठाने वाला व्यक्ति कहता है समाधि में व्यक्ति जो आनन्द लेता है, दो-चार घण्टे जितना बैठता है उतने काल तक तो सुख होता है परन्तु वह भी क्षणिक हुआ क्योंकि आगे नहीं रहता। तो ध्यान देना है कि वहाँ पर सारे समय हम बैठ नहीं सकते, इस शरीर से ग्रहण नहीं कर सकते ये कारण हैं किन्तु सुख क्षणिक नहीं है। दोनों में अन्तर है। लौकिक सुख में आप जिस स्थिति में रहते हैं उसी में रहें और कोई भी सुख पकड़ लें। आप के शरीर की स्थिति ठीक है, सब अच्छा है न नींद न थकान, तब भी स्थिति यह मिलेगी कि

उस लौकिक-सुख को आप सतत ग्रहण नहीं कर सकते । क्या समझ में आया ! वैसे तो सुन लिया, पर आपके तो दिमाग में बैठा नहीं ? अच्छा आप कभी लड्डू, पेड़े, बरफी खाते हो ? तो खाते रहो खाते रहो, आधा घण्टा तक । अब पेट तो भर गया, इधर लड्डू, जलेबी भी सामने पड़ी है । अब खाना चाहो तो खा ही नहीं सकते । बड़ा खराब लगता है । कहेंगे दूर ले जाओ थाली को; ऐसा लगता है कि नहीं ?

साधक – लगता है ।

स्वामी जी – आप के सामने कोई बाधा नहीं है, तब भी खाकर सुख नहीं ले सकते ।

आपने कभी गुड़मार बूटी देखी है ?

साधक – देखी है, जिसके खाने के बाद नीम भी मीठा लगता है।

स्वामी जी – उस बूटी की एक पत्ती चबा लो पुनः लड्डू खाओ तो आपको लड्डू मीठा लगेगा ही नहीं । जबकि शरीर स्वस्थ हो और व्यक्ति समाधि लगाए तो उसके आनन्द में कोई कमी आएगी ही नहीं; यह दोनों में अन्तर है।

साधक – यहाँ क्षणिकता का क्या अभिप्राय है आधा घण्टा, घण्टा पश्चात् निरुद्ध होना ?

स्वामी जी – नहीं नहीं ! क्षणिकता तो कई प्रकार से आएगी उसकी गहराई में हम नहीं जा रहे हैं । जैसे एक ग्रास ले लो उसको दो-चार बार चबाओ। आप देख सकते हैं उसी ग्रास से दो-चार सेंकण्ड पश्चात् सुख नहीं मिलेगा, पहले की अपेक्षा उसी ग्रास में सुख धीरे-धीरे कम होता चला जाएगा।

साधक – कोई व्यक्ति संगीत सुनता है । उसने अभ्यास बनाया हुआ है एक घण्टा मन लगाकर सुनकर सुख लेता है, पुनः उसको बन्द कर देता है । पुनः चाहेगा पुनः ले लेगा, ऐसा तो क्षणिक नहीं हुआ !

स्वामी जी – चलो संगीत के सुख में यह ले लो, वहाँ भी ऐसा ही होगा। उसमें ६–८–२०–५० शब्द होते हैं। उसी को पहले सुना दो। पुनः दो-तीन बार सुनाओ तो कहेगा हटाओ इसको। वस्तुतः उसमें जब तक नये नये शब्द आते जाते हैं, नई प्रतीति होती रहती है तब तक सुख होता रहता है । उसी एक शब्द को रख करके तो देखो !

साधक १ – वहाँ क्षणिकता की परिभाषा के अनुसार घण्टे भर का सुख तो क्षणिक नहीं हुआ ?

स्वामी जी – न न सुनो ! पहले इतना ले लो वही सुख नहीं रहता, नष्ट होता जाता है। नहीं जमता। एक जैसी स्थिति बनी रहे ऐसा नहीं होता। हलुआ का एक ग्रास लो और जब तक चबाते रहो निगलो नहीं तब तक आनन्द आता रहे; यह तो है नित्यता, स्थायित्व और थोड़े से चबाने के बाद फीका हो जाय, थूकने का मन करे, आनन्द रुक जाय यह है क्षणिकता; इस मोटे रूप को ले लो।

साधक १ – कुछ विषय हैं जिनको व्यक्ति भोग नहीं सकता, जैसे खाने का है उसको व्यक्ति देर तक नहीं खा सकता, परन्तु संगीत सुनना है, दृश्य देखना है; यहाँ व्यक्ति कई घण्टे सुनता, देखता रहेगा, सुख लेता रहेगा कई घण्टे तक; यह तो क्षणिक नहीं हुआ ?

स्वामी जी – नहीं नहीं ! उनमें भी अन्तर देखो। आप जो संगीत में सुख मानते हैं तो एक वाक्य में भी नित्य सुख होता होगा; क्या समझ में आया? सारे संगीत में नित्य सुख है तो एक वाक्य में भी नित्य सुख हुआ। पुनः पूरे संगीत को क्यों सुनते हो ! एक ही वाक्य बहुत है। वस्तुतः उसी को थोड़ी देर में कहेगा इसे बन्द करो। जब आप भूख में लड्डू, जलेबी खाते हो तब कितना सुख होता है, वही धीरे-धीरे कम होता जाता है, अन्त में कहते हैं बस ! मुझे नहीं चाहिए। क्यों ? इसलिए कि थोड़ी देर में सुख आना बन्द हो जाता है। आप यह तो मानते हैं कुछ काल के पश्चात् खीर, हलुआ सड़ जाता है। जब उसमें परिणाम हो रहा है, परिवर्तनशीलता है तब तो क्षणिक बनेगा ही। सड़ जाएगा वह, दुर्गन्ध आएगी उसमें।

अब दूसरी बात लेते हैं। लौकिक-सुख में मिला दुःख हानिकर है हम ऐसा मन्थन कर रहे हैं। जब तक आप यह स्थिति बना नहीं लेते हैं तब तक अच्छी रुचि होना और जमकर योगाभ्यास करना, सुख और सुख-साधन की इच्छा नहीं करना, ये स्थितियाँ नहीं आएँगी। यह तो आपको करना पड़ेगा। थोड़े मन्थन से काम नहीं चलता। थोड़े परीक्षण से काम नहीं चल पाता। २०–३०–५० वर्ष तक योगाभ्यास करने वाला व्यक्ति पुनः भोगों में पड़ा देखा जाता है। यदि थोड़े से काम चल जाता तो ऐसा क्यों होता ? इतने कच्चे ज्ञान से कोई काम होनेवाला नहीं है। ये तो हो सकता है ५० वर्ष तक व्यक्ति परिश्रम करता रहे पुनरपि मन न जीता जाय, वासना न जीती जाय तो अब ये तैयारी करे, (कहे) संसार के लोगों ! मैं तो लुट–पिट गया हूँ, आप तो आनन्द भोग रहे हो, मैं पीछे रह गया। यह व्यक्ति बुढ़ापे में जाकर संसार का सुख भोगने लगता है। ऐसा होता है; आप ऐसा देखते हैं कि नहीं ?

संसार में सुख है, कोई कहने लगे संसार में सुख नहीं है यह तो प्रमाण से खण्डित हो जाता है। यद्यपि कई बार ऐसा कहा जाता है प्रकृति में दुःख ही दुःख है। वहाँ यदि दुःखबाहुल्य तात्पर्य लिया जाय तब तो बात ठीक है किन्तु सर्वथा अभाव कहेंगे तो यह खण्डित हो जाएगी। अब आप इसका समधान करेंगे कि स्वामी दयानन्द ने जो यह बात लिखी है कि संसार में सुख अधिक और दुःख कम है। कौन बोलेगा इस पर! हाँ जी।

साधक १ – ऐसा मुक्ति की अपेक्षा से कहा गया है।

साधक २ – मुक्ति की अपेक्षा संसार में दुःख अधिक है, यह बात आई है। परस्पर सांसारिक स्थिति में दुःख की अपेक्षा सुख अधिक है।

साधक ३ – यही होना चाहिए।

स्वामी जी – गुनगुनाओ मत स्पष्ट बोलो। हाँ जी –

साधक ४ – सुख और दुःख की तुलना करते हैं तो दुःख अधिक महसूस होता है, सुख कम होता है।

स्वामी जी – कम समझ में आया आपको ?

साधक ४ – दुःख अधिक है।

स्वामी जी – वहाँ तो लिखा है सुख अधिक है ! प्रश्न का उत्तर कहाँ हुआ?

साधक २/४ (साथ-साथ). सुख अधिक है, दुःख अधिक है।

स्वामी जी – एक बोलो। दोनों में बात घुल-मिल जाएगी।

साधक ४ – दुःख अधिक है।

स्वामी जी – तो हम आपसे पूछेंगे कि संसार में सुख अधिक है या दुःख अधिक है ?

साधक २ – सुख अधिक है।

साधक ४ – दुःख अधिक है पर मिश्रित है।

स्वामी जी – एक का मत है सुख अधिक, दूसरे का सुख कम दुःख अधिक। अब न्याय के अनुसार विप्रतिपत्ति खड़ी हो गई ! इसकी बात ठीक है या उसकी बात ठीक है, विचार की बात हो गई। विचार करो, कोई बात नहीं।

एक दृष्टि से सोचो – एक भाग इसका ऐसा है यदि व्यक्ति बुद्धिपूर्वक ज्ञान-कर्म-उपासना को ठीक लेता हुआ लौकिक पदार्थों का उचित प्रयोग करता

है तो सुख-दुःख दोनों सामने आएँगे । दोनों के सामने आने पर सुख की मात्रा अधिक होगी, दुःख की मात्रा न्यून होगी । क्या समझ में आया?

साधक गण – अधार्मिक अन्यायी को दुःख अधिक मिलता है ।

स्वामी जी – अब हम देखेंगे संसार के अन्दर क्षणिक सुख है और उसमें चार प्रकार का दुःख मिश्रित है । अब हमने क्या देखा । हमने पहले तो क्षणिकता देखी। अब देखेंगे व्यक्ति जब किसी पदार्थ की क्षणिकता को देखता है तो उसकी उसमें रुचि नहीं होती । वह उसको चाहता नहीं है, भले ही प्रयोग करना पड़े। एक व्यक्ति को कहो यह २० लाख की कोठी बनी है, सारे साधन उपलब्ध हैं, आप इसमें आनन्द से रहो, पर ५ मिनट से अधिक नहीं रह सकते हैं । अपनी झोपड़ी में चले जाना; तो क्या करेगा?

साधक १ – दोनों प्रकार की बुद्धि बन सकती है, एक तो ५ मिनट का समय मिला है इसको देख लो । दूसरी क्या देखना है इसको ?

स्वामी जी – बुद्धिमान् कौन है ? जो देखेगा ५ मिनट का समय, पुनः निकाल दिया जाऊँगा इससे तो अच्छा मेरी झोपड़ी ही है । ५ मिनट का सुख कौन ले !

एक रोचक दृष्टान्त आचार्य उदयवीर जी ने संभवत लिखा है- योगदर्शन के व्याख्याकार सदाशिवेन्द्र सरस्वती दक्षिण में नर्मदा तट पर तिरुवल्लूर गाँव के महात्मा थे । अध्ययनकाल में जब उनका विवाह संस्कार होने वाला था तब की बात है । उस काल तक उपवास रखना था । ये तो सब जानते हैं युवाकाल में भूख अधिक लगती है । तो उसने पूछा मुझे तीव्र भूख लग रही है, कब भोजन मिलेगा ? लोगों ने कहा आपको भोजन तो विवाह संस्कार के पश्चात् ही मिलेगा, पहले तो नहीं मिलेगा? कब तक संस्कार होगा ? इतने घण्टे पश्चात् ! **अच्छा ! इसके आरम्भ में ही इतना दुःख है तो आगे चलकर क्या होगा ! तो मुझे विवाह नहीं कराना है ।** वहीं छोड़कर चला गया। आप कभी न आ जाना इस विवाह के चक्कर में !

तो यह गवेषणा लाखों ऋषियों की है । वैज्ञानिकों की नहीं है । उनका इसमें कोई परीक्षण, गति, विकास है ही नहीं । शून्यता है । भोगवादी जो अवैज्ञानिक हैं सांसारिक हैं और उन्हीं अमेरिकादि देशों के रहने वाले हैं, वे इस बात से शून्य हैं कि सांसारिक सुख दुःखमिश्रित है, तथा इसके अतिरिक्त कोई अन्य सुख भी है, ऐसा वे नहीं जानते हैं । आप और भी ध्यान देंगे तो पता चलेगा यह जो आतंकवाद, भयंकर अन्याय चल रहा है, यह इसके

न जानने से हुआ है । कारण आप देखेंगे । एक परीक्षण हुआ, ऋषियों ने परीक्षा की और यहाँ तक पहुँच गए कि संसार की जितनी भूमि–सम्पत्ति है वह एक व्यक्ति को दे दो तब भी उस एक व्यक्ति की तृष्णा शान्त नहीं हो सकती है । ये ६ अरब हैं, कैसे इतनों की तृप्ति हो पाएगी ? गदर रहेगा, मार-काट होगी, अन्याय इस रूप में रहेगा ही। यदि यह समझ लिया जाता, मान लिया जाता कि लोक में सुख के साधन हैं, इनसे धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की सिद्धि करो । पर लौकिक-सुख ऐसा मत देखो कि यह अन्तिम सुख है । ये साधन तो ईश्वर प्राप्ति के लिए हैं। हाँ इनके बिना न तो लौकिक-सुख मिलता, न मोक्षसुख मिलता है।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥

यो० द० २/१८ ।

सूत्रार्थ – प्रकाश, क्रिया और स्थिति स्वभाव वाला, भूतों और इन्द्रियों के रूप में निर्मित, भोग और अपवर्ग को दिलाने वाला यह दृश्यम् = संसार है। अगर ऐसा मान लिया जाता तो यह जो विश्व के अन्दर भयंकर दुःख है, कष्ट है, अन्याय है, अज्ञान है ये दूर हट जाते। आज की मान्यता के अनुसार इनको दूर नहीं किया जा सकता, ये बढ़ते ही जाएँगे । आप दो-चार इने-गिने जो योगाभ्यास सीख रहे हैं; आगे चलकर आपकी क्या अवस्था होगी, कौन सी पंक्ति में खड़े होंगे, क्यों जी –

साधक १ – पता नहीं ।

साधक २ – जिस पर चल रहे हैं ।

साधक ३ – इसी पर रहेंगे ।

स्वामी जी – व्यक्ति बार-बार परीक्षण करता है। खूब देखता है। अरब-पतियों, खरब-पतियों को भी देखता है । उनके पास जाओ, उनके घर पर भी एक-दो दिन ठहरो । पुनः देखो कितने सुखी हैं ? तो बुद्धिमान् तो कहता है– हे भगवान् ! मुझे ऐसा अरब-पति न बना देना । मैं अरब-पति नहीं बनना चाहता। परन्तु अच्छे विवेक-वैराग्य के बिना ये बातें ठीक से समझ में नहीं आतीं । थोड़े से प्रयोगों से समझ में नहीं आतीं । इसके लिए तो अच्छा प्रशिक्षण लेना, बार-बार प्रयोग करना और धीरे-धीरे झट परीक्षण करने की स्थिति में पहुँच जाना होता है । तब व्यक्ति टिक जाता है ।

संसार में एक बहुत बड़ी बात देखेंगे, जब देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति उसी सुख के लिए दौड़ रहा है, खा रहा है, कमा रहा है, कोठी बना रहा

है और मैं? मैं तो कुछ भी नहीं कर रहा हूं ! मैं भूल में तो नहीं हूँ ? ऐसा होता है या नहीं, बोलो तो कुछ ? यह घटना तो आपके साथ होने वाली है या नहीं ? इसमें और भी कारण रहता है, यहाँ उसे विशेष सुख मिला नहीं । तपस्या की, खूब परिश्रम किया, यहाँ तक पहुँचा, खून-पसीना बहाया परन्तु नया सुख कोई मिला नहीं जैसे लोक में मीठे-मीठे फल मिलते रहते हैं । तब वह कहता है ये क्या ? सारा संसार आनन्द में रह रहा है, मुझे २०–४० वर्ष हो गए कुछ भी पल्ले नहीं पड़ा, वास्तव में मैं भूल कर रहा हूँ। पुनः अब क्या होगा ? अब तो बुढ़ापा भी आ गया । कहता है कोई बात नहीं बचे हुए काल में तो लोक का सुख मिल जाएगा ? वे कौन थे सौभरि मुनि थे न? महाभारत में कथा है। उन्होंने देखा लोक में तो बड़ा सुख है! वे एक घटना देख रहे थे बहुत सी मछलियाँ ऊछल-कूद मचा रही थीं । उन्होंने सोचा देखो ये अपने बच्चे (परिवार) के साथ कितने आनन्द में हैं ? पुनः तो उन्होंने लौकिक जीवन अपना लिया और सारा जीवन भोग भोगते रहे परन्तु अन्त में उन्होंने क्या निर्णय दिया – सब कुछ देख लिया मैंने परन्तु मन की इच्छा पूरी नहीं हो सकी ।

आमृत्युतो नैव मनोरथानामन्तोऽस्ति विज्ञातमिदम्मयाद्य ।
मनोरथासक्तिपरस्य चित्तं न जायते वै परमार्थसङ्गि ॥

भावार्थ – मृत्युपर्यन्त कामनाओं का अन्त नहीं है यह मैंने अच्छी तरह जान लिया । कामनाओं के पीछे चलनेवाले को परमार्थ हाथ नहीं लगता ।

न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत् ॥ सांख्य ४/२७। से भी पाठ याद कर लेना चाहिए । यह परीक्षण हो चुका है क्यों तुम नये परीक्षण के लिए दौड़ लगा रहे हो ? एक व्यक्ति कहता है नहीं जी ! जब तक अपनी बुद्धि स्वीकार नहीं कर लेती तब तक कैसे मान लें? तो भाई रेल के नीचे आने से पैर कट जाता है इसको मत मानो अच्छा कटवा के ही देख लो! कोई कहता है अच्छा जहर खाने से मर जाता है इसे मैं तो नहीं मानता, मैं तो खाकर देखूँगा । खा के देख लो भाई । खा के देखा तो क्या हो गया; देख लो।

आप इन्हीं कार्यों में लगे रहेंगे, परीक्षणपूर्वक देखना, परिश्रम करना। धीरे-धीरे इस परिणाम पर पहुँच जाएँगे कि हमारे परीक्षण में कोई दोष नहीं है। संसार में चार प्रकार के दुःख हैं, लौकिक-सुख क्षणिक है और ईश्वर में नित्य सुख है; यहाँ पर पहुँच जाएँगे । पुनः आप स्वयं सुखी होकर क्या करेंगे, पूरे संसार को अपने जैसा बनाना चाहेंगे, यदि यह स्थिति आ गई तो । कोई

माने न माने, जाने न जाने, आप ने अपने जैसा बनाने का प्रयत्न करना है। ऋषियों के जीवन में यह बात देखने को मिलती है। कितना ही कुछ कष्ट हो, बाधा हो, अपमान हो, पर वे कहते हैं जैसा मैं हूँ, जितना मैं हूँ उतना पूरे संसार को बना के छोड़ूँगा। पूरा जोर लगाते हैं। उनके भाष्यों को भी श्रद्धापूर्वक पढ़ते रहना चाहिए, स्वाध्याय करते रहना चाहिए, उसका भी प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है। हम उन ऋषियों को सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी मानते हैं। पुनः उनकी वाणी को जब हम पढ़ते हैं तो हमारे जन्म-जन्मान्तर के कुसंस्कार ढ़ीले पड़ते जाते हैं, निर्बल होते जाते हैं, और ये (विवेक संस्कार) प्रबल होते जाते हैं। जब पढ़ते-पढा़ते, सुनते-सुनाते वे कुसंस्कार फीके पड़ जाते हैं तब व्यक्ति आगे धीरे-धीरे उनको उखाड़ने में समर्थ हो जाता है। पुनः अपने अन्दर से उखाड़-फेकने का प्रयत्न करता है।

एक स्वाभाविक बात है, एक विषय को लो, उसको विश्वासपूर्वक पढ़ो-पढ़ाओ, सुनो-सुनाओ शब्द-प्रमाण को और लम्बे काल तक ठहराते रहो, तो ऐसे आवृत्ति करते-करते अज्ञान निर्बल पड़ता जाता है, भोगों में जो इच्छा होती है वह दुर्बल होती जाती है। कालान्तर में और आगे बढ़ो, ऋषि ग्रन्थों में जितनी बातें लिखी हुई हैं २०—५०, उनमें से कुछ को आचरण करके देखा और वे बातें सत्य मिलीं तो उसका प्रभाव यह पड़ता है कि जितनी बातें समझ में नहीं आतीं मुक्ति आदि की, वे भी समझ में आने लगती हैं। क्यों ? सत्य हैं अतः विश्वसनीय हो जाती हैं। परन्तु जो आचरण नहीं करता, लम्बे काल तक नहीं पढ़ता-पढा़ता उसके लिए सारी बातें परोक्ष, अविश्वसनीय ही बनी रहती हैं। नहीं मानोगे तो आप की भी स्थिति वही होगी, देख लो अच्छी तरह से।

जब योगी इनमें दोष देखता है तो लौकिक सुख-साधनों में प्रीति नहीं होती है, तब उनको छोड़ देता है। ईश्वर का आनन्द बुद्धि में दुःखरहित आनन्दप्रद दिखता है और उसके विपरीत लौकिक-सुख बुद्धि में दुःखरूप दिखाई देता है?

एक बार ध्यान करके निर्णय कीजिए कि ईश्वर से जो आनन्द मिलेगा उसके साथ क्या-क्या कष्ट जुड़ा हुआ है, क्या-क्या बाधाएँ हैं और लोक में जो सुख मिलेगा उसमें क्या-क्या बाधाएँ हैं ?



जड़-चेतन

अविद्या का चौथा भाग है – जड़ पदार्थों को चेतन और चेतन पदार्थों को जड़ समझना। वैदिक परम्परा में सत्त्व, रज, तम ये तीन प्रकार के सूक्ष्मतम पदार्थ माने जाते हैं। सांख्य की प्रक्रिया में इनको ही प्रकृति कहते हैं। प्रकर्षता से जो सांसारिक पदार्थों का उपादान कारण बनती है इसलिए इसका नाम प्रकृति है। जब प्रकृति कार्यरूप में परिणत होती है तब इसके और २३ विभाग हो जाते हैं वे हैं १ महत्तत्व, १ अहंकार, १ मन, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ और पुनः ५ तन्मात्राएँ, इन तन्मात्राओं से ५ स्थूलभूत उत्पन्न हुए। ये प्रकृति सहित २४ और १ पुरुष (आत्मा) कुल २५ पदार्थों का समूह सांख्य की प्रक्रिया में सम्पूर्ण पदार्थ हैं। इनमें १ पुरुष (आत्मा-परमात्मा) २५ वाँ पदार्थ चेतन है तथा शेष प्रकृति अर्थात् २४ पदार्थ जड़ हैं।

जड़ को चेतन मानना

व्यक्ति अविद्या से जड़ पदार्थों को चेतन समझता है चेतन पदार्थों को जड़ समझता है; इसका क्या दृष्टान्त बनेगा ?

साधक १ – शरीर जड़ है इसको चेतन मानते हैं, मन जड़ है इसको चेतन मानते हैं।

साधक २ – जड़ को चेतन मानना – यथा शरीर को आत्मा मानते हैं। मैं मर जाऊँगा नहीं रहूँगा, विनाश हो जाएगा या किसी वस्तु के नष्ट हो जाने पर दुःखी होता है कि मेरा विनाश हो गया।

स्वामी जी – बात छोटी सी दीखती है; अविद्या का छोटा सा लक्षण कर दिया कि जड़ को चेतन मानना और चेतन को जड़ मानना। परन्तु इस बात को वाक्य में जो छोटी सी दिखती है, बड़े-बड़े वैज्ञानिक सुलझा नहीं पाए। अब तक जो उनकी स्थिति रही है कि जड़ और चेतन का विभाग वे नहीं कर पाए। स्वतन्त्र कोई चेतन पदार्थ आत्मा होता है ऐसी उन्होंने कोई मान्यता नहीं बनाई। किन्तु जैसा कि एक विद्वान् ने लिखा है कि भौतिक वैज्ञानिक जड़ पदार्थों से चेतन की उत्पत्ति मानते हैं और चेतन से जड़ की उत्पत्ति मानते हैं; यदि ऐसा होता है तो जैसा हम कहते हैं अगले जन्म में फल मिलता है पशु-पक्षी के शरीर रूप में, वह नहीं बनेगा। जो जीवात्मा आज चेतन दिखाई देता है वह तो नष्ट होते-होते जड़ के रूप में बदल जाएगा और नया जीवात्मा जड़ों से उत्पन्न होता जाएगा। इसलिए भौतिक

वैज्ञानिकों के सिद्धान्त में धर्माधर्म की व्यवस्था, कर्म की व्यवस्था अगले जन्म के अनुरूप, पाप-पुण्य आदि की व्यवस्था, कुछ भी नहीं बनती हैं। आज भौतिक विज्ञान का प्रभाव, उनकी मान्यताओं को प्रथम स्थान मिलने के कारण संसार में वैदिक व्यवस्था छोड़ दी गई, अवैदिक व्यवस्था अपना ली गई है।

यदि जड़-पदार्थ से चेतन-पदार्थ उत्पन्न हो जाता है तो रणवीर जी सुनाएँगे इसमें क्या दोष है ? जड़ का विकास होते-होते एक चेतन-पदार्थ की उत्पत्ति मानी जाती है तो इसमें आपकी दृष्टि में क्या दोष आता है ?

रणवीर जी – स्वामी जी ! एक तो दोष यह है कि कारण में वह चेतनत्व धर्म नहीं है और कार्य में देखा जा रहा है। तो **कारणभावात् कार्यभावः** ॥ वैशेषिक ४/१/३। जो कारण में होता है वही कार्य में आता है; ऐसा न होने से सिद्धान्त में दोष आता है। क्योंकि यहाँ पर कारण में चेतनत्व नहीं है और कार्य में चेतनत्व आ गया।

स्वामी जी – आपने सुनी होगी, वर्मा जी अपने व्याख्यान में एक बात कही थी, जिस पर प्रश्न उठा था कि वैज्ञानिक इस रूप में चलते हैं जैसे दो वस्तुओं के सम्मिश्रण से एक नया पदार्थ उत्पन्न होता है और वह गुण जो नए पदार्थ में आया वह दोनों में से किसी में भी नहीं था। यह प्रसंग आया था कि नहीं ?

साधक १ – प्रसंग आया था परन्तु उनका कथन था कि यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि नये पदार्थ में आया गुण किसी न किसी रूप में दोनों में या एक में होता अवश्य है।

स्वामी जी – इन्होंने तो यहाँ कुछ सुना-सुनाया, पढ़ा-पढ़ाया है जिससे इस स्थिति में इनको आना पड़ा पर अन्य भौतिक वैज्ञानिक ऐसा नहीं मानते हैं। वे कहते हैं आक्सीजन व हाईड्रोजन गैस को मिलाकर बिजली का संचार करने से जल बन जाता है, परन्तु दोनों गैसों में प्रथम किसी में भी जल नहीं था। मिलने से उत्पन्न हो गया।

साधक १ – शब्दावली या भाषा का भेद है। अर्थात् वहाँ कारण रूप में कार्य विद्यमान है।

स्वामी जी – ये तो हमारी संगति के प्रभाव से ऐसा कहते हैं परन्तु अन्य वैज्ञानिक ऐसा नहीं कहते। जैसे कि उनकी तत्त्व की परिभाषा है –

जिसमें दूसरी चीज न हो। उससे अतिरिक्त कुछ भी न हो, उसको ये तत्त्व कहते हैं। कोई गम्भीरता से विचार करता हो तो भले ही मान लेता हो या उसे मानना पड़ता हो परन्तु ये तो उन्होंने स्पष्ट कहा था कि शरीरादि से भिन्न कोई चेतन तत्त्व वैज्ञानिक नहीं मानते हैं। तो इससे क्या सिद्ध हुआ जो चेतनता पाँच भूतों में नहीं थी आज वह उत्पन्न हो गई। तो इन्होंने मान तो ली पहले नहीं थी सम्मिश्रण से हम चेतन बन गए। यह सिद्ध हो गया।

तो आपके सामने आनेवाली उलझन या आपको प्रभावित करने वाला विज्ञान बाधा के रूप में आएगा और आप अत्यन्त सुसज्जित होकर इन सिद्धान्तों को यदि नहीं जानेंगे तो संशय उत्पन्न हो जाएगा। जब वे ये मानते हैं कि शरीर से अतिरिक्त कोई चेतन पदार्थ जीवात्मा नहीं है तो यह बात उनकी दृष्टि से सिद्ध हो गई कि जड़ वस्तुओं से चेतन तत्त्व उत्पन्न होता है। हमने विज्ञान के एक विद्यार्थी बड़ी अवस्था के थे जो अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हुए थे। पुनः देखने हेतु गुरुकुल में आए थे तो उनसे बातचीत हुई थी। उस काल में उनके ८०–८५ तत्त्व थे। तो उनसे बातचीत होने लगी कि आप तत्त्वों की यह परिभाषा करते हैं कि एक ईकाई हो जिसमें दूसरा तत्त्व मिला हुआ न हो। और जैसा विधि विधान है हाईड्रोजन व आक्सीजन के योग में विद्युत् संचार से जल बन जाता है। तो मैंने पूछा वह जल हाईड्रोजन में था या आक्सीजन में था? उन्होंने कहा – किसी में भी नहीं था। मैंने कहा आया कहाँ से। उन्होंने कहा – पता नहीं कहाँ से आया ?

अब इसी बात को लेकर न्यायकार, वैशेषिककार, सांख्यकार ने बड़ा बल लगाया कि यह जो जीवात्मा है यह पूरे जड़ वर्ग से पृथक् तत्त्व है। बड़े परिश्रम से इसको सिद्ध किया। यदि ऐसा कुछ नहीं होता, जीवात्मा इनसे भिन्न तत्त्व न हो तो धर्माधर्म, पाप-पुण्य, बन्ध-मोक्ष कुछ भी नहीं, जैसे वैज्ञानिक विचारते हैं, खाते-पीते हैं, रहते हैं, धर्माधर्मादि का मानना कुछ भी नहीं होता; हम भी वैसे रहते वही करने लग जाते।

अच्छा अब एक अन्य बात आई, यदि भौतिक वैज्ञानिकों के साथ आप का संवाद होने लगा तो आप ऐसा कुछ सिद्ध कर सकेंगे कि आत्मा भौतिक पदार्थों के सम्मिश्रण से नहीं बना। बताइए– कोई न कोई शैली तो अपनाएँगे–

साधक १ – उनके साथ हम इस प्रकार वार्तालाप आरम्भ कर सकते हैं– आपकी मान्यता में चेतन-वस्तु स्वीकार नहीं की जाती है, केवल जड़-वस्तु स्वीकार की जाती है तो जो जड़-वर्ग है या इस प्रकार के पदार्थ हैं

उनमें चेतन की उत्पत्ति आप किस प्रकार से मानते हैं ? क्योंकि यहाँ वर्तमान में देखा जाता है कि हम किसी भी स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ का निर्माण करते हैं तो यन्त्रादि के रूप में किसी में भी चेतना की उत्पत्ति नहीं होती है ?

स्वामी जी – हाँ तो एक वर्ग ऐसा है जिनमें ये भौतिक वस्तुएँ बनाई जाती हैं वहाँ कम्प्यूटर भी क्यों न हो । वह जो पाँच तत्त्व भौतिक पदार्थ हैं जिनसे पदार्थ बनाए जाते हैं तो उनमें तो कोई चेतनता दिखती नहीं है। ये जो आजकल कहते हैं कृत्रिम मानव बनाते हैं उसको कैसे हटाएँगे आप?

साधक १ – उसे रोबोट कहते हैं । उनमें एक प्रक्रिया होती है, जैसा उसको आदेश दिया जाता है पुनः वैसा काम करता है । उसको सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती है । वह कुछ जानता भी नहीं है । ये जो आत्मा के लक्षण हैं ज्ञानादि करना, इनमें से एक भी नहीं होता ।

स्वामी जी – अच्छा आजकल कहते हैं शरीर का एक भाग लेकर जीवात्मा बना के खड़ा कर देते हैं; वह क्या है ?

साधक १ – उसे क्लोनिंग कहते हैं । वहाँ वस्तुतः जीवात्मा अभी तक बनी नहीं है सामने आई नहीं है । वैसे शरीर तो बनाया गया है पर वहाँ जीवात्मा ईश्वर प्रेषित आत्मा ही है क्योंकि इसी आत्मा जैसा है। इसलिए शरीरमात्र बनाते हैं यही कहा जाएगा ।

स्वामी जी – कहते हैं शरीर से कुछ भाग लेकर दूसरा शरीर बना देते हैं?

साधक १ – जैसे लताओं या गन्ने आदि से कुछ भाग काटकर अन्यत्र बो देते हैं पुनः उससे दूसरी लता बन जाती है, गन्ने उग आते हैं; बस वैसा ही है । ऐसे ही एक शरीर से दूसरा शरीर बना, पर यह नवीन चेतन का निर्माण तो नहीं कहा जाएगा ।

स्वामी जी – हम जैसा कि कहते हैं माता-पिता के अंग से हमारा शरीर बनता है पर वहाँ जीवात्मा बाहर से आती है । तो इस नियम से ठीक नहीं लग रहा है शरीर से कुछ भाग लेकर शरीर बनाकर चेतन का निर्माण कर देते हैं, वस्तुतः ऐसा नहीं है । जड़ों के निर्माण में जो चेतना होती है वह अलग से जीव-सम्बन्ध से होती है । जैसे अन्नों के भंडार में या पसीने में जीव-जन्तु उत्पन्न होकर खाते-पीते देखे जाते हैं । अच्छा यह भी तो है कि जो वे अन्य यन्त्र बनाते हैं वे स्वयं तो चलते-फिरते नहीं देखे जाते । जैसे भूमि आदि से उत्पन्न कीट, चींटी आदि में अनुकूल प्रतिकूल स्थिति

के अनुसार क्रिया देखी जाती है, ऐसी क्रिया यन्त्रों में तो स्वयमेव नहीं देखी जाती; इसका क्या समाधान करते हैं ?

साधक १ – इसका उनके पास कोई समाधान नहीं होगा क्योंकि उनके जितने भी निर्मित यंत्र हैं सबके सब किसी न किसी प्रकार से मानव प्रेरित होते हैं स्वयं कुछ भी नहीं कर पाते हैं । अतः कोई अपवाद नहीं है ।

स्वामी जी – अच्छा ! जैसे हम कहते हैं मैं हूँ, मैं जानता हूँ, मैं विचारता हूँ, मेरा ज्ञान ठीक नहीं है, इस विषय में मेरा संशय है, मैं अगले कार्यों को आज से सोचकर योजनाबद्ध उनको सिद्ध करूँगा, मैंने भूतकाल में ऐसे-ऐसे कार्यों का निर्माण किया था, उनमें वे-वे भूलें हो गई थीं, या मैंने अच्छे-अच्छे कार्य किये थे । क्या ये अनुभूतियाँ उनके यन्त्रों में होती हैं ?

साधक १ – कोई त्रुटि हो तो संकेत होता है परन्तु यह व्यवस्था मनुष्य कृत होती है ।

स्वामी जी – अच्छा आप अपना बताओ ! आपको यह नहीं दिखता कि ये जो हम बोल रहे हैं, अनुभूति कर रहे हैं, हम पृथ्वी जलादि के जो परमाणु हैं हम उन्हीं का ढेर बनकर बोल रहे हैं । कोई अलग चीज दिखाई देती हो ऐसा तो नहीं है ? आप क्या अनुभव करते हैं –

साधक १ – भिन्न-भिन्न अनुभूति होती है ।

साधक २ – ऐसी अनुभूति तो करते हैं, शरीर का धर्म देखते हैं कि इसका धर्म है यह पड़ा रहेगा, यह स्वयं कुछ नहीं कर सकता । जब हम इच्छा करते हैं तो हाथ उठता है, पैर चलते हैं । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हमारा ध्यान रास्ते पर नहीं होता है और पैर में काँटा चुभ जाता है। यदि पैर को पता होता तो कांटे की ओर उसे नहीं जाना चाहिए था । पर ऐसा तभी होता है जब हम जानते हैं कि उधर नहीं जाना चाहिए । इसका अर्थ हुआ जानना शरीर का धर्म नहीं है ।

स्वामी जी – ध्यानावस्थित हो करके जैसे हम निदिध्यासन करते हैं, वहाँ पर व्यक्ति को मनन, मन्थन करके बार-बार वह सिद्ध करना पड़ता है कि वास्तव में मैं चेतन, ज्ञानी, जीवात्मा हूँ । शरीरादि अथवा जो भौतिक २४ तत्त्व माने जाते हैं, उनमें से कोई नहीं हूँ । ऐसा निदिध्यासन किया जाता है बार-बार और जितना आपका आत्मा स्थिर होगा, मन्थन करने में बाधा नहीं पड़ेगी, स्वतन्त्रता से आप जितनी देर चाहें विचार सकते हैं । तब यह बात अच्छी तरह सिद्ध होगी कि वास्तव में मैं जीवात्मा एक पृथक् तत्त्व हूँ ।

अच्छा ये बतलाओ आप ध्यान में बैठकर शान्ति से बीच में कोई अन्य विषय न उठाकर, **सत्त्वरजस्तमसां.......** । सत्त्व, रज, तम तीन पदार्थ सृष्टि से पहले विद्यमान थे, वह प्रकृति मुझसे अलग है, मैं प्रकृति से अलग हूँ। प्रकृति से महत्तत्व बना, मैं महतत्त्व से अलग हूँ । उससे अहंकार बना, मैं अहंकार से भी अलग हूँ । ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन इनसे मैं अलग हूँ । तन्मात्रायें; इनसे मैं पृथक् हूँ, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश; इनसे मैं पृथक् हूँ । क्या एकाग्रचित्त से आप ऐसा सोच सकते हैं या नहीं ? इसमें भी आप को यह देखना है यहाँ बलात् या स्वतन्त्रता से कोई अन्य विषय तो नहीं उठ जाता है ? देखो क्या देखोगे ?

साधक १ – कोई अन्य विषय तो नहीं उठ रहा ।

स्वामी जी – हम जब निर्णय करने बैठते हैं उस अवस्था में ध्यानावस्थित होकर जिसका निर्णय करने लगते हैं वहाँ बलात् असावधानी से उससे अन्य विषय तो नहीं उठता ? अच्छा एक बार करके देखो ! आप यह विचार करेंगे मैं वस्तुतः चेतन पदार्थ, जीवात्मा हूँ । प्रकृति और प्राकृतिक जितने विकार हैं उनसे मैं पृथक् हूँ और इस निर्णय पर पहुँचो कि आपको कोई सन्देह न हो, संशय न हो । ध्यान में बैठो, विषय है आपका– मैं जीवात्मा चेतन, पाप-पुण्य करने वाला, स्वतन्त्र, जन्म-मरण से रहित, शरीर, इन्द्रिय और मन को चलाने वाला इन सबसे पृथक् हूँ। इनसे अलग विषय को नहीं उठाना । ऐसे करना है ध्यान से देखो–

अनुभूति

साधक १ – इस काल में अधिकार पूर्वक विचार किया, कोई वृत्ति नहीं उठाई। बाहर की ध्वनियाँ सुनाई दीं किन्तु उनको विषय नहीं बनाया।

साधक २ – बाहर की कोई बाधा नहीं रही । अपने से संबंधित, प्रकृति से संबंधित संसार के विनाश की प्रक्रिया करके स्वयं की अनुभूति को देखते रहा, जानता रहा, इसके साथ विचार किया कि अन्य अनुभूतियाँ आती हैं, चली जाती हैं, आती हैं चली जाती हैं पर एक अनुभूति बनी रही मैं जान रहा हूँ । यह मेरा स्वरूप है ।

स्वामी जी – अब आप यह देखेंगे । जप, उपासना, ध्यान में इसका प्रयोग कैसे होता है ? जब आप जप, ध्यान, समाधि लगाने के लिए बैठेंगे, सन्ध्या करेंगे तब ईश्वर में मन को लगाना चाहते हैं तभी भिन्न विचार उठे

हुए दिखाई देते हैं, स्मृतिवृत्ति आई दिखाई देती है, बाहर की ध्वनि जैसे सुनाई देने लगती है। यह जो स्थिति आई, आप जमाते हैं वह उखड़ जाती है । यदि आप को इस बात का पता चल गया सत्त्वादि से महत्तत्व, स्थूल पर्यन्त बने । मैं इनमें से कोई नहीं, इनसे भिन्न चेतन पदार्थ हूँ । पुनः जो लग रहा है ये जो मन भागता सा दिखाई देता है, मैं कुछ करना चाहता हूँ वह कुछ करता दिखाई देता है ऐसा क्यों ? तो वह जानेगा कि वास्तव में यह अज्ञानता, असावधानी, कुसंस्कारों के कारण मैंने ऐसा मान लिया है । मन जा रहा है, बुद्धि कुछ कर रही है, इन्द्रियाँ मेरी स्थिति को नहीं बनने देतीं; यह जो स्थिति है ठीक हो जाती है और ध्यान जब उखड़ता है तो तत्काल इस स्थिति में आ जाता है, बोलता है "मैं चेतन जीवात्मा, अणु एकदेशी हूँ, मैं ही सारा व्यापार करता हूँ, मैं ही सोचता हूँ भूत, भविष्य, वर्तमान की बातों को मैं ही जानता, विचारता हूँ, और कौन है इन जड़ पदार्थों में से जो मेरा मन न लगने दे ? अब तो मैं ईश्वर की उपासना करूँगा । दूसरा तो मुझे बाधित करने वाला है नहीं ।" तो आप वृत्तियों का निरोध करने में समर्थ हो जाएँगे ।

आप अपना स्तर और संसार में ध्यान, सन्ध्या करने वाले लोगों के स्तर का अध्ययन करेंगे तो पता चलेगा कि इस स्थिति में कोई विरला व्यक्ति मिलेगा, जिसने बहुत परिश्रम किया हो और वैदिक रीति से । जो अभी हमने वर्णन किया कि जीवात्मा अपने को इन सभी तत्त्वों से अलग देखता है, समझता है और अधिकार पूर्वक ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना करता है। तो आपको तो कितनी सरलता हो गई ? दूसरे दुनिया भर के लोग एक बार खड़े होंगे तो छः विचार आ जाएँगे थोड़ी देर में । क्या समझ में आया दोहरा लो ?

साधक १ – जो व्यक्ति यह समझता है मैं शरीरादि से पृथक् हूँ उसको तो उपासना करने में सरलता हो जाती है जो इसको नहीं समझता?

स्वामी जी – वह कहता है मन चला गया, स्मृति आ गई । बाहर की आवाज सुनाई देती है वह बाधित करती है । तो उसको ये भ्रान्तियाँ लगी रहती हैं, विचार स्वयं उठते हैं, स्मृतियाँ स्वयं आ जाती हैं । कितने ही विविध प्रकार के विचार देखता है पुनः सोचता है क्या करूँ ? मन तो मान नहीं रहा, लगता नहीं पुनरपि सन्ध्यापाठ तो करना ही है । पुनः क्या करता है फटाफट धारावाहिक बोलना आरम्भ कर देता है – ओं भूर्भुवः स्वः..।

भाई कहीं कोई छिद्र मत छोड़ो विचार कहाँ से आ जाएगा? नहीं समझे मेरी बात। घण्टे में लाख जप कर दो एकाग्रता हो जाएगी, उन्होंने यह बात मान ली! इतने जल्दी-जल्दी पाठ करते हैं और माला फेरते रहते हैं, मनका चलता रहता है पुनः कहते हैं इतना जप कर लिया। अन्य पूछते हैं कितनी माला फेर ली ? तो इतनी माला फेर ली। इन बेचारों को २०—३०—५० वर्ष हो गए, मन एक मिनट नहीं रुका, बताओ क्या करोगे इन सबका? भौतिक वैज्ञानिक आकाशगंगा की खोज कर रहे हैं, ये माला के मनके गिन रहे हैं और क्या कर रहे हैं ?

इसलिए यह जो न्यायदर्शन की विचारधारा है कि पहले परीक्षा करो तब मानो, पुनः उसको व्यवहार का रूप दो। इस प्रकार बुद्धिपूर्वक प्रयोग से उन्नति हो जाएगी अन्यथा ऐसा नहीं करेंगे तो सन्ध्या में, जप-ध्यान-समाधि में कुछ भी उन्नति नहीं होगी। आर्यसमाज में तो फिर भी दर्शनों के ऊपर विचार करते हैं, कुछ परीक्षा करते हैं, जीवात्मा को पृथक् मानते हैं, कुछ कर लेते हैं, दूसरे मत वाले तो कुछ नहीं करते इस विषय में, कुछ भी नहीं जानते हैं। इन पौराणिक विद्वानों की टीकायें पढ़ो जो दर्शनों के टीकाकार व्यांख्याकार हैं, वे भी जीवात्मा को ईश्वर की भाँति व्यापक मानते हैं। क्या समझ में आया? जैसे ईश्वर व्यापक है वैसे जीवात्मा व्यापक है। तो बिना पूर्व निरीक्षण-परीक्षण के ये विशेष तत्त्व निर्धारित नहीं होते और निर्धारण किये बिना कोई व्यक्ति मन जैसी चीज को पकड़ ले, अधिकार पूर्वक चाहे जितनी देर बैठे यह स्वतन्त्रता आ ही नहीं सकती।

जीवात्मा के संबंध में, जो लोग जीवात्मा को चेतन मानते हैं, उनमें से कुछ लोग तो यह मानते हैं कि हमारे शरीर की जो लम्बाई-चौड़ाई है, जीवात्मा का उतना परिमाण है। कुछ लोग यह मानते हैं जितना परिमाण ईश्वर का है, जीवात्मा का भी उतना ही है। और तीसरे पक्ष वाले अणु परिमाण मानते हैं। आपको कौन सा पक्ष ठीक लगता है ?

साधक १ — तृतीय ।

स्वामी जी — यदि जीवात्मा को सर्वव्यापक मान लिया जाए तो क्या दोष आता है ?

साधक १ — सर्वज्ञ होना चाहिए जीवात्मा को ।

साधक २ — ईश्वर जैसे सर्वव्यापक है तो सब कुछ जान लेता है यदि हम भी वैसे होते तो सभी पदार्थों का ज्ञान कर लेते, लेकिन हमें ऐसी अनुभूति नहीं होती है ।

स्वामी जी – पौराणिक विद्वानों के भाष्य हम जहाँ तक पढ़ते या देखते हैं, पौराणिक विद्वान् प्रायः जो-जो उनके टीकाकार हैं, सबको तो नहीं कहते, प्रायः जीवात्मा को ईश्वर की भाँति सर्वव्यापक मानते हैं । एक संन्यासी थे, उनसे बातचीत हुई कि आप इस सम्बन्ध में क्या मानते हैं तो उन्होंने यही बात कही थी कि जैसे ईश्वर व्यापक है वैसे जीवात्मा भी व्यापक है । तो कुछ वे दोनों पक्षों पौराणिक और आर्य सामाजिक को मिला जुलाकर चलने वाले थे । हमने जब यह कहा **स्वामी दयानन्द सरस्वती जी** ने तो एकदेशी माना है तो उन्होंने कहा मैं इसमें सहमत नहीं हूँ । अच्छा ! पुनः वह सर्वज्ञ क्यों नहीं होता ? इसका समाधान वे ये करते हैं कि हम जीवात्मा को सर्वव्यापक मान लेंगे और पुनः क्या करेंगे, मन के बिना वह ज्ञान नहीं कर सकता, जहाँ मन है वहाँ से सम्बद्ध होके कुछ काम कर सकता है। अतः मन के एकदेशी होने से सर्वज्ञ नहीं होता। परन्तु पुनः बात आएगी कि सर्वव्यापक हो और ईश्वर की भाँति सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् न हो, ईश्वर की भाँति बिना इन्द्रियाँ के काम न करे ऐसा क्यों; तो यह प्रश्न (आपत्ति) उनके पक्ष में रहता है और जीवात्मा सर्वव्यापक है तो एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में जाना-आना नहीं बनेगा। आपने व्यापक मानने के विषय में **सत्यार्थ प्रकाश** में क्या पढ़ा, कुछ स्मरण है, नहीं है ? सिद्धान्त के विषय में क्या लिखा है, आप उस-उस प्रकरण को ग्रन्थों में ध्यान से नहीं पढ़ते, याद नहीं करते हैं ! हाँ जी बताओ कहाँ लिखा है ?

साधक १ – स्थल आवश्यक नहीं समझा याद नहीं किया, वैसे अणु मानते हैं इतना ध्यान है ।

स्वामी जी – आप मानते रहो अणु । कोई कहे सर्वव्यापक का खण्डन किया है उन्होंने या नहीं किया है ? क्या कहेंगे आप ?

साधक १ – वेद के अन्दर जीवात्मा को अणु माना गया है, वेद प्रमाण है, इसमें।

स्वामी जी – अच्छा वेद का कौन सा मन्त्र आप बताएँगे ?

साधक १ – व्यसश्च अव्यसश्च..... ॥ अथर्व० १८/६८/१। ऐसा पाठ है और भी मन्त्र मिल जाएँगे। तर्क प्रमाण से एकदेशी सिद्ध होता है और यदि सर्वव्यापक है तो सबके मन की बात जान सकता है ?

स्वामी जी – वे तो कहेंगे मन के बिना नहीं जान सकता है ?

साधक १ – मन क्या चीज होगी ?

स्वामी जी – मन जीवात्मा का उपकरण है, जीवात्मा के साथ धर्माधर्म रहते हैं उनके शरीर में वहाँ रहने से सबको नहीं जान सकता ।

साधक १ – और व्यापक का देशान्तर गमन संभव नहीं ?

स्वामी जी – वह तो जीवात्मा एक शरीर को जब छोड़ देता है, मर जाता है, और वहाँ का जीवात्मा जो है, उसके साथ धर्माधर्म आके सम्बद्ध हो जाते हैं । क्यों जी क्या समझ में आया !

साधक १ – बुद्धिपूर्वक सिद्धान्त नहीं है ।

स्वामी जी – क्या लिखा है मिल गया ? जीव शरीर में भिन्न विभु है वा परिछिन्न ? क्या अर्थ करोगे इसका अर्थ तो करना पड़ेगा ?

साधक १ – आगे जैसा समाधान किया उससे लगता है जीव शरीर में भिन्न अर्थात् ईश्वर से भिन्न है या नहीं ।

स्वामी जी – ईश्वर से क्या मतलब ? यह अर्थ तो नहीं बैठ रहा है ईश्वर से सम्बन्ध कैसे करोगे ? नहीं जुड़ेगा । पंक्ति तो सीधी-साधी दिखती और अर्थ भिन्न-भिन्न चल रहे हैं । सुनो –

जीव शरीर में भिन्न विभु है या परिछिन्न ? जीव शरीर में है, वह शरीर से भिन्न सर्वव्यापक है या एकदेशी है ! क्या समझ में आया ? भिन्न शब्द शरीर से पृथक् करेगा ।

साधक १ – भिन्न शब्द विभु का विशेषण नहीं लग रहा है ।

स्वामी जी – एक अर्थ यह भी हो सकता है – शरीर में जीवात्मा भिन्न शरीर में व्यापक है या एकदेशी है ? दूसरा – जीवात्मा शरीर से भिन्न है और ईश्वर की भाँति व्यापक है या एकदेशी कौन सा अर्थ ठीक बैठ रहा है ? मेरी समझ में यह आ रहा है – जीवात्मा शरीर में होता हुआ शरीर से भिन्न है और भिन्न होता हुआ ईश्वर की भाँति सर्वव्यापक है या एकदेशी है ? यह अर्थ अधिक ठीक लगता है ।

अच्छा! अगले शब्द को पढ़ो । परिछिन्न अर्थात् शरीर में एकदेशी। यहाँ पर लेखक का अभिप्राय है शरीरान्तर में आना-जाना आदि नहीं हो सकता, यदि ईश्वर के समान व्यापक होता तो ।

जैन मत के लोग शरीर का जितना परिमाण है उतने पूरे में जीवात्मा को व्यापक मानते हैं । पौराणिक विद्वान् प्रायः जीवात्मा को ईश्वर की भाँति

व्यापक मानते हैं। अब आपको यह पता चला कि जीवात्मा को ईश्वरवत् व्यापक मानना संगत नहीं लग रहा है, पुनरपि हजारों लोग यही मानते हैं। आप कभी ध्यान में बैठकर देखो; मैं ईश्वरवत् व्यापक हूँ या नहीं ? अपने से पूछ लो कि मैं ईश्वर की तरह सर्वव्यापक हूँ या उससे भिन्न एकदेशी हूँ ?

साधक १ – इस वाक्य को पढ़ करके शंका नहीं होती है। जीवात्मा का जो लक्षण बताया, उससे तो सर्वव्यापक हो ही नहीं सकता।

स्वामी जी – नहीं नहीं ! यह तो शब्दप्रमाण या युक्ति की बात हुई न! आप की अनुभूति क्या कहती है ?

साधक २ – दोनों पक्षों में विभु या परिछिन्न मानने में कोई अन्तर पता नहीं चलता है, विरोध भी नहीं दिखता है।

स्वामी जी – अन्तर तो पड़ना चाहिए, क्यों नहीं पड़ता बताओ ?

साधक २ – जिस पक्ष में हम सर्वव्यापक मानते हैं उस पक्ष में यह भी मानते हैं कि वह चित्तादि से कार्य लेता है। चित्त एकदेशी साधन है अतः एकदेशी साधन वाला होने से सर्वज्ञ हो नहीं सकता भले ही सर्वव्यापक होवे। दूसरे पक्ष में स्वयं स्वभाव से ही अल्पज्ञ हो सर्वज्ञ नहीं हो।

स्वामी जी – सर्वज्ञता के लिए सर्वव्यापक होना आवश्यक है अतः अपने को सर्वज्ञ अनुभव करना चाहें तो देखें कि मैं सब जगह व्यापक हूँ या एक जगह रहता हूँ, तो क्या अनुभव होगा ?

साधक २ – सर्वज्ञता की अनुभूति हो नहीं पाएगी।

साधक १ – अनुभव एकदेशी होना चाहिए।

स्वामी जी – कहीं हमारी भ्रान्ति तो नहीं है ?

साधक १ – सर्वत्र वेदादि में कहा है, ऋषियों ने प्रत्यक्ष करके लिखा है, इसलिए भ्रान्ति नहीं हो सकती।

स्वामी जी – तो आत्मा का अनुभव जब होने लग जाय, आत्मा को अच्छे प्रकार से जान लिया जाय तो यह संशय–भ्रान्ति नहीं होती कि मैं सर्वव्यापक हूँ या एकदेशी हूँ। यदि व्यक्ति को आत्मा का ज्ञान न हो तो यह संशय–भ्रान्ति हो सकती है।

अच्छा दूसरी बात – अद्वैतवादी लोग कहते हैं जो जीवात्मा है वह ब्रह्म से कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है। उनका प्रचार–प्रसार, व्याख्यान, ग्रन्थ प्रकाशनादि सब कुछ इसी को लेकर चलता है।

जो जीव को ब्रह्म मान लेते हैं, उनको तो योगाभ्यास की अपेक्षा नहीं पड़ती होगी ? क्यों जी ?

साधक ४ – नहीं पड़नी चाहिए ।

साधक १ – करते हैं वे भी ।

स्वामी जी – क्यों करते हैं ?

साधक १ – मान रखा है वस्तुतः है तो नहीं !

स्वामी जी – हो सकता है अन्तःकरण मलिन हो गया हो, उस पर आवरण आ गया हो, उस आवरण को हटाने के लिए योगाभ्यास करते हों वे ! आवरण दूर हो गया तो **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या** दीखने लग जाता होगा?

साधक २ – होने के बाद योगाभ्यास नहीं करते हैं ।

स्वामी जी – ब्रह्म मानने लग जाते हैं पुनः योगाभ्यास नहीं करते हैं। अच्छा उनके मत में चोरी, डाका, मांस खाना आदि कोई पाप नहीं बनता क्योंकि ब्रह्म ही है, ब्रह्म ही सब कुछ कर रहा है, ब्रह्म ही ब्रह्म को खा रहा है । चाहे कल्पना कर लो मांस, शराब है क्या ? वह जो लेख निकला है न स्वामी विवेकानन्द के विषय में –

साधक १ – गोमांस खाते थे ।

स्वामी जी – जो भी हो खाते थे न ?

साधक १ – मांस भक्षण के पक्षपाती थे ।

स्वामी जी – हाँ ।

एक समय था जिसमें जैनी राजा थे सुधन्वा, उस काल में उन्हीं जैनियों का प्रचार-प्रसार भी होता था । आश्रम वर्ण व्यवस्था जो कुछ भी है, इसको उखाड़ने में वे सभी लगे हुए थे, ईश्वर को नहीं मानते थे। कुमारिल भट्ट ने क्या किया, पता है ?

साधक १ – वे तो वैदिक मत को मानने वाले थे ।

स्वामी जी – कुमारिल भट्ट ने जब देखा कि ये तो सतत वेदों का विरोध, ईश्वर का विरोध करते चले जा रहे हैं और देखता रहूँ ? मैं वैदिक धर्म को मानने वाला हूँ या और कुछ ? तो अब क्या किया जाय? तो जैसी हम कथा सुनते हैं । कुमारिलभट्ट ने जैनियों के विद्यालय में प्रवेश किया उस विद्यालय का नाम नहीं याद आ रहा है (साधक-तक्षशिला।) और एक

योजना बनाई कि उनके ग्रन्थों का अध्ययन करके, उनका विद्वान् बनके उनसे शास्त्रार्थ करके उन सब की धज्जी उड़ाऊँगा। जैसा कि हम सुनते हैं कुमारिल भट्ट ने यह कहके उनके विद्यालय में प्रवेश नहीं लिया था कि "मैं वेद को मानता हूँ"। क्या वाक्य पढ़ा था याद नहीं परन्तु उन्होंने झूठ बोला था। उस विद्यालय का कुछ नियम रहा होगा कि यहाँ कौन पढ़ सकता है तो इनके प्रतिकूल होगा अतः उस प्रकार से प्रवेश लिया ।

बताया जाता है पढ़ते-पढ़ते जब अच्छी योग्यता बन गई । स्नातक बनकर निकलने लगे तब दीक्षान्त भाषण के समय उनके गुरुजी कहने लगे (भाव बताता हूँ)— वैदिक परम्परा को उखाड़कर फेंक देना है यह काम है आप सब स्नातकों का। बताते हैं कुमारिल यह सुनकर रो पड़ा । पुनः गुरुजी ने पूछा क्या बात है? उन्होंने कहा— आपने जो बात कही कि वैदिक परम्परा को उखाड़कर फेंक दो यह बात मुझे बड़ी बुरी लगी । तो गुरुजी ने कहा तो क्या शास्त्रार्थ करना चाहते हो ? सुना जाता है आगे शास्त्रार्थ करके गुरुजी को परास्त कर दिया। परन्तु उन्होंने पहले जो झूठ बोलकर प्रवेश लिया, पढ़ा; इसका प्रायश्चित्त करने के लिए अन्ततः आग में जलने का निश्चय कर लिया । उसी समय शंकराचार्य भी उनसे मिले, रोका भी, कहा दोनों मिलकर प्रचार करेंगे तब भी उन्होंने नहीं माना और कहा कि मैंने झूठ बोलकर पाप किया अतः उसका प्रायश्चित्त करूँगा ।

उसके पश्चात् शंकराचार्य ने अकेले योजना बनाई । सुधन्वा राजा से कहा आप जैन विद्वानों के साथ मेरा शास्त्रार्थ कराएँ । राजा ने ऐसा ही किया। पुनः शंकराचार्य ने जैनियों को हरा दिया । उसके पश्चात् पुनः इनके मत का प्रचार-प्रसार आरम्भ हो गया। इसी क्रम में उन्होंने (हिमालय में जोशीमठ, दक्षिण में शृंगेरीमठ, द्वारका में शारदामठ और पुरी में गोवर्धनमठ इन) चार मठों की स्थापना की। प्रचार करते-करते आगे बात बढ़ी। जैसा स्वामी जी ने लिखा है, इनके प्रचार से जैनियों का निष्प्रभाव हो गया, बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ गाड़ दी गईं और इधर इनके लोग ठाठ से रहने लगे। जैसा कि स्वामी दयानन्द ने संकेत दिया है एक बात तो अच्छी दिखती है नास्तिकों को उखाड़ दिया। पर उन्होंने इनके विषय में यह कहा कि— तुम भी पाँचवें नास्तिक हो ।

चलो जब हमें जीवात्मा के विषय में सन्देह हो, दूसरों से संवाद करना पड़े या पौराणिकों से बात करेंगे तो यह ध्यान रखना है कि यह वेद भाष्य सायण ने किया है । सायणाचार्य ने जीवात्मा को व्याप्य और ईश्वर को व्यापक

लिखा है। इस हेतु से पौराणिकों को भी यह मानना चाहिए, उनके उच्चस्तरीय विद्वान् का कथन होने से। उनके लिये इतना पर्याप्त है।

हाँ जी आप बताएँगे जड़ और चेतन में अन्तर क्या है ?

साधक १ – चेतन पदार्थ ज्ञानवान् होते हैं, वे इच्छा से युक्त होते हैं, वे कुछ प्रयत्न भी करते हैं, कुछ सुख-दुःख की अनुभूति भी करते हैं। जड़ पदार्थ में ऐसा कुछ नहीं होता है।

साधक २ – चेतन पदार्थों में प्रतिकूल स्थिति होने पर स्वाभाविक रूप में द्वेष होता है, जड़ पदार्थों में ऐसा नहीं होता है। चेतन पदार्थ निराकार होते हैं किन्तु जड़ पदार्थ साकार होते हैं।

साधक ३ – चेतन पदार्थों के लिए जितनी भी जड़ वस्तुएँ हैं वे भोग के लिए, प्रयोग के लिए, काम के लिए हैं।

स्वामी जी – पुनः बोलें ! थोड़ा कम समझ में आया ?

साधक ३ – जितने भी जड़ पदार्थ हैं वे सब चेतन पदार्थों के काम के लिए विद्यमान हैं।

स्वामी जी – और

साधक ३ – इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञानादि।

स्वामी जी – और एक बात जोड़ दो इसमें – वे चेतन पदार्थों के प्रयोग के लिए हैं परन्तु चेतन पदार्थ जड़ों के प्रयोग के लिए नहीं हैं यह अन्तर है। कहो क्या कहोगे। अब पूरा हो गया।

साधक १ – एक शंका यहाँ आएगी। चेतन तो ईश्वर भी है परन्तु संसार उसके किस काम के लिए है ?

स्वामी जी – नहीं नहीं ! मैं बताता हूँ। उपादान कारण के बिना ईश्वर एक तिनका भी नहीं बना सकता। क्यों नहीं है उसके काम का?

साधक १ – परन्तु ईश्वर को अपने लिए अपेक्षित नहीं है संसार।

स्वामी जी – किन्तु-परन्तु यहाँ नहीं लगेगा। प्रकरण को अब मत बदलो। जो प्रतिज्ञा की है वही रखो। ईश्वर यह चाहता है कि जीवों को लौकिक-सुख और मोक्ष-सुख मिले तो बिना जड़ के यह सुख दे ही नहीं सकता। उपादान कारण के बिना सृष्टि की रचना कर ही नहीं सकता। थोड़ी देर के लिए चलो, उपादान कारण को हटा दो, पुनः कैसे बन जाएगी सृष्टि ?

साधक १ — ईश्वर तो जीवों के प्रयोजन के लिए संसार बनाता है। उसका अपना कोई प्रयोजन तो है नहीं, **न कुतश्चनोनः।**

स्वामी जी — प्रयोजन तो इससे भी सिद्ध हुआ न ! जीवों को जो सुख देना चाहता है, यह प्रयोजन तो ईश्वर का भी है न ! यदि ऐसा न होता, उपादान कारण न होता तो न्याय-व्यवस्था को लेकर चलें तो बिना इसके सुख-दुःखमय सृष्टि रचना नहीं कर सकता ।

स्वामी दयानन्द जी ने संकेत दिया, भाई ! सृष्टि बनाने का प्रयोजन है। इस विषय में बहुत बातें कहीं। जैसे ईश्वर में जो अनन्त ज्ञान है, आनन्द है, यदि सृष्टि न बनाए तो निष्प्रयोजन हो जाएगा। ईश्वर को छोड़कर किसी अन्य के काम आ नहीं सकेगा। हाँ एक भेद यह मिल गया जड़-पदार्थ चेतन-पदार्थ के प्रयोग के लिए है, पर चेतन-पदार्थ जड़-पदार्थ के प्रयोग के लिए नहीं है। यह एक भाग हमारे सामने आया ।

दूसरा भाग यह आया कि चेतन-पदार्थ ज्ञानवान् हैं, उनमें इच्छा है, उनमें बुद्धिपूर्वक उद्देश्य=लक्ष्य को लेकर कोई कार्य करने का गुण है, प्रयोजन को लेकर उनकी प्रवृत्ति होती है। जड़-पदार्थ की सप्रयोजन प्रवृत्ति नहीं होती, हो ही नहीं सकती। आगे बढ़ो और देखो कि जड़-पदार्थ तो किसी कार्य का उपादान कारण बन सकते हैं, परन्तु चेतन-पदार्थ किसी कार्य का उपादान कारण नहीं बन सकते। क्या समझ में आया? दोहराओ ।

साधक गण — जड़-पदार्थ किसी कार्य का उपादान कारण बन सकते हैं, चेतन-पदार्थ किसी कार्य का उपादान कारण नहीं बन सकते ।

स्वामी जी — जो लोग यह मानते चले आए हैं कि ईश्वर सृष्टि का अभिन्न निमित्त-उपादान कारण है। उनके मतानुसार ईश्वर से अतिरिक्त कुछ मत मानो तब तो ये दीवारें ईश्वर से खड़ी हो ही नहीं सकतीं। क्या समझ में आया ? भ्रम हो रहा है, जैसे स्वप्न में हाथी घोड़े दिखाई देते हैं होते नहीं हैं, ऐसा ही संसार है; यह जो दृष्टान्त देते हैं वह मिथ्या है, वे टालते हैं। भाई सीधी बात क्यों नहीं करते, दीवार को झूठी कैसे कहते हो ? टक्कर मार के देखो तो ? यदि दीवार नहीं होगी, झूठी होगी तो चोट नहीं लगेगी, चोट लगी तो सच्ची होगी या नहीं ? पता नहीं इनका दिमाग कैसे काम करता है, हमें तो समझ में आता नहीं ! ये इतने पढ़े-लिखे होते हैं, संन्यासी होते हैं, ब्रह्मचारी होते हैं, लेखक होते हैं, उपदेशक होते हैं, इंगलिश में भी विदेशों में प्रचार करते हैं। पता नहीं क्या प्रचार करते है ? उनको

सही पता नहीं हम क्या प्रचार कर रहे है ? नहीं ! लट्टू हैं उनके पीछे ! वे भी लट्टू उनके अनुयायी भी लट्टू । हाथ कुछ नहीं लग रहा है । गदहे की तरह भार ढ़ो रहे हैं । तो यह बात जो उठाई गई कि ये जो पदार्थ हैं जिनमें रूप, रस, गन्धादि गुण हैं, यही ठोस, स्थूल कार्य का उपादान-कारण बन सकते हैं, चेतन किसी का उपादान-कारण नहीं बन सकता।

कुछ वैज्ञानिक जो यह कहके चलते हैं कि भाइयों ! जड़-पदार्थों के संयोग से चेतन-पदार्थ की उत्पत्ति होती है और बिखरते-बिखरते वही जड़ बन जाते हैं, यह बात भी खण्डित हो जाती है । क्या समझ में आया ?

साधक गण – जड़ पदार्थों के संयोग से चेतन पदार्थ की उत्पत्ति होती है और बिखर जाने से बिखरते-बिखरते वही जड़ बन जाते हैं, यह बात भी खण्डित हो जाती है ।

स्वामी जी – यह बात संगत नहीं है । सारी सृष्टि के जीवात्माओं को संग्रह करके एक गट्ठर बांध दो, क्या एक ईंट जितना भार हो जाएगा या एक ईंट जितनी जगह रोक लेंगे वे ?

ये जो लोग कहते हैं सृष्टि का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है साथ ही अपने ही अंश में से स्वरूप में से यह सृष्टि बना के खड़ी कर दी है और दृष्टान्त देते हैं मकड़ी का । आपने मकड़ी देखी है ? ऊपर से मकड़ी को फेंक दो तो उसको चोट लगेगी क्या ? नहीं, वह जाला बना के उतर जाती है । अच्छा वह अन्दर से जाला निकालकर फंदा बनाती है और मक्खियों, मच्छरों को पकड़ती है पुनः सूआ लगा के जैसे डा. रक्त खींचते हैं वैसे सारा रक्त चूस जाती है। उन्होंने दृष्टान्त दिया जैसे मकड़ी अपने अन्दर से जाला निकालती है और खेलती है वैसे ब्रह्म ने अपने अन्दर से जाला निकालकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश बना दिये । स्वामी दयानन्द सरस्वती जी कहते हैं तुम्हारा दृष्टान्त झूठा है । क्या कहा ? उन्होंने कहा मकड़ी ने जो जाल बनाया मच्छर पकड़ने का, उस जाले का उपादान-कारण आत्मा मकड़ी नहीं है। क्या समझ में आया ? नहीं आया ?

साधक १ – जाले का उपादानकारण मकड़ी का शरीर है ।

स्वामी जी – लोग तो इस जाल में फंसे पड़े हैं, हाँ बात सही है, दृष्टान्त तो अच्छा है । मकड़ी अपने अन्दर से जाला निकालती है और घेरा बनाती है वैसे ब्रह्म ने अपने अन्दर से जाला निकाला और सारे पृथ्वी, जलादि

बना डाले। कहते हैं हाँ बहुत अच्छा दृष्टान्त है। पुनः कहते हैं देखो ! भाइयो जैसे नदी नाले समुद्र में जाकर एक रूप हो जाते हैं, अपनी सत्ता समाप्त कर देते हैं, वैसे ही सारा संसार ब्रह्म में विलीन हो जाता है, घुल जाता है, है वास्तव में ब्रह्म ही। अपनी सत्ता इसकी कुछ नहीं ।

ध्यान देंगे समुद्र में जाकर नदी, नालों की सत्ता रहती है या नहीं? आप बोलो कैसे रहती है ?

साधक १ – रहता है उनका अलग-अलग अस्तित्व वहाँ जाकर । व्यक्ति उसको अलग करना चाहे तो कुछ हो सकता है भेद रंग-रूप आदि पूर्ववत् न आवे परन्तु उनकी सत्ता जो थी वह अलग-अलग ही मानी जाएगी ।

स्वामी जी – अच्छा ! जैसे बर्तन में एक किलो पानी ले लो और एक किलो ऊपर से और डालो तो अब उसका आकार-प्रकार बढ़ जाएगा या उतना ही रहेगा ?

साधक – बढ़ जाएगा ।

स्वामी जी – तो इससे क्या निकला, सत्ता खोई तो नहीं इसने । अतः दृष्टान्त गलत है । यदि सत्ता खोई जाती तो और डालने से पानी इतने ऊँचे क्यों चला जाता ? बस दृष्टान्त यही चलते हैं और व्याख्यान हो रहा है । अरबों रुपये की सम्पत्ति लगाई है । अन्धकार में जाने-पहुँचाने के लिए सारी दौड़-धूप लग रही है । कुछ पल्ले पड़ने वाला नहीं । जो जीवात्मा विधिपूर्वक योगाभ्यास करके, समाधि लगाके, आनन्द प्राप्ति का अधिकारी बन सकता था इन्होंने उसको चौपट कर दिया । सारा जीवन निरर्थक हो गया यह परिणाम निकला ।

जड़ और चेतन का भेद, पुनः एक बात और आई । ईश्वर भी चेतन और जीवात्मा भी चेतन है । **जीवब्रह्मैकत्वं चेतनत्वात्** । जीव और ब्रह्म एक ही हैं चेतन होने से । क्या यह ठीक है ?

साधक १ – दृष्टान्त आना चाहिए तब बात बनेगी ।

स्वामी जी –

प्रतिज्ञा – ईश्वर और जीव एक हैं ।

हेतु – समान (चेतन) होने से ।

(व्याप्ति – जो-जो पदार्थ जड़ होते हैं वे-वे एक होते हैं।)

दृष्टान्त – जैसे पृथ्वी परमाणु । या छोटा और बड़ा ढेला एक हैं।

उपनय – वैसे ही ब्रह्म व जीव हैं ।

निगमन – अतः समान चेतन होने से जीव व ब्रह्म एक हैं । इसमें क्या दोष आता है ?

साधक १ – पुनः यह भी मानना पड़ेगा कि गोबर और हलुआ एक हैं समानरूप से गीला होने से ।

स्वामी जी – अच्छा यह बताओ जीवात्माएँ चेतन हैं इनमें आपस में भेद है या नहीं ?

साधक १ – नहीं ! कोई भेद नहीं है ।

साधक २ – भेद नहीं है ।

स्वामी जी – भेद नहीं है तो सब एक हैं पुनः इतनी संख्या कैसे हुई?

साधक १ – अलग-अलग इकाई हैं, स्वभाव में भेद नहीं है ।

साधक २ – आपने भेद मान लिया नहीं तो ईश्वर में भेद नहीं, अतः ईश्वर एक है । ऐसी ही जीवात्मा होनी चाहिए ।

साधक ३ – एक पाप करता है, दुःखी रहता है दूसरा नहीं ।

स्वामी जी – पुनः भेद तो मान लिया ? और कोई स्पष्ट वाक्य बनाओ जिससे समझ में आ जाए, अभी समझने योग्य नहीं हुआ ।

साधक १ – जीवात्माओं के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है सभी एक जैसे हैं परन्तु अपनी-अपनी सत्ता से अलग-अलग हैं ।

स्वामी जी – कोई उदाहरण दो । अनुमान-प्रमाण से समझाओ ।

साधक २ – जैसे यहाँ ८–१० पंखे लगे हुए हैं । तो इनमें ये वाला पंखा और वो वाला पंखा समान है ।

स्वामी जी – समान नहीं हैं । देख लो कोई अन्तर मिलेगा । इतना मोटा ही अन्तर थोड़े ढूँढ रहे हैं, चाहे छोटा ही क्यों न हो अन्तर होगा। तोल के देख लो, आकार में देख लो अन्तर मिलेगा ।

साधक ३ – उदाहरण तो एक गुण का देखना चाहिए, सब में एक जैसा गुण है, सब में चलने का कार्य समान है । उनकी विशेषता एक जैसी है, इकाई सब की अलग-अलग है ।

स्वामी जी – नहीं । इन्होंने कहा है भेद नहीं । इसको सिद्ध करना है । नहीं भेद है इसको सिद्ध करना है ।

साधक १ – संख्या की दृष्टि से भेद है । अनेक हैं ।

स्वामी जी – हाँ तो प्रतिज्ञा बदल दी । पूर्व प्रतिज्ञा छोड़ दी । पहली प्रतिज्ञा तो यह थी कि भेद नहीं है । अब उससे सिद्ध नहीं हुआ तो प्रतिज्ञान्तर कर दिया; इसको न्याय में क्या कहते हैं ? **प्रतिज्ञान्तर-निग्रह स्थान**; उसमें आ जाएगा यह । पहली प्रतिज्ञा कही, दूसरा उसमें एक विशेषण और लगा दिया । पुनः सिद्ध करने लगा। पहला हेतु तो खण्डित हो गया, हो गया विराम । वाद समाप्त हुआ । अब वह विशेषण लगा के बोलता है तो निग्रहस्थान में आ जाता है ।★

स्वामी जी – जड़-चेतन के संबंध में, इनका विभाजन करना । जड़ का क्या स्वरूप है, चेतन का क्या स्वरूप है, इसका निर्णय करना। निर्णय

[★**सम्पादक टिप्पणी** – परस्पर जीवात्माओं में भेद है या नहीं ? इसका उत्तर इस प्रकार समझना चाहिए कि एक जीवात्मा के अन्दर जितने और जैसे गुण, कर्म हैं दूसरे जीवात्मा में भी उतने और वैसे ही गुण, कर्म हैं, कोई न्यूनाधिकता नहीं है, अतः इस दृष्टि से सभी जीवात्माएँ समान हैं, जैसे जातिरूप में सभी गौ या मनुष्यादि समान हैं । दो हाथ, दो पैर, चार पैर, गल-कम्बल आदि जैसे एक में वैसे दूसरे में ।

परन्तु व्यक्तिगत रूप में जीवात्माएँ परस्पर भिन्न-भिन्न हैं क्योंकि उनमें एक पृथक्त्व गुण पाया जाता है । जैसे दो या दो से अधिक जीवात्माओं के मध्य देश=स्थान का अन्तराल=व्यवधान मिलता है, अतः कहीं न कहीं अन्तराल वाली=दो देश में पाई जानेवाली वस्तु एक नहीं होती, सदैव अनेक होती हैं, परस्पर भिन्न होती हैं, उनमें संबंध नहीं रहता है । एकवस्तु में देश का अन्तराल नहीं पाया जाता या संबंध विच्छेद नहीं होता है । जैसे दो गिलास अलग-अलग देश में रहते हैं । दोनों के मध्य देश का व्यवाय होता है, परन्तु एक गिलास एक जगह ही रहता है। इस दृष्टि से जीवात्माओं में भेद है, सभी जीवात्माएँ भिन्न-भिन्न हैं ।

एक ही काल में कोई सुखी, कोई दुःखी देखा जाता है जबकि एक काल में एक ही व्यक्ति सुखी-दुःखी नहीं हो सकता है, सुख-दुःख में विरोध होने से । अतः एक काल में सुख-दुःख की उपलब्धि होने से आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञानादि में भी मात्रा का भेद होने से जीवात्माएँ भिन्न-सिद्ध होती हैं।]

करने के पश्चात् पुनः चेतनों में अन्तर जैसे ईश्वर और जीवात्मा में। उसके पश्चात् जड़ और चेतन के व्यवहारों का विभाजन करना ।

हमसे कोई पूछने लगे कि इन्द्रियों के संचालन में कितना भाग मन का है और कितना भाग आत्मा का है तो बताना कठिन हो जाएगा । इस हाथ को भूमि से उठाने पर अब कितनी शक्ति किसकी लगी, इसका विभाजन करना कठिन है । हाथ का बल कितना लगा, आत्मा का बल कितना लगा, शरीर का कितना लगा, मन का कितना लगा ? ऐसा घुला मिला रहता है। इसलिए एक सम्प्रदाय का मत है इनमें कोई स्वतन्त्र स्थायी एक आत्मा नहीं है । यह एक बुद्धि–मन–इन्द्रियों का संघात है । संघात इस रूप में आता है कि संघात विनाश रूप में हो जाता है । ऐसी मान्यता चली, अब भी है क्योंकि ये विषय इतने मोटे नहीं हैं कि ऐसे विभाजन कर लिया जाए। वे ऐसा भी मानते हैं कि यह जो संघात है मन-इन्द्रियादि, यह समुदाय ही काम करता है इसमें पृथक् चेतन कोई भी नहीं है । परन्तु ऋषियों ने विभाजन का प्रयास किया कि इनमें यह आत्मा है, ये मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर हैं; ऐसे विभाजन का बहुत प्रयास किया।

जो यह मानते हैं मन-इन्द्रियादि समुदाय ही काम करता है इनमें पृथक् सचेतन कोई भी नहीं है, वे यह भी मानते हैं क्षण-क्षण में यह शरीर नया-नया बनता रहता है । यद्यपि हम भी इस शरीर को सतत बनना बिगड़ना ऐसा मानते हैं पर क्षणभर में पहिला शरीर नहीं रहा, पूरा का पूरा नया बना गया; हम ऐसा नहीं मानते हैं हाँ बने हुए शरीर में वृद्धि-ह्रास सतत हो रहे हैं ऐसा मानते हैं । एक व्यक्ति अच्छे जाने-माने महात्मा बौद्ध सम्प्रदाय के प्रचारक थे। उनसे जब यह पूछा गया कि आप कहते हैं शरीर में कोई स्थायी चेतन आत्मा नहीं है तो यह बताएँ कि इस सुख-दुःख का अनुभव कौन करता है ?

प्रचारक – मन करता है ।

स्वामी जी – अच्छा मन कोई स्थायी चेतन पदार्थ है क्या?

प्रचारक – नहीं! मन स्थायी तो नहीं है ।

स्वामी जी – पुनः यह बताओ चेतन है या नहीं ।

प्रचारक – नहीं ।

स्वामी जी – कहाँ से बनकर खड़ा हुआ ?

प्रचारक – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चार के परमाणुओं से बना है।

स्वामी जी – ये तो जड़ है पुनः इनसे बने पदार्थ भी जड़ हुए तो जड़ अनुभव कैसे करेगा ?

तो बातचीत चलती रही । कई लोग होते हैं जो अपनी बात पर जोर लगाते जाते हैं; ऐसा चलता रहा उनसे पूछते गए प्रश्न । चलते-चलते यहाँ आकर रुक गए। मैंने कहा अनुभव तो चेतन करता है जड़ तो कर नहीं सकता और आप कहते हैं जड़ से बना है ? पुनः वे कहने लगे मैं इस पर विचार करूँगा । उनका ज्ञान-विज्ञान यह था।

हमने यह भी पढ़ा-पढ़ाया कि मन को ही ज्ञाता क्यों न मान लिया जाय? अथवा शरीर को ही सब कुछ क्यों न मान लिया जाय ? इन्द्रियों को ही आत्मा क्यों न मान लिया जाय ? देखो हम आँख से देखते हैं। आप क्या समझते हैं आँख से मैं देखता हूँ या आँख देखती है ? कैसा लगता है ?

साधक १ – वैसे ऐसा भी अनुभव में आता है कि मैं आँख के द्वारा देखता हूँ।

साधक २ – ध्यान देने पर लगता है मैं आँख से पृथक् हूँ और आँख के द्वारा देख रहा हूँ ।

साधक ३ – विचारने पर ऐसा लगता है ।

स्वामी जी – बिना विचारे तो एक जैसा दिखता है । दो विचारधारा एक तो आँख देखती है तो लगता है मैं देखता हूँ । होता है न ? जब ध्यान देते हैं आँख देखती है तो लगता है जैसे आँख ही चेतन हो । ये जो अपने भौतिक वैज्ञानिक बता रहे थे; उनके मत में तो कोई स्वतन्त्र आत्मा नहीं दिखता है या दिखता है ? अपने वर्मा जी सुनाया करते हैं न ! जबकि वे इतना परिश्रम करते हैं । इतनी गवेषणा करते हैं । नये-नये आविष्कार करते रहते हैं और उन लोगों ने अपने ढंग से बहुत उपलब्धियाँ कीं । परन्तु ये अब तक नहीं समझ पाए कि आत्मा अलग है, इन्द्रियाँ अलग हैं, मन अलग है । कोई समझ में नहीं आया। जब ये समझ में नहीं आए तो आत्मा अलग है, आत्मा कर्त्ता, धर्ता, भोक्ता है, भुगाने वाला ईश्वर है, अच्छे-बुरे कर्म ये हैं । ये भी कोई व्यवस्था वहाँ नहीं है । कुछ भी नहीं । मुक्ति होती है, ईश्वर एक वस्तु है, उसमें समाधि लगाई जाती है; ये सब कुछ नहीं है।

अच्छा आप बताओ जो ईश्वर और जीव दोनों चेतन माने जाते हैं तो क्या आपको ये दोनों अलग-अलग दिखाई देते हैं? ईश्वर अलग चेतन है मैं अलग चेतन हूँ ऐसा लगता है?

साधक १ – होता है ।

साधक २ – होता है । विचारने पर यह लगता है मैं शरीर के अन्दर हूँ और यहीं रहकर अनुभव करता हूँ । अन्य जो कुछ करता हूँ यहीं पर रहकर करता हूँ । पर बाहर जो कुछ कार्य हो रहे हैं उनको कौन करता है?

साधक ३ – पृथक् रूप से तो नहीं होता है । अलग अलग दोनों चेतन हैं। पर चेतना दोनों की एक जैसी ही होगी ।

स्वामी जी –हाँ । यह शब्दप्रमाण से या मन से लगता है । जैसे हम चेतना को समझने के लिए क्या देखते हैं ? मैं सोचता हूँ । मैं जानता हूँ। मैं इस विषय में नहीं जानता हूँ । इसमें मेरा ज्ञान संशयात्मक है, ऐसा । पुनः भूमि है, इससे यह काम लो । यह पानी है इससे ये काम लो । दुःख हुआ बड़ा भयंकर ताप हुआ । उससे मैं ही सन्तप्त हो रहा हूँ । इन प्रयोगों से यह पता चलता है कि मैं जानने वाला एक व्यक्ति हूँ । जानने वाली एक वस्तु हूँ । पर आगे बढ़ेंगे तो हम इतने छोटे हैं, इतने जानने पर कितने क्षेत्र में हूँ यह नहीं जान पाएँगे। एक परमाणु है झरोखे में ये जो दिखते हैं द्वयणुक हैं उससे भी छोटा है । उसका क्षेत्रफल जानना बड़ा कठिन है। पर यन्त्रों से आजकल ये लोग भौतिक पदार्थों के आकार-प्रकार को बहुत दूर तक देख लेते हैं जैसा कि उनका कहना है । परन्तु आगे चलकर इनकी सूक्ष्मता यन्त्रों से भी दिखाई नहीं देती है, अनुमान-गम्य हो जाती है । जबकि कुछ वैज्ञानिक अनुमान को कोई महत्त्व नहीं देते हैं। वर्मा जी को तो न्यायदर्शन के पढ़ने-लिखने से बहुत कुछ समझ में आया अनुमान-प्रमाण। इस क्षेत्र में इनको परोक्ष रूप में कोई वस्तु कैसी है उसका उत्तर देने में कोई परिश्रम नहीं पड़ता है । वैसे कैसी है ? जब वह यन्त्रों में आएगी, दिखाई देगी, तब वैज्ञानिक कहेंगे ये ऐसी है । अच्छा उससे पहले वाले को यह कहना नहीं चाहते, कहते नहीं, या कहने की योग्यता नहीं है कि उससे पहले वाली अवस्था कैसी है? किन्तु इन्होंने यह बतलाया कि यह जो अभिव्यक्त होती है उसको वैसे वे अनुमान से मानते हैं । यदि नहीं मानें तो वही प्रसंग खड़ा होगा अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने की बात आ जाएगी । अभी तो इन्होंने प्रोटोन, न्यूट्रोन के विषय में बताया कि अब ये यन्त्रों से दिखाई देने लगे

हैं । पहले नहीं दिखते थे । इनसे भी ऊपर की आया है उनका नाम रखा क्वार्क्स । कुछ-कुछ झलक आई थी कि उनका भी प्रत्यक्ष कर लिया है ।

अब देखो इसको और आगे तोड़ते चलो । उसको हम प्रकृति बोलते हैं। उसका नाम परमाणु भी है । यद्यपि परमाणु शब्द का अर्थ छोटी वस्तु के लिए है । वह अर्थ वैशेषिक में पृथ्वी आदि के परमाणु के लिए है। सांख्य, योग के मत में इनके भी परमाणु हैं जिन्हें तन्मात्रा कहते हैं। ये आकाश में भी परमाणु कहते हैं । अब हमें पता नहीं आकाश में परमाणु हैं या नहीं? वैज्ञानिक उनको मानते हैं कि नहीं ? पुनः आकाश परमाणु के पीछे तन्मात्रा, इनके पीछे अहंकार, इनके पीछे महत्तत्व इनके पीछे प्रकृति । अब यह बात और जानने योग्य है सांख्यकार ने यह चित्र खींचा है । क्या ? उन्होंने शब्द-प्रमाण= वेदों से लेकर बताया अथवा समाधि लगाकर इनका प्रत्यक्ष किया हो यह दूसरी बात अभी परीक्षा कोटि में है। पर इनमें घबराने की तो बात नहीं है कभी आप डर जाएँ । आप यहाँ तक पहुँच जाओ कि पृथ्वी परमाणुओं से बनी है । परमाणु भी दिखें या न दिखें, पृथ्वी का नाश हो जाता है यहाँ तक तो पहुँच जाओगे ? आगे अनुमान और शब्दप्रमाण से जान लेना तब भी समाधि में कोई बाधा नहीं पड़ेगी, मुख्य प्रयोजन सिद्ध हो जाएगा । इसलिए न्यायकार ने आगे बात ही नहीं छेड़ी । क्या समझे ? उसने कहा — १६ पदार्थ को जान लो मोक्ष हो जाएगा । आगे की उन्होंने आवश्यकता नहीं समझी।

साधक १ — न्यायकार ने यह भी कहा यदि विशेषरूप योगाभ्यास करना है तो योगदर्शन में जाओ ।

स्वामी जी — हाँ । वे यह मानते हैं कि कोई भी दर्शन चलेगा तो दूसरे का जो विशेष कथन है उसकी सहायता लेनी होगी । इसमें यम-नियम का प्रसंग आया है ये तो सभी में रहेंगे, भले ही महत्तत्व तक जाओ । उनके बिना तो समाधि होगी ही नहीं । इसको हम मना नहीं कर रहे हैं । वे तो कह रहे हैं १६ पदार्थ को जानकर यम-नियम सहित समाधि का अभ्यास करो ।

तो यह एक बात मैंने सुनाई कि सांख्य की जो महत्तत्वादि से आगे की बातें हैं इसमें कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं प्रकृति अनुमान गम्य है। दूसरा पक्ष मानता है प्रकृति में समाधि होती है । आप क्या मानते हैं—

साधक १ — प्रकृति समाधि-प्रत्यक्ष का विषय है ।

स्वामी जी – हाँ । यहाँ हमारा अभिप्राय है समाधि प्रत्यक्ष ज्ञान भले न हो, किन्तु दर्शन से क्या ज्ञात हुआ ? भले ही अनुभूति न हो शब्दप्रमाण से क्या जाना ? जैसे कि समाधि का प्रसंग आया तो उसमें कहा – **क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः** ॥ यो. द. १/४१ । वहाँ तो प्रकृति की चर्चा नहीं है । ग्रहीतृ = जीवात्मा, ग्रहण = इन्द्रियाँ, ग्राह्य = भूत । इसमें प्रकृति दिखाई नहीं देती है ? **सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्** ॥ यो. द. १/४५ । इसका क्या अर्थ लेते हैं?

साधक १ – इसमें एक अर्थ प्रकृति से पूर्व, दूसरा प्रकृति तक ।

स्वामी जी – आपका क्या पक्ष है ?

साधक २ – यदि महत्तत्व का प्रत्यक्ष होता है तो प्रकृति के प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं दिखती है, उसका भी बुद्धि से प्रत्यक्ष हो सकता है ।

स्वामी जी – इसमें एक बात और मिलेगी वह यह कि निर्मित में ही समाधि मानता है, अनिर्मित में नहीं । अवयवी में समाधि मानता है अवयव में नहीं । वह कहता है अवयवी नहीं मानोगे तो प्रत्यक्ष कहाँ होगा ऋतम्भरा बुद्धि से । पूर्वपक्षी परमाणुओं का समुदाय मात्र मानता है । व्या० भा० में और न्याय में इसका खण्डन किया है । **सेनावत् वनवत्** समुदाय के बिना कोई भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं होता ।

तो इन पदार्थों की रूपरेखा और इनका व्यक्तित्व व्यक्ति के मन में आना चाहिए। ईश्वर एक चेतन वस्तु होता हुआ ऐसा है, जीवात्मा चेतन होता हुआ ऐसा है, जड़ प्रकृति ऐसी होती हुई ऐसी है। तीनों का ज्ञान होना चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रकृति के सारे गुणों का ज्ञान होना ही चाहिए। पर एक स्थिति ऐसी बनेगी कि ईश्वर वास्तव में एक पदार्थ है और चेतन होता हुआ जीवात्मा से अलग पदार्थ है। ऐसा निश्चित जानो । जीवात्मा चेतन वस्तु है और ईश्वर से पृथक् है । प्रकृति जड़ है और दोनों से पृथक् है। यदि बुद्ध या वैज्ञानिकों के पक्ष की तरह चेतन नहीं माना जाता तो वहाँ उस पक्ष में एक आपत्ति आती है कि भोक्ता और भोग्य एक सिद्ध होता है । दोहराओ । कैसे होता है ? क्या उदाहरण बनाएँगे ?

साधक १ – जैसे काष्ठ स्वयं को स्वयं की अग्नि से जला डालता है।

स्वामी जी – उनके पक्ष में भोक्ता और भोग्य एक ही पदार्थ हैं। जैसे कि आम एक पदार्थ बन के खड़ा हुआ खाने के योग्य और हम भी बनके खड़े हुए । दोनों की सामग्री एक ही तो हुई ? या पृथक्- पृथक् है ? एक ही है। कुछ भी बनाएँगे तो दोनों की सामग्री एक ही होगी क्योंकि जिन परमाणुओं से बने हैं दोनों में एक ही हैं और हम इसको मानते नहीं हैं । हम क्या कहते हैं–

साधक १. खानेवाला बना नहीं है। खाने योग्य ही बना है ।

स्वामी जी – अच्छा ये इतना ही जानते-मानते हैं कि हम जो खानेवाले चेतन आत्माएँ हैं जो सुख-दुःख भोगते हैं वे हम भी उन्हीं परमाणुओं से बने हैं और जिसको खाते-पीते हैं वे भी उन्हीं परमाणुओं से बने हैं। तो आपको निर्वाचन करना पड़ेगा कि इनकी मान्यताएँ बहुत से क्षेत्रों में हमसे नहीं मिलती हैं । हम अलग से चेतन मानते हैं, स्वयं को चेतन मानते हैं, पाप-पुण्य भी मानते हैं; इनका पृथक् से कोई पाप-पुण्य सिद्धान्त नहीं है ।

अब और देखो ! चेतन तो अद्वैतवादियों ने भी मान लिया जब उन्होंने ईश्वर को मान लिया । पुनः चेतनान्तर जीवात्मा और जड़ प्रकृति का अभाव सिद्ध कर दिया और इसको सिद्ध करके देश-विदेश में प्रचार कर दिया । अब भी कर रहे हैं । कितने ग्रन्थ लिख डाले । शंकराचार्य जी के तीन भाष्य एक वेदान्त दर्शन पर, दूसरा उपनिषदों पर, तृतीय गीता पर । कितने बुद्धिमान् थे वे व्यक्ति, पर पता नहीं ऐसा क्यों कर गए! स्वामी दयानन्द जी ने लिखा है यदि जैनियों को हराने के लिए यह पक्ष स्वीकार किया तो कुछ अच्छा है क्योंकि बहुत से स्वार्थी विद्वान् संवाद में अपनी प्रतिज्ञा को बदल लेते हैं । किन्तु यही एक ही पक्ष था तो अच्छा नहीं । जब शंकराचार्य जी इतने बुद्धिमान् थे, सबको पराजित कर दिया, चार मठों की स्थापना कर डाली, शिष्य प्रशिष्य हजारों लाखों कहें उस मत को मानने वाले हुए और वे यह निर्वाचन नहीं कर पाए कि ईश्वर पृथक् है जीवात्मा पृथक् है तो औरों की क्या कथा ! अच्छा आपको कौन सा अच्छा लगता है अलग-अलग या एकत्व ?

साधक १ – अलग-अलग ।

स्वामी जी – आप वैदिक परम्परा में पढ़े-सुने-सीखे; यह रगड़ा लगा। इससे अलग-अलग है इसका संस्कार पड़ गया है या है ही अलग-अलग

अतः मानते हैं ! यदि ऐसे संस्कार पड़ गए आर्यसमाज के कि ईश्वर, जीव, प्रकृति तीन पदार्थ अनादि हैं। पड़ गए। बच्चों को सिखा दो। जैसे आजकल के बच्चे पढ़ते-पढ़ाते हैं उनको जैसा सिखा दिया जाता है, भौतिक वैज्ञानिकों के सिद्धान्त वैसा ही शरीर, पाप-पुण्यादि के विषय में सोचते हैं। आजकल कालेज वाले हैं कि नहीं। आपको भी ऐसा संस्कार तो नहीं पड़ गया है? अद्वैतवादियों को पढ़ा दिया जाता है **ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या** और ऐसा खण्डन-मण्डन करते हैं कि आपकी बहुत अच्छी तैयारी न हो तो मार खा जाएँगे। इतना जाल बिछाते हैं, ऐसी स्थिति पैदा कर देते हैं, मत पूछो। **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**। क्या कहा? ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है। इसका कैसे खण्डन करेंगे ?

साधक १ – ब्रह्म महान् है उसका ज्ञाता भी महान् होता है, पर वही ब्रह्म नहीं।

स्वामी जी – उसका कथन तो अभिधावृति का है और आपका तो लक्षणा में या कौन सी वृत्ति में है ? जो सीधा अर्थ देती है वह अभिधावृत्ति है। यह भाषाविज्ञान है। देवदत्त जाता है यह अभिधावृत्ति है। उसके हाथ में दण्डा है तो कहा जाएगा दण्डा आ रहा है यह लक्षणा है। दोनों से बची हुई व्यञ्जना वृत्ति होती है। इनका कथन तो अभिधावृत्ति में है **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। सर्वं खल्विदं ब्रह्म। अहं ब्रह्मास्मि।** अब बताओ क्या करोगे? वह समाधि प्राप्त व्यक्ति कहता है भूल गया था अपने को अब अविद्या को हटाया तो पहले जो स्वयं जीव मानता था अब समझ गया मैं ब्रह्म हूँ। अब बताओ क्या करोगे ?

साधक १ – समाधि के आवेश के कारण तद्रूपता बताई जा रही है।

स्वामी जी – अब आपको यह पता चला कि पदार्थों को अन्तिम स्थिति में उसको पृथक् स्वरूप देना पड़ता है। ईश्वर चेतन है उसको पृथक्, मानना-जानना, जीवात्मा भी चेतन है उसको पृथक् मानना-जानना। पुनः प्रकृति को अलग स्थिति में जड़ पदार्थ जानना-मानना। तो इस अलग विज्ञान के लिए व्यक्ति को बहुत कुछ करना पड़ता है। पुनः अन्तिम रूप देना होता है। स्वामी दयानन्द ने सब कुछ करने कराने के पश्चात् अन्तिम अपना मन्तव्य यह रखा कि मैं इन-इन पदार्थों को ऐसा-ऐसा मानता हूँ। कितना मनुष्यों का वर्ग है जो अपना अन्तिम निर्णय देता ही नहीं है। महात्मा बुद्ध का नहीं मिलता, उनके शिष्यों का जो कोई मन्तव्य भले मिलता हो।

जीवात्मा व परमात्मा विचित्र पदार्थ हैं, दोनों को जानने, मानने, समझने में वैज्ञानिक भी असमर्थ हैं । ऐसा ही है, वैसा नहीं है, यह निर्णयरूप देना अति परिश्रमसाध्य है । आश्चर्य है स्वयं हम स्थित हैं, खाते हैं, पीते हैं, परिवार, राजनीति, विज्ञान की खोज, यन्त्रनिर्माण सब कुछ जीवात्मा के लिए हो रहा है परन्तु जीवात्मा है कौन यह नहीं जानते । सब करते हैं, कराते हैं, संग्रह करते हैं, राजा, संन्यासी होते हैं पर स्वयं को आत्मा को नहीं जानते हैं, यह आश्चर्य है । आप कैसा मानते हैं ?

साधक १ – स्वामी जी ! शरीर से पृथक्=स्वतन्त्र नहीं जानते हैं।

साधक २ – प्रायः भिन्न मानते हैं ।

साधक ३ – कभी पृथक् कभी नहीं; ऐसा मानते हैं ।

साधक ४ – आत्मा शरीर से भिन्न है, ऐसा नहीं मानते हैं ।

साधक ५ – प्रयास कर रहे हैं – कोई उत्तर नहीं हैं ।

साधक ६ – कभी-कभी क्षण भर के लिए पृथक् अनुभव करते हैं।

स्वामी जी - वहाँ विचार नहीं करते हैं कि पढ़ता-पढ़ाता, सुनता-सुनाता हूँ, परन्तु स्वयं नहीं मानता हूँ, यह मूर्खता क्यों नहीं जाती है; इस प्रकार दोष जानकर पूरी शक्ति से हटाएँगे तब जाएगी। दूसरा उपाय इन विषयों को पढते-पढ़ाते, चर्चा करें, विचारें तथा सदा आचरण में देखें । इस मापदण्ड के रखने से यदि विषय सामने नहीं दिखाई देता तो मानना चाहिए अभी इसको नहीं जानता हूँ। इससे क्या होता है ? अपनी अविद्या स्वयं ज्ञात होती है । पुनः स्वयं और शरीर को पृथक्-पृथक् नहीं जानता हूँ; यह मेरी अविद्या है, इसको दूर करूँगा; इस प्रकार उद्यत होता है । अन्यथा पढ़—सुन, लिख-लिखा के मान लेता है मैं विद्वान् हो गया; ऐसा व्यक्ति कभी विद्वान् नहीं हो सकेगा । जो देखता है यह तो विपरीत मान्यता है वह धीरे-धीरे इस पर चोट मार-मार कर दूर कर देता है । अविद्या सरलता से नहीं जाती अपितु २०—२५ वर्ष से अधिक घोर पुरुषार्थ करना पड़ता है । पंक्ति को सामने रखकर देखें तो पता चलेगा मैं विद्वान् हूँ कि नहीं ? एक बड़ी अवस्था के सज्जन थे, उनका विचार प्रायः हमसे नहीं मिलता था, सामान्यतः ईर्ष्या दिखाई देती थी । मैंने कहा आप स्वयं को विद्वान् मानते होंगे परन्तु योगदर्शन व्या० भा० २/३५ की एक पंक्ति आपको समझ में नहीं आई है। वह पंक्ति है— **"सर्वप्राणिनामनभिद्रोहः"** इसको नहीं समझते हैं । व्यवहार में नहीं ला पाए।

❖ ❖ ❖ ❖

कार्य-कारण-सम्बन्ध

कार्य-कारण का संबंध समझना आवश्यक है। हम ये कहते हैं कि व्यक्ति अशुद्ध को शुद्ध जान लेता है, शुद्ध को अशुद्ध जान लेता है; इसका कारण क्या है ? इनको बताने की दर्शनकारों की शैली में एक नियम है। वे कहते हैं — संसार के पदार्थों के चार विभाग बना लो। हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय। दुःख और दुःख का कारण, सुख और सुख का कारण। ये नियम सब जगह लागू होते हैं। जब भी आपकी दृष्टि संसार की ओर जाएगी उस समय सब में यह स्थिति दिखाई देगी। हम इन अशुद्ध पदार्थों, आचरणों को क्यों विपरीत मानने लग गए ? इसका क्या कारण है ? इसका एक कारण है कि पूर्वजन्म में हमको उलटा पाठ पढ़ाया गया है। पूर्व जन्म में खूब उलटे आचरण किये हैं। पूर्व जन्म की सारी बातें ले आओ। उस पूर्वजन्म के संस्कार उलटे हैं उनसे हमको अशुद्ध पदार्थ शुद्ध और शुद्ध पदार्थ अशुद्ध दीखते हैं।

अशुद्ध को शुद्ध मानने में एक कारण है उपकरण। आपने कभी दर्पण देखा या नहीं ? एक दर्पण ऐसा होता है जिसमें अपना मुख ऊटपटांग दिखाई देता है। अन्य भी इधर का कान उधर दिखाई देता है। यह सीधा दर्पण का दोष है। अतः **इन्द्रियदोषात्संस्कारदोषाच्चाविद्या** ॥ वैशेषिक ९/२/१०। यह तो हमको वर्तमान में अविद्या दिखाई दे रही है। और कुछ अविद्याजनित संस्कार होते हैं। इस जन्म की ले लो यथा बालक घरों में रहते हुए, चोरी करने वाले बालकों में खेलते-खेलते चोरी करने लगते हैं। वहाँ उनको चोरी करना अच्छा बता दिया गया। बच्चे अपने माता-पिता के पैसे निकालकर झटाझट अपने काम में ले लेते हैं। आपने भी किया होगा किसी ने ? क्यों जी किया या नहीं? होता है न ! तो अज्ञान की स्थिति में मिथ्या संस्कार उत्पन्न होते हैं। वहाँ देखो कारण कैसे उभर के आता है। कारण को देखो, कार्य को देखो। कारण को हटाओ कार्य हट जाएगा। यहाँ पर बाल्यावस्था में कुसंग में चोरी का संस्कार पड़ा था। उस समय चोरी को अज्ञान की स्थिति में बालक अच्छा मानने लग गया। शराबियों के बीच पीते-पीते शराब का संस्कार बन गया। सुल्फा—गोले वाले को इसका। मांस खाने वाले को मांस का संस्कार बन गया। उसको अज्ञान से अच्छा मानने लगा। आजकल जो दुकानदारी, खेतीवाड़ी होती है उनको लगभग सबको उलटा पाठ पढ़ाया

जाता है – झूठ बोलो, खाद्य-पदार्थों में मिलाकर करो। दुकान पर बैठे बेटे ने कहा माताजी यह तो सड़ी-गली, पुरानी है। माताजी ने कहा – बस बेच डालो; नहीं तो हमारा दिवालिया निकल जाएगा। इनको यदि कहने लगे भईया! हमारी इतनी चीजें तो सड़ी-गली हैं इनको मत लेना पुनः क्या होगा ? तो दूध में पानी मिलाने वाला खूब मिलाता है। एक रोचक बात हुई। आन्ध्रप्रदेश में मैंने कहा ये दूध बेचने वाले लोग दूध में पानी मिलाकर बेचते हैं दिल्ली में और भाव पूरा लगाते हैं। तो वे कहने लगे वहाँ दूध में पानी मिलाकर बेचते हैं यहाँ तो पानी में दूध मिलाकर बेचते हैं। क्या समझे ? १ किलो में ३ पाव पानी। और दूधवाला बोलता है देखो मैं तो बिल्कुल विशुद्ध दूध बेचता हूँ। अंग्रेजी में बिज़नीस बोलते हैं या क्या बोलते हैं। हमें अंग्रेजी भाषा बहुत कम आती है, थोड़ी-थोड़ी आती है। क्योंकि यह बिना सिर-पैर की भाषा है इसमें रुचि भी नहीं होती, नियम ही उलटे हैं इसके ? पता नहीं बुद्धिमान् था या बेसमझ था जिसने अंग्रेजी भाषा बनाकर खड़ी करी। भाषा निर्माण का उसे ज्ञान नहीं था।

इधर जिसको पाठ पढ़ाया गया भाई शुद्ध बेचना, भाव ठीक बोलना कोई ले या न ले; इसके पास तो अब एक-दो आते हैं उधर उस मिलावट वाले के पास भीड़ लगी रहती है, खूब बिकता है। ठीक भाव वाला १२ रु. किलो बेचता झूठ १० रु. किलो बेचता है। १२ वाला देखता रहता है १० वाला माला-माल हो रहा है। यहाँ कारण बनता है संसार के लोग जैसा व्यापार करते हैं हम उन लोगों की नकल करते हैं। अतः अज्ञानियों की नकल करने से व्यक्ति अज्ञानग्रस्त होता है। वहाँ से व्यक्ति में अविद्या घुसती है।

वे जो हमारे मन में अविद्या के संस्कार हैं – चोरी करने, मांस खाने के संस्कार पड़ गए बाल्यावस्था में आज वे संस्कार हमको दिन-रात अत्यन्त दुःखी रखते हैं। हम उनको हटाना चाहते हैं वे ज्यों के त्यों खड़े रहते हैं, इस प्रकार प्रतिदिन युद्ध चलता रहता है। संस्कार की उत्पत्ति हुई उसका एक क्षेत्र है व्यक्ति ने अज्ञान अवस्था में उलटा कर्म किया। अज्ञानावस्था में उलटे आचरण से उलटा संस्कार पड़ गया। हमारी अज्ञानावस्था में बढ़ा हुआ उलटा संस्कार आज सतत अविद्या को उत्पन्न कर रहा है। इसको आप अनुभव करके देख सकते हैं। उलटा कार्य करने का आपको जो जो अभ्यास हुआ हो, आज तक आपको विपरीत कार्यों को अच्छा दिखाएगा। अब इसको हटाना हो तो बड़े ध्यान से देखेंगे कि उस समय किसी ने कुसंग

से कुसंस्कार बनवा दिया वही अब मिथ्या ज्ञान उत्पन्न कर रहा है । मोटा दृष्टान्त लें तो और स्पष्ट होगा । जैसे मान लो हमको या किसी को यह सिखाया गया कि यह शरीर बहुत शुद्ध है, पवित्र है, सुन्दर है । आपने देख भी लिया होगा जिसको व्यक्ति अच्छा मानता है उसको उत्पन्न करता है, उसकी रक्षा करता है, उसके लिए तन–मन–धन लगाता है । जिसको भी अच्छा मानता है चाहे वह कुछ भी हो । जैसे आज के लोग इस शरीर को सुन्दर मानते हैं तो दिन–रात इसको सुन्दर बनाने में, कपड़े सजाने में, चमड़े चमकाने में लगे रहते हैं । इनको तो पता नहीं कैसा लगता है, ये लोग जो ओठों पर क्या लगाते हैं पता नहीं, कोई रंग लगाते हैं । अच्छा ! रंग लगाने पर व्यक्ति बहुत खराब लगता है । यद्यपि सुन्दर शरीर हो तो वैसे ही अच्छा लगता है किन्तु रंग लगाने पर तो लगता है पता नहीं क्या खा के आया हो ? उसका मुँह लाल लाल दिखता है तो लगता है कोई मांसाहारी मांस खा के आया हो या भेड़िये की तरह किसी का रक्त पीया हो और खून से लथपथ हो गया, ऐसा दिखाई देता है । पर वह उसको अच्छा लगता है। तो आजकल क्या हुआ वह बात उसके दिमाग में बैठ गई; यह शरीर तो बहुत सुन्दर है, बिलकुल गन्दगी से रहित है । उसको वैसा ही दिखता है। दूसरे के शरीर को देखता है तब सुन्दर दिखाई देता है, अपना शरीर देखता है तो सुन्दर दिखाई देता । यह उलटा सिखाने के कारण हुआ ।

है तो बात चुटकुले जैसी पर मानसिकता तो है ही । ये जैसे कपड़े पहनते हैं न क्या–क्या पहनते हैं, मोड़तोड़ कर ऐसा बनाते हैं (दुपट्टा)। वे बेचारे दिनभर इस स्थिति में रखना चाहते हैं कि सुन्दर लगे । जब बाएँ चलेंगे तो ऐसे करेंगे, जब दाएँ चलेंगे तो ऐसे करेंगे, आगे जाएँगे जब ऐसे करेंगे। यह पागलपन लोगों को सिखा दिया, दिनभर लग गए उसी में । न मन को रोकना, न आँख को, न नाक को रोकना, कुछ नहीं । सारे गन्दे पड़े हैं, आँख गन्दी, नाक गन्दी, शरीर गन्दा, कपड़े गन्दे। बस कपड़े को ऐसे–वैसे करने में लगे हैं पता नहीं इससे क्या मिलता है ? बुद्धिमान् कहता है चलो ठीक है शरीर की रक्षा होती है तो पिन लगा लो क्या मतलब दिनभर उसी को उलटते–पलटते रहो । इन माताओं को देखो, एक कपड़ा सिर पर रख लेंगी, बालों को ढक लेंगी, पुनः उतर जाएगा । ढका, आगे चलीं, पुनः उतर गया । क्या मतलब है इसका ! वैसा ही रखना है तो बाँध लो। यदि रक्षा होती है ढंकना है तो वैसा कर लो। वह यह नहीं देखतीं मुझे हाथ

से कितनी बार क्रिया करनी पड़ती है, सोचना पड़ता है। उसी में अन्य विषय को सोचने के विज्ञान का सारा समय चला जाता है। न मन के विषय में सोचता, न आँख के विषय में सोचता, न आत्मा-परमात्मा के में विषय सोचता है। बस इधर लग गया उधर लग गया। मन तो उसी में लगा रहता है। पूरा दिन बीत जाता है बस कपड़े सरकाने में। इतने परिश्रम से कोई खाद्य पदार्थ पैदा कर लेते, कुछ और कार्य कर लेते तो कुछ न कुछ तो लाभ होता। यह एक भाग ऐसा है जिसमें दूसरा व्यक्ति जैसा उलटा करता है, वैसा ही वह करता चला जाता है।

आज शरीर पर कितना ही बल लगाएँ आप अधिकार नहीं कर सकते। यहाँ तक होता है कि चिकित्सक लोग २०/३०/४० वर्ष तक शल्य-क्रिया करते रहते हैं, मल-मूत्र निकालते रहते हैं, पुनरपि उनका मन शुद्ध नहीं होता। उनकी शिकायत रहती है कि तब भी हमारी वासना हटती ही नहीं है।

एक बार की बात है बम्बई की। हमने कहा हमको वहाँ ले चलो जहाँ शरीर को काटके फाड़ के रखते हैं, आधे कटे, ऐसे वैसे शव रखे रहते हैं; इधर-उधर कटे-फटे लोग पड़े रहते हैं। छोटा से छोटा बच्चा छिपकिली सा माँ के पेट में रहता है। हमारे साथ एक पुरोहित जी भी थे। वह सब देखने लगे तो एक बूढ़ा दाढ़ीवाला इतना भयंकर पड़ा दिखा कि देखते ही पुरोहित जी भाग खड़े हुए। बोले मैं नहीं देख सकता। किसी भले शरीर को कटा देख लो दुर्घटना में, थोड़ी सी देर में क्या हाल होगा? तो यह अविद्या ऐसे रहती है।

एक तो यह हुआ अज्ञानावस्था में बाल्यावस्था में जैसे कुसंस्कार बना दिये गए अब उससे अविद्या उत्पन्न होने लगी। जब तक आप शरीर कटा हुआ देखते हैं या बौद्धिक स्तर पर चमड़े को हटाओ पुनः मांस आएगा, मज्जा आएगा हड्डी आएगी, तब तक विद्या उत्पन्न होगी। कभी बस-रेल आदि में ऐसा देखा होगा जहाँ सुन्दर व्यक्ति बैठा होता है वहीं प्रायः दूसरा भी बैठना चाहता है और जाकर बैठ जाता है। पुनः क्या होता है वही सुन्दर व्यक्ति किसी कारण से खाया-पीआ हो-हो उलटी करने लग गया, सारी सीट पट गई। अब वहाँ से भागा; पहले वहाँ बैठने के लिए लालायित था। कई बार कोई बच्चा जिसको सुन्दर समझ रहा था टट्टी कर देता है, बस उसके पास खड़ा नहीं रह पाएगा। वह कहता है यहाँ तो ये बातें हैं। तो हमारा उलटा अभ्यास हो गया, उसको सुन्दर मानने लगे बस पागल के पीछे पागल

बन गए। एक के पीछे एक आसक्त है । सारा भूल गया । ईश्वर को भूल गया, धर्म को भूल गया । देश, जाति को भूल गया । कुछ नहीं पागल होकर घूम रहा है । तो इन संस्कारों को हम जिनका कारण पकड़ में आ गया है उनको दिन-रात मार मारते हैं । उनको मारते-मारते जब तक वे दग्धबीज न हो जाएँ तब तक न छोड़ो । यह सीमा है । नहीं तो आप को नहीं छोड़ेंगे। जैसे ही उभार में लाएँगे वैसे ही उलटा दिखाने लगेगा ।

जहाँ ऋषियों ने कहा देखो अज्ञानता के कारण व्यक्ति दुःख को सुख समझने लग जाता है यह भी ऐसी ही स्थिति है । बालक या बालिकाओं को ऐसी चीजें सिखा दी जाती हैं कि जिससे विषय भोगों में सुख समझने लगते हैं । ऐसा ही पाठ पढ़ाया जाता है । तब अज्ञानावस्था में बुरे संस्कार पड़ते हैं और वे बुरे संस्कार व्यक्ति पर हावी रहते हैं, पुनः उनसे अज्ञान उत्पन्न होता है । व्यक्ति का जो भाव है कि विषयभोगों में सुख है वह इतना पक्का हो जाता है कि वर्षों तक बल लगाने पर भी नहीं हटता, वही चश्मा लगा रहता है कि जिसमें सुख दिखता रहता है । इसको हटाने का भी वही उपाय है । जो दुःख में सुखबुद्धि है जब तक उसको भुने हुए दाने जैसा नहीं बना देंगे तब अज्ञान उत्पन्न होना बन्द नहीं होगा। कभी-कभी व्यक्ति इतना प्रयास करता है पुनरपि वही विचार ज्यों का त्यों । ६०—७० वर्ष का हो गया । विषय भोगों में पहले पड़ा रहा । ४० वर्ष घर पर बिताये। पाँचों इन्द्रियों के विषय भोगता रहा । अब वानप्रस्थ में आ गया। यहाँ आकर यह पाठ पढ़ा कि यम-नियम का पालन करो, विषय भोगों को त्यागो । अब वह प्रयास कर रहा है । उसको १५—२० वर्ष हो गए पर वे विषय-वासनाएँ समाप्त ही नहीं होतीं । पहले के भोगे हुए सुख इतना दुःख देते हैं । सोचा तो ये था कि भोगभाग करने से तृप्ति हो जाएगी, हुआ उलटा। आप इस चक्कर में मत पड़ जाना । कौन से चक्कर में ? यह सोचेंगे कि भोगों को भोगे बिना तो यह अभिलाषा दूर होती नहीं, भोग लेने के पश्चात् दूर हो जाएगी; इस चक्कर में मत पड़ा जाना नहीं तो प्याज भी खाए, जूते भी खाए । क्या समझ में आया ? कथा सुनी है न ?

किसी राजा के यहाँ कोई अपराधी उपस्थित हुआ । उसको दण्ड दिया गया कि सौ प्याज खा लो या सौ जूते खालो । उसने सोचा जूता तो बड़ा कठोर होता है प्याज कोमल है उसे खा सकते हैं । खाने लगा १०—१५ खाकर कहा, मेरे बस का नहीं है प्याज खाना । अच्छा तो जूते खाओ; बोला मार

लो जूते । जब जूते १०—१५ लगे तो भयंकर दर्द हुआ तो बोला नहीं मैं तो प्याज ही खाऊँगा। पुनः प्याज पुनः जूते, दोनों ही खा गया ।

तो भोगों में पड़ने वाला प्याज भी खाएगा, जूते भी खाएगा । इसलिए कम से कम जूते ही खा लो । नये भोग मत करो पुराने ही संस्कार भोग लो, आधा तो बचेगा । व्यापार करो तो आधा लाभ तो हो । क्या समझे? भाई हमने बुरे कर्म किए, उनका दण्ड भोगो । युद्ध करो । जितना उलटा चले उसके विपरीत प्रयास करना पड़ेगा । जूते ही खाकर रह जाओ, प्याज वाले दुःख से बच जाओगे। बुद्धिमान् कम से कम आधा तो हटाएगा। तो व्यक्ति का एक तुलनात्मक अध्ययन होता है । वह देखता है संघर्ष चल रहा है, वासनाएँ हट नहीं रही हैं, पर इतने दिनों के युद्ध से कमजोर तो पड़ गई हैं । उसने कहा हाँ लाभ हो रहा है । ज्वर वाले को पहले ज्वर बहुत था, उसने दवाई ली, ये किया वो किया, उपवास किया, अब ज्वर कम हो गया। पुनः आशा बंध गई कि ज्वर को दूर किया जा सकता है। तो प्रयोग से पता चलता है । यह तो एक प्रकार दण्ड भोग रहे हैं। इसमें समय लग रहा है तो कोई बात नहीं ।

ये यदि ऋषियों के ग्रन्थों को पढ़ते तो बहुत अधिक दुःखों से बच जाते। एक और देखेंगे आप एक क्षेत्र में तो अविद्या पढ़ाई जाती है । वैदिक परम्परा को छोड़कर अन्य सम्प्रदायों में अविद्या पढ़ाई जाती है । उस अविद्या को वे विद्या मानते हैं । और वह पढ़ाई हुई अविद्या व्यक्ति के पीछे लगी रहती है और वह जीवनभर उलटा ही सोचता रहता है । जैसे ये वैज्ञानिक बताते हैं किसी ईसाई वर्ग में अब भी बताया जाता है कि पृथ्वी चिपटी है। बाल्यावस्था से पढ़ाया गया। किसी को पढ़ाया गया ईश्वर ४थे ७वें आसमान पर रहता है । और आज जो विद्या का केन्द्र होना चाहिए था आबू पर्वत वहाँ अविद्या पढ़ाई जा रही है। लोगों को निर्बुद्धि बना-बना कर भारत में छोड़ा जा रहा है जैसे आतंकवादी छोड़े जा रहे हैं । और तो और अपने घर तक रहते तो कोई बात नहीं। ये तो वेदों का खण्डन करते हैं, दर्शनों का खण्डन करते हैं । इनकी एक पुस्तक है योग की विधि और सिद्धि। उसमें वेदों का, दर्शनों का खण्डन किया हुआ है । अब तक ये अपना पाठ पढ़ाते थे, अब तो सच्चाई के खण्डन पर उतर आए हैं ।



ज्ञानोपासना-सम्बन्ध

ज्ञान और उपासना में परस्पर क्या सम्बन्ध है; इसको जानना चाहिए। कैसे इसका प्रयोग होता है; इसे भी जानना चाहिए। यदि आपने समझ लिया कि संसार उत्पन्न हुआ, नाशवान् है और यह भी जान गए कि इसका निर्माता ईश्वर है। अन्य मान्यताएँ जो इसके विरुद्ध हैं यथा संसार अनादिकाल से बना है। स्वयं बना, अभाव से भावरूप में आया। सबको जानकर अन्तिम निर्णय करते हैं, संसार अनादिकाल से बना नहीं है। स्वयं नहीं बना, अभाव से भावरूप में नहीं आया। इसका उत्पत्ति–स्थिति–प्रलयकर्ता ईश्वर है अतः इसका स्वामी भी ईश्वर ही है। पहले तो स्वयं को मानते थे।

आप की क्या स्थिति रहती है, कितने काल तक ईश्वर को स्वामी मानते हैं और कितने काल तक स्वयं को ?

साधक १ – सिद्धान्तरूप में ईश्वर को मानता हूँ, व्यवहार रूप में अपना ही मानता हूँ।

साधक २ – जिस समय चिन्तन कर रहे होते हैं उस समय व्यवहार में भी ईश्वर का मानते हैं, अन्यथा केवल उपासना में। वहाँ भी शरीरादि को उसका मानते हैं, योग्यता को तो कम ही।

साधक ३ – संसारादि का स्वामी मानने में बाधा नहीं दिखती, किन्तु विद्यादिविषय में स्वयं को स्वामी मानता हूँ।

साधक ४ – विचार करने से मन पर विशेष प्रभाव पड़ता है, तब तो सब कुछ का स्वामी ईश्वर को मानते हैं, स्थिति हट जाने पर पुनः वैसा नहीं लगता है।

स्वामी जी – स्थिति पकड़े रहने पर लगता रहता है छोड़ देने पर कठिनाई होती है। व्यवहार में सावधान रहने पर प्रतीति होती है। यह स्थिति सदा बदलती रहती है। जैसे-जैसे विवेक-वैराग्य–अभ्यास का परित्याग करते जाते हैं वैसे-वैसे पतन होता जाता है।

साधक १ – उपासना काल में मानते हैं, व्यवहार में २०% भूल जाते हैं।

स्वामी जी – ईश्वर-प्रणिधान अच्छी प्रकार सिद्ध होने पर सब कुछ ईश्वर का मानता है, साधक स्वयं को भी समर्पित किये रहता है। ईश्वर-प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है। समाधि में, चलते–फिरते, खाते–सोते सब जगह ईश्वर की अनुभूति बनाए रखता है।

साधक १ – चलते-फिरते समाधि कैसे हो सकती है? उसका तो लक्षण कहा– अर्थमात्र ही प्रतीत होता है शेष शून्यता की अनुभूति होती है ।

स्वामी जी – यहाँ समाधि में ध्येय विषय अर्थमात्र की प्रधानता रहती है स्वयं को भुला सा देता है । परन्तु परिपक्व होने पर निपुण हो जाता है, उसमें कोई बाधा नहीं आती । ईश्वर के साथ-साथ अपनी अनुभूति भी बनाये रखता है, अन्यों की भी ।

जब इस मान्यता को लेकर उपासना में बैठते हैं कि शरीरादि सबका स्वामी ईश्वर है, तब अपना मानने के कारण जो वृत्तियाँ उठाते हैं उसे नहीं उठाते हैं। ईश्वर का मानने पर मैं स्वामी हूँ की चंचलता समाप्त हो जाती है । कोई उद्वेग नहीं रहता, शान्त, गम्भीर स्थिति बनी रहती है। अपना मानने पर उद्वेग भी आता है, तीव्रता भी आती है; इसलिए ज्ञान और उपासना का सम्बन्ध है ।

जब व्यक्ति पूरे संसार को कार्यकारणरूप मानता है, तब जब संसार नहीं रहता, सत्त्व–रज–तम के रूप में हो जाता है, वहाँ भी ईश्वर व्यापक रहता है, सारे जीव मूर्छित दिखाई देते हैं । इस प्रकार सबको प्रलय में ले जाता है तब जो सरलता वृत्ति-निरोध में होती है वह बिना प्रलय के नहीं होती। यद्यपि विषय सूक्ष्म है किन्तु असंभव नहीं है । करने की पद्धति आनी चाहिए। पुरुषार्थ साथ में रहता है । बौद्धिक रूप में ऐसी अवस्था प्रमाणपूर्वक बना लेता है ।

साधक १ – बनाने पर बनती है किन्तु पुनः हट जाती है ।

स्वामी जी – एक बार बना लेना भी ऊँची योग्यता है । नहीं तो बहुत कुछ पढ़-पढ़ा लेने पर भी बनाना नहीं आता । मान लेते हैं कि वैसा हो जाएगा परन्तु करने पर आगे बुद्धि नहीं चलती है ।

प्रलय कर देने पर सारी वृत्तियाँ, स्मृतियाँ विलुप्त हो जाती हैं । क्योंकि न तो कोई करने वाला रहा न कुछ करने योग्य रहा । नींद भी प्रभावित होती है प्रमाणपूर्वक प्रलयावस्था बनाने से । मैंने तो बहुत अभ्यास किया ५५ वर्ष जितने हो गए । अभी बैठे-बैठे बना लेने पर कोई चित्र भी नहीं आता है । कभी असावधानी हो जाय तो पृथक् बात है । इसमें ऐसा भी होता है मान लिया प्रलयावस्था बना ली परन्तु लोक से सम्बन्धित एक भी इच्छा रही तो स्थिति लुप्त हो जाएगी। इसको आँख खोलकर बनाना कठिन होता है, बन्द करके सरल होता है ।

कोई कहते हैं ऋषियों ने कहाँ लिखा है यह तो अपनी कल्पना मात्र है। हम कहते हैं वेद, दर्शन पढ़ेंगे तो सब मिलेगा । **अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वह्नेः** ॥ सांख्य १/६० । जो प्रत्यक्ष नहीं होता उसको अनुमान से जानना चाहिए जैसे धूएँ को देखकर परोक्ष अग्नि का ज्ञान होता है । विवेक से परोक्ष का ज्ञान कीजिए । **सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ......।** इस सूत्र से और क्या कहना चाहते हैं ? शरीर से अतिरिक्त स्थूलभूत, सूक्ष्मभूत, तन्मात्रा, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार, महत्तत्व और अन्त में प्रकृति है उनको अनुमान से जानना चाहिए । स्थूल से सूक्ष्म की ओर, सूक्ष्म से स्थूल की ओर जाकर देखो ।

पहले भी प्रलय था, आगे भी वही स्थिति आनेवाली है । यदि दोनों को मिला दें तो एक सी स्थिति बन जाती है । यदि मानेंगे ही नहीं पुनः क्या होगा ? इसको तो सिद्ध करना पड़ता है । जैसे कि यह देवदत्त है। मैं भी वैसा ही हूँ। यदि वह मर जाता है तो मेरी भी वही स्थिति क्यों नहीं होगी ? ध्यान देने पर पता चलता है । यदि स्वयं को पूछते हैं तो वैसा लगता है । उपेक्षा से काम नहीं चलता । प्रायः लोग परिश्रम से बचना चाहते हैं। **घृतं पीत्वा सुखी भवेत्......** वाली बात । पहले स्वयं को नष्ट करता है, पुनः परिवार को, आगे प्राणीमात्र पुनः पृथ्वी आदि पूरे संसार को । गृहस्थियों को तो बहुत खराब लगता है यह, भला मरने-मारने की बात कैसे सोचेंगे। स्वयं को मार भी डाले परन्तु बेटे को, पति को, पत्नी को भला....... । परन्तु सत्यासत्य को जानने वाला इसको नहीं छोड़ता है । इस एक बात में सब आ जाता है । महर्षि दयानन्द ने कहा है - **मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है ।**

इसको अपनाने के विषय में दो धाराएँ चलती हैं। एक तो जैसा ऋषियों ने कहा, सत्त्वरजस्तमसां......आदि लिखा; उसी को लेकर चलो । दूसरा स्वयं अनुमान से सिद्ध करो । योगदर्शन में सूक्ष्म विषयों को जानने का आधार सविचारा और निर्विचारा समाधि कही है। आगे कहा सूक्ष्म विषय कहाँ तक जाते हैं तो – **सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्** ॥ १/४५ । सूक्ष्मता प्रकृति पर्यन्त है। प्रकृति से भी अधिक सूक्ष्म पुरुष है परन्तु सूक्ष्मता का क्रम संबंध जड़विषय तक था सभी पदार्थों से सम्बन्धित नहीं था अतः पुरुष को नहीं लिया । पुरुष में क्रमिक सूक्ष्मता इसलिए नहीं है कि वह भौतिक पदार्थों

का प्रकृति के समान उपादान कारण नहीं है। यद्यपि उपादान कारण तो नहीं बनता पर हेतु बनता है। उसके लिए प्रकृति कार्यावस्था में लायी जाती है। इससे अद्वैत-वादियों का पक्ष खण्डित हो जाता है।

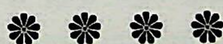
एक भाग है अशुचि को शुचि....... । शुद्धाशुद्ध प्रकरण में यह बात कही गई कि जो कुछ भी सत्त्वादि से निर्मित वस्तुएँ हैं वे पूरी तरह शुद्ध नहीं होती हैं क्योंकि सभी में रजोगुण व तमोगुण मिश्रित रहते हैं। शरीर को जब मलमूत्रादि से पूरित देखता है तो स्वतः उसमें प्रवृत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार विचारों से भोज्य वस्तुओं में भी सरलता से वृत्तिनिरोध हो जाता है। साधनों के संग्रह में जो सुखबुद्धि होती है वहाँ सुख को क्षणिक देखने पर रुचि नहीं होती है। भोगों में शान्ति नहीं है ऐसा मानने पर इच्छा नहीं होती न संग्रह की प्रवृत्ति होती है। इनको यदि दुःखरूप देखा जाय तो कोई वृत्ति नहीं बनती है। यदि वृत्ति बन भी जाय तो दुःखद मानकर तत्काल रोकी जाती है। सुखद मानकर चलने पर तो घण्टों प्रयत्न करने पर भी रोकने में सफलता नहीं मिलती है। अविरति को योग का शत्रु कहा है अर्थात् विषयों में रुचि योग का विरोधी है।

तृतीय वर्ग सुख-दुःख के विषय में यह जानना चाहिए कि जीवात्मा का जब अविद्या के साथ सम्बन्ध होता है तब दुःख तो सुख दिखता है, और सुख दुःखरूप में दिखाई देता है। यहाँ जो शंका खड़ी होती है कि सुख–दुःख क्या कोई पदार्थ हैं, वस्तु हैं ? एक वर्ग मानता है यह वस्तु नहीं है, मान्यता मात्र है और हेतु देता है, जिस एक को कोई सुख कहता है उसी को कोई दुःख कहता है। यहाँ प्रथम यह सिद्ध करना चाहिए कि सुख एक वस्तु है, दुःख एक वस्तु है। तब विचार होगा कि सुख–दुःख को जानो। तब सुख को ग्रहण करना और दुःख को छोड़ना योग्य होगा। यदि कोई पदार्थ ही सिद्ध नहीं होता है तो इसके लिए प्रयास करना व्यर्थ होगा।

जब उसने कहा दुःख में सुख की अनुभूति अविद्या का स्वरूप है, तब वक्ता का अभिप्राय था वह सुख–दुःख को वस्तुतत्त्व मानता है, इसलिए उसके विषय में कह रहा है। उसकी दृष्टि में सुख–दुःख का वस्तुतत्व सिद्ध है। तभी शास्त्र में विधान करता है, अन्यथा विधान नहीं करता। विपक्ष में व्यक्ति कहेगा कल्पनामात्र है, उसके मत में कोई वस्तुतत्त्व नहीं है, केवल मान्यता

है । यदि उस समय हम समाधान करने में समर्थ हैं तब तो योगाभ्यास में टिकेंगे, नहीं तो छोड़ देंगे । सुख–दुःख यदि कोई वस्तु नहीं हैं तो दुःख से बचने के लिए एवं सुख को प्राप्त करने के लिए ईश्वरप्राप्ति क्यों करेंगे। उसी के लिए तो योगाभ्यास है । इसमें प्रबल प्रमाण है – यदि कोई बात प्रत्यक्ष से सिद्ध होती है, तो उसका खण्डन नहीं कर सकते या उसको मिथ्या नहीं कह सकते । जब दुःखी होता है तब उसकी स्थिति होती है कि वह खिन्न, उदास हो जाता है । अतिदुःख होने पर तड़पता है, और दुःख बढ़ जाए तो हाहाकार करता है, मूर्च्छित हो जाता है । उसको रोकने के लिए पूरा प्रयत्न करता है । सतत दुःख रहने से शरीर जीर्ण-शीर्ण, मरणासन्न हो जाता है। दुःख प्राप्त होने पर बुद्धि का सन्तुलन बिगड़ जाता है । दुःख होने पर नींद नहीं आती । ये तो प्रत्यक्ष अनुभूतियाँ हैं । और क्या क्या स्थितियाँ आती हैं ? कोई कहे सुख–दुःख वस्तुतत्त्व नहीं हैं तो वह परीक्षण कर सकता है, उसके साथ दुःखदायी वस्तु को जोड़ना चाहिए । जिससे दुःख होता है उसको उपस्थित कर सम्बद्ध करना चाहिए । जैसे बिजली ले लो । इसे छूने पर धक्का लगता है, मृत्यु हो जाती है । अग्नि के साथ शरीर जल जाता है, आदि अनेक अवस्थाएँ हैं । सुख के पक्ष में हलुआ, खीर, मिठाई खाने के लिए व्यक्ति देखते ही दौड़ लगाता है । वहाँ कैसे कहेगा कि केवल मान्यतामात्र है । इसलिए हमें यह बात जाननी चाहिए की सुख एक वस्तु है, एक पदार्थ है । ऐसा ही दुःख भी है ।

चौथा भाग है जड़ में चेतन और चेतन में जड़ बुद्धि–इसके विरुद्ध चलने से अर्थात् चेतन को चेतन, जड़ को जड़ मानकर चलने पर वृत्तिनिरोध में सरलता होती है । इस वर्ग में जीव और ईश्वर चेतन पदार्थ हैं शेष सब शरीरादि सूर्य पर्यन्त जड़ हैं । तो मन भी जड़ है पुनः हमको कैसे घसीट ले जाएगा? ऐसा मानना कि मन स्वतः चलता है वृत्ति उठाता है यह मिथ्याज्ञान है । हम चेतन हैं, हम ही मन के चालक हैं; ऐसा मानने से सरलता होती है । जड़ को चेतन मानने पर तो घण्टों वहीं दौड़ लगाते रहो फिर भी सफलता हाथ नहीं आती ।



ध्यानोपासना में ज्ञान का प्रयोग

आप के मन में ऐसा तो नहीं आता है कि ईश्वर की प्राप्ति, भक्ति, उपासना के लिए पढ़ने-लिखने, सीखने-सिखाने, ज्ञानविज्ञान की क्या आवश्यकता है ? यह तो बिना पढ़े-लिखे, सीखे-सिखाये स्वयं हो जाता है । जैसे कि मन्दिरों में बड़ी-बड़ी भीड़ लगी रहती है । अपने-अपने ढंग से पूजा, पाठ, उपासना करते-कराते रहते हैं । अपने-अपने ढंग से सीखते-सिखाते रहते हैं। कोई निरीक्षण-परीक्षण नहीं, प्रमाणों से कोई विधि-निषेध, निर्णय-समाधान नहीं । तो यह बात ऐसी ही है जैसे कोई अभियन्ता, चिकित्सक या वैज्ञानिक हो और उसके लड़के को भी वैसा बनाना हो तो परिवार वाले यह समझें कि यह तो उसका पुत्र है इसके लिए क्या करना यह तो स्वयं बन जाएगा। वस्तुतः ऐसा नहीं होता, यदि आप ऐसा मानते हों तो भूल जाना । इसके लिए तो जैसे कोई इसका पाठ्यक्रम पूरा करके, लाखों खर्च करके, १५/२० वर्ष लगाकर अभियन्ता, चिकित्सक या वैज्ञानिक बना । वैसा ही करके उसका पुत्र भी अभियन्ता आदि बन सकेगा । ऐसा ही ईश्वर की प्राप्ति के लिए भी करना पड़ेगा । अतः इन बातों का ध्यान रखें । जब प्रयोग करें तब इन उपायों को साथ लेकर चलें –

ज्ञान का प्रयोग उपासना में साथ रखें ।

वैराग्य का प्रयोग उपासना में साथ रखें ।

अभ्यास का प्रयोग उपासना में साथ रखें ।

ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में विद्याऽविद्या के क्षेत्र में योगदर्शनकार ने जो चार विभाग किये उन चारों विभागों में यदि व्यक्ति निपुण हो जाता है, चारों विभागों को जानता है, चारों विभागों को शब्दार्थ सम्बन्ध रूप में समझता हुआ व्यावहारिक रूप देता है, तब इसका परिणाम होगा वैराग्य की प्राप्ति । एक परिणाम होगा अविद्या का नाश । ये विभाग इस प्रकार से हैं; यथा अनित्य पदार्थों को अनित्य, अशुद्ध पदार्थ को अशुद्ध, अशुद्ध ज्ञानकर्मोपासना को अशुद्ध, दुःख को दुःख, जड़ को जड़ समझना। ऐसे ही नित्यादि को समझना चाहिए ।

इस ज्ञान का प्रयोग साधक ध्यान काल में कैसे करता है ? वह आसन लगाकर विचारता है कि पहले विश्व की क्या स्थिति थी ? वह आरम्भ करता है, यह शरीर नाशवान् है । इससे आगे सम्पूर्ण संसार पृथ्वी, जलाग्निवाय्वाकाश, तन्मात्रेन्द्रियाहंकार महत्तत्वपर्यन्त सारे अनित्य हैं । इस पक्ष में ईश्वर–जीव–

सत्त्वादि प्रकृति नित्य हैं। उसकी बुद्धि बनती है कि सारा संसार परमाणु रूप में पहले था, आगे भी वैसा ही हो जाएगा। ईश्वर-जीव-प्रकृति नित्य हैं, वैसे ही रहेंगे।

पुनः देखता है यह ईश्वर शुद्ध है, सर्वथा निर्दोष, इसमें कोई दोष नहीं है। जीवात्मा यद्यपि स्वभाव से तो शुद्ध है किन्तु अविद्याधर्मकुसंस्कारादि के सम्बन्ध से अशुद्ध हो जाता है। प्रकृति शुद्धाशुद्ध मिश्रित स्वरूप रहती है। अर्थात् जब ये प्राकृतिक पदार्थ हमारे सामने कार्यक्षेत्र में कार्यरूप में विद्यमान रहते हैं, तब इनके साथ अशुद्धि संलग्न रहती है।

पुनः देखता है ईश्वर आनन्दस्वरूप है। मुझ आत्मा में तो न सुख है, न दुःख है। किन्तु समाधि अवस्था में जीवात्मा ईश्वर के आनन्द स्वरूप का उपभोग करता है। व्यवहार में प्रकृति के सुख—दुःख का उपभोग अनुभव करता है। ईश्वर लौकिक सुख-दुःख का उपभोग नहीं करता है। प्रकृति जड़ होने से किसी का भी उपभोग नहीं करती।

चौथे वर्ग में ईश्वर चेतन = ज्ञानी विद्वान् है। मैं जीवात्मा भी चेतन हूँ किन्तु हमारा स्वभाविक ज्ञान थोड़ा है, नाममात्र है। इतना न्यून है कि तिनका भी नहीं उठा सकता। ईश्वर की सहायता से, उसके प्रदत्त साधनों से लौकिक व्यवहार तथा योगाभ्यास की सिद्धि कर पाता हूँ। प्रकृति तथा प्रकृति से बना पूरा संसार जड़ वर्ग है।

इस प्रकार विचार कर लिया संसार नाशवान् है, इससे पहले भी नहीं था आगे भी नहीं रहेगा। पुनः कहता है यह अशुद्ध है, यह शुद्ध है, यह सुख है, यह दुःख है, यह जड़ है, यह चेतन है। इस प्रकार विभाग कर लेने पर मनोनियंत्रण में क्या कठिनाई रह जाती है ? जहाँ मन को लगाना चाहता है वहाँ लगा लेता है, कोई बाधा नहीं आती। इन वर्गों में पुनः अभ्यास करने से इनके मन्थन में विशेषकाल नहीं लगता। यह नित्य है, यह अनित्य है, यह शुद्ध—अशुद्ध है, यह सुख—दुःख है, यह जड़—चेतन है, सरलता से हो जाता है।

आप कभी स्वयं अपने को ईश्वर के पास मानते हुए सम्बद्ध करने में समर्थ होते हैं या नहीं ?

जब आप सब को प्रलय में पहुँचा देने में अभ्यास करते-करते समर्थ हो जाएँगे तब देखेंगे कि क्या रह गया ? न घर, न भूमि, न शरीर, न कोई

प्राणी। तब जीवात्मा के रूप में स्वयं को अकेला देखेंगे तब क्या करेंगे? तब ईश्वर से सम्बन्ध करने में सरलता हो जाती है। रुकने का कोई स्थान ही नहीं रहता, अतः अन्वेषण करना ही होता है। जब तक यह शरीर, भोजन, व्यवहार आदि लम्बा–चौड़ा संसार दिखता है, तब तक ईश्वर से सम्बद्ध होने के लिए विशेष प्रयत्न नहीं करता। ईश्वर से सम्बन्ध तब करता है जब पूरा संसार प्रलय के रूप में दिखाई देता है। १००% बुद्धि में बात बैठ जाती है। अत्यन्त अन्धकार हो जाता है। प्रलय आनेवाला है, वैसा ही होगा, ऐसा निश्चित हो जाने पर अपने शरीर को नाशवान् देखकर वह स्थिति होती है, जैसे केवल आकाश। न कहीं संसार न कहीं ईश्वर, तब अकेला विचरता है। वहाँ डरने वाला हो तो झटा-झट उस स्थिति को छोड़ देता है, पुनः संसार में भाग आता है।

रणवीर महोदय ! आप का हलवा, खीर सब छुड़वा के कोई कहे मुक्ति में जाओ तो इसको छोड़ के वहाँ जाना चाहेंगे? कहने को हर कोई कहता है किन्तु जहाँ न मनुष्य, न बातचीत, न खेल–कबड्डी, ऐसी अवस्था को कौन प्राप्त करना चाहता है ?

इस तरह की अवस्था को यदि शब्दप्रमाण से देखना हो न्यायदर्शन वात्स्यायनभाष्य में देख सकते हैं; जिसके लिए कहा – जहाँ न परिवार, भाई–बहन, भूमि–भवन, भोजनादि कुछ नहीं, नितान्त शून्य, ऐसी अवस्था है अपवर्ग = मुक्ति। इसको मैं तो नहीं प्राप्त करना चाहता, ऐसा अविद्वान् विचारता है। विद्वान् क्या विचारता है – जहाँ न मृत्यु, न जन्म, न राग–द्वेष, न विविध कष्ट, बाधा-विरोध से रहित, अतिकष्टमय जीवन का विनाश, दुःखरहित अवस्था होती है। उसको कौन बुद्धिमान् नहीं चाहेगा ?

इस अवस्था को वही चाहता है जो संसार में दुःख ही दुःख देखता है। जिस किसी को छूता है उसको दुःखमय ही देखता है। कभी–कभी किसी परिवार में झगड़े–वगड़े देखकर उसको दुःखमय देखता है। विद्यालय में, आश्रम में जहाँ परस्पर तनाव आदि होता है, उस उसको दुःखमय मानता है। परन्तु अन्यों को आनन्द से पूर्ण मानता है, वहाँ सुख ही सुख है, दुःख का नाम नहीं। उसके लिए लालायित होता है। पुनः वहाँ जाकर देखता है। देखना दो प्रकार से होता है – एक तो प्रत्यक्ष करके वहाँ जाकर रहकर। दूसरा अनुमान से देख लेता है, उसको जाने की अपेक्षा नहीं होती है। निश्चय से दुःखयुक्त है इसे शब्द–प्रमाण या उपमान से जान लेता है। यह घटना

एक दिन नहीं वर्षों तक चलती है । यह होता रहता है, जहाँ दुःख देखा था वहीं भ्रान्ति, पुनः वहाँ सुख दिखने लगता है । पुनः दुःख निश्चय करता है, पुनः वैसा ही सुख दिखने लगा । वह विचार करता करता तंग होकर कहता है यह कभी पीछा छोड़ेगा या नहीं ? ५० वर्ष तक भी यह देख सकते हैं।

व्यक्ति सुख के साथ दुःख का अनुभव करता है, जब दुःखातिशय देखता है तब छोड़ देता है । १—२—१० दिन पश्चात् पुनः सुखातिशय देखकर पकड़ लेता है । पुनः पिटाई खाता है, पुनः छोड़ देता है । कुछ दिनों के पश्चात् पुनः सुखद मानकर ग्रहण करता है, पुनः वही ताड़ना । फिर सोचता है सुख न्यून है, दुःख अधिक है । यदि इसका उदाहरण देखना हो तो गृहस्थ में देख सकते हैं । घर में पुत्रादि बड़े हो गए, भोजनादि का अच्छा प्रबन्ध है, तब अधिक सुख दिखाई देता है । जब बेटा, बेटी या बहू ताना मारते हैं, बीच-बीच में कहते हैं। बूढ़ा करता-धरता तो कुछ नहीं परन्तु खाना—पीना, सेवक आदि व्यवस्था तो सारी चाहिए! बेचारा पड़ा-पड़ा खाट पर दुःखी होता रहता है । दूसरों से ऐसा सुनकर दुःखी होता है तो कहता है, छोड़ो इसको, चलो वानप्रस्थ चलते हैं । वहाँ पहुँच गया किन्तु सेवादि नहीं हुई तो कहता है वहीं ठीक था, सुखी थे । यहाँ तो न कोई सेवक है, न कपड़े धोनेवाला न गरम-गरम रोटी देने वाला। पुनः घर आ जाता है । आते ही कुछ दिन में बहू, पुत्रादि वैसे ही उपहास करने लगते हैं । आँखें तिरछी करके देखते हैं जैसे दूध नहीं देना हो तो भैंस अपने कटड़े की ओर देखती है । तब लगता है यह पूरा संसार दुःखमय है । यह सुख-दुःख का तीसरा वर्ग है।

एक-एक विषय अति गम्भीर है । वर्षों तक मन्थन करेंगे, पुनरपि वही स्थिति आ जाएगी । जैसे अनित्य सिद्ध हो जाने पर बनाये रखने का अभ्यास नहीं किया तो संसार सहसा नित्य दीखने लगेगा । लाख बार सिद्ध करने पर भी शिथिल होते ही नित्य दिखाई देने लगेगा ।

साधक — उपासना में इसका उपयोग कैसे होता है ?

स्वामी जी — उपासना में पहले ईश्वर का मन्थन करेंगे । आप बैठ गए और कहेंगे — ईश्वर कैसा है ? सब सत्य विद्या.....। यह क्या चल रहा है उपासना की सज्जा । पीछे भाग में यह ज्ञान काम करेगा।

जब हम उपासना करेंगे प्रथम ईश्वर से आरम्भ करेंगे, ईश्वर के विषय में सोचेंगे हे ईश्वर आप ! सब विद्याओं के आधार हैं और जो पदार्थ उनसे

जाने जाते हैं उनके भी आधार आप हैं। प्रकृति से जो बनते हैं उनके निमित्त कारण भी आप हैं। जिन विद्याओं से ये बनाते हैं वे भी आपके अन्दर हैं। इसी को हमें भी आप देते हैं।

जितनी विद्या आपमें हैं अन्यत्र या जीवों में कहीं नहीं हो सकतीं। यह अनन्त-ज्ञान ईश्वर की सिद्धि में कारण बनता है। क्यों प्रकृति जड़ है उसमें यह ज्ञान रह नहीं सकता, जीवात्मा भी एकदेशी उसमें संभव नहीं। तो परिश्रम से यही आता है ये समस्त ज्ञान ईश्वर में रहते हैं। आपको समझ में आता है कि नहीं? सारे भौतिक वैज्ञानिक एकाध को छोड़ो उनको भी तो यह मानना पड़ता है कि ज्ञान अनन्त है, ज्ञान की सीमा है नहीं। अनन्त ज्ञान की सिद्धि हो जाए तो सर्वव्यापक ईश्वर की सिद्धि और सर्वव्यापक ईश्वर का पता चल जाय, हो जाय तो ....? क्यों जी चुपचाप बैठ नहीं सकते, समझ लो परीक्षा हो रही है, यहाँ तो तेल बुद्धि से बात पकड़नी पड़ती है। तो यहाँ कौन सा न्याय लगेगा ?

यदि अनन्त ज्ञान की सिद्धि हो जाय तो ईश्वर की सिद्धि। यदि सर्वव्यापक ईश्वर की सिद्धि हो जाय तो अनन्त ज्ञान की सिद्धि। **यत्सिद्धौ अन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः** ॥ न्याय द. १/१/३० । तो यह अधिकरण सिद्धान्त है। यह एक बात दूसरी बात की कैसे सिद्धि करती है ? एक बात सिद्ध होने पर उससे सम्बद्ध दूसरी बात स्वतः सिद्ध हो जाती है। यदि यह सिद्ध हो जाय कि अनन्त-ज्ञान है ही तो इसका कोई ज्ञाता होना चाहिए। ऐसे ही कोई सर्वव्यापक चेतन पदार्थ सिद्ध हो जाता है तो अनन्त-ज्ञान की सिद्धि हो जाती है क्योंकि अनन्त-ज्ञान एकदेशी चेतन में नहीं रह सकता, जड़ में रहता ही नहीं। हाँ जी ! कुछ आई बात सिद्धान्त की ? एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की सिद्धि; इस मान्यता को समझने पर व्यक्ति स्वयं यह जानता-सोचता है, इतने बने हुए शरीर हैं, शरीरों की विविध प्रकार की रचना, गणना करना कठिन है। घास के बीज देखो, फल देखो, सोना-चाँदी धातुएँ देखो। जानवरों को देखो। उनका शरीर कैसे बन गया ?

सब प्रकार पक्षी कीट-पतंग कैसे दौड़ लगाते हैं, खाते-पीते हैं ! अच्छा अभी तक वैज्ञानिकों का ऐसा विमान बना है जिसको कि कोई लाठी दिखाए और वहाँ से उलटा भाग आए ? नहीं समझ में आया ? क्या आया ? एक चिड़िया को यहाँ से भगा दिया उस ओर बैठ गई, वहाँ से भगा दिया उस ओर बैठ गई, ऐसे वहाँ से वहाँ चली जाती है लाठी देखते ही तो ऐसा

कोई विमान है जो संकट देखते ही मुड़ जाए ? यदि जड़ों से चेतन उत्पन्न होते हैं तो चिड़िया की तरह इनका विमान भी भागना चाहिए । विज्ञान की इतनी उन्नति होने पर भी भौतिक वैज्ञानिक प्रायः जड़ और चेतन का ठीक स्वरूप नहीं जान पाए, अब तक! इतनी गवेषणा हो चुकी है । विविध प्रकार के आविष्कार कर लिए । बहुत अच्छा विज्ञान है । विविध यन्त्र बना लिए, जिससे दोष का झट पता लगा लेते हैं पर अब तक ऐसा यन्त्र नहीं बना पाए, जिससे यह पता लग जाए कि कौन से जड़-पदार्थ हैं व कौन से चेतन हैं ? एक और बड़ी विचित्र बात है, भोग्य पदार्थों के लिए तो दौड़ लगा रहे हैं पर भोक्ता का पता नहीं है । अब क्या समझ में आया? जो चाहिए उन्हें ढूँढ़ रहे हैं परन्तु जिसके लिए चाहिए उनका पता नहीं ?

लोग कथा सुनाते हैं । एक व्यक्ति था उसका एक पुत्र था, उसको अपने कन्धे पर बैठा रखा था । वह रोज बैठाता होगा, अभ्यास हो गया होगा, पता भी नहीं रहता होगा । एक दिन क्या हुआ वह गाँव में या नगर में ढूँढ़ रहा था कि भाई मेरा बेटा खो गया है, किसी को पता हो तो बता दो? ढूँढ़ते-ढूँढ़ते किसी ने पूछा कितना बड़ा था कहाँ खोया ? तो बताया इतना बड़ा था, पता नहीं कहाँ खोया ? पूछने वाले ने कहा आप किसकी घोषणा कर रहे हैं ? उतना बड़ा तो आपके कन्धे पर बैठा है । अच्छा ! मेरे कन्धे पर ही है ! तो इनकी आत्मा तो इनके कन्धे पर बैठी है और ये ढूँढ रहे हैं कहीं और तथा कह रहे हैं हमें पता नहीं, कहाँ है आत्मा ?

एक बड़ी विचित्र बात हुई । वैज्ञानिकों ने जब स्वतन्त्र आत्मा स्वीकार नहीं किया तो यह मान्यता बनी जो बननी नहीं चाहिए थी । वे यह कहते हैं कि "भोक्ता और भोग्य दो पदार्थ नहीं ।" दोहरा लो ।

साधक – भोक्ता और भोग्य दो पदार्थ नहीं ।

स्वामी जी – दो नहीं एक हैं । ऋषियों ने कहा भोक्ता और भोग्य दो अलग-अलग पदार्थ हैं; एक नहीं हैं । जिन परमाणुओं से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और उनसे से जो पदार्थ बनते हैं रहने, खाने-पीने के जैसे; कोठी, कार, हलुआ आदि ये हमारे लिए साधन हैं । ऋषि कहते हैं देखो जो भोक्ता है सुख-दुःख को भोगता है वह स्वयं भोग्य नहीं है और जो भोग्य है वह स्वयं भोक्ता नहीं है । मोटी भाषा में चलो। कार जो है वह भोग्य है, कार को चलाने वाला भोक्ता है । लड्डू भोग्य है वह भोक्ता नहीं है । जब यह बात उभर के सामने आती है कि सुख-दुःख जीवात्मा

के गुण हैं; चलो भाई मान लो ! तो क्या मानना पड़ेगा? आत्मा ही भोक्ता आत्मा ही भोग्य है; यह मानना पड़ेगा । आ गया समझ में कि नहीं आया ? इसलिए एक गम्भीर सिद्धान्त आया चारपाई, गद्दे, बिस्तर, कोठी जो कुछ भी हैं उसको ऋषि कहते हैं वे भोग्य हैं । जड़-पदार्थ जो है वह भोग्य है, जो चेतन है वह भोक्ता है। क्या कहता है योगदर्शनकार ? **तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥** यो० २/२१। दृश्य = प्रकृति का जो स्वरूप है वह जीवात्मा के प्रयोजन के लिए है । आजकल तो पढ़ने में, पढ़ाने में कोई बात ही नहीं है वहाँ तो वही भोक्ता वही भोग्य है, जबकि भोक्ता कोई और है भोग्य कोई और है । ऋषियों ने कहा देखो कोठी कोठी के लिए नहीं होती, कार कार के लिए नहीं होती, हलआ हलवे के लिए नहीं होता, अन्य के लिए होता है।

पुनः प्रकृति का विवेचन करेंगे। तब उस समय कहता है इस तीसरे पदार्थ 'प्रकृति' को लेकर सारा संसार बनाया है । ये सारे जड़ हैं । ऐसा बार-बार विचारने से उसके संस्कार बन जाते हैं, बुद्धि वही बन जाती है । उलटे संस्कार हटते चले जाते हैं । यह साधक ईश्वर को सम्बोधित कर रहा है । इससे क्या सिद्धान्त बनेगा कि सारी विद्याएँ ईश्वर में हैं और ये जितने पदार्थ हैं इन्हें ईश्वर ने ही बनाया है अपने आप नहीं बने हैं।

अब इतना ज्ञान हो गया पत्ते-पत्ते का ज्ञान आवश्यक नहीं रहा । चेतन पृथक् है, जड़ पृथक् है । ईश्वर चेतन है, प्रकृति जड़ है । मैं जीवात्मा चेतन एकदेशी हूँ । अब उसको पता चल गया विचारों को उठानेवाला मैं ही हूँ और कोई हो ही नहीं सकता । बस सरलता हो गई । उपासना में विचारा हुआ ज्ञान व्यवहार में भी काम आता है । चलते-फिरते, खाते-पीते व्यक्ति का विचार ऐसा ही काम करने लगता है यह जड़ वर्ग है यह चेतन वर्ग। आँखें जड़ हैं इनको रोक दो । ये जो प्रलयावस्था कठिन दीखती है, ध्यान में आकृतियाँ आती हैं उनको अनित्य सिद्ध करते हैं तो सब समाप्त हो जाती हैं । अनित्य विचारने पर व्यक्ति का ढंग और उसकी स्थिति क्या बनती है जैसे आकाश में उठ गया हो । संसार तो नाशवान् हो गया । प्रलय होने पर परमाणु तो आकाश में घूमेंगे । अब वहाँ पर ईश्वर को ढूँढता है । और कोई मार्ग तो बचा नहीं। आप ऐसा कुछ करते हैं या नहीं ? हाँ जी सुमेरु प्रसाद जी ? आगे स्थिति नहीं चलती पर आकृति नाश कर देने कोई प्रभाव नहीं रहा ।

※ ※ ※ ※

अज्ञान-विनाशोपाय

शुद्ध और अशुद्ध आचरणों का विभाग करके रख लेना चाहिए, निर्वाचन कर लेना चाहिए। संशयात्मक स्थिति हो जाने पर शुद्ध को अशुद्ध मानकर छोड़ नहीं देना चाहिए न अशुद्ध को शुद्ध मानकर ग्रहण करना चाहिए। इस स्थिति में व्यक्ति अनेक स्थलों में बिना निर्णय के संशय में पड़ जाता है या अशुद्धाचरण कर लेता है। जैसे न्यायालय में जाकर विशेष निर्णय के अभाव में वर्तमान स्थिति को देखकर हानि-लाभ बिना विचारे सत्य को छोड़कर असत्य को ग्रहण कर लेता है। इसलिए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कहा– जो मुक्ति को प्राप्त करना चाहता है वह कर सकता है किन्तु पहले सत्य और असत्य, धर्म और अधर्म, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का निश्चय सत्पुरुषों के सङ्ग से कर ले।

व्यक्ति के सिद्धान्त यदि संशयात्मक हों तो वह कभी भी अपने मार्ग से विचलित हो सकता है। कभी-कभी रुग्ण हो जाने, बहुत चोट लग जाने पर व्यक्ति अपने माने हुए सिद्धान्त को छोड़ देता है अथवा छोड़ने की स्थिति में आ जाता है। इतिहास से पता चलता है कि अनेक लोग इस वैदिक धर्म में आए, चलने भी लगे परन्तु कालान्तर में इसको छोड़कर दूसरे मत स्वीकार कर लिये। इसलिए सत्यासत्य, धर्माधर्म, शुद्धाशुद्ध, अच्छा–बुरा इनको बार-बार विचार करके परिपक्व बनाना चाहिए।

व्यक्ति जिस पदार्थ की परीक्षा करके शुद्ध निर्वाचन कर लेता है, कई बार उसी को छोड़कर उसके विपरीत मान्यता को स्वीकार कर लेता है। एक स्थिति होती है जिसमें नितान्त= मानसिक, वाचनिक, शारीरिक रूप से छोड़ देता है दूसरी स्थिति में नितान्त नहीं छोड़ता पर मानसिक रूप से छोड़ देता है। आपकी स्थिति बहुत कुछ मानसिकरूप से छोड़ने की होती होगी? क्या निरीक्षण है, बताइए? एक तो मानसिक, शारीरिकरूप से छोड़ते हुए घोषणा कर देना कि मैं वैदिक मार्ग को छोड़ रहा हूँ; ऐसा नितान्त छोड़ देना। दूसरा शारीरिक रूप से भी नहीं छोड़ता, वाणी से भी त्याग की घोषणा नहीं करता, अनुकूल करता-कहता रहता है पर मन से नहीं मानता है। विशुद्ध सत्य, धर्म, न्याय को शारीरिक-वाचनिकरूप से करते हुए मानसिक रूप से छोड़ देने में कारण होता है– वह ज्ञान का निर्वाचन परीक्षापूर्वक अच्छी प्रकार से नहीं करता है, उसका ज्ञान साधारण होता है।

आप देखेंगे कि मन में हम तत्काल कोई विचार उठा लेते हैं जो अच्छा नहीं होता। उस अपवित्र विचार को उठा लेने पर पता चलता है। व्यवहार में हम चलते-फिरते, उठते-बैठते बिना योजना, मन्थन, काल के बस विपरीत विचार उठा के रख लेते हैं। जैसे बैठे हैं, खा रहे हैं या स्वाध्याय कर रहे हैं तभी एक विचार उठा—विषय भोगों में सुख है, यह मन में गूंजने लगा। कोई योजना नहीं, समय नहीं, परीक्षा नहीं, चिन्तन नहीं, कुछ नहीं, बस उठाकर सोचने लगे—विषय भोगों में सुख है। किसी से कोई त्रुटि हो गई, तो एक प्रसंग आ गया कि यह दोष हो गया, चोरी हो गई ? पुनः क्या किया जाय? कोई पूछे तो बताऊँ या नहीं, बताना चाहिए या नहीं ? तो उसने निर्वाचित कर लिया कि न बताना ठीक है अथवा झूठ बोल देना ठीक है। अब था तो यह अपवित्र कर्म और उसने अच्छा मानकर कर लिया।

यहाँ ऐसा निर्णीत ज्ञान होना चाहिए जैसे कि अग्नि जला देती है, रेल के पटरी पर पैर रखें तो कट जाता है। मैं अग्नि में हाथ रखूँगा और सुख मिलेगा; ऐसा कभी सोचते हैं ? नहीं। क्यों नहीं ? निर्णीत है अग्नि जलाएगी, उससे भयंकर दुःख होगा; इसलिए नहीं सोचते हैं।

आपत्तिकाल में, अतिकष्ट होने पर, तीव्र रोग आदि घटनाओं में माना हुआ सिद्धान्त छूट जाता है। व्यक्ति बाहर से यदि न छोड़े किन्तु मानसिक स्तर पर छोड़ देता है। आपको यह बात ज्ञात हो गई कि अविद्या, अन्याय अधर्म, अशुद्ध-उपासना को इतना क्षीण, दुर्बल कर देना चाहिए कि ये प्रभावित न कर सकें ? आपको अविद्या प्रभावित करती है या नहीं ?

साधक १ – करती है।

स्वामी जी – अनुभव करके देखो। चलते-फिरते, खाते—पीते व्यक्ति की अविद्या, संशय उसको प्रभावित करते हैं। ये उसको अच्छे लगते हैं। अतः ऐसी स्थिति में हम पहुँच जाएँ कि अविद्याधर्मादि अत्यन्त हानिकारक दिखाई दें। अन्यायाधर्म विनाशकारी = घातक ही दिखाई दें। और दिनभर ऐसा ही दिखाई देते रहें।

तो आप जब चाहेंगे कि जो अवस्था वर्णित की गई उसको बनाएँ तो अनेक उपाय हैं, जैसे इन अविद्या-अन्याय—अशुद्धोपासना, विपरीत विचारादि को दूर करने के लिए व्यक्ति को सतत ईश्वर की उपासना में रहना पड़ता है। ईश्वरसान्निध्य की स्थिति बनाए रखने से यह परिणाम होता है कि अविद्या उत्पन्न नहीं होती है और ईश्वरप्रदत्त विद्या उपलब्ध रहती है। तब अविद्या

उस पर हावी नहीं होती है अन्यथा रहती है । इसमें विभाग बना लो लौकिक चीजों में अविद्या का इतना प्रभाव नहीं देखा जाता कि पेड़ उलटा खड़ा दिखाई दे । यद्यपि इनको बार-बार देखने से ज्ञान बना रहता है, विपरीत ज्ञान नहीं होता है परन्तु विषय भोगों में दुःख है ईश्वरोपासना में सुख है ये ऐसे नहीं बने रहते । इसके लिए तो सतत विद्याभ्यास चाहिए । यदि विद्या उपलब्ध न हो तो अविद्या से उत्पन्न विपरीत प्रभाव नहीं रुक पाएगा । जीवात्मा कुछ भी करता रहे, कुछ भी पढ़ डाले, भौतिक वैज्ञानिक या वेदों का विद्वान् बन जाए परन्तु जो यह सूक्ष्म अविद्या है अनित्य को नित्य, अशुचि को शुचि आदि समझना, इनको बिना सतत ईश्वरोपासना के नहीं हटाया जा सकता है। जो वेद में बात कही गई **यस्तु सर्वाणि भूतानि......**। उसी स्थिति में वह संशय को प्राप्त नहीं होता । ईश्वरोपासक जब अपनी आत्मा को, ईश्वर को समझ जाता है तब वह संशय को प्राप्त नहीं होता है । जैसे ही ईश्वर को छोड़ेगा वैसे संशय को प्राप्त हो जाएगा । एक बात और – यदि आपने सिद्धान्त को पक्का बनाया होगा तो जैसे ही संशय होगा, आप कहेंगे नहीं–नहीं, यह मेरा मिथ्याज्ञान है, मैं इसको स्वीकार नहीं करूँगा । जब कच्चा सिद्धान्त हुआ तो ज्ञान विचलित हो जाएगा । तमोगुणादि के कारण ज्ञान हट जाएगा। पुनः जैसा ज्ञान काम करने लगेगा वैसा ही मन्तव्य बनने लगेगा । विपरीत सोचना प्रारम्भ कर देता है । परिपक्व सिद्धान्तवाला कहेगा, नहीं; यह मेरा ज्ञान गलत है। संस्कार, रोग, अविद्यादि के कारण गलत है, जैसे भी हो इसको स्वीकार नहीं करूँगा । क्यों, वह क्या अध्ययन करता है ? वह यह अध्ययन करता है कि जिन विषयों में प्रमाण से शतप्रतिशत सत्य समझता हूँ उसी विषय में एक काल में असत्य देख रहा हूँ । पुनः सम्भलने पर सत्य देखने में समर्थ हो जाता हूँ । इससे पता चला कि मेरा ज्ञान उलटा हो जाता है । जब बार-बार प्रमाणों से परीक्षा करके पक्का बना लेता है तो उसके संस्कार भी पक्के बन जाते हैं । वैसी स्थिति आती है तो सावधान हो जाता है कि कुछ भी हो यह प्रमाणों से सिद्ध सत्य है, इसको नहीं छोड़ना है ।

योगदर्शनकार ने ये जो उपासना के विरोधी कारण बताए –

व्याधि – ज्वर आदि रोग हो जाना, चोट लगना, हाथ-पैर टूट जाना आदि।

स्त्यान – कार्य करने कीं अनिच्छा, कार्य से बचना ।

संशय – ईश्वर है या नहीं; ऐसा द्विपक्षीय ज्ञान होना ।

प्रमाद – लापरवाही, जो करना है उसको भूल जाना, छोड़ देना। आपको एक घण्टा उपासना करनी है, प्रतिदिन करते हैं, ऐसी स्थिति में उसको भूल जाते हैं। कोई बाधा नहीं पीड़ा नहीं, बस भूल गया । अच्छा यदि ईश्वर-प्रणिधान करता तो नहीं भूलता ।

आलस्य – तमस् का स्वभाव है, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक; उससे व्यक्ति योगाभ्यास, धर्ममार्ग को छोड़ देता है । ईश्वर-प्रणिधान करता है तो आलस्य को नहीं ठहरने देता है ।

अविरति – विषय भोगों में सुख की इच्छा = राग । यदि वह ईश्वर की उपासना करता है तो विषयों में राग नहीं होगा । नहीं तो राग होगा, उसे रोक नहीं सकते ।

भ्रान्ति (मिथ्याज्ञान) – ईश्वर की उपासना में रहेंगे तो मिथ्याज्ञान नहीं होगा, नहीं करेंगे तो होगा, उसको नहीं रोक सकते । यह पृथक् बात है मोटे-मोटे भौतिक पदार्थों में ज्ञान का स्तर विपरीत नहीं होता, अन्धेरे में हो सकता है। यन्त्र दूषित होने पर हो सकता । स्पष्ट हो सब कुछ ठीक हो तो नहीं होता है । पर इस क्षेत्र में ऐसा नहीं है । भौतिक वैज्ञानिक भौतिक खोजों में लगे रहते हैं, पर विषय भोगों में उनकी रुचि रहेगी; वह अविद्या नहीं हट सकेगी। जो वेदों, दर्शनों के व्याख्याकार हैं वे भी यदि ईश्वर की उपासना नहीं करते हैं तो उनकी अविद्या हटेगी नहीं, भले ही चाहे चारों वेदों या दर्शनों का भाष्य कर दिया हो पर अविद्या नहीं हटेगी, बिना ईश्वरोपासना के । जब तक वह ईश्वर का अच्छा उपासक नहीं बन जाता तब तक उसकी अविद्या हटेगी ही नहीं, कभी नहीं । यह मल हटनेवाला नहीं है।

अलब्धभूमिकत्व – समाधि अवस्था हाथ नहीं लगना ।

अनवस्थितत्व – समाधि अवस्था एक बार प्राप्त होकर पुनः प्राप्त नहीं होना ।

इनका उपाय बताया **तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः** । अनेक भाष्यकारों ने इस सूत्र के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं । वे कोई एक प्राकृतिक तत्त्व अर्थ लेते हैं । उससे विक्षेप दूर हो जाएँगे, ऐसा मानते हैं । उनको यह पता नहीं चला कि एक प्राकृतिक तत्त्व में चित्त लगाएँगे तो अज्ञान, संशय, कामना कैसे दूर हो जाएँगी ? स्वामी दयानन्दजी ने एक तत्त्व से ईश्वर का ग्रहण

किया और कहा इन बाधाओं को हटाने के लिए ईश्वर के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। इसमें एक प्रश्न उपस्थित होता है कि **तीव्रसंवेगानामासन्नः, मृदुमध्यादि..... ईश्वरप्रणिधानाद्वा** आदि सूत्रों में ईश्वर का ग्रहण हो गया पुनः दूसरी बार तत्प्रतिषेधार्थ ईश्वर-ग्रहण का चक्कर क्यों पड़ा ? पूर्वोक्त होने से यहाँ ईश्वर का ग्रहण नहीं होना चाहिए। तो इसका उत्तर जानना चाहिए कि वेद या सूत्र का अर्थ यदि असंगत होवे तो वैसा अर्थ नहीं करना चाहिए किन्तु जैसा प्रमाणों से सिद्ध हो वैसा अर्थ करना चाहिए ।

तो सत्यासत्यादि का निर्णय परिपक्वरूप में होना चाहिए । पुनः छोड़ मत दो, दोहराते रहो । अतः बताया जाता है उपासनाकाल में प्रकृति, जीवेश्वर के स्वरूप की आवृत्ति करो । इससे हमारी अविद्या मरती जाती है, दूर होती जाती है । तो अविद्या कैसे हटती है यह आपको ऐसे जानना है ।



चिन्तन शैली

व्यक्ति के उन्नति का एक कारण है पदार्थों के स्वरूप के अनुसार विचार करना । पदार्थों के गुण–कर्म–स्वभाव के अनुसार विचारों को करना और उससे विपरीत न करना । शुद्ध-ज्ञान, शुद्ध-कर्म, शुद्ध-उपासना ये उन्नति के आधार बनेंगे। इन तीनों को उत्कर्ष तक पहुँचाना = शुद्ध करना, उस स्तर तक पहुँचा देना जहाँ से ये समाधि को प्राप्त करा सकें; यह है सुविचार। इसके विपरीत है कुविचार। कुविचार अर्थात् जब पदार्थ के गुण–कर्म–स्वभाव के अनुसार नहीं सोचते (चलते–मानते) हैं तो उसे कुविचार कहते हैं ।

हम दिन भर विचार करते रहते हैं। कुछ न कुछ शुभ या अशुभ कर्म करते रहते हैं। वहाँ देखना चाहिए मैं जो कर रहा हूँ वह अच्छा है या बुरा, सुविचार है या कुविचार । बहुत से उदाहरण इसके बन सकते हैं यथा – एक व्यक्ति ने यह सोचा कि संसार का स्वाद लेते रहेंगे, अच्छी-अच्छी चीज घी, दूध, फल जो हमारे लिए लाभकारी हैं उनको रुचिपूर्वक खाएँगे तो राग हो जाएगा, राग से बन्धन पुनः उपासना में मन ही नहीं लगेगा । अतः उसको मत खाओ ।

पुनः कहने लगा – अच्छी भूख लगने पर तो रोटियों में भी स्वाद आता है, इसलिए उसको कम करना चाहिए । कम से कम करने पर भी स्वाद आता है, पुनः कहा बिल्कुल छोड़ देनी चाहिए, पुनः छोड़ देता है, छोड़-

छोड़कर देखता है। दिनभर एक-दो बार खा लेना, कभी दो- तीन दिन पूरा ही छोड़ देना और शारीरिक हानि उठाता है। कोई पूछे क्या कर रहे हो ? तो कहता है कि मैं साधना कर रहा हूँ। ऐसे संसार की अन्य चीजों में प्रतिबन्ध लगाता है। इसको बहुत से क्षेत्रों में अच्छा माना जाता है। परन्तु यह कैसा विचार है ? यह कुविचार है।

हेतु वही रहेगा सब जगह; जिस विचार में, निर्णय में, मन्थन में अपनी और दूसरों की लौकिक उन्नति हो और मोक्ष तक पहुँचें वह विचार सुविचार है; यह मापदण्ड है, यह सब जगह लागू होता चला जाएगा। जिन विचारों से, निश्चयों से, मान्यताओं से लौकिक उन्नति भी हो किन्तु वह लौकिक उन्नति भी ईश्वरप्राप्ति करानेवाली हो, चाहे जिसकी उन्नति करानेवाली हो ऐसा नहीं। धन-सम्पत्ति, विविध विद्या हो किन्तु यदि उससे योग की सिद्धि नहीं होती, समाधि की प्राप्ति नहीं होती, ईश्वरप्राप्ति में वह साधन नहीं बनती तो वह उन्नति की परिभाषा में नहीं आएगी।

जिस समय आप किसी विषय को विचारते हैं, तत्काल सावधान हो जाएँ कि ये जो मैं विचार कर रहा हूँ यह सुविचार है या कुविचार है? पुनः व्यवहार में देखो। जैसे एक व्यक्ति को आपके कमरे में ठहरा दिया और वह अपने ढंग से उठता—बैठता है, थोड़ा आपके अनुकूल नहीं पड़ता तो आप यदि ध्यान नहीं देंगे तो यह विचार आएगा इस व्यक्ति को यहाँ से शीघ्र चले जाना चाहिए। खाम-खाँ वातावरण बिगाड़ दिया इसने, हमारा योगाभ्यास ही समाप्त कर दिया; वह यही सोचता रहेगा। अच्छा! उसको यह नहीं पता चल रहा है कुविचार है यह, नहीं; वह चल रहा है उसका ! और आजतक का जीवन ऐसा ही चला आ रहा है उसका, जो अनुकूल रहा उसको ग्रहण करता रहा, जो प्रतिकूल रहा उससे टकराते रहना; ऐसा जीवन रहता है।

साधक १ – वहाँ किस प्रकार से सोचना चाहिए।

स्वामी जी – एक परिभाषा तो बता दी, नहीं आई समझ में ?

साधक १ – थोड़ा घटाकर समझा दें।

स्वामी जी – हाँ उसके लिए विविध धारा हमारे सामने आएगी, जैसे, इस व्यक्ति को भी तो आवास चाहिए रहने के लिए, इसको भी भोजन, वस्त्र चाहिएँ और यह व्यक्ति व्यवहार को नहीं जानता, किसी ने सिखाया नहीं इसको, अतः उचित व्यवहार नहीं कर रहा है। हमको भी किसी विषय में

प्रशिक्षण न मिले तो हम भी ऐसा ही करते हैं। ऐसा विचार करना चाहिए। पुनः कहते हैं हम तो आदर्शरूप में यम-नियम का पालन करते हैं, यह तो क्रोध हुआ, वैर हुआ, अहिंसा का पालन कहाँ हुआ ? जैसे मैं ईश्वर का पुत्र हूँ; वैसे ही यह भी है, मुझे भी दूसरों से अपेक्षा होती है कि यह मेरी सहायता करे, वैसे ही इसे भी चाहिए। यह जितना बाधक है उतना सहायक भी तो है; इससे सहायता लेनी चाहिए। चलो बैठाकर समझाते हैं, इससे यह करना चाहिए। पुनः वह देखता है अपने सुख में बाधक देखकर तो इससे कुछ द्वेष करने लगा हूँ ! यह तो ठीक नहीं है।

हाँ ! बार-बार समझाना चाहिए, फिर भी न समझे तो उपेक्षा कर देनी चाहिए। उपेक्षा की धारा भी भिन्न-भिन्न होती है। एक यह है कि उपेक्षा कर दो पर उसका भला चाहो। दूसरी हैं भला न चाहकर बिलकुल छोड़ देना। अब ये थोड़े-थोड़े अंश आपको दिखाई दे रहे हैं। एक-एक अंश बुद्धि को मोड़कर रख देता है। एक थोड़ी सी धारा मुड़ती है तो आपके जीवन को मोड़ देती है। उपेक्षा का जैसे मैंने सुनाया। इसी में आपकी जीवन विचारधारा मुड़ जाएगी। एक उपेक्षा आप ये करेंगे; यह व्यक्ति अच्छा नहीं है, तो इससे न कोई प्यार न द्वेष होना चाहिए। इस प्रकार अब उसके भले का ही नहीं सोचना, नहीं सोचना, सोचना ही नहीं चाहिए यह तो बहुत खराब काम है ! ये जो कहा इसके भले के लिए सोचना बुरा है; यह कुविचार आ गया। परन्तु एक क्षेत्र ऐसा है मैं इसका भला करूँगा तो मुझे ही समाप्त कर देगा तो उस स्थिति में हम उससे थोड़ा सा दूर रहेंगे, बचेंगे, परन्तु बचते हुए भी एक स्थिति अपने मन में रखनी चाहिए कि यह इस उलटे व्यवहार को यह छोड़ दे, धर्म पर चलने लग जाए तो अच्छा है। धर्म पर चलने लग जाय तो अन्यों को कष्ट न हो। इससे इसका भला होगा।

साधक १ – जो व्यक्ति समाज, राष्ट्र, संस्कृति के लिए बिलकुल हानिकारक हैं, संस्कृति को मिटा के रहेंगे, अत्यधिक दुष्ट हैं तो उनके प्रति तो चाह सकते हैं इनका सत्यानाश, विनाश हो जाना चाहिए ?

स्वामी जी – इसमें यह ध्यान देने योग्य है कि विनाश तो चाहेंगे पर उनका विनाश भी उनके और अपने = अन्य के भले के लिए होगा।

साधक १ – उसमें प्रेम तो नहीं रहेगा ?

स्वामी जी – नहीं नहीं ! हम वैरभाव से उसका विनाश नहीं करना चाहते, उनके हित के लिए विनाश करना चाहते हैं।

साधक १ – हम उसके दुर्गुणों का विनाश करना चाहते हैं; ऐसा मान कर चलेंगे।

स्वामी जी – एक ही बात है। किसी दुष्ट आत्मा को दण्ड इसलिए नहीं देते हैं कि वह घृणित है सदा दुःखी रहे। अपितु उसका दुःख हटे, उसका पापमय वर्त्तमान जीवन बदल जाय, और अगला जीवन अच्छा बने, इसलिए मृत्यु दण्ड तक देते हैं। जैसे न्यायाधीश फाँसी तोड़ता है, जो उचित है। इससे समाज का भला होगा, यह इस कुमार्ग से बचेगा, इसलिए न कि वैरभाव से फाँसी तोड़ता है। ईश्वर हमको सूअर बना देता है, वह हमारे भले के लिए ही तो बनाता है, बुरे के लिए तो ईश्वर बनाता नहीं है। ईश्वर का जैसा दण्ड विधान है वैसा ही हमारा होगा। अब तो आया समझ में? कोई दुष्ट जैसे आतंकवादी ही हो, सर्वत्र यही लागू है। सीधी सी बात है जैसा ईश्वर दण्ड देता है, भले के लिए देता है बिना विरोध के देता है, कल्याण के लिए देता है, व्यक्ति भी यदि ऐसा करता है तो वह बुरा नहीं है।

साधक १ – यहाँ दण्ड देने में वर्णानुसार भी विभाग करना पड़ेगा, हर कोई तो दण्ड नहीं दे सकता ?

स्वामी जी – सामान्यतया क्षत्रिय दण्ड देगा किन्तु जब घटना सामने होती है, अपने ऊपर पड़ती है तब सबको स्वयं रक्षा करनी पड़ती है। वहाँ कोई भी दण्ड दे सकता है। जो विशेष अवसर होते हैं योजनाबद्ध युद्धादि करना, वह ब्राह्मण के लिए नहीं है। परन्तु अपने क्षेत्र में तो वे भी अपनी रक्षा वैसे ही करते हैं या नहीं करते?

साधक १ – करते हैं, करना चाहिए और अन्यों को भी प्रेरणा करनी चाहिए।

स्वामी जी – प्रेरणा में कभी आप भी न लिपट जाओ। कभी एक ओर प्रेरणा करने लग जाओ और दूसरी ओर वह हिंसा का रूप धारण कर ले ! यह बहुत आगे की बात होती है कि व्यक्ति उस काम को करता रहे और स्वयं उसमें ग्रस्त न हो; यह बहुत गम्भीर है।

आप को घटना भी सुना सकते हैं। बहुत पुरानी बात है ४० वर्ष जितने हो गए। ऋषि उद्यान में हवन होता था, दैनिक चलता था अब भी चलता होगा, एक परम्परा रही है। वहीं एक साठ वर्ष के वानप्रस्थी थे। वहाँ कभी ४–६ व्यक्ति बैठते थे उनमें कभी तनाव हो जाता था। एक बार ऐसा

ही हुआ। बात यह थी कि वानप्रस्थी जी ने कहा यजमान के स्थान पर मैं बैठूँगा, मेरा अधिकार है। तो किसी ने कहा ये वानप्रस्थी हैं इनको नहीं, अन्यों को बैठना चाहिए । तो उन्होंने जो कहा, उसका भाव सुनाता हूँ – स्वामी जी ने लिखा है कितना ही अन्यायकारी राजा क्यों न हो उसका विरोध करना चाहिए । इसलिए मैं इस (किसी) की बात को नहीं मानूँगा ।

उस भले व्यक्ति को सोचना ही नहीं आता । यहाँ क्या मतलब अन्यायकारी राजा का विरोध करना चाहिए (कहाँ के लिए लिखा है ?) कहता है नहीं; स्वामी जी ने कहा है अतः ऐसा करो । पुनः लोगों ने क्या किया और भी अन्यत्र ऐसा करने लगे । बस बारह खड़ी सीखो और व्याख्यान देना आरम्भ करो । धज्जी उड़ा के रख दो, फलाना, ये, वो आदि । घर में स्वयं सन्ध्या करता नहीं, न करवाता है, न बच्चों को सिखाता है । बस पसीना-पसीना हो रहा है ऋषि ने यह लिखा, ऋषि ने वह लिखा है । भले व्यक्ति तेरा विनाश हो रहा है, ऋषि की बात करता-करता तू कहाँ चला गया ? यह अनधिकार चेष्टा है । समझ में आ गया ? कितना सम्भल के रहना पड़ता है व्यक्ति को । अच्छा ! आपको कोई धक्का दे दे तो क्या करोगे ? आप को पता है, कितनी सहनशक्ति होनी चाहिए व्यक्ति में? बहुत कम पता होगा। आप कोई संस्था चलाओ, ब्रह्मचारियों को पढ़ाओ तन–मन–धन से और वे आपकी धज्जियाँ उड़ाएँ या कहें कि यह बहुत बुरा व्यक्ति है आदि आदि। तब आप उनके साथ क्या करोगे ? प्यार करोगे ?

साधक १ – सहन करना पड़ेगा ।

स्वामी जी – और देखो यही विचार सिद्धान्तों के क्षेत्र में काम करते हैं । सिद्धान्तों के आधार पर जो विचार काम करते हैं उन्हीं पर मतमतान्तर खड़े हुए हैं । विचारों के प्रशिक्षण के बिना उलटी विचारधारा चल पड़ती है और उसी विचारधारा में व्यक्ति लुढ़ककर वह काम करता चला जाता है जिससे अत्यन्त नीचे चला जाता है । वही यदि अच्छा विचार करता तो वही व्यक्ति पता नहीं कितनी ऊँचाई पर चला जाता। कुविचारों ने उसको मोड़ दिया ।

एक बड़ी अवस्था के व्यक्ति थे, साधु के रूप में दिखाई दे रहे थे। बातचीत हुई कि आप पढ़ते हैं ! तो कहा नहीं । हमने कहा कुछ पढ़ना-लिखना किया करो। तो उनका विचार क्या था ! पढ़ना-लिखना कोई काम की चीज नहीं है, गुरुजी की कृपा रहनी चाहिए, इसी में कल्याण है । तो

यह उलटी विचारधारा है। आपने देखना है जिन क्षेत्रों में वे लोग भटके हैं उलटे विचारों के कारण आप अगले विचारों में भटक सकते हैं । वे लोग उलटे विचार करते-करते भटक गए और अपने जीवन को ऊँचा नहीं कर पाए, ये जितने मतमतान्तर वाले हैं, सब में यही स्थिति मिलेगी । वैदिक सिद्धान्त को मानते हुए यदि उलटे विचार करेंगे तो आपकी भी भटकने की स्थिति आ सकती है । आप ये मत मान लेना कि वे तो भटक गए, हम नहीं भटकेंगे ? ऐसा मान के बैठ तो गए पर आपको पता नहीं आपके भटकने के क्षेत्र कौन-कौन से हैं ? आप कभी ऐसा सोचेंगे मुझे तो संसार के खाने-पीने आदि विषयों में कोई दुःख नहीं दिखता, ऋषियों ने तो लिख दिया इसमें चार प्रकार के दुःख हैं । मेरी बुद्धि में तो नहीं बैठती यह बात। तो यहाँ से कुविचार आरम्भ हो गया । ऐसा सोचने लगे और सोचते चले गए तो परिणाम वही निकलेगा जो नहीं निकलना चाहिए ।

अच्छा ! आप स्वयं विचार करते हैं, जैसा वह सर्वव्यापक है, जैसा वह सर्वज्ञ है, जैसा वह हमारा सब कुछ जानता है, हम नितान्त तीनों कालों में उससे आबद्ध हैं । क्या आप दिन में ऐसा सोचते हो, आत्मनिरीक्षण करो! देखो विचारों को, कितना सोचते हो, कितना नहीं ? पुनः दुहराऊँ?

साधक १ – इस विषय में सोचते तो हैं, परन्तु हमेशा नहीं।

स्वामी जी – सदा सोचना और ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुरूप सोचना; यह बात देखने की है । आप का ज्ञान काम कर रहा है अन्दर, पर जैसा ईश्वर सर्वव्यापक है, सर्वज्ञ है, तीनों काल में आबद्ध है, ऐसा आप सोच रहे हों और ज्यों का त्यों उसका विवरण दिया है वैसा तो नहीं रहता। विचार कुछ दूसरे ढंग के रहते हैं तो उसको मत मान लेना सुविचार है यह। अथवा सुविचार-कुविचार पता ही नहीं चलता और उसको ठीक मानकर चल रहे हैं ?

आप ने क्या किया ? करना तो था **सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा** । प्रायः व्यक्ति दुनिया भर का विचार करता है, पढ़ाई का विचार करता है, लेन-देन का विचार करता है, पर वह जो ईश्वर के अनुकूल होना था, ईश्वर को समर्पण करना था; उस पर कभी नहीं बल देता है, छोड़ रखा है। ईश्वर-प्रणिधान के प्रति जो अपनी मानसिक स्थिति बनानी थी, पुनः बाहर के प्रति, सारी वह नहीं विचारता। पुनः अन्य विचारों को करता-करता वह ईश्वर को ही भूल जाता है । ऐसा आप देख सकते हैं,

दिन में परीक्षण करके देख लो । ऐसा क्यों हुआ ? इसलिए कि उलटे विचार किये हैं दिन में कार्यकाल में । उलटे विचारों के कारण ईश्वर के विषय में विचार करना छोड़ दिया और दूसरे विषयों को विचारता रहा। इसको यम-नियमों में लगाओ तो यह विचारों का परिग्रह है।

जो-जो विचार हानिकारक, ईश्वर से विमुख करनेवाले, अधर्म की ओर ले जाने वाले, जो भी विचार हम ईश्वर आज्ञा के विरुद्ध इकट्ठे करेंगे, ऋषियों के संविधान के विरुद्ध कहेंगे और निरर्थक विचार भी होते हैं जिनका कोई प्रयोजन भी नहीं दिखाई देता हो, वैसे चलते रहते हैं । तो ये विपरीत सोचना विपरीत विचार करना, ये सारे के सारे उस परिभाषा में लाए तो परिग्रह कहलाता है, विचारों के क्षेत्र में ।

आप ने या किसी ने सोचा; दूसरा व्यक्ति थोड़ा पढ़ा-लिखा है, उसकी योग्यता आप जैसी नहीं है तो आपके मन में आया इसकी कोई योग्यता नहीं है, यों ही रहता है, मात्र गुजारा करता है । मेरी तो इतनी योग्यता है, इसकी क्या योग्यता है ? यह विचारों का परिग्रह है । व्यक्ति को पता भी नहीं चलता ।

एक व्यक्ति समाजिक-कार्य में विशेष दौड़-धूप करता है और थोड़े काम करने वाले को कहता है; यह क्या काम करता है, यों ही नाममात्र का काम करता है। मैं तो इतना काम करता हूँ । इतना धन इकट्ठा करता हूँ, इतना विद्वानों का आयोजन करता हूँ, इतने ये करता हूँ । वह यह सब सोचता है पर उसको पता नहीं चलता विचारों का परिग्रह कर रहा हूँ । सोचता तो है पर उसका परिणाम क्या होगा उसे नहीं जानता है । उसका मिथ्याभिमान उभरेगा, दूसरे से उसको घृणा होगी । परमात्मा के प्रति जो श्रद्धा होनी चाहिए थी कि सब कुछ ईश्वरप्रदत्त है, जो तू अच्छा करता है वह ईश्वर प्रदत्त है, तेरी जो बुद्धि है वह ईश्वरप्रदत्त है, तेरे पास जो साधन हैं, ईश्वरप्रदत्त हैं । तू क्या सोचता है कि मैं करता हूँ ? उसने जब ऐसा सोचा कि सब बेकार की बातें हैं जो मैं सोच रहा हूँ हटाओ हटाओ । अब वह सुविचार बन गया।

इसलिए शब्द-प्रमाण की दृष्टि से मुक्ति के साधनों में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने सुविचार को एक साधन के रूप में संगृहीत किया है। सुविचार करो, कुविचारों को धक्का दो । युद्ध करो तब ये निर्बल पड़ते जाते हैं वे बलवान् होते जाते हैं । पुनः पूर्वजन्म या इस जन्म के जो कुविचार हैं निर्बल पड़ते जाते हैं सुविचार बलवान् होते जाते हैं । कालान्तर में करते-करते जो

सुविचार आज अच्छे नहीं लगते, जिनमें झुकाव नहीं, वही अच्छे लगने लगते हैं और ये जो बुरे विचार हैं वे बहुत हानिकारक दिखते हैं तब उनके ग्रहण करने की इच्छा नहीं होती है। यदि कुविचारों का विरोध न किया जाय, उनका त्याग न किया जाय, उसके साथ युद्ध न किया जाय तो कालान्तर में हम उनसे प्यार करने लग जाएँगे। पुनः वही विचार हमको मोड़कर लौकिक जीवन की ओर ले जाएँगे, योगमार्ग से विमुख कर देंगे।



ईश्वरप्राप्ति, लोकप्राप्ति व समाजसेवा

आत्मनिरीक्षण के साथ अपने मनःस्थिति को देखकर बताएँगे कि आपका मुख्य प्रयोजन ईश्वरप्राप्ति है या लोकप्राप्ति या मध्यस्थिति है ?

साधक १ – ईश्वरप्राप्ति मुख्य लक्ष्य है ऐसा ही मानता हूँ।

स्वामी जी – परीक्षण करने से यह पता चलता है।

साधक २ – विचारने पर ऐसा लगता है कि मानता हूँ मैं ईश्वरप्राप्ति ही मेरा उद्देश्य है परन्तु कभी-कभी मन में ऐसी लौकिक स्थितियाँ बन जाती हैं जिनसे टकराव दिखाई देता है।

स्वामी जी – तो इसको जब इस स्थिति में देखते हैं तब उस स्थिति को निर्बल बनाने का प्रयास करते हैं। उसमें दोष देखते हैं। उद्देश्य को प्रबल बनाते जाते हैं। प्रमाणों से पुष्ट करते जाते हैं। तब कालान्तर में वह कम हो जाता है, लौकिक-प्रयोजन निर्बल पड़ जाते हैं, ईश्वरप्राप्ति करना-कराना प्रबल हो जाता है। हम इसको प्रबल बनाने के चिन्तन–मनन, स्वाध्याय, उपासना में अधिक समय लगाते हैं। यदि न करें तो पुनः लौकिक-प्रयोजन मुख्य हो जाएगा और यह गौण हो जाएगा।

साधक ३ – लौकिक-प्रयोजन में प्रधानता अनुभव करता हूँ।

स्वामी जी – उसकी प्रधानता का अनुभव करते हुए उसको गौण बनाना या छोड़ ही देना, इस विषय में क्या प्रयास रहता है ?

साधक ३ – इस शिविरकाल में ईश्वर-प्राप्ति के महत्त्व को समझकर वह मुख्य लक्ष्य बन जाय, ऐसा प्रयत्न कर रहा हूँ।

साधक ४ – विचार करने पर ईश्वरप्राप्ति मुख्य लक्ष्य दीखता है तथा इस प्रकार बनाये रखते हुए दिनचर्यादि कार्यों को करने का प्रयास भी करता

हूँ परन्तु उसमें धीरे-धीरे कमी होती जाती है और लौकिक-लक्ष्य प्रधान हो जाता है । बीच-बीच में विचारों को रोककर दुहराता हूँ कि न्यून योग्यता के कारण ऐसा कर रहा हूँ पर आगे चलकर इसी कार्य को करना है ।

साधक ५ – स्वामीजी ! ईश्वरप्राप्ति ही मुख्य लक्ष्य प्रायः बना रहता है, परन्तु इसमें सामाजिक कार्य अधिक सहायक लगते हैं । किन्तु कभी कभी नितान्त छोड़ देने की इच्छा उत्पन्न होती है ।

स्वामी जी – उसमें यह ध्यान देना होगा कि एक भाग है आपका वैदिक दर्शनों को कम से कम चार या पाँच को गम्भीरता से पढ़ना और पुनः पढ़ाने की योग्यता प्राप्त करना । पुनः १० उपनिषदें हैं, सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका आदि की सज्जा करना पुनः विवेक-वैराग्य कैसे उत्पन्न होवे उसकी सभी गतिविधियों को समझना और प्रयत्नपूर्वक वैसा करके देखना। विवेक-वैराग्य को उत्पन्न करने के लिए बहुत बल लगाना; यह इसका दूसरा भाग है । तीसरा भाग है इसी प्रकार के सज्जनों, बुद्धिमान्, विद्वान्, योगाभ्यास में रुचि रखनेवालों का सत्संग करना । पुनः इतना करते हुए ऐसा करना कि कुछ कार्य समाज के लिए हो जाए । चाहे वह कोई संस्था हो या गुरुकुल वहाँ निष्काम भावना से सेवा करनी चाहिए ।

आगे बढ़ते हैं तुलनात्मक स्थिति में – ये जो मैंने संकेत दिए सज्जा के लिए, आज आप इनमें यदि कम प्रयत्न करेंगे, या इनको गौण बना देंगे, और समाज के कामों में लग जाएँगे, उस ओर अधिक रुचि हो जायगी तो यह मार्ग छूट जाएगा और आपका जो व्यक्तित्व बनना है, आदर्शरूप में आना है, वह समाप्त हो जाएगा। आगे आप तीन एषणाओं के चक्कर में पड़कर निष्काम-कर्म को छोड़कर सकाम-भाव से समाज की सेवा करने लग जाएँगे। उदाहरण चाहें तो पूरे समाज को देख सकते हैं । देखो समाज का कार्य तो करना ही है पर प्रथम अपनी विद्वत्ता, विवेक—वैराग्य, योगाभ्यास में समय; इसके लिए पूरा बल लगाकर स्वयं को तैयार करना और यह मानना कि जिस समाज की मैं सेवा करना चाहता हूँ उसकी अब तो थोड़ी मात्रा में कर रहा हूँ किन्तु जब में अच्छी विद्या प्राप्त कर लूँगा, विवेक-वैराग्य ऊँचा हो जाएगा, समाधि लगने लग जाएगी, दर्शनों पर अधिकार कर लूँगा, तब मैं हजारों की सेवा कर सकूँगा। कितने और लोगों को तैयार करूँगा। आज वाला समाजसेवा का जो अंश है उसको कौन सा बताएँ हजारवाँ या कितना बनेगा ? आगे ऐसी योजना पूर्वक सज्जा करके पुनः समाज प्रधान हो जाएगा।

अपना निर्माण हो जाने पर जो आप व्यक्तियों को सिखा सकते हैं, पढ़ा सकते हैं या लेखन कर सकते हैं, योगविद्या की गहराई में जा सकते हैं, साक्षात्कार की स्थिति को लोगों को बता सकते हैं वह जो सेवा होगी और आपका भी जीवन बनेगा; आज तो वह बात नहीं होगी ।

हाँ ! दूसरी बात सुनो ! आपकी इसमें कोई रुचि नहीं, प्रवृत्ति नहीं, आकर्षण नहीं है ईश्वर-साक्षात्कार के लिए, न आज विद्वत्ता प्राप्त करने की स्थिति में हैं, जिसको देख रहे हो आप तब साधारण मनुष्य की स्थिति में सन्ध्या, स्वाध्यायमात्र कर लेना। ऐसी स्थिति हो तो पुनः आप विशेष बल समाज के लिए लगाएँ । समझ में आ गया ?

एक व्यक्ति बौद्धिक स्तर पर ऊँची विद्या को प्राप्त नहीं कर पा रहा है, विवेक-वैराग्य, योगाभ्यास में रुचि, सामर्थ्य नहीं है तो ऐसी स्थिति में समाज सेवा के लिए जीवन लगा दे कोई बात नहीं । परन्तु समाज के लिए थोड़ा बहुत उपकार तो करेगा ही पर वहाँ सेवाभाव लेकर चलने में वैराग्य के अभाव में सकामता पर उतर जाएगा । उसे मान चाहिए, धन चाहिए, पुत्र, शिष्य, अधिकार चाहिए । वह पुत्रैषणा, लोकैषणा, वित्तैषणा से जकड़ा जाएगा। कुछ तो परोपकार करेगा । देखना हो तो आज के ढाँचे को देख लो। नाम लेने की आवश्यकता नहीं है । समाज के नाम से, राष्ट्र के नाम से एड़ी से चोटी तक बल लगाते हैं परन्तु वहाँ न समाज का भला होता है न अपना भला होता है, यह परिणाम निकलता है । समाज का सुधार, समाज का उत्थान होने की बात छोड़ो और थोड़ा आगे बढ़ के देखो तो मिलेगा वह समाज को गिराने में लगा है । यह कोई नई घटना नहीं है । नीचे से ऊपर तक ऐसा मिलेगा । बीच-बीच में कुछ व्यक्तियों को छोड़ दो, पूरे के पूरे एक जैसे नहीं होते । शेष का बल वहाँ लगा हुआ है, अधिकार प्राप्त करो, उखाड़ो, गिरा दो । वहाँ भी न्याय से नहीं अन्याय से और कहेंगे कि राष्ट्र के लिए हमारा जीवन समर्पित है और यह व्यक्ति नास्तिक है, बड़ा स्वार्थी है आदि आदि । तो यह क्यों हुआ ? पहले अपना निर्माण हो जाना चाहिए था व्यक्ति का वह नहीं हुआ । इस समय सेवा तो करनी है, पर उसके लिए इतना बल नहीं लगाना है, मात्रा थोड़ी रहेगी । सेवा होती रहेगी और आगे के लिए भाव रहेगा कि पूरे समाज के लिए मेरा जीवन बन रहा है । समाज के लिए शरीर है, समाज के लिए विद्या है पर उसकी पूरी सज्जा करके करूँगा। तब कई गुणा लाभ होगा; उसकी यह योजना रहती है ।

अब थोड़ा सा इतिहास तो देखो ! स्वामी दयानन्द ने कुम्भ के मेले पर सुनते हैं पाखण्ड-खण्डिनी पताका गाड़ी, उपदेश दिया, लोगों को प्रभावित करना चाहा पर लोगों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा । तब उन्होंने अनुभव किया मेरे अन्दर कमी है ! तैयारी अच्छी नहीं हुई । पुनः पाँच वर्ष कौपीन बांधकर रेती में खूब तैयारी की । बताया जाता है तब वे समाज के लिए आए । ये सारी प्रत्यक्ष बाते हैं। अब जो हमारा और समाज का सन्तुलन है वह खो गया है । उसने राजनीति का रूप ले लिया । जैसे राजनीति वाले चलते-बोलते हैं वैसे ही समाज सेवक भी बोलते हैं । उसका मध्यस्थ, तटस्थ लोगों पर बहुत कुप्रभाव पड़ा । उन्होंने समाज में आना छोड़ दिया। अपना व्यक्तिगत सत्संग कर-करा लेते हैं, पर समाज के लिए कोई रुचि, आकर्षण नहीं रहा। गए भी तो झगड़ा ही देखा । उसका परिणाम निकला उस झगड़े को देखकर अपने परिवार के लोग कहते हैं उस झगड़े में जाकर क्या करूँगा, वहाँ तो झगड़े ही झगड़े होते रहते हैं । यह इसलिए हुआ व्यक्तिगत जीवन बिगड़ गया, व्यक्तिगत जीवन का निर्माण नहीं हुआ । आर्यसमाज के सदस्य बनाने थे योग्यता के आधार पर किन्तु केवल मत देने के लिए, अपने को जिताने के लिए सदस्य बनाते हैं । वह वर्ग जिसको कुछ नहीं आता-जाता है, उसको अधिकारी बनाते हैं । ऐसे वह वर्ग तैयार होता है । इसलिए ऐसा धोखा मत खा जाना कि समाज सेवा की बड़ी इच्छा है, यह है, वह है । हाँ आपकी पढ़ने में, योग में कोई रुचि नहीं है और समाज सेवा में है तो वहाँ भी सन्ध्या, स्वाध्याय, व्यायाम कर लेना पुनः जो समाज का कार्य अच्छा लगे उसको कर सकते हैं ।

कभी-कभी कोई व्यक्ति ऐसा कहता है मेरी विद्या में रुचि नहीं, योग में रुचि नहीं है; मैं तो अन्याय से लड़ना चाहता हूँ । हम कहेंगे ठीक बात है पर बुद्धिपूर्वक लड़ो । उसकी रीति है कि अपनी योग्यता बनाओ अपने साथी तैयार करो, योजना बनाओ । वह सारा संगठन बुद्धिपूर्वक बनाना, सेवाभाव उसमें हो, परस्पर एक दूसरे के लिए व्यक्ति समर्पित हो । यदि क्षत्रिय बनकर ही काम करना हो तो वहाँ भी निष्काम भावना चाहिए, उसमें संगठन बनाने का बल हो, योजना हो, वहाँ परोपकार की भावना बहुत होनी चाहिए, सहनशक्ति होनी चाहिए, अनुशासन पालन बहुत होना चाहिए। आपस में सत्य का व्यवहार करें, जितने भी सदस्य हों। झूठ, छल-कपट का न करें । अन्यथा वहाँ वह स्थिति हो जाती है जो अन्यत्र हो रहा है । जैसे ही दो जने बराबरी पर आए,

उन्हीं में झगड़ा मच जाता है। एक कहता है मेरा नाम पहले आना चाहिए, दूसरा कहेगा मेरा नाम पहले आना चाहिए। उसी पर झगड़ रहे हैं और राष्ट्र का नाम ले रहे हैं। इसलिए सोचने का यह ढंग है। वह करो पर उसके करने में ये गुण आने चाहिएँ।

जैसे थोड़ी सी एक भावना देखो ! सब की बात तो मैं नहीं कहता। भारत को स्वतन्त्र बनाने के लिए सर्वस्व की आहुति जिन्होंने दी, उनमें लगन कितनी होगी ? यों तो ठीक है सूक्ष्म लोकैषणा उनमें तो होगी परन्तु स्वयं मर-मिटने के लिए आगे आने को तैयार थे। अच्छा, उनमें भी कई तरह के लोग हुए हैं कोई संगठन बना के चला है किसी ने अकेले दौड़ लगायी।

तो समझ में आ गया; यह सोचने का ढंग है। अब आपको यह पता चला कि समाज सेवा का भाव तो आया परन्तु सकामभाव से आया या निष्काम भाव से ? इसका कोई अता-पता नहीं। इसका अध्ययन करके देखेंगे आप। समाज सेवा करते हुए मान चाहेंगे कि नहीं ? धन चाहेंगे कि नहीं ? पुत्रैषणा होगी या नहीं ? अध्ययन से पता चलेगा कि वास्तव में एषणा के झपट में आ रहा हूँ। यह केवल व्याख्यानमात्र नहीं है। मेरे कितने लम्बे काल के अनुभव हैं, सारे गुरुकुल, संस्थाएँ, समाज कैसे-कैसे चलते हैं, उनमें रहे हैं, उनका पता है। परन्तु वहाँ मैं जो सेवा करता था उसके सामने आपका सेवाभाव नाममात्र का है। न के बराबर है।

जिस सेवाभाव से मैं रहता था कुछ घटना तो बतानी चाहिए। जब मैं गुरुकुल में रहता था तब एक विद्वान् लगभग ७० वर्ष के थे। उनको कम्पन का रोग था। जैसे कुछ पकड़ें तो कठिन, कपड़ा निचोड़ें तो कठिन। चलते-फिरते कम्पन। आगे ऐसी स्थिति हो गई कि न सो सकते थे, न हाथ धो सकते थे, न और कुछ। अब बात यह होती थी, जब अधिक बल का कार्य होता था तो पूरे गुरुकुल का ध्यान मुझ पर जाता था। पत्थर फोड़ने हों, लक्कड़ फाड़ने हों आदि। ऐसे मोटे-मोटे घन होते थे, इतनी बड़ी-बड़ी छेनियाँ होती थीं कि रणवीर जी जैसे उठाते ही बीच से टूट जाएँ। कुछ छोटी होती थीं। एक घण्टा जो प्रतिदिन का कार्यकाल होता था उसमें ढेर सारे ५० व्यक्ति के दोनों समय का ईंधन तैयार करना होता था।

अब यह भी कठिन काम आ गया। किस विद्यार्थी को कहें ? जिस प्रकार माँ बच्चे को शौच करवाती है, शौच धोती है, हाथ धुलवाती है वैसा करना है। अब कौन जाय उस वृद्ध व्यक्ति के पास बच्चे की तरह सेवा

करने ? बस मेरे पर दृष्टि गई । स्वामी ओमानन्द जी आचार्य थे उन्होंने कहा उनकी सेवा करनी है। मैंने कहा ठीक है। ये माँ तो बच्चे की सेवा सकामभाव से करती हैं मैंने निष्काम-भाव से की । हाथ धुलाना, शौच करवाना, उसको उठाकर बाहर फेंकना आदि । आप ऐसा कर दोगे या भाग जाओगे ? तो ऐसी-ऐसी बातें हुईं ।

और सुनाता हूँ प्रेरणा की बात है । कोई भी ब्रह्मचारी चाहे वह १० का हो १५ वर्ष का हो । जितना समय मिले योगाभ्यास करो, ईश्वर की उपासना करो, विद्वान् बनो सबको ऐसा समझाता था । उधर अध्यापक वर्ग जो पहले-पहले वर्ग के थे मुझ से अवस्था में तो छोटे थे जैसे सुदर्शनदेव जी, वेदव्रतजी, महावीर जी मीमांसक और भी महावीर जी हुए जिनमें एक गुरुकुल कांगड़ी में हैं, राजवीर जी शास्त्री आदि को योगाभ्यास के लिए प्रेरणा देना । योगाभ्यास करो, ब्रह्मचारी रहो, आजीवन ब्रह्मचारी रहो । यद्यपि ये पढ़ते भी थे और पढ़ाते भी थे । मैं इनसे निम्न श्रेणी में पढ़ता था । पुनः एक फार्मेसी थी उसमें काम करने वाले होते थे कितने भी, उनको भी समय निकालकर प्रेरणा देता, योगाभ्यास करो, अध्ययन करो । पुनः गौशाला वालों को, पाचक को प्रेरणा। नहीं पढ़ सकते तो हम पढ़ाते हैं । सारे विभागों में प्रेरणा करता था। पहले तो समय मेरे पास थोड़ा पुनः सारे को आकाश में उठाने की बात।

आपको बताऊँ सेवाभाव की स्थिति ! मुझे तो घर पर रहते हुए पहले ही वैराग्य हो गया था पीछे गुरुकुल गया । वहाँ पूरे संसार को योगी बनाना है; यह मेरी योजना थी। वर्षों तक प्रयोग किया, पुनः मैंने सोचा इतना परिश्रम किया किन्तु इनमें से कोई वैसा वैराग्यवान् तो हो नहीं रहा है जैसा मैं चाह रहा हूँ ! पुनः सोचा कुछ थोड़ी संख्या में हो सकते हैं ५०/१०० आदि । पश्चात् कुछ वर्ष तक बहुत परिश्रम किया पर इनमें से ५०/१०० भी कठिन हैं निकलना ! और आगे बढ़ता गया, परिश्रम करता रहा । सोचा १०—१५ ही सही । १५ भी कठिन लग रहा है । चलो २—४ सही । पुनः देखा ये तो करते ही नहीं जैसा मैं कहता हूँ। पुनः सोचा जितने हो जाएँ उतने सही। करते रहो ।

तो आपने सेवाभाव कम देखा है । कैसा होता है । पूरा का पूरा बल लगा दिया और बदले में मुझे क्या मिला इसका नामनिशान नहीं। न कोई लोकैषणा, न सेवा, कुछ नहीं और यह तैयारी मेरी चलती थी कि अष्टाध्यायी पढ़-पढ़ा के शीघ्र से शीघ्र ऐसे ही और बनाने हैं । पुनः प्रचार-प्रसार करके

पूरे संसार में वैदिक धर्म, वैदिक योग, अष्टाध्यायी महाभाष्य पाठ्यक्रम चलाना है । गुरुकुल परम्परा चलानी है । आपका तो पता नहीं कमरे में खा-पी के पड़े, बैठे रहते हैं, किसी को पता भी नहीं चलता शौच के लिए भी गया है या नहीं ?

जिस काल में वैराग्य हुआ यदि उसी काल से मेरी पठन-पाठन की व्यवस्था हो जाती और योग के विषय में बताने वाला मिल जाता तो पता नहीं क्या से क्या कर देते ! शारीरिक दृष्टि से बहुत तगड़ा शरीर बनता। आप तो ऐसे ही कमजोर से दिखाई देते हो, स्यात् अब भी मुझ से कमजोर हों । उस समय बिजली नहीं थी तब बैल से रहट चलता था । एक बार उस रहट को चलाने लगा तो लोग कहने लगे देखो ! कितना बलवान् है? गाँव में भी कबड्डी खेलना, कुश्ती करना आदि होते थे जबकि हमारे पास घी, दूध साधन नहीं थे । यदि होते तो गाँव में ही शारीरिक बल बहुत बढ़ जाता। तगड़े से तगड़े बनने में रुचि थी। साधन के अभाव में और कार्याधिक्य, अष्टाध्यायी रटने आदि से शारीरिक रोग लग गए, बाधा आ गई । उस समय व्यक्ति में जो तीव्रता होती है वह थी । सीधे में लगा दिया तो, उलटे में लगा दिया तो उसी में लग जाते थे । खेत में कार्य करते समय कोई उंगली नहीं उठा सका। वैसे ही बचपन में संगीत में भी रुचि थी। तभी गुरुकुल में ले जाते तो सब सीख जाते । आप कुछ गा लेते हो, आपकी आवाज कैसी है रोनेवाली या गाने वाली ?



प्रयोग-खण्ड

योगाभ्यास व उपासना के आरम्भिक कर्त्तव्य

प्रथम **त्र्यम्बकं यजामहे...** इस मन्त्र से ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करेंगे—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् ।
ऊर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ॥ यजु० ३/६०।

हमारा लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति करना और कराना है । इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए सर्वप्रथम हम यह जानना चाहेंगे कि इससे सम्बन्धित हमारे पास क्या-क्या उपाय हैं ?

ऋषियों ने कहा ईश्वर की प्राप्ति करना और कराना यह संसार का उपकार है और इसका उपाय योग है । इसके पश्चात् योग की सिद्धि कैसे होती है? तो बताया इसकी सिद्धि शुद्धज्ञान, शुद्धकर्म और शुद्धोपासना से होती है । व्यक्ति को योगी बनने के लिए इन तीनों साधनों से सुसज्जित होना चाहिए।

ऋषियों ने संकेत किया, जैसा कि योंग की परिभाषा बतलाई— **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥** यो. द. १/२। चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं । इसी को बढ़ाते हुए कहा — ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना योगाभ्यास है । जो हम योगाभ्यास करते हैं, उसका एक भाग है— ईश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना करना और दूसरा भाग है चित्त की वृत्तियों का निरोध करना। चित्त की एकाग्रता का प्रयोजन है — प्रकृति और प्रकृति से बने शरीर, पृथ्वी आदि पदार्थों एवं आत्मा, परमात्मा का ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करना।

जो हम योगाभ्यास और उपासना करते हैं, उनसे सम्बन्धित भी दो बातों का ध्यान रखना चाहिए —

प्रथम : व्यवहार में यम-नियम का पालन अर्थात् ईश्वर की आज्ञा का पालन करना ।

द्वितीय : उपासना काल में अन्य विषयों से मन को रोककर ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिए; जैसा कि ऋषियों ने बताया है।

इस दृष्टि से विचारने पर जब हम उपासना करते हैं तो उससे पूर्व ही उसकी सज्जा कर लेते हैं। नियम भी यही है कि किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए पूर्व ही उसके साधनों का संग्रह कर लिया जाता है।

साधन के विषय में व्यक्ति को जानना चाहिए कि मैं ईश्वरसाक्षात्कार की स्थिति को प्राप्त करना चाहता हूँ तो मुझे जानना चाहिए कि जिस ईश्वर को मैं प्राप्त करना चाहता हूँ, वह कैसा है? जो मैं (आत्मा) उस ईश्वर को प्राप्त करना चाहता हूँ, वह कैसा हूँ ? इसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय, पृथ्वी आदि पदार्थों के विषय में भी जानना चाहिए कि इनका क्या स्वरूप है ? इस सज्जा के साथ वह उपासना में आसन पर बैठता है।

आसन पर बैठने के पश्चात् **प्रथम कार्य** उपासना के लिए **संकल्प** – उस शुभ-कार्य ईश्वर की स्तुति–प्रार्थना–उपासना के लिए संकल्प करता है कि "अब मैं इस आसन पर बैठकर ईश्वर की ही स्तुति–प्रार्थना–उपासना करूँगा, यह मेरा प्रमुख कार्य है"। पुनः वह संकल्प करता है कि इस काल में अन्य किसी भी विषय को नहीं उठाऊँगा। अन्य विषयों को क्यों नहीं उठाना है ? इसलिए कि यदि विषयान्तर में लग गया तो ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना नहीं कर सकूँगा। उपासना के काल में उत्तम से उत्तम विचार, यथा– विद्या-प्राप्ति, पठन-पाठन, परोपकार, अपने या अन्यों के कोई भी कल्याणकारी कार्य आदि से सम्बन्धित विचारों को भी रोक देना चाहिए।

इसके पश्चात् अपने शरीर में ही किसी एक स्थान विशेष में **धारणा** अर्थात् केन्द्र बना ले और इस केन्द्र पर स्तुति–प्रार्थना-उपासना कर रहा हूँ, ऐसा मानते रहे।

अब **दूसरा कार्य** ईश्वर के स्वरूप का **चिन्तन** – यह विचार करता है कि मैं इस आसन पर बैठकर जिस ईश्वर को प्राप्त करना चाहता हूँ, उसका स्वरूप क्या है ? पुनः साधक अपनी योग्यता के अनुसार स्थूल या सूक्ष्म लक्षणों के माध्यम से चिन्तन करता है। कोई वेद-मन्त्रों, दर्शन-सूत्रों, पंक्तियों के द्वारा, कोई आर्यसमाज के प्रथम व द्वितीय नियम के द्वारा अभ्यास करता है। इसमें काल का निर्धारण स्वेच्छा से करता है। यदि पर्याप्त समय हो तो इन सभी का प्रयोग किया जा सकता है। ईश्वर के स्वरूप को जानने के लिए मन में सैद्धान्तिक बातों की भी स्थापना कर लेनी चाहिए, जिसका परिणाम होता है कि ईश्वर विषयक संशय भ्रान्ति आदि हटते जाते हैं, निर्णयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता जाता है।

आसन पर बैठकर पूर्वोक्त बातों को ध्यान में रखते हुए साधक स्थूल रूप से इस प्रकार विचार करता है – स्वामी दयानन्द ने ईश्वर के स्वरूप

का जो वर्णन किया है, मैं उसी स्वरूपवाले ईश्वर को प्राप्त करना चाहता हूँ। साधक की स्थिति उस समय ऐसी होती है कि वह स्वामी दयानन्द को आप्त पुरुष मानता है। क्योंकि आप्त स्वीकार करने से ही विधि प्रामाणिक होती है, इसी से बात सिद्ध होती है, आप्तता के बिना विश्वास नहीं होता है।

उस अवस्था में बैठा हुआ वह ईश्वर के विषय में कुछ सोचता है और ईश्वर-समर्पित होकर कहता है, मैं आपको प्राप्त करना चाहता हूँ, आपका साक्षात्कार करना चाहता हूँ। अतः आपके स्वरूप को जानना चाहता हूँ। महर्षि ने आपके स्वरूप का वर्णन इस प्रकार से किया है– "ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है"। [आर्यसमाज का द्वितीय नियम]

यदि और वर्णन करना चाहता है तो अब वह पुनः कहता है – हे ईश्वर ! महर्षि ने प्रथम नियम में भी आपका वर्णन किया है, जो इस प्रकार है – सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है ॥ हे ईश्वर ! आप में अनन्त विद्यायें हैं। आप सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थों के रचयिता हैं।

अब **स्वयं के विषय में** साधक क्या विचार करे ? सो यह कि हे परमेश्वर ! मेरा स्वरूप जो शब्द-प्रमाण व अनुमान-प्रमाण से जैसा कि ऋषियों ने माना है "मैं आत्मा हूँ, सत् हूँ, चित् हूँ, एकदेशी हूँ, अल्पज्ञ हूँ। कर्म करने में स्वतन्त्र तथा फल प्राप्त करने में आपके अधीन हूँ। ऋषियों ने आत्मा के विषय में बताया वह इच्छा, द्वेष, प्रयत्न गुणवाला तथा सुख–दुःख का अनुभव करने वाला है। यही मेरा स्वरूप है।

अब **प्रकृति के विषय में** साधक विचार करे – मेरा यह शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि सब के सब पूर्ण सृष्टि हैं। सत्त्व, रज, तम नामक प्रकृति से बने हुए पदार्थ हैं। इन साधनों के माध्यम से हे ईश्वर हम आपको प्राप्त करते हैं। इन साधनों के निर्माता आप ही हैं। इनके रक्षक आप ही हैं। न स्वतः इनका निर्माण होता है, न आपके बिना इनकी रक्षा ही संभव है।

पुनः वह क्या सोचता है ? ईश्वर मेरा साध्य है, मैं साधक हूँ और प्रकृति-विकृति साधन हैं; ऐसा निर्वाचन करता है। जैसे; उसने देखा एक सत्त्वरजस्तमस् प्रकृति से सब कुछ बना है उसमें सुख-दुःख मिश्रित रहते हैं अतः उनसे जो कुछ

१६

बना होगा उसमें सुख-दुःख उपलब्ध होंगे ही उसकी क्या इच्छा करनी ? इस प्रकार से सुखप्राप्ति की तीव्रेच्छा नहीं रहती है। तो प्रकृति-विकृति में जो कुछ है उसका विचार कर लिया। उससे विविध पदार्थों की प्राप्ति की प्रवृत्ति प्रबल नहीं रहती। तब उनके प्रति इच्छा या द्वेष भी निर्बल पड़ जाते हैं।

मैं जैसा सत् चित् अणु, एकदेशी, थोड़ा सा ज्ञान बल रखनेवाला हूँ अन्य सारे जीवात्मा भी ऐसे ही हैं; उनकी ओर भी क्या ध्यान देना है ? कोई विशेषता नहीं। आकर्षण की कोई बात ही नहीं; ऐसे सोचता है। इन धारणाओं से व्यक्ति अनेक कठिनाइयों से बच जाता है।

इस प्रकार पूरे विश्व को तीन भागों में बाँट देना चाहिए।

प्रथम भाग – ईश्वर साध्य है = प्राप्त करने योग्य है।

द्वितीय भाग – मैं जीवात्मा हूँ, साधक हूँ।

तृतीय भाग – प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थ साधन हैं।

तीनों पदार्थों से सम्बद्ध चिन्तन जब व्यक्ति का होता रहता है तो इनसे सम्बद्ध अज्ञान, संशय हटते जाते हैं ज्ञान उभरता जाता है, उसका विकास होता है। इन सब मन्थनों में स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वर समर्पण करके, समर्पित होके ये सारी बातें वहाँ पर करनी चाहिएँ, ईश्वर को भूलकर नहीं। ईश्वर को परोक्ष मानकर नहीं। ईश्वर को समक्ष मानकर ये बातें सोचनी हैं।

पुनः विशेष मन्त्र, पद, वाक्यों को लेकर जप, ध्यान करना चाहिए।

इसके पश्चात् अर्थ सहित **वैदिक सन्ध्या** करनी चाहिये।

❖ ❖ ❖ ❖

आसन

स्वामी जी – उपासना की सिद्धि में आसन एक आवश्यक साधन= उपाय है। आप बताएँगे कितना-कितना आप का अभ्यास बना है ?

साधक१ – मध्य में कभी-कभी हाथ हिलाता हूँ तथा पैरों को बिना हिलाए डेढ़ घण्टा बैठ जाता हूँ।

स्वामी जी – उस काल में पैरों में शून्यता आती है या क्या होता है?

साधक – शून्यता तो नहीं डेढ़ घण्टे पश्चात् दर्द प्रतीत होने लगता है।

स्वामी जी – उस दर्द में यह कारण तो नहीं रहता कि आपके पैरों पर अधिक भार आ जाता हो, इसका अनुभव करके देखना ? अब आप –

साधक २ — डेढ़ से ढ़ाई होरा तक। दो घण्टे तक तो बिल्कुल ठीक-ठाक रहता है उसके पश्चात् कुछ पीड़ा आरम्भ हो जाती है।

स्वामी जी — उसमें कुछ रक्तावरोध हो जाता है या और कोई कारण?

साधक — रक्तावरोध होता है। थोड़ा हिला देने पर आधे घण्टे तक पुनः ठीक रहता है।

स्वामी जी — अब आप सुनाएँगे अपने आसन की स्थिति ?

साधक ३ — एक से दो होरा तक। मेरे लगभग १ सवा घण्टे तक स्थिति ठीक रहती है उसके पश्चात् दर्द, सूनापन की स्थिति होती है।

स्वामी जी — उस समय शरीर का भार पैरों पर डालने से होता है या स्वभावतः बिना भार डाले ही बाधा हो जाती है ?

साधक — उतना पूरा परीक्षण नहीं है यानि आगे सामर्थ्य नहीं रहती, थकान हो जाती है।

साधक ४ — लगभग आधे से पौने घण्टे तक स्थिर बैठ पाता हूँ आगे पाँव में शून्यता प्रारम्भ हो जाती है।

स्वामी जी — भार देने से शून्यता आती है या बिना भार दिये हो जाती है ?

साधक — पता नहीं चलता है।

स्वामी जी — पैरों को आगे निकालने से शरीर का भार कम हो जाता है। जितना आगे सरक सकता है वहाँ तक सरकाना चाहिए। शरीर का भार तब तीन भागों पर होता है। सीधे बैठने पर सर्वाधिक भार मेरुदण्ड के मूल पर जाना चाहिए। पुनः जंघा व घुटनों पर। इस प्रकार मैं तीन घण्टे तक बैठ जाता हूँ तब तक कोई बाधा नहीं पड़ती।

साधक ५ — लगभग डेढ़ होरा तक।

साधक ६ — पौन होरा तक।

साधक ७ — लगभग एक होरा तक।

आपको आसन पर इसका पता चलता है कि सीधा हूँ या टेढ़ा बैठा हूँ ? प्रायः टेढ़ा बैठने में सरलता लगती है, सीधा बैठना कठिन लगता है क्योंकि सीधा बैठने पर बल अधिक पड़ता है। आपने कभी ध्यान दिया सोने पर शीत अधिक लगती है, बैठे रहने पर न्यून, इसका भी वही कारण है बैठने में बल लगता है, उससे शरीर में अधिक ऊर्जा बनती है, उससे गरमी बढ़ती है। शयन में शिथिल होने से न्यून बल, न्यून ऊर्जा बनती है।

साधक ३ – आपके घुटने भूमि पर लग जाते हैं मेरे तो नहीं लगते हैं?

स्वामी जी – आपने अभ्यास ही नहीं किया लगेंगे कैसे ? शरीर को हिलाके, पैरों को खिसकाकर देख लेने से भी सन्तुलन दिख जाता है। गर्दन भी सीधी रहनी चाहिए, न इधर, न उधर। कई बार असावधानी से गर्दन टेढ़ी हो जाती है, आकाश की ओर देखता रहता है। अभी भी आप टेढ़े बैठे हैं अपेक्षा से। लिखने वालों की पृथक् बात है, उनका एक बहाना चल सकता है।



प्राणायाम

आप प्रयोग करेंगे **बाह्य प्राणायाम** का और प्राणायाम मन्त्र का प्रयोग अर्थसहित करेंगे। प्रथम –

१. मूलबन्ध लगाना अर्थात् गुदा को ऊपर खींचना।

२. प्राण-वायु को बाहर निकालना।

३. बाहर ही रोक देना।

४. यथाशक्ति रोके रहना, घबराहट हो तो धीरे-धीरे अन्दर लेना।

५. आवश्यकता पूरी हो जाने पर पुनः इस प्रकार से करना।

६. अर्थ सहित **ओं भूः** हे ईश्वर आप प्राणों के भी प्राण हैं; इस प्रकार करते रहना। आरम्भ करें .... प्रयोग ।

अब परिवर्तन करेंगे आप **आभ्यन्तर प्राणायाम** करेंगे –

१. नाक से श्वास अन्दर लेना।

२. अन्दर ही रोक देना।

३. यथाशक्ति रोके रहना, घबराहट हो तो धीरे-धीरे बाहर निकालना।

४. आवश्यकता पूरी हो जाने पर पुनः इस प्रकार से करना।

५. जप भी ज्यों का त्यों चलाना है ओं सच्चिदानन्द। हे ईश्वर आप सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। समर्पित रहते हुए ईश्वर को सम्बोधित करना है।

अब आप सुनाएँगे कि ध्यान में जो प्राणायाम का प्रयोग किया उसमें क्या स्थिति रही ?

साधक१ – दो बार प्राणायाम किया। जिस समय श्वास भरता था, भरते हुए ओं का उच्चारण करता था। श्वास भरने के काल में सम्बोधन की स्थिति

उतनी अच्छी नहीं बन पाई। श्वास रोकने के पश्चात् पुनः सम्बोधन की स्थिति अच्छी बनी।

स्वामी जी – तो हम श्वास की कुछ क्रिया करते हैं तो नये साधक को ऐसी स्थिति दिखाई देती है, उसका अभ्यास कम होने से। उस ओर थोड़ा प्रयास करने से ईश्वर को सम्बोधन करने की स्थिति थोड़ी ढीली होती है। श्वास भरकर जब रोक देते हैं तब वह स्थिति पुनः जम जाती है।

साधक २ – श्वास लेते छोड़ते समय स्थिति में न्यूनता दिखाई देती थी और रोकते समय वह स्थिति अच्छी दिखाई देती थी सम्बोधनादि की।

स्वामी जी – अब एक और विचार करेंगे हम। आपसे कोई पूछेगा या स्वयं व्याख्या करने लगेंगे, यमनियमादि सिखाएँगे, प्राणायाम प्रकरण आएगा तब प्रश्न उठेगा 'प्राण' क्या वस्तु है ? ऐसा कोई पूछ सकता है।

साधक ३ – जो हम श्वास-प्रश्वास लेते हैं उसको प्राणायाम के सन्दर्भ में प्राण कहते हैं।

साधक २ – जिसको हम बाहर निकालते हैं वह प्राण, जिसको अन्दर लेते हैं वह अपान कहलाता है।

स्वामी जी – वह प्रसंग उठाएगा कि प्राण शब्द से कहीं कुछ, कहीं कुछ का नाम आता है तो क्या हवा का नाम प्राण है ?

साधक १ – सांख्य का सूत्र है **....वायवः पञ्च** ॥ २/३१। उपनिषदादि में चर्चा आती है कि जो ब्रह्माण्ड में बाहर वायु है वही शरीर में प्राण बनके बैठा हुआ है। अर्थात् कोई अन्य नहीं है।

साधक ४ – जिससे जीवन धारण किया जाता है वह प्राण कहलाता है।

स्वामी जी – यह शब्दप्रमाण में कहाँ लिखा है ?

साधक ४ – यह तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है ?

स्वामी जी – ऐसे नहीं बात बनेगी, प्रश्न का उत्तर दो। यहाँ तो प्रमाण चाहिए।

साधक ३ – श्वास-प्रश्वास की गतिविधि का विच्छेद प्राणायाम है।

स्वामी जी – वह तो प्राणायाम की परिभाषा हुई। यहाँ केवल प्राणं की बात है। हाँ जी –

साधक ५ – प्राणायाम के प्रसंग में प्राण का अर्थ है श्वास-प्रश्वास का ग्रहण।

साधक ६ श्वास-प्रश्वास को लेना चाहिए।

साधक ७ – जिस वायु को लेते छोड़ते हैं।

स्वामी जी – आप वायु को प्राण कह रहे हैं ? स्पष्ट समझ में नहीं आ रहा है इसलिए पूछा जाता है। क्या समझाएँगे। बिना विचार-मन्थन किये बात नहीं रखेंगे तो उत्तर नहीं दे सकते।

साधक २ – एक है **प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य** ॥ यो.द.१/३४। यहाँ प्राण की चर्चा है। इससे पता चलता है जिसको अन्दर रोकते हैं या जिसको बाहर फेकते हैं वही प्राण है।

स्वामी जी – तो वायु है या और कुछ है ?

साधक – वायु ही है।

साधक ३ – उपनिषद् में प्राण शब्द को लेकर कई चर्चाएँ हैं जहाँ बाह्य वायु से पृथक् पदार्थ को भी प्राण कहते हैं।

स्वामी जी – एक तो शब्दार्थ करने में ध्यान देना है कि प्रकरण को लेकर शब्दार्थ करने में सुविधा होती है और तत्रोक्त शब्द को सर्वत्र ले जाएँ ऐसा नहीं है। जब यह बात आती है कि प्राण उनका विषय है तब हम कहेंगे योगदर्शन में जिस प्राण शब्द का प्रयोग है उसका अर्थ है जो वायु हम लेते- छोड़ते हैं। जिससे हमारा जीवन सुरक्षित होता है। उसका नाम प्राण है यहाँ पर। आगे आया प्राणायामः इसका अर्थ करेंगे।

साधक ५ – प्राण के ऊपर नियंत्रण करना।

साधक ६ – आयाम का अर्थ विस्तार भी लेते हैं।

स्वामी जी – यहाँ कौन सा लेना है ?

साधक १ – प्राण का जो विस्तार है, अन्दर कितना जाता है ?

स्वामी जी – यहाँ तो विस्तार नहीं लग सकता है।

साधक ३ – नियंत्रण अर्थ ठीक लगता है। यम धातु का उपरम अर्थ भी है।

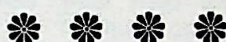
स्वामी जी – तो दो बातें आईं, यहाँ प्राणायाम के प्रसंग में योगदर्शन में और महर्षि दयानन्द ने जहाँ प्राणायाम के विषय में कहा, सब जगह प्राण शब्द से वायु का ही ग्रहण करते हैं। उसके क्रिया करने से, कार्य के आधार पर उसी वायु के पाँच भेद हो गए प्राणापानादि। यहाँ विस्तार अर्थ नहीं लगेगा किन्तु नियंत्रण अर्थ लगेगा। क्योंकि **श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः** ॥ यो.द.२/४९। श्वास-प्रश्वास का गति-विच्छेद प्राणायाम है।

साधक ३ – एक शब्द आया दीर्घसूक्ष्मः ।

स्वामी जी – दीर्घ का अर्थ है दीर्घकाल तक रोक देना और सूक्ष्म का अर्थ है हलका ।

साधक ३ – कालेन दृष्टः का अर्थ तो आपने कह दिया । दूसरा है देश का ।

स्वामी जी – अन्दर-बाहर जहाँ पर प्राण का व्यापार होता है वह है देश। अन्दर जहाँ प्रगति करेगा वह अन्दर का देश दृष्ट । जहाँ बाहर प्रगति करेगा वह है बाहर का देश । एक है कालदृष्ट इतनी देर तक करना । एक है संख्यादृष्ट जैसे २० बार लेना-छोड़ना । वहाँ निरीक्षित-परीक्षित किया हुआ ।



सावधानी

दैनिक जीवन में अत्यन्त सावधान रहनेवाला व्यक्ति उपासना काल में सफल होता है, उपासना काल में वह अपनी उपासना को अच्छी प्रकार से कर पाता है । यदि व्यक्ति दैनिक जीवन में व्यवहार में सावधान नहीं रहता तो वह ठीक उपासना नहीं कर सकता । विशेष घटनाओं को छोड़कर पूरे दैनिक जीवन में व्यक्ति अपने मन, आत्मा पर अधिकार बनाये रखता है । आप बताएँगे दैनिक जीवन में पूरे काल अधिकार रहता है या असावधानी बनी रहती है या कुछ काल सावधान और कुछ काल असावधान रहते हैं ?

साधक १ – कुछ काल सावधान रहता हूँ पुनः स्मृति आदि कारण बन जाते हैं ।

साधक २ – तीसरी वाली स्थिति देखने में रहती है ।

साधक ३ – कुछ काल सावधानी रहती है और अधिकांश काल असावधानी रहती है ।

स्वामी जी – जब सावधानी हटती है तो उसका पता चलना अथवा न चलना, असावधानी होकर कुछ लम्बे काल तक बनी रहती है, तब व्यक्ति ध्यान देता है । कभी-कभी उस समय ध्यान देता है जब राग-द्वेष के विचार अधिक तीव्र हो जाते हैं । क्या समझे ? साधारण विचारों में ध्यान नहीं देता, अधिक तीव्रता से राग-द्वेष उभार लेता है तब देखता है मैं कहाँ चल पड़ा? उस समय अपनी स्थिति को संभालता है कि यह मेरी अवस्था अच्छी नहीं है । कभी आप ऐसा देखते हैं या देखते ही नहीं है ? साधारण स्थिति में व्यक्ति असावधान है।

साधारणतः राग-द्वेष की विचारधारा चलती रहती है, लौकिक-सुख की, मान की, एषणाओं की। परन्तु जब तीव्र रूप में जब एषणा आती है और वह है योगाभ्यास करनेवाला व्यक्ति, तब उस स्थिति में देखता है कि मेरी तीव्र इच्छा भोगों की या मान की हो गई है! यह ठीक नहीं है। उस समय वह संभलता है।

योगदर्शन के भाष्यकार ने कितने ही स्थलों पर चेतावनी दी है उनको भी आप याद रखते हैं या नहीं ? उनको भी स्मरण करते रहना चाहिए। कैसे-कैसे चेतावनी वे देते हैं। जब अहिंसा की व्याख्या करते हैं तो क्या कहते हैं जैसे किसी ने साधक को दुःख दिया, उसके साथ कुछ अन्याय कर दिया ? तब आप बताइए अहिंसा का पालन करने वाला क्या सोचता है ?

साधक – वहाँ सूत्र है **वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्** ॥ यो. द. २/३३। उसके अन्दर अनेक बातें आई हैं कि वह सोचता है मैं इसकी हिंसा भी करूँगा, मैं चोरी भी करूँगा, मारूँगा, आचारहीनता भी करूँगा। सारा वहाँ कह डाला। पुनः कहा इस प्रकार विचार करे कि "**घोरेषु संसाराङ्गारेषु** ..... ।"

स्वामी जी – अनेक जगह यह बात आई है। एक जगह नहीं बहुत जगह आती है। तो जब आप योगी बनना चाहते हैं और इसको जानते नहीं हैं तो आप बच नहीं सकते। कैसे-कैसे होता है वह तो होता ही है। यदि आप सम्हलते हैं तो स्वयं को बचा लेंगे। नहीं तो निश्चित रूपेण आप मार्ग से दूर चले जाएँगे, गिर जाएँगे। उलटा आचरण हो जाएगा। और यह सावधानी कहाँ तक चलती गई ? वह जो प्रसंग उठाया कि यह जो चार प्रकार के योगी, उसमें प्रथम को छोड़ दिया। ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त सम्प्रज्ञातसमाधि वाले को लिया। तीसरे व चौथे को भी छोड़ दिया। उस समय उसने कहा कि जब ऐसी स्थिति आएगी– **स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात्** ॥ यो० ३/५१। जब थोड़ी सी असावधानी के कारण वहाँ तक अनिष्ट हो सकता है तो नीचे स्तर पर थोड़ी असावधानी से बहुत अनिष्ट हो सकता है।

- साक्षात् पदार्थों की अनुभूति को लेकर अनिष्ट होना, यह एक स्थिति है।
- स्मृति के रूप में पदार्थों को लेकर अनिष्ट हो जाना, यह दूसरी स्थिति है।

कोई इसको केवल लिखता है, टेप करता है, जमा करता है, किन्तु कण्ठस्थ नहीं करता, याद नहीं रखता तो इतने मात्र से सफलता नहीं मिलेगी और बिना याद रखे आगे का प्रयोग भी नहीं कर पाएगा। साक्षात्कार की स्थिति बनाना तो दूर की बात रही। देखते नहीं इतना पढ़ने-लिखने के उपरान्त

भी क्यों नहीं ईश्वर-साक्षात्कार हो रहा है ? इसलिए कि उसने ईश्वरप्राप्ति के सम्बन्ध में जो पढ़ा-सुना, साधनों के सम्बन्ध में जाना, बाधकों को समझा; परन्तु प्रयोग नहीं करता है या बाधकों को हटाता नहीं है ।

साक्षात्कार न होने के विषय में मूल में दो ही बात होती हैं—

(१) विधि नहीं जानता ।

(२) बताया नहीं जाता ।

ऐसे में कितने ही जन्मजन्मान्तर प्रयत्न करता रहे, सफलता नहीं मिलेगी। विधिवत् पुरुषार्थ करे तो हो नहीं सकता कि साक्षात्कार न हो । यदि विधि में दोष है तो कितना ही व्यवहार में लाए, सफल नहीं होगा । इससे यह सिद्ध होता है कि आचरण में भी लाना पड़ता है, प्रयोग करना पड़ता है परन्तु विधिवत् ।

तो इस प्रकार से कठिन नियम हैं, कितना लम्बा काल लगेगा और कैसे-कैसे होगा यह सब आपको बताया जाता है । यद्यपि वह एक उपाय इसमें आ गया है; ईश्वर को सर्वस्व का स्वामी मानना । दूसरा दिनभर ईश्वर की उपासना में रहना और दूसरे पदार्थों की उपासना में नहीं रहना है । क्या समझ में आया ? नियमित उपासना से अतिरिक्त काल में भी ईश्वर की उपासना करनी है अन्य पदार्थ की उपासना नहीं करनी है।

साधक— एक छोटी सी बात पूछना चाहता हूँ कि अन्य कार्य आरम्भ करते हैं तो उपासना छूट जाती है, उपासना करते हैं तो अन्य कार्य नहीं हो पाते हैं?

स्वामी जी – उपासना से बाहर कोई चीज नहीं आती । कुछ भी करे, पढ़े परन्तु सन्तुलन रहना चाहिए। "यह मुख्य नहीं है" इस प्रकार मानकर उपासना को छोड़ नहीं देना है । हेय नहीं मान लेना है ।

मैं तो कुछ भी नहीं देखता था बस सोचता था कि कभी विषयों में रुचि न हो जाय, ईश्वर-प्रणिधान की हानि न हो जाए ।

योगाभ्यासी व्यक्ति को उपासना काल में एक तो साधनों का परिज्ञान उपस्थित करना पड़ता है और दूसरा बाधकों का । साधनों का परिज्ञान ठीक न होने से साधक को विशेष सफलता नहीं मिलती है। बाधकों को अच्छे प्रकार से न जानने से अधिक सफलता नहीं मिलती है। अपने लक्ष्य को, मानव जीवन का जो चरम लक्ष्य है उसको ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है । यदि मुख्य लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति उसके मन में, आत्मा में रहता है तो आत्मा को, मन को, इन्द्रियों

को संयम में रखकर उपासना करना सरल हो जाता है। यदि ईश्वरप्राप्ति लक्ष्य नहीं बनता है, इस पर उसकी पूरी दृष्टि नहीं होती है, नहीं समझता है तो पुनः कठिनाई होती है। वृत्तियाँ अन्य विषयों में उसी के द्वारा उभार में आ जाती हैं। साधक-बाधकों का परिज्ञान इस रूप में रखना चाहिए। जैसा कि 'मैं समझता हूँ' अब तक आपने जितना पढ़ा-लिखा है, केवल उसी से ईश्वर का साक्षात्कार कर लेंगे; संभव नहीं। किसी को यह संशय न रहे कि बहुत पढ़-सुन लेने मात्र से सफलता प्राप्त हो जाती है। वैदिक परम्परा में पढ़ने-लिखने और सुनने के साथ-साथ आचरण में लाकर ईश्वर को प्राप्त कर लेने पर ही जीवन को सफल माना गया है।

साधक –"मैं समझता हूँ" आपके इस कथन का क्या अभिप्राय है?

स्वामी जी – मेरी दृष्टि में अर्थात् मैं ऐसा ही मानता हूँ, किन्तु ऐसा ही हो यह अनिवार्य नहीं है।

मन की स्थिति का अध्ययन करेंगे आप। कभी अन्य विषय में न चला जाए, सतर्क रहें। अशुद्ध विषय में जाते ही मन को प्रयत्न से रोक लेना, यह मेरे अधीन है इसे यथेष्ट विषय में लगा सकता हूँ; ऐसा अध्ययन कौन करता है?

साधक १ – परन्तु यह व्यावहारिक काल में अधिक नहीं हो पाता है। बनाते हैं छूट जाता है। पुनः बनाया छूट गया, ऐसा होता रहता है। बौद्धिक स्तर में स्थिति तो आती है।

साधक २ – इसका पूरा नियंत्रित होना तो दिखाई नहीं देता है।

स्वामी जी – इसमें तीसरा निम्न स्तर है नियंत्रण का न होना। जब बहुत प्रबलता होती है उद्वेग रहता है तब पूरा रोक नहीं पाता है अथवा वह कुछ रोकता है। दूसरी स्थिति में प्रेरणा हुई आगे बढ़ने लगा तो झट रोक देता है। इसमें थोड़ी तीव्रता आई, मन्द रही उसको भी सावधान हो जाय तो रोक देता है। तीसरे वर्ग में उठने ही नहीं देता। यदि चलाना हो तो नियंत्रण पूर्वक चलाता है जैसे अब मैं किस विषय में चलाऊँ किसमें नहीं यह पहले निश्चय कर लेता है। विद्या की ओर चलाऊँ या अविद्या की ओर, धर्म या अधर्म की ओर, ईश्वरोपासना या अन्योपासना इनमें विद्यादि में चलाना, अविद्यादि में नहीं; यह निश्चित स्थिति बनी रहती है।

साधक २ – किसी घटना से प्रभावित होने पर उसको रोकना कठिन हो जाता है।

स्वामी जी – उसमें या तो पहले का संस्कार अधिक है या अब रुचि ले ली गई है; ये दो बातें रहती हैं। ऐसा निम्नस्तर में होता है ऊँचा स्तर प्राप्त हो जाने पर नहीं होगा। आमने-सामने रहने से भी मन इधर-उधर नहीं जाता है इसलिए लोग कहते हैं सिखाते समय मन लग जाता है। अच्छा ईश्वर से ऐसे आमने-सामने कभी बात करते हैं ?

साधक – करते हैं।

स्वामी जी – रुचि होने पर सरलता से विचार होता है। विवशतावाली स्थिति तो आती रहती है।

साधक१ – एक बात देखने में आई कि आँख खोल के रोकना सरल होता है, आँख बन्द रहने पर अधिक कठिनाई होती है !

स्वामी जी – ऐसा तो नहीं होता। कुछ लोग कहते हैं मन को खुला छोड़ दो नहीं तो मेढ़क की तरह उछलेगा। जब खुला छोड़ दिया, जहाँ-तहाँ आने-जाने लगा, अब लगाना नहीं, हटाना नहीं; इसको सरल कहते हैं। वस्तुतः जो रोकना था वह तो बिखर गया, अब बल क्या लगेगा ? देखना तो यह है अन्तःकरण में ईश्वर को सम्बोधित करते रहेंगे, सारा प्रेम, बल अधिकारपूर्वक अन्दर लगा रहेगा, आँख खुली रहे पर बाहर मन न जाय। तब कहना चाहिए खुले में सरलता होती है, रुकता है, अन्यथा पता नहीं चलता है। योगाभ्यासी के लिए चित्त की एकाग्रता रखना नियम बन गया। षट्क-सम्पत्ति में यह एक भाग है। मन को खुला नहीं छोड़ा जा सकता है।

आप आत्मनिरीक्षण करके देखना ऐसा होता है या नहीं ? इतनी स्थिति बनानी पड़ेगी कि संसार में जो कुछ भी हो पर मुक्ति और मुक्ति के साधन से अतिरिक्त किसी में प्रेम ही न होना। मुमुक्षु को भूखे को जैसे भोजन, प्यासे को पानी से भिन्न कुछ अच्छा नहीं लगता है वैसे मुमुक्षुत्व में लगता है। साधन के रूप में इनका प्रयोग कर लेता है पर जो मुक्ति और मुक्ति के साधनों से भिन्न में रुचि होती है उसका निषेध किया है।

स्मरण रहे, प्रत्येक व्यक्ति की समस्या है कि मन चला जाता है, मन में विचार आ जाते हैं, मन नहीं मानता। एक विचार को रोकते हैं तो दूसरा विचार आ जाता है। मन विचारों को ले आता है। मन एक चेतन-पदार्थ है; इन विचारधाराओं को आप मन से निकाल दें। वस्तुतः मन एक जड़-पदार्थ है कार की तरह। कार को चलाओ तो चलेगी, नहीं तो नहीं चलेगी। मन हमारा उपकरण है परन्तु

जड़-पदार्थ है। विचारों के लाने-उठाने वाले हम आत्मा हैं। शरीर, इन्द्रिय आदि सबको संचालित करने वाले हम आत्मा हैं। यदि आप ऐसा मानकर जप-ध्यान करेंगे तो शीघ्र सफलता मिलेगी। आप का मन अधिकार में आ जाएगा और मन नहीं मानता यह समस्या दूर होती चली जाएगी।

अब शब्दप्रमाणानुसार आपकी स्थिति कैसी रहनी चाहिए ? परिणामादि दुःख भोगों में सरलतया स्वाभाविकतया मानते रहना। दूसरा बलपूर्वक मानना निम्नावस्था है। संस्कारवशात् सुख लगता है पर ज्ञान से उसे रोकते हैं। उच्च-स्थिति सरल-स्वभाव से स्वीकार है अन्यथा उद्वेग संघर्ष करना होगा। युद्ध से इच्छाएँ रुक जाएँगी।

उपासना-प्रयोग

अब हम सब कार्यों से महान् कार्य, सब कर्तव्यों से उत्तम कर्तव्य ईश्वर की भक्ति, ईश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना, ईश्वर का ध्यान समझने और उसको प्रयोग में लाने का प्रयास करेंगे। एक नियम है कि व्यवहार काल में उत्तम कार्यों को करो और अशुभ, हानिकारक, बुरे कार्यों को न करो। यह व्यवहारकाल में जीवन की स्थिति है। चोरी आदि बुरे कर्मों को न करो, परोपकार करो। अब उपासना काल में बुरे काम तो सोचने ही नहीं हैं किन्तु ईश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना को छोड़कर अच्छे कामों का भी चिन्तन-विचार नहीं करना है। अभी हम अपना संबंध ईश्वर से जोड़ने का प्रयत्न करेंगे दूसरी बातों को हटा देंगे।

ईश्वर का लक्षण-कथन, उसके स्वरूप का वर्णन, पुनः पुनः क्यों किया जाता है ? प्रातः भी, सायं भी, सर्वदा; यह इसलिए कि एक समान ही दोनों कालों में करना चाहिए। इससे संशय दूर होते हैं। मिथ्याज्ञान शनैः शनैः नष्ट होते हैं अन्यथा कठिनाई रहती है। जैसे-जैसे लक्षणों की आवृत्ति होती जाती है, वैसे-वैसे संशय, भ्रान्ति आदि दूर होते जाते हैं। कालान्तर में संशय आदि से रहित अवस्था बन जाती है।

योगाभ्यास, ध्यान, जप में तीन प्रकार के वाक्यों का प्रयोग होता है। जिनमें 'सच्चिदानन्द' यह स्तुति वाक्य है। जब बोला 'आनन्द दीजिए' तब यह प्रार्थना वाक्य हो गया। 'धीमहि' यह उपासना वाक्य है।

• ध्यानकाल में **उच्चारण, अर्थविचार, समर्पण, सम्बोधन, ईश्वर-प्रणिधान, सम्बन्ध,** इच्छा, प्रयत्न आदि की भी अनुभूति रहे। शनैः शनैः अभ्यास से सब होता है।

उच्चारण – साधारणरूप में बोलकर, स्वर-सहित मन्त्रादि बोलकर तथा संगीतमय गीत, भजन आदि के रूप में बोलना।

अर्थविचार – अर्थ करते समय –

• **प्रथम** – रुक-रुक कर अर्थ करना; जैसे, ओम् = हे ईश्वर आप सर्वरक्षक हैं। सत् = सदा रहने वाले हैं = सत्तावान् हैं। चित् = चेतनस्वरूप, ज्ञानवान् हैं। आनन्द = आनन्दस्वरूप हैं। इस प्रकार पाठ करते हुए अर्थ करना।

• **द्वितीय** – पाठ करते हुए लम्बे काल में अर्थ करना।

• **तृतीय** – सामान्य गति से पाठ करते हुए अर्थ करना।

इस काल में रुकते हुए मध्य-मध्य में नासिका से लम्बा श्वास-प्रश्वास कर सकते हैं।

समर्पण – जैसे कोई बालक या शिष्य अपने माता-पिता या गुरु के अधिकार में रहता है, उन्हीं से सब अपेक्षाएँ पूर्ण करने की इच्छा रखता है।

सम्बोधन – जैसे आमने-सामने किसी व्यक्ति को बुलाते हैं वैसे ही ईश्वर को सामने मानकर बोलना।

ईश्वर-प्रणिधान - ईश्वर-प्रणिधान के अन्तर्गत समस्त पदार्थों का, ज्ञान-विज्ञान का, बल-सामर्थ्य का और स्वयं आत्मा का भी स्वामी ईश्वर को स्वीकार करके चलना होता है, इसके साथ-साथ सभी कार्यों को उसी की शक्ति से कर पा रहा हूँ यह भावना मन में बनाए रखते हुए, उन क्रियाकलापों के बदले लौकिक-फल की चाह का परित्याग भी करना होता है। ईश्वर के प्रति अतिशय प्रेम रखना, उसे सर्वाधिक प्रिय मानना-समझना। ईश्वर और जीवात्मा के जो नित्य सम्बन्ध हैं उनको मानना तथा उनके अनुरूप व्यवहार करना आदि ईश्वर-प्रणिधान के अन्तर्गत कार्य हैं।

सम्बन्ध - अपना संबंध संसार से हटाकर ईश्वर से जोड़ना चाहिए। उपासक को ईश्वर के साथ माता, पिता, गुरु, आचार्य, राजा आदि संबन्ध बनाना चाहिए शेष समस्त सांसारिक संबंधों को छोड़ देना चाहिए। जो व्यक्ति उपासना-काल नें सांसारिक संबंधों को लेकर उपासना करता है, उसको सफलता

नहीं मिलती। अतः उपासना, सन्ध्या, जप-ध्यान का दोष नहीं है कि वह व्यक्ति इनको करता हुआ ऊँचा नहीं उठा, वह महान् नहीं बना, ईश्वर को प्राप्त नहीं हुआ। यह उस व्यक्ति का दोष है इसलिए उपासना-काल में सांसारिक संबंधों को हटा देना चाहिए। हटाने के विविध उपाय आपने सुने हैं उनसे वे संबंध हटाए जाते हैं।

अब हम 'गायत्री मन्त्र' का पाठ करते हुए ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करेंगे; अर्थ जो 'संस्कार विधि' में लिखा है, उसे लेना। प्रथम पुरुष को मध्यम पुरुष बनाकर आरम्भ करें। यहाँ ध्यान देना है कि मन्त्रपाठ के काल में शब्द के अर्थ का ग्रहण, ईश्वर को सम्बोधन कर रहे हैं कि नहीं! मन्त्र बोलते समय एक-एक शब्द का उच्चारण, उसके अर्थ का ग्रहण, अपने समीप ईश्वर की अनुभूति; यदि ये स्थितियाँ बनी रहीं तो समझना चाहिए कि स्थिति अच्छी रही। यदि एक-एक शब्द का न तो पाठ, न अर्थ, न सम्बोधन, न समर्पण रहा तो समझना चाहिए स्थिति अच्छी नहीं रही, स्तुतिप्रार्थनोपासना दोष युक्त रही।

अब आप धीरे-धीरे गायत्री मन्त्र का जो अर्थ है उसको लें और स्वयं को ईश्वर-समर्पित करने का प्रयास करें। हम इस शरीर में एक जगह रहते हैं और ईश्वर सर्वव्यापक है। अतः जहाँ हम हैं वहाँ पर भी ईश्वर विद्यमान है, ऐसा मानकर ईश्वर को सम्बोधित करते हैं। साधक-साधिकाओं को यह भी जानना चाहिए कि ईश्वर और हमारे बीच कुछ सम्बन्ध हैं माता-पिता-राजा-आचार्यादि के। यदि ईश्वर के साथ उचित व्यवहार करते हैं, इन सम्बन्धों को व्यवहार में उतारने का प्रयास करते हैं तो हमको पात्र समझ के ईश्वर हमको ज्ञान, बल, आनन्द सब कुछ देता है। यदि ईश्वर के साथ इन संबंधों के अनुकूल हमारे ठीक व्यवहार नहीं हैं तो हमें ये सम्पत्तियाँ नहीं मिलेंगी।

हे ईश्वर! व्यवहार में जो आपकी आज्ञा का पालन करता है, और उपासना करता है उसके समस्त दुःखों को छुड़ा देते हो; यह भावना बनाए रखें।

स्तुति-प्रार्थना-उपासना के विषय में यह नियम जानना चाहिए कि प्रथम उत्तम पदार्थों, गुणों की प्राप्ति के लिए पूर्ण प्रयास करो उसके पश्चात् पुनः ईश्वर से मांगो। दोषों को छोड़ने के लिए प्रथम प्रयत्न पुनः प्रार्थना। अज्ञानाधर्मान्याय, अविद्यादि को दूर करने का प्रथम स्वयं प्रयत्न करें न होवें तो पुनः ईश्वर से ज्ञान बल मांगें।

जप अधिकार में रहता है या बाधित होता है ? निरीक्षण के साथ प्रयोग करें – .... प्रयोग ।

ओं भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।

ध्यान काल में समस्त कार्यों को छोड़कर केवल स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिए । नये साधकों के लिए न्यून ध्वनि से भी बड़ी बाधा हो जाती है अतः ध्यानावस्थित होकर अर्थ सुनेंगे और देखेंगे कि आपका मन ईश्वर के साथ सम्बद्ध है कि नहीं ? मन-मन में गायत्री मन्त्र का अर्थ सुनने और दुहराने का प्रयास करेंगे । ओंऽऽ यह परमेश्वर का मुख्य निज नाम है। जब हम ईश्वर को सम्बोधित करेंगे तब क्या कहेंगे ? हे ईश्वर ! आप का प्रमुख नाम ओम् है जिस नाम के साथ ..... ।

अब धुन के रूप में ..... ।

पुनः मानसिक ।

इसी प्रकार विश्वानि देव .. मन्त्र का भी पाठ करेंगे ।

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

अनुभूतियाँ

साधक१ – समर्पण करते हुए 'संस्कार विधि' से अर्थ लिया । कोई विचार नहीं उठाया ।

साधक२ – एक बार गायत्री का उच्चारण समर्पण सहित किया। मन पर अधिकार रहा, कोई बाह्य-विषय नहीं उठाया ।

स्वामी जी – अब भारतवर्ष में जो प्रसिद्ध वाक्य हैं उनसे –

असतो मा सद्गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्माऽमृतं गमय ।

दूसरा प्रयोग – इन्हीं को लम्बे स्वर में ।

तीसरा प्रयोग – मन-मन में बिना बोले ऐसा ही करें ।

जब धुन में बोलना न आवे तो अपनी सीधी भाषा में स्तुति प्रार्थना उपासना करें ।

ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव का वर्णन वेद में, दर्शन में, उपनिषद् में जिस प्रकार किया उसको लेकर स्वामी दयानन्द जी ने आर्य समाज के पहले-दूसरे नियम में उपस्थित किया। वहाँ प्रयत्न किया कि संसार के लोग ईश्वर की भक्ति यथार्थरूप से समझ जाएँ और विशुद्ध-भक्ति करने लगें। परिणाम अपना जीवन ऊँचा उठेगा और समाज-राष्ट्र भी ऊँचा उठ जाएगा।

अब हम प्रयोग करेंगे एक बोलचाल की भाषा में, जिसमें किसी को कठिनाई नहीं होती जो साधारण हिन्दी भाषा का भी ज्ञान रखता है।

अब प्रयोग करेंगे शब्द होगा – ओं सच्चिदानन्दः। हे ईश्वर आप सच्चिदानन्दस्वरूप हैं! एक-एक पद का अर्थ करते चले जाएँ। सत् = सदा रहने वाले, चित् = चेतन, आनन्द = आनन्दस्वरूप हैं ऐसा करते चले जाएँ। यदि इनका विवेचन करना हो तो समय लगेगा और पुष्टि करना चाहें तो **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः** ....। आप अविद्यादि क्लेशों से रहित हैं। आदि से कर सकते हैं।

अभी हमने ईश्वर की सगुण स्तुति की 'सच्चिदानन्द'। अर्थात् जो गुण ईश्वर में हैं उनको लेकर स्तुति करना 'सगुण-स्तुति' कहलाती है और जो गुण ईश्वर में नहीं हैं उनको लेकर स्तुति करना 'निर्गुण-स्तुति' कहलाती है।

अब हम निर्गुण-स्तुति और उपासना करेंगे। ईश्वर कैसा है? 'ओं निराकार'! साधक कहता है - हे ईश्वर आप निराकार हैं। रंगरूप आदि से रहित हैं।

● अब निर्गुण-स्तुति 'अनादि'। किसी पदार्थ की तो उत्पत्ति होती है आरम्भ होता है, ईश्वर ऐसा नहीं है। अनादि काल से अनन्त गुण-कर्म-स्वभाव वाला है। उसमें कभी उत्पत्ति, ह्रास विकास नहीं होता है।

हे ईश्वर! आप सर्वरक्षक अनादि हैं। हम आपके आनन्द को सदा से ग्रहण करते आए हैं।

अब निर्गुण-स्तुति – 'अजरः'! अजर कहते हैं बूढ़े को, जीर्ण–शीर्ण को। जितने पदार्थ बनते हैं, हम शरीर में आते हैं तो हम वृद्ध हो जाते हैं, जीर्ण–शीर्ण हो जाते हैं। तो ईश्वर को बताने की शैली में बुढ़ापा, जीर्ण-शीर्ण होना ईश्वर का गुण नहीं है। हम ध्यानकाल में प्रयोग करते हैं हे ईश्वर आप जरादि से भिन्न हैं। हम आपकी व्यवस्था से शरीर में आते हैं और बूढ़े, जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं; आप ऐसे नहीं होते। नियम वही समर्पणादि का सन्तुलन रखेंगे।

• पुनः सगुण – ओं 'सर्वशक्तिमान्' । इस संसार की रचना, पालन और विनाश, जीवों के कर्मफलों को देने और वेदों का ज्ञान देने में किसी अन्य की सहायता नहीं लेते ।

अनुभूतियाँ

साधक १ – साथ-साथ ईश्वर-समर्पण अर्थ-विचार दोनों बने रहे ।

साधक २ – होते रहे ।

साधक ३ – संक्षेप से कर पाया ।

स्वामी जी – अब थोड़ा तीव्र बोलकर ।

साधक १ – किसी का हुआ किसी का नहीं ।

साधक २ – दो-तीन का नहीं किया । ईश्वर-समर्पण नहीं हुआ ।

साधक ३ – टूट-टूटकर हुआ, पूरा नहीं ।

साधक ४ – पहली बार १ छूट गया बाकी ठीक रहा ।

स्वामी जी – इन प्रयोगों से पता चलता है व्यक्ति को मन्त्रपाठ, अर्थविचार, ईश्वर-समर्पण सब ठीक-ठीक हो जाए, इस गति से पाठ करना चाहिए ।

अब हम दूसरा प्रयोग करेंगे । 'सर्वान्तर्यामी' । सर्व = प्रकृति और महत्तत्व से लेके पूरी सृष्टि, सभी जीवात्माएँ, ये सर्व शब्द से गृहीत होंगे । सत्त्व, रज, तम, शरीर आदि पूरी सृष्टि पुनः जीवात्माएँ; इनके अन्दर रहते हुए इनका अन्दर से नियंत्रण करनेवाला । सर्व शब्द से क्या ग्रहण हुआ ? सत्त्वादि से लेकर अरबों-खरबों लोक-लोकान्तर । सर्वान्तर्यामी= सबको अन्दर से नियंत्रण=नियम में रखनेवाला । उपासनाकाल में हम जप करेंगे ओं सर्वान्तर्यामी । हे ईश्वर आप प्रकृति, कार्य जगत्, जीवात्माओं के अन्दर रहकर अन्दर से इनको नियंत्रित रखने वाले हैं । परमाणुओं को जब सृष्टिरूप में बदलते हैं तब आप उनके अन्दर रहते हुए उनको नियंत्रित रखते हैं । अन्दर रहके उनसे महत्तत्वादि की उत्पत्ति करने वाले हैं ।

प्रायः व्यक्ति बाहर रहके बाहर से वस्तुओं को जोड़कर वस्तुओं की उत्पत्ति करता है । नहीं आया समझ में ? भवन बनाते हैं तो बाहर से ईंट, सीमेन्ट, लोहा लाते जाएँगे लगाते जाएँगे और भवन बनकर खड़ा हो जाएगा । यहाँ व्यक्ति देशान्तर में गतिशील होकर बनाता है, पर परमात्मा गतिशील नहीं होता, हिलता-डुलता नहीं है । खड़ा-खड़ा तीनों कालों में काम करता है, कैसा विचित्र व्यक्ति है ? हिलता

नहीं, डुलता नहीं और खड़ा-खड़ा सारे काम कर डालता है ! आप सोचते होंगे हम भी ऐसा बन जाते तो बड़ा आराम रहता, चाहे जो बना लेते, चाहे जो कर लेते, किसी की सहायता नहीं लेनी पड़ती !

तो महत्तत्व आदि के रूप में प्रकृति के परमाणुओं में रहकर संसार की रचना करता है। जीवों के अन्दर रहकर उनको भिन्न-भिन्न योनियों में ले जाना, मुक्ति में ले जाना, किसी को कहाँ, किसी को कहाँ, जहाँ भी स्थापित करना हो उनके अन्दर रहकर संचालित कर रहा है।

अन्तर्यामी ! अच्छा यह बात आपको जंचती है ?

साधक – विचारने पर।

स्वामी जी – चलो बोलो – **ओं सर्वान्तर्यामी.....** ।

अब हम दूसरा प्रयोग करेंगे। ओं 'सर्वेश्वर'। हे ईश्वर ! आप का ऐश्वर्य अनन्त है। आप अनन्त बलवान् हैं, आपमें अनन्त विद्या, अनन्त आनन्द है। अनन्त क्रियाएँ हैं। आपने जो संसार बनाया, इसमें जो ऐश्वर्य है, आप उसके भी स्वामी हैं। यहाँ पर जीवात्मा ईश्वर का सर्वैश्वर्य बताकर अपने विषय में क्या सोचता है ? कहता है मैं थोड़ा सा नाममात्र का ज्ञान रखता हूँ। बल भी इतना थोड़ा है कि यदि मुझे शरीर से अलग कर दिया जाय और कहा जाय तिनके को उठाकर उधर रख दो, नीम के पत्ते को उलटा कर दो तो ऐसा नहीं कर सकता। इतना ही मेरा बल है। मैं कहाँ पड़ा हूँ इसका भी पता नहीं रहता, इतना ज्ञान है। वह नम्रता से कहता है मैं तो ऐसा हूँ। आप कभी ऐसा करते हो कि नहीं, पता नहीं? क्रिया भी अकेला कुछ नहीं कर सकता है। सूर्यादि के बिना जीवित भी नहीं रह सकता। जो शारीरिक, बौद्धिक बल है, सब ईश्वर का दिया हुआ ऐश्वर्य है। मेरे पास जो कुछ भी सोना-चाँदी है वह आपका ही है; जब स्वयं को ऐसे समर्पित करता है तब ईश्वर को अच्छा लगता है। तब ईश्वर उसकी समाधि लगवाता है। आप ऐसा करके देख लो समाधि लगने में देर नहीं लगेगी। दीर्घकाल, अतप्ततनु आदि सब इसके अन्दर हैं यह तो नियम है ही। आपके अन्दर न पुत्रैषणा, न वित्तैषणा, न लोकैषणा रहेगी। अत्यन्त प्रेम की स्थिति ईश्वर के साथ जुड़ेगी। अपना आत्मा भी उसको उतना प्रिय नहीं लगता जितना ईश्वर प्रिय लगता है। **एतदालम्बनं श्रेष्ठं ....ब्रह्मलोके महीयते।** सुनाया करते हैं न ! अब सौंप दिया.....। पर सौंपते नहीं, यही तो बात है केवल कहते रहते हैं।

अब जप – **ओं सर्वेश्वर !**

जब आप कभी रुचि लेकर इन शब्दों के अर्थों को अच्छी प्रकार जानकर प्रयोग करेंगे तब मन में चंचलता कम से कम होती चली जाएगी। यदि प्रलयवत् या व्यापकता समझ में आ जाय तो और उत्कर्ष हो जाएगा।

सर्वेश्वर का मोटा अर्थ है सारे ऐश्वर्यवाला और संक्षिप्त रूप में – ईश्वर में अनन्त ज्ञान है, अनन्त बल, ऊर्जा है, अनन्त आनन्द है, अनन्त क्रियाएँ हैं। यह है ईश्वर का सर्वैश्वर्य। क्या समझ में आया, दोहरा लो।

साधक – सृष्टि भी तो है।

स्वामी जी – हैं ऐं ऐं !!! यह ऐश्वर्य तो व्यक्तिगत (स्वरूप) हो गया और जो सृष्टि को बना कर खड़ा किया, इसका मालिक सम्बन्ध से बना। अपना मालिक आप तो क्या बनना, विकल्प-वृति है, कह दिया जाता है मालिक है, वह तो है वही। प्रकृति को लेकर उसने अरबों-खरबों लोक लोकान्तर बनाए। सोना, चाँदी, तांबा और जितने भी आप सुनते हैं जो भूगर्भ में रहते हैं और जितने भी अन्नादि वनस्पति सब उसने तैयार किये हैं अतः ये भी ऐश्वर्य उसी के हैं। अब क्या समझे ! यह ऐश्वर्य ईश्वर के निर्माण-सम्बन्ध से है। इनका मुख्य स्वामी है।

आपके मन में आता है जो वेदों में लिखा है, सारा संसार सदा ईश्वर में ही डूबा रहेगा। शब्द-प्रमाण से जंचने लगे हाँ ऐसा ही रहता है। उदाहरण जैसे गूलर। उसमें कीड़े होते हैं अन्दर उत्पन्न होते हैं अन्दर ही मर जाते हैं। वैसे ही हम भी ईश्वर के अन्दर उत्पन्न होते हैं, खाते-पीते हैं, मर जाते हैं। यदि हम ऐंठ करें तो ईश्वर छोड़ेगा नहीं। सीधे-साधे स्वभाव से अर्पित हो जाओ। अथवा ऐंठ में रहोगे ? मरना पड़ेगा ही, कहाँ जाओगे ? जितनी ऐंठ करोगे उतनी भयंकर योनि में डालेगा। देखो हमारा शरीर सीधा है पशुओं का टेढ़ा-मेढ़ा क्यों ? भगवान् ने ऐसा किया। पशु अब भी टेढ़ा रहना चाहते तो नहीं, पर सीधा करना इसके वश की बात नहीं है। माताएँ शिकायत करती हैं न अगला शरीर पुरुष का देना। वैज्ञानिक भी कुछ-कुछ करते रहते हैं, ऐसा-ऐसा हो तो अच्छा लगेगा। वे भी जो कुछ करते धरते हैं ईश्वर की सहायता से, स्वयं के वश की कुछ नहीं।

साधक – प्रयोग काल में हृदय, कण्ठ वा स्थान विशेष का ध्यान बना रहे या विस्मृत भी किया जा सकता है ?

स्वामी जी – जीवात्मा हृदय प्रदेश में है। वहाँ देशवृत्ति हट जाए और विषयवृत्ति बनी रहे तो कोई बाधा नहीं। इसका विधान इसलिए है कि देशान्तर

में मन चले जाने पर पुनः उस केन्द्र पर ले आएँ (मन लगा लें)। इससे सुविधा रहती है, मनोनियन्त्रण बना रहता है। बिना केन्द्र बनाए असुविधा होती है।

अथवा केन्द्र की अनुभूति बनी रहे। जिस प्रकार से तीरंदाज को लक्ष्य का ध्यान रहता है, वैसे ही एकस्थानीय वृत्ति बनी रहनी चाहिए।

● वृत्ति-निरोध के लिए प्रथम से ही प्रलयावस्था बना लेनी चाहिए। उसके उपरान्त भी कोई न कोई वृत्ति उठ जाएगी तदर्थ पहले से सावधान रहे। उसके लिए अर्थात् वृत्तियों को उठाने के लिए मन को प्रेरित ही न करे।

● सत्त्व, रज, तम इन गुणों का भी प्रभाव होता है, जिससे वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

● इस दृष्टि से भी सतर्क रहना चाहिए कि इस विद्या को भी सीखना एक कर्त्तव्य है।

● इसके साथ अन्यों को सिखाना भी है। इसके लिए भी सारा ऊहापोह आना चाहिए।

अब **शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्त्रवन्तु नः ॥** इस मन्त्र का अभ्यास करेंगे। शं = कल्याणकारी, नो = हमारे लिये, देवीः = दिव्यगुणयुक्त, अभिष्टये = लौकिक सुख हेतु, आपः = परमेश्वर, भवन्तु = होवें, पीतये = मोक्ष-सुख के लिए। शंयोः = सुख की, अभि = सब ओर से, स्त्रवन्तु = वर्षा करें। नः = हम पर।

अब **तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥**

तत् चक्षुः = सर्वद्रष्टा, देवहितम् = विद्वानों का हितकारी, पुरस्तात् = पूर्व से ही, शुक्रम् = शीघ्रकारी वा शुद्धस्वरूप, उत् चरत् = प्रत्यक्ष जानता हुआ। पश्येम = देखूँ, शरदः शतं = सौ वर्ष तक, जीवेम = जीएँ, उसके ही गुणों को, शृणुयाम = सुनें, प्रब्रवाम = बोलें, अदीनाः = दीनता व असमर्थता रहित, स्याम = रहें, भूयश्च = सौ से भी अधिक वर्ष सुखमय जीवन व्यतीत करें।

सन्ध्या के प्रत्येक मन्त्र का शब्दार्थ स्मरण यदि नहीं है तो कण्ठस्थ कर लें। 'पञ्चमहायज्ञविधि' में ऋषि ने जैसा लिखा है, यथावत् एक-एक शब्द का अर्थ याद कर लें।



आत्मा-मन-इन्द्रियों का योगानुकूल-निर्माण

आत्मा, मन और इन्द्रियों को उपासना के योग्य बनाने के लिए क्या-क्या प्रयत्न करना चाहिए, क्या-क्या उसकी गतिविधि है ? क्या आपने कोई एक प्रयोग करके देखा है कि हम अपने मन को उस स्थिति में ले जाते हैं, जहाँ हमारा ज्ञान, बल, इच्छा, प्रयत्न अपने अधिकार में हो जाते हैं । उस स्थिति को सम्पादित कर लेने पर हम जिस प्रयोजन को सिद्ध करना चाहते हैं; वह सिद्ध हो जाता है, वहाँ अधिकारपूर्वक मन को लगा लेते हैं।

इस समय आप अपनी स्थिति का अध्ययन कर अच्छी प्रकार (स्थिति) सम्पादन करके देखेंगे कि हम अपने ज्ञान, मन, अन्तःकरण, बुद्धि, अहंकार आदि को नियन्त्रित करके वह स्थिति बना लेते हैं, जहाँ यह अनुभूति होने लगे कि हाँ अब मैं ज्ञानपूर्वक अपने मन, इन्द्रिय, इच्छा, प्रयत्न को वश में करके देख रहा हूँ, जिस विषय में (उनको) लगाना चाहता हूँ; लगा लेता हूँ । जहाँ से हटाना चाहता हूँ; हटा लेता हूँ, रोकना चाहता हूँ; रोक लेता हूँ।

अब आप प्रयोग करेंगे । यहाँ ध्यान रखेंगे –

- किस विधि से यह सम्पादित कर रहा हूँ ?
- क्या–क्या बाधाएँ आ रही हैं ?
- बाधाओं को रोकने के लिए आप के पास कौन–कौन से उपाय विद्यमान हैं ?
- स्वयं को ही आप कैसे बाधक बनाकर डाल रहे हैं ?
- अब शान्त होकर स्थिर हो जाइए । अब कोई भी विषय उपस्थित नहीं करना है । न ईश्वर ही विषय रहेगा, न साक्षात्कार का चिन्तन करना है । न जीवात्मा विषय रहेगा, न प्रकृति और न कोई सांसारिक पदार्थ । केवल मन को निर्विषय बना के देखना है ।

आरम्भ कीजिए....... ।

- अब आप बताएँगे आपकी क्या स्थिति रही ?

अनुभूतियाँ

साधक १ – कुछ सूक्ष्म शब्दों का उच्चारण किया, परन्तु वे शब्द कौन से थे स्मरण नहीं ।

साधक २ – प्रयत्न कर रहा हूँ, ऐसा लग रहा था ।

साधक ३ – विषय कोई नहीं था ।

साधक ४ – द्रष्टादृशिमात्रः इस सूत्र का स्मरण किया । साक्षीभाव की भावना की ।

साधक २ – विचारों को रोकने हेतु प्राणायाम किया । बल-प्राप्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना की । पंखे की ध्वनि सुनाई दी और वायु का स्पर्श अनुभव में आया ।

साधक ३ – तीनों में से कोई विषय नहीं थे पर बाहर की ध्वनि सुनाई दी।

साधक ४ – उपेक्षाभाव बनाए रखा ।

साधक ५ – तीन-चार बार मक्खियाँ उड़ाईं, गरमी का ध्यान आया, टेप के विषय में ध्यान गया; पुनः रोक दिया ।

स्वामीजी – क्या आप ऐसा अनुभव करते हैं कि इस स्थिति का सम्पादन संभव है ?

साधकगण – ओं भगवन् !

स्वामी जी – आपको यह स्थिति बनाने में जो कोई सफलता मिली उसमें ईश्वर, जीव, प्रकृति के सम्बन्ध में आप का बहुत सा ज्ञान है; यह कारण रहा। इन विषयों का ठीक–ठीक ज्ञान हो तो इतनी समस्या नहीं आती है । जीवात्मा के विषय में भी जानते हैं कि उसी से क्रिया का आरम्भ होता है, अतः इससे भी सहायता मिली । जिनको इन विषयों का ज्ञान नहीं उन्हें मन को, विचारों को रोकने की सामर्थ्य नहीं हो पाती। वे रोक नहीं सकते हैं ।

साधक – क्या इन विषयों को धारणा स्थल में ही रोकते हैं या अन्यत्र भी ?

स्वामी जी – हृदय से अतिरिक्त स्थान में भी धारणा बना के वहाँ रोकना संभव है। हृदय में, मस्तक में या किसी भी एक केन्द्र में रोकने में सरलता होती है । धारणा का स्थान ऐच्छिक है । अपनी रुचि के अनुसार कहीं भी बना सकते हैं । जहाँ जिसका अच्छा अभ्यास हो, वहीं सरलता रहती है । उच्च-वैराग्य होने पर, सम्प्रज्ञात-समाधि की सिद्धि हो जाने पर या जब ईश्वर की अनुभूति होने लगेगी तो चाहने पर अन्यत्र की हुई धारणा हृदय प्रदेश में आ जाएगी ।

हम कह रहे थे कि इस स्थिति में अपने ज्ञान, मन, अन्तःकरण, बुद्धि, अहंकार आदि को नियन्त्रित करने में, मनोनियन्त्रण की सफलता में जीवात्मा आदि का ठीक ज्ञान होना आवश्यक है। जो ईश्वर और जीवात्मा को पृथक्–पृथक् न मानकर एक ही मानता है, उसके लिए यह कार्य कठिन है। नितान्त भौतिकवादी जो जड़ और चेतन को पृथक्-पृथक् नहीं समझते हैं, उनके लिए भी संभव नहीं है। "मन स्वयं विचार उठाता है" ऐसा माननेवाले भी मनोनियन्त्रण की स्थिति नहीं बना सकते हैं। अतः इसके क्या-क्या उपाय हैं, उन्हें जानना और जो बाधाएँ हैं उन्हें छोड़ना आवश्यक है।

मनोनियन्त्रण की सफलता में मुख्य चार उपाय हैं –

१. मन को जड़ मानना तथा स्वयं आत्मा को उसका प्रेरक मानना।

२. विषयों में चार प्रकार के दुःख देखना।

३. ईश्वर में अतिशय प्रेम रखना।

४. प्रलयावस्था सम्पादन।

क. इस स्थिति के सम्पादन में वैराग्य भी बहुत बड़ा कारण है; उससे शीघ्र सफलता प्राप्त होती है।

ख. इसके लिए अभ्यास करते रहना; यह भी कारण है जो कि लम्बे काल तक निरन्तर, निःसन्देह होकर करना चाहिए।

ग. ज्ञानपूर्वक अर्थात् मैं ही मन को चलाता हूँ। मन जड़ होने से स्वयं नहीं चलता, ऐसा मानते हुए प्रयत्न करना चाहिए।

घ. इसी प्रकार श्रद्धा और ब्रह्मचर्य को भी जोड़े रहना चाहिए।

इस प्रकार जो अभ्यास करता है उसका अभ्यास दृढ़ होता है। बाधकों के आने पर विचलित नहीं होता है।

ङ. यदि आपको ईश्वर, जीव, प्रकृति, बन्ध, मोक्ष आदि मुख्य विषयों का मुख्य–मुख्य ज्ञान हो गया हो और विश्व को और अधिक जानने की अनिवार्य जिज्ञासा नहीं रही तो भी सफलता मिलेगी। यदि जिज्ञासा बलवती रही तो उतनी ही बाधा रहेगी।

च. यदि ज्ञात विषयों में संशय रहा तो बाधा रहेगी।

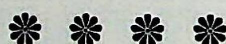
छ. उत्तम लौकिक पदार्थों की इच्छा होने पर भी बाधा रहेगी।

ज. अभीष्ट साधन (भोजन विशेषादि) की दृढ़ इच्छा होने पर भी बाधा रहेगी। परिणामादि दुःख न दीखने पर बाधा रहेगी ।

झ. जब तक दग्धबीज स्थिति नहीं होगी तब तक कठिनाई रहेगी। इस स्थिति में **"वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्"** । वितर्क = विरोधी विचारों के उपस्थित होने पर उनका प्रबल विरोध करना और अनुकूल विचारों को पकड़े रहना, उनको बनाये रखना होगा।

मन को विचार उत्पन्न करने से सर्वथा रोक देना यह **प्रथम स्तर** है। मन को किसी एक ही विषय में लगाए रखना, **यह दूसरा और निम्न स्तर** है। एक विषय बनाये रखना सरल है, इसकी अपेक्षा सर्वथा निर्विषय रखना उच्चस्तरीय और कठिन है । एक विषय में लगाने की अपेक्षा निर्विषय रखना सरल है, यह आप का मत हो सकता है; परन्तु एक विषय की अपेक्षा निर्विषय करना यह कठिन है; यह मेरा मत है । आपको हमारी यह मान्यता विरुद्ध लगती होगी । आपको मैं बताता रहता हूँ कि हमारी और आपकी मान्यताओं में अनेकत्र विरोध है, उसका यह भी उदाहरण समझना चाहिए । अच्छा अब आप हेतु देखिए –

आत्मा ज्ञानवान् है, इच्छागुणवान् है, वह इनके बिना अधिक काल तक नहीं रह सकता । वैज्ञानिक, संगीतज्ञ आदि को ले लीजिए । वे अपने–अपने विषय में तीव्र इच्छा के कारण मन को लगाए रह जाते हैं । उन्हीं को यदि कहा जाए आप सर्वथा निश्चिन्त हो जाइए, कोई भी विचार न करें तो वे ऐसा नहीं कर पाएँगे, ऊब जाएँगे, घबरा जाएँगे अथवा कुछ और सोचना आरम्भ कर देंगे । आप कोई कार्य करने में तल्लीन हैं, वहाँ आप एकाएक रुककर वैसे ही रुके रह जाएँ, ऐसा करना कठिन होगा अपेक्षा से कि किसी अन्य कार्य के विचार में लग जाएँ ।



निर्विषयता

ध्यान करने वालों को सदा स्मरण रखना पड़ता है कि मन एक जड़-पदार्थ है, एक उपकरण है, ईश्वर ने हमको एक साधन के रूप में दिया है। हम जीवात्मा उसको चलाते हैं । यदि ऐसा मानकर ध्यान किया जाय तो शीघ्र सफलता मिलेगी।

क्या आप मन को सर्वथा रोक लेने में समर्थ हैं ? अर्थात् कोई भी विषय नहीं उठाना । न ईश्वर विषय होगा, न जीव, न प्रकृति और न प्रकृति से बना संसार । मनुष्यादि किसी के भी विषय में कोई विचार नहीं करना है।

तो अब हम एक अन्य प्रयोग करेंगे । यह समस्या जो हमारे सब के जीवन में रहती है कि या तो व्यक्ति गाढ़निद्रा में सो जाता है या उसे क्लोरोफार्म सुंघाने पर मूर्छित हो जाता है या चोट लगने पर मूर्छा आ जाती है । शेषकाल में व्यक्ति मन के वशीभूत होकर कोई न कोई उलटे-सीधे ज्ञान-कर्म-उपासना करता ही रहता है, जमता ही नहीं, रुकता ही नहीं । अब जब स्थिर हो ही नहीं सकता तो अधिकारपूर्वक लम्बे काल तक एक विषय में अपने आप को कैसे लगाए? यह कठिन बात है ।

आप अपनी आत्मा, ज्ञान–इच्छा–प्रयत्न सब को रोकेंगे। न ईश्वर को विषय बनाएँगे, न प्रकृति-प्राकृतिक पदार्थों को, न शरीरेन्द्रिय को । आपको यह देखना है कि मैंने ज्ञानादि रोक रखे हैं । चाहे जब तक रोक सकता हूँ और रोकने में मुझे कोई बाधा नहीं दिखाई देती । आरम्भ –

प्रयोग करते समय देखें किसी भी विषय से सम्बद्ध कोई विचार उत्पन्न नहीं करना है । जैसे कोई व्यक्ति कार को चलाना चाहता है तो कार चलती है, नहीं चलाना चाहता तो नहीं चलती, खड़ी रहती है । पंखे को चलाते हैं तो चलता है, बन्द कर देते हैं तो बन्द हो जाता है । ऐसे ही अपनी इच्छा से मन को चलाना चाहते हैं तब चलता है, रोके रखना चाहते हैं तो रुका रहता है ।

- प्रयोग करते समय मन को रोक रखा है; यह अनुभूति रहेगी ।
- इच्छा, प्रयत्न को रोक रखा है, यह मुख्य रहेगा । अन्त में देखेंगे कि जीवात्मा अर्थात् मैं रुका हुआ हूँ । अर्थात् मुझसे सम्बन्धित ज्ञान, बल, प्रयत्न रुका हुआ है ।

साधक१ – अच्छी स्थिति रही, थोड़ी असावधानी होने से एक क्षण के लिए एक चित्र देखा, तत्काल रोक दिया और आगे यह ज्ञान बना रहा कि मैंने अपने ज्ञान-प्रयत्न को रोका हुआ है ।

साधक२ – स्थिति अच्छी बनी रही इसमें कोई विचार, वृत्ति नहीं उठाई गई।

साधक३ – बीच में कुछ असावधानी होने पर बाह्य ध्वनि को सुन लिया था पुनः रोक दिया आगे अपने को नियंत्रण में रखे रहा ।

साधक४ – इस संकल्प को कई बार दुहराया कि मैंने अपने विचारों को रोक रखा है अन्य कोई वृत्ति पकड़ में नहीं आई ।

साधक५ – आरम्भ काल में "मैंने इच्छा को.....इतना शब्द उत्पन्न होने को था कि रोक दिया पुनः इसी का अंश इच्छा शब्द उत्पन्न होने को था उसको रोक दिया आगे पुनः कोई विचार नहीं उठाया ।

स्वामी जी – यह एक स्थिति है जैसा इन्होंने सुनाया हम रोकते हैं और चाहे वह जप का वाक्य हो या और कोई शब्द हमारे मन में हो; जैसे ही उसको उठाने की चेष्टा करते हैं, आत्मा उसको वहीं का वहीं रोक देता है नहीं उठाना है और इसको बढ़ाते-बढ़ाते यथावश्यक स्थिति तक ले जाते हैं । इसका उपयोग इस स्थिति को बनाने के लिए कर सकते हैं यथा – केवल अपने आत्मा को ही अनुभव का विषय बनाना चाहते हैं, केवल मैं आत्मा के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करूँगा ऐसा चाहते हैं । मैं सत् हूँ, चेतन हूँ, मुझ में बल है, स्वाभाविक ज्ञानेच्छा भी है । मैं शरीरेन्द्रिय, ५ कोश, २४ तत्त्वों से पृथक पदार्थ हूँ । अधिकार होनेपर आप बिना किसी दबाव के जितने काल तक चाहे उसको जान सकते हैं।

अब इसका प्रयोजन समझें अर्थात् इस क्रिया से हमको क्या लाभ होता है ? मन पर, इन्द्रियों पर, बुद्धि पर, शरीर पर और आत्मा पर पूर्ण नियन्त्रण के लिए यह प्रयोग किया जाता है । नियन्त्रण का तात्पर्य है कि विवशता से किसी भी ज्ञान–अज्ञान, कर्म–अकर्म, उपासना–अनुपासना का ग्रहण न हो। केवल ज्ञान, कर्म, उपासना का और जितना आवश्यक हो उतने का ही ग्रहण करना । मन अनधिकृत विषय में न जाए, अधिकृत विषय में ही चले । मन को, स्वयं को अनिष्ट से हटाकर अभीष्ट में लगाना ।

यहाँ शब्दों के द्वारा जो प्रशिक्षण दिया जा रहा है, सिखाया जा रहा है, जिसे सीख रहे हैं, कालान्तर में उसका ही अभ्यास करना है ।

● बताया जानेवाला विषय प्रशिक्षण काल के अन्तर्गत ठीक प्रकार से (स्पष्ट) ज्ञात हो गया, ऐसी अनुभूति होनी चाहिए। उस विषय में कोई संशय या भ्रान्ति यहाँ नहीं रहनी चाहिए; अन्यथा व्यवहार में प्रयोगकाल में सफलता नहीं मिलेगी।

● विषय समझ में आ जाने पर भी सन्ध्या–उपासनादि में वृत्तियाँ उठाई जाती हैं तो उसमें अभ्यास की न्यूनता, वैराग्य का अभाव आदि कारण समझना चाहिए। ज्ञान, वैराग्य और दृढ़ अभ्यास हो जाने पर पुनः वृत्तियाँ उठाने की स्थिति नहीं रहती।

● यदि विषय प्रयत्न करने पर भी समझ में नहीं आया, स्पष्ट नहीं हुआ तो शब्दप्रमाण पर विश्वास करके अभ्यास (प्रयत्न) करते रहना चाहिए।

साधक– हेयोपादेयशून्या की स्थिति बनाने में क्या इस प्रयोग से कोई लाभ होता है ?

स्वामी जी – पारम्परिकरूप में लाभ होता है। इस प्रयोग से इन्द्रियों पर संयम तथा विरुद्ध विषयों से बचने की सामर्थ्य आती है। 'उपादेयता' अर्थात् सुख व सुख-साधनों में राग होना। 'हेयता' अर्थात् दुःख व दुःख-साधनों में द्वेष होना। इन दोनों कारणों से इन्द्रियों पर नियन्त्रण होने से प्रवृत्ति निरुद्ध होकर हेयता और उपादेयता दोनों ही निष्क्रिय हो जाते हैं। इस प्रयोग से इन्द्रिय-निरोध में सहायता मिलती है तथा इन्द्रिय-निरोध से राग–द्वेष पर अधिकार होता है। राग-द्वेष पर अधिकार होना हेयोपादेयशून्या स्थिति कहलाती है। इसी तरह इन्द्रिय-निरोध से एकाग्रता उत्पन्न होती है तथा एकाग्रता से तत्त्वज्ञान की उपलब्धि होती है आदि अन्य लाभ भी समझने चाहिएँ।

साधक– आत्मा, शरीर और इन्द्रियों पर नियन्त्रण किस प्रकार से होता है?

स्वामी जी – जैसे उपासना-काल में हम प्रकृति के विषय में चिन्तन कर रहे हैं अब आत्मा के विषय में चिन्तन करना हमको अभीष्ट है किन्तु रुचिकर व सरल विषय होने से प्रकृति का चिन्तन छोड़ नहीं पा रहे हैं; उस स्थिति में इस प्रकार मन को निर्विषय करने का प्रयोग करके प्रकृति से हटाकर आत्मा का चिन्तन कर सकते हैं। इसी प्रकार आत्मा से हटाकर ईश्वर को विषय बना सकते हैं। प्रकृति से हटाकर आत्मा में लगाने पर प्रकृति पर नियंत्रण तथा आत्मा से हटकर परमात्मा में मन लगाने पर आत्मा पर नियंत्रण हुआ। ऐसे ही निम्न विषय या अनभीष्ट विषय से उच्च या अभीष्ट विषय में मन इन्द्रियों को लगाने की सामर्थ्य आने से आत्मादि पर नियन्त्रण होता है।

स्वामी जी – क्या आप इस समय सहसा (तत्काल) सभी विचारों को रोक सकते है ? प्रयोग आरम्भ करें –

अनुभूतियाँ

साधक १ – प्राणायामपूर्वक दो बार प्रयत्न किया ।

साधक २ – आरम्भ से नितान्त अवरोध की अनुभूति रही । मध्य में सूक्ष्म वृत्ति उठाई, पुनः रोक दिया ।

साधक ३ – सब कुछ भूला मगर ईश्वर को नहीं छोड़ा । यदि इसको भी छोड़ा तो मर जाऊँगा ।

स्वामी जी – यह भी न्यूनता है, इसको भी रोकना था । हम चाहते हैं स्वेच्छा से सभी विचारों को रोक दें, जब चाहें तब । पुनः परिणाम होगा जहाँ इच्छा होगी उसमें मन को लगा सकते हैं । वहाँ भी विषय आरम्भ करने पर लगता है विचार कहीं से भी आ गया ।

साधक ४ – खोलना–रोकना दो बार प्रयत्न किया । बीच-बीच में विचार उठाने का प्रयास किया, पुनः रोक दिया ।

साधक ५ – चक्षु खोलकर अभ्यास करूँ; ऐसा बीच में स्मरण किया और बताऊँगा यह एक विचार उठाया ।

स्वामी जी – अभी मैंने समस्त विषयों से मन को रोक लिया है; ऐसा अनुभव होने के पश्चात् थोड़ी स्मृति से इच्छा उत्पन्न होती है । रोकने पर भी उठती है अथवा जब विषय प्रिय होता है, तब इच्छा जागती है, यह अनुभव करना होता है । इससे पता चलेगा मैं ही विचारों को उठाता हूँ, पुनः विचार स्वयं नहीं उठते हैं यह सिद्धान्त बनेगा । इसी से सिद्ध होगा कि विचार विद्युत् तरङ्ग की तरह हैं । किसी भी स्थिति में तत्काल उनको रोक सकते हैं । जैसे मित्र की दुर्घटना सुनकर इस समय विचार नहीं करूँगा । तब किसी को भी रोक सकते हैं ।

अग्रिम परिणाम होगा जिस विषय का ध्यान करना चाहते हैं, निर्बाध, उद्वेग-रहित होकर, बिना दबाव के उसका ध्यान कर सकते हैं ।

एक बात और – बिना विचारित, बिना परीक्षित विचार आए तो प्रभावित करता है । अतः बिना विचारे अन्दर नहीं लेना चाहते हैं तो इस प्रयोग से वह परिणाम आता है ।

विचारों पर पूर्ण अधिकार होने पर, एक विषय में लगाने पर किसी की स्थिरता रहेगी, जमकर चलेगा, दूसरे की फट वृत्ति उठ जाएगी ।

ज्ञान-प्रयत्न आदि निरोध

अब आप एक प्रयोग करेंगे समस्त विचार, इच्छा, प्रयत्न को रोकेंगे, सब ओर संकुचित कर लेंगे । इस समय कोई विषय बनाकर मन्थन नहीं करना है।

आप जीवात्मा, चेतन, सत्, अणु, नाममात्र बल, नाममात्र ज्ञान हैं, उसके साथ ईश्वरप्रदत्त शरीर, नाड़ियों से सम्बद्ध हैं, पास में ईश्वरप्रदत्त ज्ञान है । ईश्वर निर्मित अग्नि आदि सभी पदार्थ आपके साथ सहायता के लिए उपस्थित हैं, इनसे ज्ञानकर्मोपासना करने में समर्थ होते हैं, प्रगति होती है। अब परीक्षण करेंगे कि अपने ज्ञान-प्रयत्न आदि को रोक सकता हूँ या नहीं ? आरम्भ करें –

अनुभूतियाँ

साधक१ – आरम्भ में १/२ मिनट कोई वृत्ति नहीं उठाई । बाह्य ध्वनि में मन को भेज रहा था ।

साधक२ – ठीक प्रकार से प्रयोग नहीं कर पाया, बाह्यान्तरिक दोनों बाधा आती रहीं ।

साधक३ – आरम्भ में धारणा स्थल में कुछ चंचलता रही । उसका भी संचालक हूँ, यह संस्कार उठाया, पुनः रोक दिया । बाह्य ध्वनि सम्बन्धित विचार तो नहीं किया किन्तु ज्ञान पर नियन्त्रण नहीं हुआ, ध्वनि की अनुभूति होती रही ।

स्वामी जी – ध्वनि का ज्ञान होवे तो कोई बात नहीं, तत्सम्बन्धी विचार नहीं होना चाहिए ।

साधक४ – अच्छी स्थिति नहीं बना पाया, बीच-बीच में ध्वनिवृत्ति उठाता रहा । प्रयास करके भी नहीं रोक सका ।

स्वामी जी – उस समय यह नहीं विचारा कि मैं ही तो चला रहा हूँ, नहीं रोक रहा हूँ, विपरीत बुद्धि क्यों उठा रहा हूँ ?

साधक५ – संकल्प करने पर एक वृत्ति उठाई क्यों कर रहा है ? पुनः ईश्वर का ध्यान करने के लिए उत्तर दिया, पुनः अच्छी स्थिति बन गई। चित्र आ जाने पर स्थिति बनाने का प्रयत्न किया । ध्वनि की भी अनुभूति हुई । एक–दो अन्य वृत्तियाँ उठाईं ।

साधक६ – ईश्वर को समर्पण कर, प्राणायाम करके, मस्तिष्क में ध्यान लगाने पर भी पंखे का ध्यान आ गया ।

स्वामी जी – एक बात सुनी है कि ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न जीवात्मा के लक्षण हैं, अतः इस समय जानने का प्रयास करेंगे मैं सत् हूँ। अभी एक विषयक है, इससे पूर्व विषय रहित प्रयोग था। जीवात्मा मन से भिन्न स्वरूप होने पर भी मन में अपने स्वरूप को देखे कि मैं इस स्थिति को देख रहा हूँ–

मैं सत्य हूँ, मेरा कभी विनाश नहीं होता।

मैं सत्य हूँ, मेरा कभी विनाश नहीं होता।

अपने में स्थित होकर प्रयोग करें–

कैसी स्थिति रही ?

साधक १ – प्रारम्भ में हृदय में अविनाशी शब्द का नियन्त्रित उच्चारण करते हुए अनित्यता, अविनाशी शब्द को नियंत्रित करते हुए अविनाशित्व की अनुभूति की।

स्वामी जी – विषयान्तर भी उठाया ? ज्ञान शब्द को उठाया था।

साधक २ – एक बार क्षण भर के लिए स्मृति उठाई, पुनः रोक दी। शेष काल में शाब्दिक अनुभूति की, अनुभूति का स्तर नहीं बना।

स्वामी जी – हम जानना चाहते हैं, सिद्धान्त स्थिर करना चाहते हैं, यह निर्णयात्मक ज्ञान करना चाहते हैं कि यह वास्तविकता है – "मैं जीवात्मा अणु, एकदेशी, कभी न नष्ट होने वाला हूँ" क्या यह बुद्धि निर्णीत होती है या संशय होता है ? अन्त में इस निर्णय का अनुभव नहीं करते हैं ?

साधक ३ – पहले से अच्छी स्थिति रही किन्तु बाह्यध्वनि में ध्यान दिया, सुना; यह बाधा रही।

स्वामी जी – बहुत ध्वनि तो नहीं आ रही है, अथवा अभाव होने पर आ रही है। एक शब्द होता है, एक रूप होता है, दोनों से सम्बद्ध वृत्ति उपस्थित होती है। दृश्यरूप में जब एक विषय बनाएँगे तब साधारण ध्वनि सुनने में नहीं आती। अच्छी प्रकार जब उसी में तल्लीन हो तो साधारण रूपवृत्ति नहीं उपस्थित होगी। आप एक विषय में संलग्न रहते हैं अतः अवकाश आदि नहीं रहता, यह कारण है। बाधा की स्थिति– एक पक्ष में मन को लगाया किन्तु नहीं लगा सका, विषयान्तर का इच्छुक रहता है, विषयान्तर उठा लेता है, अतः एकाग्रता भङ्ग हो जाती है। एक पक्ष में तो अथवा मुख्य विषय की इच्छा दूसरे पक्ष में अन्य विषय की इच्छा रहती है। दूसरे को छोड़ देने पर एकाग्रता से बाहर नहीं जा सकते।

एक विषयक प्रयोग

अब आप एक विषय में मन को लगाए रखने का प्रयोग करें । इसकी विधि इस प्रकार समझें —

(१) मन्त्र का उच्चारण करना ।

(२) शब्दों का अर्थ करना ।

(३) ईश्वर समर्पण होना ।

(४) ईश्वर को साक्षात् मानकर सम्बोधन करना ।

(५) व्याप्यव्यापकभाव बनाये रखना ।

व्याप्यव्यापकभाव, सर्वव्यापकता आदि स्थिति स्पष्ट न होने पर शब्दप्रमाण को आधार मान के जप आदि काल में प्रयोग करना चाहिए। उसी समय व्यापकतादि को विषय बना लेना, उसको स्पष्ट करने का प्रयत्न आरम्भ कर देना जप में दोषयुक्त माना जाता है । इसके लिए कालान्तर में विवेचना करनी चाहिए ।

ऐसे ही बिना धारणा के ही स्थिति अच्छी बनती है ऐसा लगता है; किन्तु वह ऐसी है जैसे कोई समुद्र के किनारे खड़े होकर विशाल समुद्र को देख रहा हो। सम्बद्ध स्थितिविशेष नहीं बनती है ।

व्याप्यव्यापक स्थिति को अग्नि-गोला के दृष्टान्त से समझ लेना चाहिए। प्रलयावस्था बन जाने पर यहाँ अति सरलता हो जाती है ।

साधक— क्या हमारी यह सन्ध्या ध्यान के अन्तर्गत आती है ?

स्वामी जी — ध्यान का प्रयोग किसी एक विषय को जानने के लिए होता है । सन्ध्या में अनेक विषय आ जाते हैं, अतः यह एक सामान्य साधन है । ईश्वर की उपासना उसका विशेष प्रयोजन है । ध्यान की योग्यता बनाने हेतु प्रारम्भिक काल में इसका साधन के रूप में प्रयोग करना चाहिए। सन्ध्या के प्रत्येक मन्त्र का शब्दार्थ स्मरण है ? यदि नहीं है तो कण्ठस्थ कर लें। 'पञ्चमहायज्ञ-विधि' में ऋषि ने जैसा लिखा है, यथावत् एक-एक शब्द का अर्थ याद कर लें ।

अब एक विषयक प्रयोग करते हैं सन्ध्यामन्त्र **उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्** को लेते हैं । उच्चारण, सम्बन्ध, सम्बोधन, अर्थविचार, समर्पण, इच्छा, प्रयत्न आदि की भी अनुभूति बनी रहे। अथवा मन्त्रोच्चारणपूर्वक इच्छा प्रयत्न को ही देखो ।

साधक : सम्बोधन, समर्पणादि भाव मुख्य होने पर विचारोत्पादन नियंत्रित नहीं रहता ?

स्वामी जी – अभ्यास से सब होता है। यहाँ देखना चाहिए कि ध्यान की स्थिति तभी पूर्ण मानी जाएगी जब सभी एक साथ होते रहेंगे। एक दो के ग्रहण मात्र से नहीं। यदि आरम्भ में इतना ही चल पाता है तो आगे-आगे जोड़ते जाना चाहिए। अपने-अपने सामर्थ्य की बात है यथा –

(१) केवल पाठ कर सकना।

(२) अर्थ सहित पाठ कर लेना।

(३) समर्पण भी साथ-साथ कर लेना।

(४) इसी प्रकार आगे-आगे।

उपासनाकाल में इच्छादि को देखने में पूरा बल नहीं लगाना चाहिए, उसके लिए सर्वथा निरोध (निर्विषयता) वाला काल रखना चाहिए। अभी तो उसका लाभ, परिणाम देखना है।

अनुभूतियाँ

साधक १ – कोई भी वृत्ति नहीं उठाई।

स्वामी जी – ये जो आपने किया यह ईश्वरप्रदत्त बुद्धि आदि साधनों से एक विषय में वृत्तिनिरोध को देखा। यह भी एक अवस्था है, अधिकार की अच्छी अवस्था है। जैसे चलते-चलाते बीच में उठा लिया पुनः निरोध कर दिया; यह भी सफलता है।

साधक ३ – मन्त्रोच्चारण लय सहित गायन के रूप में किया सम्बोधन, समर्पण भी। मेरे इच्छा-प्रयत्न से यह हो रहा है; यह लक्ष्य था किन्तु जब मन विषयान्तर होता था तब ज्ञान होता था, तत्काल ही रोक देता था, परन्तु आरम्भ कब हुआ यह ज्ञान नहीं हुआ।

स्वामी जी – आगे-आगे अभ्यास होने पर वह स्थिति देख सकेंगे, कोई भी वृत्ति किसी भी विषय में मैं ही उठाता हूँ।

यह जो बताया जाता है विचार कहाँ से आते हैं। वहाँ इच्छा होगी एक विषय को देखें। इच्छा का ज्ञान होगा इसको चाहता हूँ। उसी समय कुछ भाग गृहीत होगा। शब्दादि के उच्चारण काल में पता चलता है। यहाँ पूर्वतः सज्जित न रहा तो तत्काल वृत्ति उठेगी, पुनः रोक लेगा।

साधक – जैसे कार चलाते समय आरम्भ में स्पष्ट प्रतीति होती है, चलते समय इधर-उधर भी देखता है, पुनरपि नियंत्रण में रखता है, पकड़े रहता है, पर इसका पता नहीं चलता ।

स्वामी जी – यदि पता नहीं चलता तो उसका आत्मा अधिकार में नहीं है । वैसे वहाँ वह स्थिति पकड़ में आती है ।

साधक – केवल प्रयत्नादि देखने पर दूसरे कार्य होने पर सन्देह होता है वे स्वयं होते हैं ।

स्वामी जी – यह प्रयोग से पता चलेगा ।

प्रयोग करते हुए कई वर्ष हो गए । ४०–५० वर्ष के पश्चात् समझ में आया था कि सर्वथा मनोनिरोध संभव है । एक विषय में चलाने में भी वैसा ही संभव है ।

साधक – अधिकृतरूप में भी नये विषय में चला जाता है ?

स्वामी जी – वहाँ अधिक ध्यान देना होता है । वहाँ समर्पणादि में न्यूनता रहेगी। परिचित होने पर सरलता हो जाएगी । पुनः पुनः करने पर अभ्यस्त हो जाता है। अर्थ करने पर भाव समझ में आता है और रुचि होती है । अब बोलकर परीक्षण करेंगे । धीरे धीरे सरलता रहेगी ।

कभी देखा ? यहाँ मेरा हाथ है, इसको उठाना है । यहाँ देख सकते हैं पहले इच्छा होती है, पुनः उठाते हैं ।

आपको कभी विषयान्तर में मन लगाने के पूर्व इच्छा दिखाई देती है या नहीं ?

साधक – लगा देने पर ज्ञान होता है । लगाने से पूर्व नहीं पता चलता।

स्वामी जी – अच्छा प्रयोग करके देखिए, इच्छापूर्वक उठा रहा हूँ, ऐसा दिखाई देगा । उत्पन्न हुई क्रिया के समय उद्बुद्ध इच्छा को देखिए।

(प्रथम प्रयोग स्वामी जी) – जब इच्छा करता हूँ हाथ उठे, तब उठता है। इस समय स्पष्ट इच्छा दिखाई देती है परन्तु कार्याधिक्य होने पर स्पष्ट पता नहीं चलता । मूर्छित की तरह होता है जैसे लिखने में।

साधक १ – देशान्तर में या कालान्तर में लगाते समय मध्य में अवकाश रहने पर ज्ञात होता है ।

साधक २ – हाथ उठ जाने पर ज्ञान हुआ ।

स्वामी जी – यहाँ एक तो उठा हुआ हाथ देखकर जानता है, किन्तु होता है आत्मा से (स्वयं करता है) ।

साधक ३ – इच्छा का ज्ञान तो होता है, परन्तु कब प्रारम्भ हुआ यह नहीं पता चलता ।

स्वामी जी – अब एक धारण केन्द्र बनाइए । बौद्धिक स्तर पर देखिए यहीं हृदय में मैं आत्मा हूँ, यहीं पर इच्छा-प्रयत्न कर रहा हूँ । यदि वहीं देख रहे हैं तो हाथ उठाने से पूर्व इच्छा को देखिए । इसका समाधान है विचार कहाँ से आते हैं। आता है यह तो जानते हैं, कहाँ से आता है, इसका इससे परिज्ञान होगा । इसके लिए शान्ति से बैठिए, धारणा बनाइए अथवा जैसे मैं प्रकोष्ठ में हूँ वैसे शरीर में हृदय में हूँ; यह बुद्धि रखें ।

साधक १ – देश का ज्ञान नहीं होता है ।

स्वामी जी – विशाल महोदय ध्यान देंगे, दूसरे भी । आप को विचार आ जाने पर पता चलता है, यदि आप यह जानना चाहते हैं कहाँ से आता है तो इसको देखिए –

साधक १ – हृदय में प्रतीतिवत् इच्छा होती है, विचार से मस्तक प्रभावित दिखता है ।

स्वामी जी – इस प्रयोग से यह बात आई कि जैसा आपने बताया उसके अनुसार चिन्तन का केन्द्र मस्तिष्क है, इसलिए जैसे ही विचार आरम्भ हुआ तभी वहाँ आ गया । अब मैं प्रयोग करता हूँ विचार कहाँ से आते हैं–

प्रथम प्रयोग – अभी मैं हाथ नहीं उठा रहा हूँ, स्पष्ट हो रहा है। अब उठा रहा हूँ, स्पष्ट हो रहा है ।

कहाँ से आता है यहाँ जो ऊथल–पुथल होता है, यह अनधिकृत (स्थिति) विचार है । जब अनधिकृत विचार आते हैं, पुनः रोकने पर विषयान्तर उठ जाता है । इसका उपाय है हम अब विचार नहीं उठाएँगे । अब दिखाई दे रहा है मैं चेतन आत्मा हूँ, विचार नहीं उठाऊँगा, यहाँ बलात् नहीं उठेगा। परन्तु बहुत पहले लम्बे काल तक ऐसा दिखता रहा, विचार बल पूर्वक उठ जाते हैं, अब वैसा नहीं लगता है ।

अभी तो शिक्षण काल होने से भी सतर्क हैं, वैसे कभी व्यवहार में, भोजनादि करते समय यदि अनधिकृत विचार आता हुआ दिखाई दिया तो उसी समय पकड़कर हटा देता हूँ ।

साधक१ — आपकी अवस्था दिनभर हृदय में रहती है ?

स्वामी जी — प्रायः रहती है । कभी लुढ़क जाती है, पुनः बनाते हैं। अब ईश्वर को देखने की इच्छा प्रकट की, अब बुद्धि ऐसे फैल रही है जैसे आकाश ।

एक अवस्था प्रलयवत् बनाता हूँ । वहाँ संसार को छोड़ देते हैं, जैसे पर्वतारोही भूमि को छोड़कर पर्वत पर चढ़ जाता है ।

पहले स्थिति बनाने के लिए शरीर को लेकर धारणा को विचारता था। अब आकाश की तरह आत्मा को बैठाते हैं । पुनः जब ईश्वर को देखने की इच्छा होती है तब बुद्धि फैल जाती है । तब ईश्वर को व्यापक देखते हैं, व्यापकता विषय बनती है । पुनः ईश्वर विषय को नितान्त निकट का निर्णय करते हैं । स्वयं में व्यापक देखना और सर्वत्र व्यापक देखना।

व्यापक देखने पर एक स्थान में देखने से पता चला सम्प्रज्ञात आरम्भ हो गया, तब प्रथम मस्तिष्क प्रभावित होता है । एकाग्रता मस्तक से आरम्भ होती है, पुनः ललाट प्रभावित होता है । जब यह एकाग्रता होती है तो शिर प्रभावित होता है । इस अवस्था में अनित्य संसार नाशवान् प्रलयप्राप्त दिखता है । पुनः ऐसी अनुभूति होती है कोई क्लेश-बाधा नाम की वस्तु नहीं है। न संसार, न ईश्वर, यह जीवात्मा आकाश में अकेला विचरता है । न भय, न राग, न द्वेष, अति शान्तिप्रद, भय-संकट-रहित, कोई चिन्ता नाम की वस्तु नहीं रहती है ।

इस स्थिति में वृत्ति का स्तर परिवर्तित होता है, जब स्मृति आती है, बाहर से शब्दाधिक्य होता है स्थिति भङ्ग हो जाती है, उस समय हलचल आरम्भ होती है । हलचल आरम्भ होने पर दबे हुए संस्कार उठ जाते हैं, उससे अशान्ति होने लगती है ।

पुनः क्या करते हैं — सतर्क होकर संसार को देखते हैं, पुनः उसी पूर्व अवस्था में लौट आते हैं । ईश्वर का स्वामित्व बनाये रखते हैं । स्वयं को पकड़े रहते हैं । पुनः इस स्थिति में पूर्ववत् (समाधि) अवस्था का सम्पादन करते हैं, पश्चात् अनुभव करना चाहते हैं ईश्वर सर्वव्यापक है । तब हृदय में उतर आते हैं । हृदय में आकर ईश्वर को जानने की इच्छा होती है तो सर्वव्यापक से सम्बद्ध बुद्धि कार्य करती है । पूर्वानुभूति रहती है क्लेशरहितावस्था, आकाश में विचरण सदृशता की, परन्तु जब ईश्वर को अनुभव करने लगते हैं तो कण्ठ

से हृदय पर्यन्त मिठास की अनुभूति होती है । जैसे मीठा निगलते हैं वैसा ही मीठा लगता है ।

साधक – उस समय स्वयं (जीवात्मा) की अनुभूति कहाँ होती है?

स्वामी जी – अपनी अनुभूति भी हृदय में होती है । ईश्वर की व्यापक रूप में होती है, किन्तु अणु आत्मा को केन्द्र करके होती है । समय-समय पर आत्मा की अनुभूति स्तन के पास हृदय के मध्य में होती है। जब ईश्वर के साथ विशेष सम्पर्क होता है तब कुछ ऊपर छोटे केन्द्र में होती है । जब स्थिति भङ्ग होती है पुनः स्थान्तरित हो जाती है ।

साधक – जब सत्त्वगुण का सुख मिलता है तब उसका केन्द्र कहाँ होता है ?

स्वामी जी – सत्त्वस्तरीय सुख की अनुभूति वहीं हृदय में होनी चाहिए परन्तु उसमें कोई तीव्रता नहीं रहती । व्यापकरूप में शान्त स्थिति होती है। उसका एक मात्र लक्षण है बाधा–पीडा–क्लेशादि की अनुभूति नहीं होती । ईश्वर के सुख में सत्त्वसुख से तीव्र मिठास होती है । अतः सत्त्वसुख को ईश्वरसुख की तुलना में नहीं चाहता है। जैसे ही ईश्वर का निश्चय होता है, संशयरहित जितना होता है शान्त, निर्भय अवस्था बन जाती है ।

एक प्रसङ्ग उपनिषद् में भी आया कि **महान्तं विभुमात्मानं मत्वा...। सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः, तं विद्यात्** ॥ कठ २/२२–६/१७ । **हृदि एष आत्मा॥** आप ईश्वर को सर्वव्यापक कहते हैं पुनः हृदय में दिखना मानते हैं, यह कैसे ? उसने कहा – जीवात्मा लघु, अणु है, इसलिए सर्वव्यापक ईश्वर की अनुभूति भी लघु देश में ही कर पाता है ।

यद्यपि जब से ईश्वर अनुभूति का विषय बनता है तभी से लोहे का गोला जैसे भट्ठे में अग्नि के समान हो जाता है दिखने लगता है । तब यह संसार, प्रकृति–विकृति सब ईश्वर में डूबा हुआ दिखाई देता है । जब डूबा हुआ दिखता है तब ईश्वर के विषय में विशेष निर्णय होता है ।

साधक – तब धारणा का केन्द्र कहाँ होता है ?

स्वामी जी – ईश्वर में ही होता है । जैसे इस समय शरीर में है, ऐसा नहीं रहता है । शरीरादि को छोड़ देता है । आकाश में धारणा अर्थात् ईश्वर में धारणा करता है ।

साधक – रहता तो होगा शरीर में ही ।

स्वामी जी – शरीर में ही रहता है किन्तु देखने की शैली है । शरीर को भूला हुआ सर्वव्यापक ईश्वर का अनुभव कर रहा होता है । रहता है शरीर में परन्तु अनुभूति=ज्ञान–विज्ञान सर्वगत रहती है । नये की यह स्थिति होती है वह स्वयं को भी नहीं देख पाता, मैं भी कोई पदार्थ हूँ; आरम्भिक प्रत्यक्ष में अपनी अनुभूति नहीं रहती है । पुनः पुनः स्थिति बनती टूटती है। अभ्यास होने पर मैं हूँ; यह लगने लगता है । यद्यपि मैं हूँ इसके कारण 'मैं और मेरे के' प्रसङ्ग का डर रहता है । प्रमाण देखना हो तो **तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः॥** यो. द. व्या. भाष्य ४/२७ देखें ।

जब शिथिलता होती है छिद्र हो जाता है = वैराग्य में न्यूनता आ जाती है, ईश्वर-प्रणिधान में छिद्र हो जाता है तब वहाँ समीप के विरुद्ध ज्ञान कैसे उभरते हैं – मेरा है, मैं जानता हूँ। इस अनुभूति के होने पर ईश्वर की अनुभूति समाप्त हो जाती है । आशंका रहती है कभी ममाहं की पूर्ववत् स्थिति न हो जाय । इसलिए सब कुछ भुला देता है, तब ईश्वर ही ईश्वर दिखता है। उपनिषद् में जो इस अवस्था का वर्णन किया है वही है – **अहमेव ब्रह्मास्मि** मैं ही ब्रह्म हूँ । लोक में यहीं से भ्रान्ति हो गई ।

साधक – वे लोग **'अहं ब्रह्मास्मि'** मत चलाने वाले उस स्थिति तक गए होंगे।

स्वामी जी – जाते तो जानते (अतः नहीं गए हैं भ्रान्त होने से)। जाने वाले की स्थिति बनती-बिगड़ती रहती है । भोगों की इच्छा-अनिच्छा होती रहती है, इस अवस्था में वह कहता है – यह क्या है ? यह (भोगयुक्त) ईश्वरानुभूति उचित नहीं है । इस प्रकार से धीरे-धीरे पता चलता है, अवस्था भेद से निश्चय होता है कि मेरा भी पृथक् अस्तित्व है । पुनः पुनः समाधि के भङ्ग होने पर अनुभव करता है, मैं तो उलटा–सीधा जानता हूँ, ईश्वर तो सीधा–सीधा (यथार्थ) जानता है । पुनः दोनों एक कैसे हो सकते हैं?

सारी घटनाएँ आप के साथ घटेंगी, जब कभी वहाँ पहुँचे तब । यह बात जंचती है या नहीं ? यह जो बता रहा हूँ; कोई भ्रान्ति या कल्पना नहीं है, सत्य = यथार्थ अनुभूति है ।

साधक१ – संशय तो अज्ञात से होता है, स्पष्ट ज्ञात हो तो संशय का अवसर कहाँ होता है ?

स्वामी जी – अनुभूति का परीक्षण वेद, दर्शन, सत्यार्थप्रकाश आदि से होता है । संशय को मैं भी नहीं छोड़ता । वहाँ पहुँचते ही संशय करता हूँ, कहीं यह भ्रान्ति, सन्दिग्ध तो नहीं है ? परीक्षा हो जाने पर सन्देह नहीं रहता।

जो भी वहाँ पहुँचेगा उसके साथ यही घटना होगी । मैंने जो अनुभूति जिस रूप में की है, उसका वर्णन वैसा ही करूँगा । यदि विपरीत किया तो विपरीत कहूँगा, किन्तु बुद्धिपूर्वक विपरीत कभी नहीं बोल सकता हूँ। आपको मिथ्या बताने का प्रयत्न कभी नहीं करूँगा ।

इच्छा-प्रयत्नानुभूति-प्रयोग

आपको अपनी आत्मा की अनुभूति होती है ?

साधक१ – इन्द्रिय से पृथक् है ऐसा लगता है ।

साधक२ – अणुस्वरूप है ऐसा लगता है ।

एक अनुभूति में स्वयं को स्वयं से दूर अनुभव करता है, दूसरे में स्वयं को स्वयं से समीप (सम्बद्ध) अनुभव करता है । जैसे मैं शरीर नहीं हूँ, न इन्द्रियाँ हूँ, न मन हूँ, न बुद्धि हूँ, न सत्त्वादि गुण हूँ, २४ पदार्थों में कोई नहीं हूँ। शब्दानुमान से इनसे स्वयं को भिन्न अनुभव करता हुआ इनको स्वयं से दूर अनुभव करता है । दूसरे में मैं शरीर, इन्द्रियादि से स्वरूप से पृथक् हूँ, किन्तु समीप हूँ इस प्रकार सम्बद्ध होकर अनुभव करता है। सम्बद्ध अनुभूति होना विशुद्ध है। दूरस्थ वाला ज्ञान सामान्य तथा ढीला होता है। मैं तथा शरीर को सम्बद्ध परन्तु एक ही मानना अशुद्ध ज्ञान है । मैं चेतन हूँ, ज्ञाता हूँ इस प्रकार अन्यों से स्वयं को स्वरूपतः पृथक् किन्तु देश की दृष्टि से समीप अनुभव करना चाहिए तथा स्वयं को स्वयं से स्वरूपतः तथा देशतः दोनों दृष्टियों से समीप सम्बद्ध (अपृथक्) अनुभव करना चाहिए।

जब कहा जाय स्वयं को वश में करें, इन्द्रिय, मन, बुद्धि को वश में करें तो ऐसा कहता है मैं आत्मा हूँ, मन–इन्द्रिय–बुद्धि–अहंकार को नहीं चलाऊँगा। चलाना छोड़ देता है । अब अन्य विषय को छोड़कर अपनी अनुभूति की खोज करता है । जिसकी यह स्थिति हो जाती है वह मन, इन्द्रिय को नहीं चलाना चाहता है तो नहीं चलाता है । सारा नियन्त्रित रखता है । इस

समय मैं अपने मन को किसी भी विषय में नहीं चलाऊँगा। इस स्थिति में सर्वविषय निरोध होता है ।

क्रियान्तर होने पर बार-बार स्थिति परिवर्तित होती है, चली जाती है। विषयों का ग्रहण–त्याग पूर्ववत् चलने लगता है ।

पंखा चलाते समय नेत्र से देखता है, मन से चाहता है, हाथ लगाकर (बटन दबाकर) विद्युत् चलाता है । वहाँ ध्यान से देखने पर पता चलता है कैसे इच्छा उत्पन्न होती है, इच्छा के आरम्भ होने पर कैसे प्रयत्न होता है?

● इच्छा का ज्ञान होता है । इच्छा को बढ़ाने के लिए जब प्रयत्न करता है तब इच्छा कर रहा हूँ यह ज्ञान होता है । जैसे कोई प्यासा व्यक्ति पानी पीने के लिए पाचक के समीप जाते समय विचार करता है, पाकशाला में पानी होगा । यह पाचक है, इससे माँगते हैं । मन, इन्द्रिय आदि के बिना जल है यह भी ज्ञान नहीं होगा । स्मृति से जानता है। नये ज्ञान उत्पन्न होने में स्मृति कारण नहीं होती ।

● इच्छाप्रयत्नादि क्रम –

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।

मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम् ।। वर्णो० शिक्षा ।

अर्थ – आत्मा बोलने की इच्छा से अर्थों को बुद्धि द्वारा ठीक से जानकर मन को प्रेरित करता है । मन जाठराग्नि को प्रेरित करता है । जाठराग्नि प्राणवायु को प्रेरित करती है । प्राणवायु नाभि से ऊपर उठता हुआ हृदय, कण्ठ आदि प्रदेशों में तत्-तत् वर्णों के स्थानों से टकराकर उस-उस वर्ण को उत्पन्न करता है।

सब कुछ सुन–सुना कर "मन जड़ है" इस ज्ञान के बिना पूर्ण अधिकार नहीं होगा, अनधिकृत क्रिया हो जाएगी । जैसे अपने प्रकोष्ठ में स्थित होते हुए अन्य प्रकोष्ठ वालों के साथ मिलने की इच्छा होने पर प्रयत्न आरम्भ करते हैं वहाँ इच्छा दिखाई देती है, इसीको उपासना क्षेत्र में भी ले जाइए। जैसे मैं सब से भिन्न हूँ । हाथ उठाने की इच्छा करके हाथ उठाने पर स्पष्ट इच्छा ज्ञात होती है ऐसे ईश्वर से सम्बद्ध होकर स्तुति-प्रार्थना-उपासना करूँगा; इस इच्छा की भी स्पष्ट अनुभूति कर सकते हैं। वहाँ पर ध्वनि आदि आने पर भी तल्लीन होने पर प्रथम सूक्ष्मध्वनि तो सुनाई ही नहीं देती । एक

सीमा तक तीव्र ध्वनि का भी निरोध हो सकता है । अतितीव्र होने पर ध्वनि सुनने की प्रमाण-वृत्ति आरम्भ हो जाएगी। जैसे – **'ओं सच्चिदानन्द'** का जप आरम्भ किया उसी समय अन्यत्र से उसकी व्याख्या सुनाई देने लगी और व्याख्या बड़ी अच्छी लगी तो उसमें रुचि हो गई, अब व्याख्या सुनने लगे और जप छूट गया; इस प्रकार प्रमाण-वृत्ति आरम्भ हो जाएगी । यदि जप करना है तो इसमें तल्लीन होवें तब व्याख्या सुनना रोक सकते हैं और जप यथावत् चलेगा अन्यथा जप रह जाएगा ।



जीवात्मस्वरूप

आप स्वयं को वश में करने का प्रयास करते हैं, करना आता है अथवा नहीं आता है, नहीं आता है तो कैसे करोगे ?

साधक १ – जो अपना स्वरूप है इच्छा, ज्ञान, प्रयत्न आदि उनको रोक देता हूँ ।

स्वामी जी – अच्छा उसके रोकने के पश्चात् कोई वृत्ति उठ नहीं सकती, यदि दृढ़तापूर्वक रोकना आता है तो । हाँ जी आपको ऐसा करना आता है?

साधक २ – स्वल्प काल के लिए रोक पाता हूँ ।

स्वामी जी – जो थोड़े काल के लिए रोकने की स्थिति है उसको लम्बे काल तक पहुँचाया जा सकता है । व्यक्ति को इतना परिज्ञान हो जाय कि सभी व्यापार ज्ञानकर्मोपासना मेरे माध्यम से ही होते हैं । शरीरेन्द्रियान्तःकरण सब मेरे आधीन हैं तो उसमें वह इस ज्ञान को लेते हुए देखता है अब मैं स्वयं को रोक देता हूँ । पुनः उसकी क्षमता बढ़ते-बढ़ते और विश्वास हो जाता है । इतना रोकना आ गया तो एक बहुत बड़ा कार्य सम्पन्न हो गया। उलझन समस्या है कि एक तो जीवात्मा स्वयं के स्वरूप को ठीक से नहीं जानता है । यदि जाने तो कैसे? शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि मेरे अधिकार में हैं । पुनः उसका प्रयोग करना और यहाँ तक पहुँच जाना कि अब मैं आत्मा पर अधिकार करता हूँ । अब मैं विवश होकर नहीं विचारूँगा । ऐसा कर लेने पर उसको विश्वास हो जाता है जितनी इच्छा हो उतना विचार सकता हूँ और उसको घटा-बढ़ा सकता हूँ ।

प्रारम्भ में तो व्यक्ति को कभी-कभी यह स्थिति दिखाई देती है कि मैं अधिकारपूर्वक अपने विचारों को उठाता हूँ या नहीं उठाता हूँ । जब वह व्यवहार में प्रवृत्त होता है तब वह स्थिति नहीं रहती तब वहाँ पहले के संस्कारों के बल पर कुछ मिलता-जुलता उसी ढंग का सोचने लगता है । कुछ बातें बिना योजना के उठने लगती हैं किन्तु अभ्यास कर्त्ता ऐसी स्थिति को तत्काल रोक देता है।

शान्ति-चित्त होकर जब लम्बा अभ्यास करता है तो उसमें दृढ़ता आ जाती है तब वह चाहता है कि इस स्थिति को व्यवहार में भी बनाये रखूँ। तब वह व्यवहार में भी उस स्थिति को बनाने लगता है तब व्यावहारिक क्षेत्र में भी उसकी प्रगति होने लगती है । पुनः वह व्यवहार करते हुए भी मन, इन्द्रिय, आत्मा पर अपना अधिकार देखता है ।

यह तो प्रसिद्ध बात है कि मानवमात्र इस समस्या से ऊपर उठा हुआ नहीं दिखता है, विरला ही दिखता है । शरीर के अधीन रहते हुए वे नहीं सोच सकते कि इससे मेरी व अन्यों की हानि हो सकती है । यदि कभी सोच भी लें तो इस ज्ञान-विज्ञान के न होने से वे नहीं कर पाते । प्रयास करते हैं सफलता नहीं मिलती है । प्रयास भी थोड़ा होता है, ज्ञान भी थोड़ा होता है ।

जब आप आत्मा पर अधिकार करके ध्यानावस्थित होकर, मन को इधर-उधर लगाए बिना निदिध्यासन के रूप में किसी विषय का निर्णय करते हैं तो उस विषय को सूक्ष्मता से जानते हैं । सूक्ष्मता की स्थिति सामने आती है । उस समय जो बात जैसी हो, वस्तुतत्व की दृष्टि से लगभग वह वैसी ही दिखाई देती है । जो उस समय सत्य बात दिखाई देती है, मन चंचल होने पर वही बात जो ध्यानावस्था में अच्छी दिखाई देती थी अब बुरी दिखाई देती है । इतना अन्तर होता है । व्यक्ति वही है । परीक्षण करना हो तो कर सकते हैं आप । आपने यह विचार किया कि मैं दूसरों को सुख पहुँचाऊँ या नहीं ? ऐसा करना ठीक है या नहीं ? तो आपको समझ में आएगा कि बहुत ठीक है, यह सत्य ही है, मुझे ऐसा ही करना चाहिए । मेरे व्यवहार से किसी को कोई कष्ट न हो किन्तु सुख हो । पर जब व्यवहार में आए, लेन-देन में आए, कुछ लोग सामने आकर खड़े हुए तो उसी समय आप देखेंगे वे विचार ओझल हो गए, मन्द हो गए और अपना स्वार्थ प्रधान हो

जाएगा औरों को कष्ट हो जाए कोई बात नहीं। अपना सुख हमको मिलना चाहिए। व्यक्ति वही है पर अस्थिर-चित्त में ऐसा सोचने लगता है।

शान्त-चित्त बैठकर आप शब्दादि प्रमाणों से मन्थन करके इस स्थिति में पहुँचते हैं कि अब मैं नहीं सोचूँगा, नहीं विचारूँगा, चाहे जो वृत्ति अज्ञान रूप में नहीं उभरेगी, उसे रोका जा सकता है ?

आप बताएँगे कि हम कुछ अभ्यास कर रहे थे कि अपने स्वरूप पर धारणा–ध्यान–समाधि लगाकर ज्ञान करें, उसमें क्या स्थिति रही, कैसा लगता है ? ऐसा तो नहीं सोचते हैं कि अपना भी स्वरूप जानने के लिए संयम की क्या अपेक्षा है अथवा करना चाहिए, क्या समझते हैं ?

साधक १ – अपने स्वरूप का ज्ञान के लिए अभ्यास करना अनिवार्य है; क्योंकि अभी जो हम अपना स्वरूप जानते हैं वह वास्तविक नहीं है, इसमें शरीर और स्वयं को मिला-जुला स्वरूपवाला समझते हैं। इसको वास्तविकरूप से जानना उचित है।

साधक २ – जब तक हम अपना स्वरूप नहीं जान पाएँगे तब तक उसके पास कैसे पहुँच पाएँगे। इससे अधिक चिन्तन-मनन करना चाहिए। इस प्रकार ठीक लगता है।

स्वामी जी – अब प्रयोग करेंगे मैं जीवात्मा अणु, एकदेशी, अल्पशक्तिमान् कर्म करने में स्वतन्त्र, फल भोगने में परतन्त्र, इन्द्रियों को शुभ–अशुभ मार्ग में चलानेवाला हूँ। अब अपने ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न को अपने अधिकार में रखूँगा। उस स्थिति में जिसमें किसी भी विषयान्तर में न लग सके। अर्थात् निर्विषय करना है। प्रयोग ....।

अब बताएँगे क्या स्थिति रही –

अनुभूतियाँ

साधक १ – इस समय किसी भी वृत्ति की अनुभूति नहीं की। रोके रखने में सतत प्रयत्नशील रहा।

साधक २ – आज अधिक पुरुषार्थ किया। तीन सूक्ष्म वृत्तियाँ उठाईं। उन्हें उसी क्षण रोक दिया।

साधक ३ – प्रारम्भ में केवल जीवात्मा को विषय बनाकर हृदय में अनुभूति बनाये रखी, और कोई विषय नहीं बनाया। पश्चात् बाहर की ध्वनि में मन लगाकर इच्छा, प्रयत्न को पकड़ने का प्रयत्न किया।

साधक४ – स्वयं को ईश्वर को समर्पित कर, मस्तक में ध्यान लगाकर, प्राणायाम के माध्यम से कोई विचार नहीं उठाया ।

साधक५ – प्रायः अधिकार रहा । एक बार मोर की ध्वनि सुनी, पुनः श्वास-प्रश्वास पर ध्यान दिया ।

अब आप सम्प्रज्ञात-समाधि का एक भाग अस्मिता का प्रयोग करके देखेंगे। उसमें जीवात्मा का अपना जो व्यक्तिगत स्वरूप है उसी में धारणा, ध्यान, समाधि लगाने का प्रयास करेंगे । आपने शब्दानुमानप्रमाण से सुना है कि जीवात्मा सत् है । नाशरहित एक सत्तात्मक पदार्थ है । चित् है चेतन है ज्ञानवान् है। मन, बुद्धि, अन्तःकरण का संचालक स्वामी है । इन्द्रियों व शरीर का संचालक स्वामी है ।

अब जीवात्मा का स्वरूप जैसा शब्दानुमान से सुना उसको धारणा-ध्यान-समाधि में लाकर अपना स्वरूप देखने का प्रयास करेंगे । आरम्भ कीजिए–

- शब्द का प्रयोग करना हो तो करेंगे मैं सत् हूँ, विनाशरहित हूँ, मैं चेतन हूँ, ज्ञानवान् हूँ ।
- अन्य किसी भी पदार्थ को विषय न बनावें ।
- अपने स्वरूप को जानने में आपको कठिनाई पड़ती हो तो ईश्वर से प्रार्थना करें कि हे ईश्वर ! मैं अपने स्वरूप को जानना चाहता हूँ पर जान नहीं पा रहा हूँ, अतः आप मुझे ज्ञान दो, बुद्धि दो जिससे मैं अपने स्वरूप को जान सकूँ।
- प्रलयावस्था की सहायता आप ले सकते हैं । पूरा संसार सत्त्व-रज-तम प्रकृति में चले जाएँगे । इस सारे जड़ वर्ग से मैं पृथक् हूँ ।
- स्वयं के स्वरूप को जानने के लिए ईश्वर-प्रणिधान की सहायता लो। ईश्वर का लक्षण किया सूत्रकार ने – **क्लेशकर्म .... ईश्वरः** । आगे उसका फल कहा **'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोप्यन्तरायाभावश्च'**। ईश्वर का परिज्ञान तो होता ही है यह जीवात्मा जो है इसका भी परिज्ञान होता है। यह जीवात्मा भी ईश्वर के समान शुद्धस्वरूप वाला है ।

अनुभूतियाँ

साधक१ – कुछ समय सफलता मिली पुनः शिर में भारीपन हो गया।

स्वामी जी – जो भारीपन हुआ इसके अनेक कारण होते हैं । जब व्यक्ति बल लगाकर वृत्तियों को रोकता है, पुनः चलाता है रोकता है, तो इस स्थिति में थक जाता है। यदि ऐसा न हो तो शिर भारी न होने पाएगा।

साधक २ – आरम्भ में कुछ कठिनाई हुई पश्चात् अच्छी स्थिति रही।

स्वामी जी – आरम्भ में कभी-कभी हमको उस स्तर पर जाने में परिश्रम करना पड़ता है जिस स्तर पर हम पहले नहीं थे। कमरे से आ रहे थे। आते समय कुछ सोच रहे थे। उन सारे विचारों को रोकने में पहले-पहले कठिनाई पड़ती है। यदि हमको गतिविधियों का पता है तो आगे चलकर वह स्थिति आ जाती है कि कोई कठिनाई नहीं होती। बैठे रहो कितनी ही देर तक; कोई दबाव विशेष दिखाई नहीं देता। उस स्थिति में हम ईश्वर से भी प्रार्थना कर सकते हैं।

उस ओर से बताएँगे; कैसी स्थिति हाथ लगी ?

साधक ३ – कुल मिलाकर ठीक रहा।

साधक ४ – आरम्भ में कुछ संघर्ष करना पड़ा, मध्य में वृत्तियों को उठाया, रोका, आगे चलकर स्थिति ठीक बनी रही। हृदय में अपनी अनुभूति कर रहा था।

स्वामी जी – प्रसंग उपस्थित है जीवात्मा के स्वरूप को जानने के लिए व्यक्ति को धारणा–ध्यान–समाधि सिद्ध करनी पड़ती है। अपना स्वरूप अच्छे प्रकार से ज्ञात हो, अपने स्वरूप के ज्ञात होने से कौन-कौन से लाभ होते हैं, न जानने से कौन-कौन सी हानियाँ होती हैं; इस प्रकार का मन्तव्य बनाएँ जिससे कि अपने विषय में कोई भी संशय न हो। जिस प्रकार ईश्वर के विषय में संशय होते हैं उसी प्रकार अपने विषय में भी संशय होते हैं। **विद्याऽविद्यातश्च संशयः॥** वैशेषिक २/२/२०। विद्या और अविद्या से संशय होता है। यथा किसी विषय में हम किसी वस्तु को ठीक-ठीक जानते हैं, किसी विषय में किसी वस्तु को विपरीत जानते हैं, तो किसी के स्वरूप को ठीक जानने से और किसी के स्वरूप को विपरीत जानने से संशय होता है कि यह मेरा ज्ञान ठीक है या नहीं। दोहराओ क्या समझे, बैठे-बैठे कुछ होगा नहीं। जैसे अन्य विषय को उलटा सीधा जानते हैं वैसे अपने विषय में उलटा–सीधा ज्ञान हो सकता है। अतः अपने विषय में जो जान रहे हैं वह यथार्थ है या विपरीत है ? हमने यह जाना है जीवात्मा अणु है, अल्पज्ञ है, अल्प- शक्तिमान् है परन्तु अन्य तो इसको सर्वव्यापक, सर्वज्ञ मानते हैं। मैं कोई एकदेशी अणु जीवात्मा थोड़े ही हूँ, मैं तो सर्वव्यापक ब्रह्म हूँ, मेरे साथ तो यह अन्तःकरण जुड़ गया है; यह भी लोगों की शैली चलती है।

यहाँ दूसरे के ज्ञान को लेकर संशय होता है। यदि वह तर्क-प्रमाण अच्छा देता है और अपना ज्ञान कच्चा हो तो वहाँ दूसरे की बात पढ़-सुनकर संशय उत्पन्न हो जाएगा।

दूसरी बात व्यक्ति स्वयं देखता है कि एक विषय में ठीक जानता हूँ और वह ठीक मिलता है पर दूसरे विषय में उलटा जानता हूँ तो उलटा भी मिलता है। तो विद्या-अविद्या से अपने ज्ञान (के बारे) में भी संशय होता है। उदाहरण— जब यह बात आती है कि मैं इसको लेकर चलता हूँ कि समाधि लग गई है, तो इसमें संशय हो सकता है या नहीं ? ऐसा हो सकता है कि जिसको मैं समाधि मानकर चला हूँ वह समाधि तो है नहीं, वह विपरीत भी हो सकती है क्योंकि कभी मुझे सत्य ज्ञान होता है कभी असत्य ज्ञान होता है। इसमें भी तो असत्य हो सकता है। आप कहेंगे मैं स्वयं को ईश्वर से अलग मानता हूँ। यह ज्ञान सत्य भी हो सकता है असत्य भी हो सकता है। अब आप इस संशय को कैसे हटाएँगे ?

साधक २ — प्रमाण के आधार पर कसौटी से कहा जाएगा, सिद्ध होने पर ठीक माना जाएगा नहीं तो असत्य माना जाएगा।

साधक १ — हमारा स्वरूप कैसा होना चाहिए और इसके विपरीत मानूँगा तो क्या-क्या दोष उपस्थित होंगे; इस विषय में अनुमान-प्रमाण से वह अनुसंधान कर सकता है। दूसरा शब्दप्रमाण पर अगाध निष्ठा रखता है तो इतनी कठिनाई उत्पन्न नहीं होगी। साथ-साथ प्रायोगिक स्तर पर अनुभव कुछ करे तो इसको छू सकता है।

स्वामी जी — अपने बारे में उसी विषयक अन्य अनुभव होंगे तो उसको हटाने के लिए एक अनुमान का प्रयोग होगा, दूसरा शब्द-प्रमाण का प्रयोग होगा। जैसे हम अग्नि को देखते हैं यह अग्नि है, जलाती है, प्रकाश देती है और वर्षों से हम इसका प्रयोग करते हैं। यद्यपि सब के लिए एक जैसा नियम नहीं बना रहे हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष-प्रमाण व बार-बार के प्रयोग से यह बात सिद्ध होती है। प्रायः व्यक्ति को इस विषय में संशय नहीं होता है कि अग्नि जलाती है या नहीं ? परन्तु मान लो कोई बालक जिसने अभी तक प्रत्यक्ष-प्रमाण, शब्द-प्रमाण या अनुमान-प्रमाण से किसी भी प्रकार से अग्नि को नहीं जानता, उसको कोई बता दे कि अग्नि शीतल होती है। आगे किसी ने बताया अग्नि शीतल नहीं उष्ण होती है। अब संशय होगा या नहीं ? किन्तु प्रत्यक्ष के पश्चात् संशय दूर हो जाएगा। इसलिए जो कालातीत

हेत्वाभास है वह प्रत्यक्ष से टकराकर खण्डित हो जाता है । आपको पता चला ?

साधक – नहीं ?

स्वामी जी – पुनः बताऊँ ? यथा –

(१) अग्नि शीतल है ।

(२) कार्य होने से ।

(३) जो-जो कार्य होते हैं वे शीतल देखे जाते हैं ।

(४) जैसे घट-पट आदि ।

(५) वैसी ही यह अग्नि भी है ।

(६) इसलिए कार्य होने से अग्नि शीतल है ।

इसको हमने पंचावयव से सिद्ध किया किन्तु यह कालातीत हेत्वाभास है । कैसे ? कालातीत हेत्वाभास वह है जो अपने साध्य के सिद्धि-काल (वर्तमान) में असिद्ध हो जाए । वर्तमान में विफल हो जाना । आपने शब्द विषय में कालातीत का उदाहरण पढ़ा होगा । जैसे –

- शब्द नित्य है ।
- संयोग से अभिव्यक्त होने से ।
- जो-जो नित्य होता है उसकी संयोग से अभिव्यक्ति मिलती है ।
- जैसे घट–पट आदि की प्रदीप संयोग से ।
- इसी प्रकार संयोग से यह अभिव्यक्त होता है ।
- इसलिए अभिव्यक्त होने से शब्द नित्य है ।

अब उसने शब्द नित्यत्व में 'संयोग से अभिव्यक्त होना' हेतु दिया । जो-जो वस्तु जिन-जिन हेतुओं से अभिव्यक्त होती हैं यदि उनके हेतु हट जाएँ तो अभिव्यक्ति भी नहीं रहेगी। जैसे घर में दीपक के जलते हुए तत्रस्थ वस्तुएँ दिखाई देती हैं परन्तु दीपक के हटा लेने पर नहीं दिखाई देती हैं। किन्तु शब्द के विषय में ऐसी स्थिति नहीं है । यहाँ तो नगाड़े पर दण्डा मारा तब शब्द सुनाई दिया, अब दण्डा हटा लिया तब भी शब्द सुनाई देता रहा। तोप का गोला चला अगले कई सेकेण्डों तक सुनाई देता रहा । तो उसने कहा आप कहते हैं कि शब्द अभिव्यक्त होता है जैसे दीपक जलने पर घट । यदि ऐसा है तो जैसे दीपक हटा लेने पर घट नहीं दिखाई देता

वैसे दण्डा हटा लेने पर शब्द नहीं सुनाई देना चाहिए; परन्तु सुनाई देता है। इसलिए सिद्धि के काल में हेतु अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर रहा है अपितु उसके अभाव में भी साध्य की सिद्ध हो रही है अतः कालातीत हेत्वाभास हो जाता है । उपस्थिति में सिद्ध करे अनुपस्थिति में असिद्ध करे तब तो हेतु बनेगा ।

यहाँ अग्नि का दृष्टान्त प्रत्यक्ष-प्रमाण से भी जुड़ा हुआ है इस कारण कार्यत्व हेतु से शीतल-सिद्ध अग्नि का अनुमान मिथ्या हो जाता है । क्योंकि छूते ही अग्नि उष्ण अनुभूत होती है । प्रत्यक्ष से अनुमान टकराता है तो वह झूठा सिद्ध होता है ।

हाँ तो हम चल रहे थे कि हमारा जो आत्मविषयक ज्ञान होता है उसको परिपक्व बनाने के लिए अनेक प्रकार से सिद्ध करना चाहिए । कहीं दूसरों की बातों को सुन-पढ़ के हम संशय में न पड़ जाएँ अथवा दूसरों के साथ संवाद में हमारा पक्ष खण्डित न हो जाए । क्योंकि हम अपने सिद्धान्त को खण्डित करवा लें और बैठे रहें वह अच्छा नहीं लगता । विपरीत प्रभाव पड़ता है हमारे ऊपर, उसके ऊपर, अन्यों पर भी । जीवात्मा का स्वरूप जानने से कर्मफल व्यवस्था पूरी ठीक बैठ जाती है, अन्यथा नहीं । ऐसे ही बन्ध-मोक्ष भी ठीक नहीं बैठ पाएँगे। दूसरा वर्ग जब कहेगा जीवात्मा तो परमात्मा की भाँति व्यापक है । यद्यपि बहुत बड़ा विद्वत्समाज इस बात को मानता है जो कि वेद को भी मानने की बात करता है । आपके समक्ष वह तर्क भी करेगा। जैसा शरीरान्तर के विषय में आत्मा एक शरीर से हटकर दूसरे से जुड़ जाता है शरीर बदलता है आत्मा अपने ही देश में यथावत् रहता है; उसी को आना-जाना कह देते हैं । अच्छे-बुरे संस्कार उसके साथ रहते हैं ईश्वर तदनुसार शरीर रच देता है आदि । पौराणिक टीकाओं में ऐसा देख सकते हैं । योगदर्शन-टीकाकर वाचस्पति मिश्र कहते हैं विदेह-प्रकृतिलय योगी हजारों वर्ष तक बिना शरीर के समाधि में मुक्ति जैसा सुख भोगता है । ईश्वर, जीव, प्रकृति एक जगह कैसे रहते हैं इसका भी उत्तर आना चाहिए ।



आप ने जो वेद, दर्शन, सत्यार्थ-प्रकाशादि में पढ़ा है, कुछ चिन्तन-मनन-अभ्यास किया है कि मन जड़ है, उसका कुछ अनुभव हुआ, देखने में आया ? एक अनुभूति होने पर शेष में भी विश्वास हो जाएगा ।

अब आपको यह कहा जाय कि देखो विचार कहाँ से आते हैं, कौन उठाता है ? क्या आप इसको देखकर यह अनुभव कर लेते हैं कि विचारों को उठानेवाला मैं हूँ और विचार कहीं से नहीं आते हैं, मैं उठाऊँगा तो उठेंगे अन्यथा नहीं ।

इसको समझने के लिए जो कि सबके सामने समस्या है मन स्वतः चला जाता है, मन मानता नहीं । आप भी इच्छाओं के ऊपर अधिकार रखना चाहते हों, अथवा जैसी स्थिति चाहते हैं वैसी नहीं रह पाती है तो इसके लिए शान्त होकर प्रयोग करें, देखें कि ये वृत्तियाँ कहाँ से उठ रही हैं ? देखते रहें कि यह प्रमाण-वृत्ति है, स्मृति-वृत्ति है या निद्रा-वृत्ति है या कौन-सी वृत्ति है ? पुनः उन्हें पकड़कर रोक दें ।

आप या तो आत्मा पर पूरा अधिकार कर लें । यह ऊँचा स्तर है। अपने ज्ञान-प्रयत्न को रोके रहूँगा, कोई विचार नहीं करूँगा । यह कठिन लगेगा, तब कोई विषय बनेगा, पुनः वह कौन बनाएगा, कहाँ से आरम्भ होगा, उसको देखना चाहिए । इस प्रयोग को करके देखो क्या आभास होता है ? मस्तक से, हृदय से, पृथ्वी-जलाग्नि आदि कहाँ से उठता है कोई भी विचार ? इसे देखो ?............ कोई अनुभव हुआ ?

अनुभूतियाँ

साधक १ – इतने काल में कोई वृत्ति नहीं आई ।

स्वामी जी – इससे पता चला इसके उद्भव का कारण अन्य कोई नहीं। व्यक्ति को ५०—६० वर्ष तक पता ही नहीं चलता । जो तूफान उठता है, ज्ञान हो जाने पर वह रुक जाता है । कोई अन्य कारण नहीं, जीवात्मा केवल कारण है यहाँ पर हम पहुँच जाते हैं ।

साधक १ – ऐसी कई स्थितियाँ सामने आती हैं जिनमें एक तो यह है कि जब किसी एक स्थान पर अपने आपको उपस्थित करके यह देखने का प्रयास करता हूँ कि ये विचार कहाँ से आ रहे हैं तो इस स्थिति में द्रष्टाभाव=देखने के भाव प्रबल होने के कारण विचार नहीं आते हैं और

इसी में अपने आपको वहाँ स्वीकार कर लेते हैं, शब्दप्रमाण के आधार पर अपने स्वरूप को स्पष्ट करते हैं, स्वरूप को अनुभव करने का प्रयास करते हैं तब वहाँ पर शब्दप्रमाण या संस्कार के आधार पर भी आत्मा ही विचार उठाता है इसके आधार पर कई बार अनुभव करने का प्रयास करते हैं यह रूपात्मक या शब्दात्मक विचार मैं कर रहा हूँ। कई बार संबंध बन जाता है। आत्मा = इच्छ + प्रयत्नादि।

साधक२ – कुछ काल तक अनुभव बना रहता है मैंने इच्छा-प्रयत्न को रोक रखा है। समय बढ़ने पर स्थिति भंग हो जाती है। ५ मिनट बाद लगने लगता है स्वयं विचार आ गया मैंने नहीं किया।

साधक३ – अपने इच्छा-प्रयत्न अच्छी प्रकार से नियंत्रण रखने पर यह अनुभूति होती है कि विचार कहीं से नहीं उठ रहे, रोक रखा है। असावधानी होने पर चित्रात्मक या शब्दात्मक विचार उठ जाने पर प्रतीत होता है, परन्तु कहाँ से हुआ ऐसा अनुभव नहीं होता है।

स्वामी जी – विचार पकड़ में आता है कहाँ से उठा ? इसमें अविद्या कारण रहती है; जहाँ हमको पता नहीं चलता।

साधक१ – प्रलयावस्था बना देने पर कोई भी विचार बुद्धिपूर्वक उठाते समय प्रतीत होता है कि इसको मैं उठा रहा हूँ। अन्य काल में ऐसा नहीं होता।

स्वामी जी – उसमें कारण यह रहता है कि जो हम प्रयत्नपूर्वक जिन विचारों को उठाते हैं उनका उठाना इस आधार पर होता है कि हम किसी लौकिक-सुख व सुख-साधन की इच्छा रखते हैं अथवा दुःख व दुःख-साधन के प्रतिकार की इच्छा रखते हैं। जब प्रलय बना देते हैं तब ये चारों बातें नहीं रहतीं। अतः तीव्रता से इच्छा उठाना नहीं होता है।

जनसमुदाय में यह दोष व्यापकरूप से उपलब्ध होता है, ५० वर्ष से सन्ध्या करते आ रहे हैं किन्तु यही मानते हैं कि विचार स्वयं आते हैं। यह एक व्यापक मान्यता है, कोई विद्वान् भी इससे वञ्चित नहीं है। इस बात को गम्भीरता से नहीं विचारते हैं कि जीवन का चरम लक्ष्य ईश्वरप्राप्ति है। उसके साधनों और बाधकों का निश्चय करना चाहिए। पौराणिकों में बड़े पुरुषार्थी होते हैं, वैज्ञानिकों की तरह, परन्तु योग में कोई विशेष प्रयत्न नहीं करते हैं अतः ईश्वर को साक्षात् करनेवाला योगी कोई नहीं बन पाता है।

व्यक्ति कभी सोचता है अकेला मैं क्या करूँगा कुछ नहीं आता। कभी सोचता है सिद्धि हो गई अब क्या करना ? आपकी ऐसी मान्यताएँ गई या नहीं ? मान्यताओं के भिन्न-भिन्न स्तर होते हैं किन्तु उठाने का काल–स्तर सूक्ष्म होता है ।

उठ जाने पर देखता है, वह स्थूल स्तर है ।

● उठाऊँगा ही नहीं । यह भिन्न अवस्था है । सर्वथा निषेध करने पर नहीं उठता ।

● किसी विषय के आरम्भ में साथ-साथ उठ जाता है ।

● यदि मेरे बिना उठाए नहीं उठता तो नहीं उठाऊँगा, तब नहीं उठाता है, तब मैं ही उठाता हूँ स्वीकार कर लिया ।

● पुनः यदि गायत्री जप जब आरम्भ करते ही उठा लिया तो पता नहीं चला । यहाँ भी स्तर भिन्न-भिन्न है । किसी को तत्काल, किसी को कालान्तर में किसी को (सन्ध्या के) अन्त में पता चलता है । रुचि, आकर्षण, तीव्रेच्छा होने पर विचारों को उठाने पर रोक नहीं पाता अथवा कठिनाई से रोक पाता है । जैसे उपासना के मध्य में भोजन की इच्छा हो जाने पर उसका निरोध करना बहुत कठिन हो जाता है । सामान्य कार्य करते समय भी भोजन की इच्छा होने पर शीघ्रता होने लगती है ।

साधक – उठाने से पूर्व ही विचारों को रोक देने पर आत्मप्रत्यक्ष की स्थिति मानी जा सकती है ?

स्वामी जी – आत्मा का लक्षण है यथा एकदेशी, अल्पज्ञ, ज्ञानवान्, इतने अंश में माना जा सकता है ।

साधक – क्या स्पष्ट निरोध जान लेने पर भी अर्थात् मैं ही रोक रहा हूँ अनुभव होने पर आत्मप्रत्यक्ष माना जा सकता है ?

स्वामी जी – आंशिक प्रत्यक्ष मानना चाहिए । यदि लक्षणों के साथ जानता है । मैं जीवात्मा हूँ, ज्ञानवान् हूँ, इसको रोक रहा हूँ (तब आत्मप्रत्यक्ष माना जा सकता है) ।

साधक – शारीरिक स्थूल क्रियाओं को कैसे जानते हैं; इच्छाविशेषपूर्वक होने पर भी ।

स्वामी जी – विचारों का तो होता है । इच्छा का भी प्रत्यक्ष संभव है । किन-किन अङ्गों से क्रिया करते हैं इसका ज्ञान नहीं होता किन्तु मैं करता हूँ, इतना ज्ञान होता है ।

साधक – अन्नमय कोशादि मध्य में अनेक अङ्ग हैं, वे आत्मा से पृथक् हैं, क्या आत्मप्रत्यक्ष के लिए इनका प्रत्यक्ष आवश्यक है ?

स्वामी जी – इसमें शरीर के अन्नमयादि अङ्गों को देखने के लिए दीर्घकाल की अपेक्षा होती है । यंत्र, शल्यचिकित्सादि के माध्यम से इनमें से कुछ नाड़ी विशेष को देखा जा सकता है यदि कोई देखना चाहे । वैसे इनका ज्ञान उतना अपेक्षित है जितना व्यवहार के योग्य है । पत्ते-पत्ते का प्रत्यक्ष अनिवार्य नहीं है । जिसको ईश्वर पर विश्वास नहीं है वह इन निरर्थक कुण्डली आदि पर तन्त्र-मन्त्र से विश्वास करना चाहे तो वैसा करे, समय लगावे, है या नहीं प्रत्यक्ष करे । हम तो शब्द-प्रमाण को मानकर चलते हैं। अभिप्राय है इनको बिना प्रत्यक्ष जाने भी समाधि में बाधा नहीं है।

अब प्रयोग करेंगे, विचार कहाँ से आते हैं और कुछ नहीं । जैसे मैं प्रयोग करता हूँ उसका परिणाम क्या होता है ? कहीं से नहीं आता यह अन्दर से स्पष्ट अनुभूति होती है । आरम्भ करें । क्या अनुभूति रही?

साधक१ – कोई विचार नहीं आया ।

स्वामी जी – इससे सिद्ध हुआ कि चाहे जो कोई विचार घुस गया, यह बाधा नहीं रही।

साधक२ – इतने न्यून समय में तो नहीं आया परन्तु जब अधिक काल होता है तो लगता है अपने-आप विचार आ गया ।

साधक३ – जैसा कि मेरा संस्कार (बन गया) है हृदय प्रदेश में अणु-स्वरूप, निराकार मैं जीवात्मा हूँ । वहीं धारणा भी कर सकता हूँ। वहीं पर देखता हूँ कहाँ से विचार आ रहा है ? पर कहीं से नहीं आया ।



सार्वकालिक मनोनियन्त्रण

स्वामी जी – क्या आपका मनोनियन्त्रण दिनभर बना रहता है अथवा छोड़ देते हैं ?

साधक – कभी कभी छोड़ देते हैं ।

स्वामी जी – अब प्रयोग करें, इससे पता चलेगा कि मन, बुद्धि और आत्मा पर हमारा कितना नियन्त्रण है ? जिस समय आप जप या ध्यान कर रहे होते हैं, तब क्या-क्या बाधाएँ आती हैं और उनका क्या-क्या, कैसे-कैसे

निदान करते हैं ? जब संसार से सम्बन्धित कोई वृत्ति उठा लेते हैं, तब क्या उपाय अपनाने चाहिएँ ? प्रथम तो व्यक्ति को इस स्थिति का ज्ञान होना चाहिए तथा इसके प्रतिकारक सभी उपाय विदित रहने चाहिएँ। यद्यपि सभी उपाय एक साथ काम में नहीं आते, न ही एक ही उपाय सर्वत्र काम में आता है; भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न उपायों का प्रयोग किया जाता है। जैसे किसी की प्रलयावस्था बनाने की क्षमता है तो वह प्रलयावस्था बनाकर वृत्तिनिरोध कर लेगा, परन्तु जिसकी क्षमता नहीं है वह प्रलयावस्था न बना सकने से इसके माध्यम से वृत्तिनिरोध नहीं कर सकेगा। अब वह अन्य उपाय का प्रयोग करेगा । ज्ञान, वैराग्य और अभ्यास की न्यूनता होने पर विषयों के प्रति आकर्षण होता है, उद्वेग होता है तब वह मन को रोकना चाहता है, पर रोक नहीं पाता, अथवा कठिनाई से रोकता है, समय अधिक लग जाता है; इस स्थिति में प्रलयावस्था के स्थान में मन को जड़ मानकर रोक लेना संभव है, सरल है ।

क्रोध आदि को जड़ मानकर रोका जाता है । यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि क्रोध आदि को जड़ मानने में कारण विशेष रहता है । गुणों को जड़–चेतन कहना उनके आश्रय द्रव्यों से होता है, स्वतन्त्ररूप से नहीं। प्राकृतिक होने से क्रोध को जड़ कहा जाता है ।

भूख–प्यास, रोग, शारीरिक दुर्बलता आदि की स्थिति में भी मनोनिरोध की क्षमता न्यून रहती है । अत्यधिक अभ्यास होने पर चोट आदि लगने पर भी बहुत कुछ नियन्त्रण किया जा सकता है । परन्तु न्यून अभ्यास रहने पर उतना नहीं होता ।

अब दूसरा प्रयोग करें । अब सब विषयों से मन को हटा लेना है। इसमें सावधानी यह रखनी चाहिए, जैसे, नये-नये अभ्यासी को घुटन, उद्वेग होता है, शिर भी भारी लगने लगता है, ऐसी स्थिति न आने पाए । प्रथम ही सचेत रहें या छोड़ दें । यद्यपि अभ्यास हो जाने पर यह सब नहीं होता है ।

● इस स्थिति में अन्धकार को देखना भी विषय के अन्तर्गत आता है, इसे भी रोकना चाहिए ।

● लम्बे काल में विवेक–वैराग्य–अभ्यास, उपासनादि से यह स्थिति अच्छी बनती है ।

• जैसे लोक में व्यक्ति किसी कार्य को स्वयं करके, किसी से कुछ लेकर, किसी को कुछ देकर भूल जाता है, पुनः स्मरण करने पर आश्चर्य करता है ऐसा हुआ था ! यहाँ भी वैसे ही स्वयं शब्दों या वृत्तियों को उठाकर भूल जाता है, पुनः कहता है मैंने ही ऐसा किया ?

• सफलता मिलने पर उत्साह होता है । किसी को बताने की सोच सकता है ।

साधक – बाह्य ध्वनि सुनाई दे रही हो तो वृत्ति मानना चाहिए ?

स्वामी जी – यदि सुनने का प्रयास या उत्सुकता हो तो वृत्ति होगी। कुछ भी हो, मुझे क्या करना है ऐसी उपेक्षा भी कर सकते हैं ।

• • •

ईश्वर-प्रणिधान

योगदर्शन में सूत्रकार ने ईश्वर-प्रणिधान का फल क्या लिखा है ? **ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च** ॥ १/२९ । **यथेश्वरः शुद्धः प्रसन्नः केवलस्तथायमपि पुरुषः** (जीवात्मा) ॥ व्यासभाष्य । इस प्रकार ईश्वर की सहायता से जीवात्मा अपने आप को जानता है ।

ईश्वर-प्रणिधान के क्षेत्र में कौन-कौन से अंश हैं, क्या-क्या उसमें कार्य होते हैं? आप बताएँगे –

साधक १ – ईश्वर-प्रणिधान के अन्तर्गत समस्त पदार्थों का, ज्ञान-विज्ञान का, बल-सामर्थ्य का और स्वयं आत्मा का भी स्वामी ईश्वर को स्वीकार करके चलना होता है, इसके साथ-साथ सभी कार्यों को उसी की शक्ति से कर पा रहा हूँ यह भावना मन में बनाए रखते हुए, उन क्रियाकलापों के (बदले) लौकिक-फल की चाह का परित्याग भी करना होता है । ईश्वर के प्रति अतिशय प्रेम रखना, उसे सर्वाधिक प्रिय मानना-समझना । ईश्वर और जीवात्मा के जो नित्य सम्बन्ध हैं उनको मानना तथा उनके अनुरूप व्यवहार करना आदि ईश्वर-प्रणिधान के अन्तर्गत कार्य हैं ।

ईश्वर-प्रणिधान की व्याख्या में भाष्यकार ने ईश्वर-सहायता का क्या संकेत किया है ? **भक्तिविशेषात् ... अभिध्यानमात्रेण** । भक्ति विशेष से अनुकूल बनाया हुआ । ईश्वर को आप अनुकूल बना लो तो समाधि में कोई बाधा

नहीं पड़ेगी । प्रतिकूल रहा तो समाधि सिद्ध नहीं होगी । वहाँ पर भक्ति कैसी है कि उस उपासक को ईश्वर के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता । केवल ईश्वर चाहिए उसको । ईश्वर के आदेशों का पालन करना, व्यवहार में यम-नियमों का पालन करना, निष्काम भावना से अन्यों की सेवा करना, ईश्वर की ही उपासना करना इत्यादि । इन बातों से ईश्वर अनुकूल हो जाता है ।

अभिध्यानमात्रेण का क्या अर्थ है उसका क्या उदाहरण बनाएँगे ? संकल्पमात्र से तो पाठ हो गया, उसको उदाहरण देके समझाना पड़ता है । बताओ कोई –

साधक १ – जैसे हम संकल्प करते हैं इस व्यक्ति को सौ रुपये देंगे वैसे ही ईश्वर करता है । संकल्प से अपना लेता है ।

स्वामी जी – तो संकल्पमात्रेण (अभिध्यानमात्रेण) क्यों कहा ? हम जो किसी की सेवा करते हैं, किसी को वस्त्र देते हैं इसके लिए इधर-उधर से वस्तुओं का संग्रह करते हैं । हमको क्रिया करनी पड़ती है पर ईश्वर को ऐसी क्रिया नहीं करनी पड़ती है । अतः कहा 'अभिध्यानमात्रेण' । बिना स्थूल चेष्टा किये सब सिद्ध कर देता है ।

कहीं इसकी व्याख्या ऐसी की है, योगी के साथ जोड़ा गया है कि योगी के ध्यानमात्र करने से ईश्वर उस पर कृपा करता है । कौन सा पक्ष ठीक लगता है ?

साधक – पहला वाला ठीक लगता है ।

❖ ❖ ❖ ❖

ईश्वर-विषयक प्रयोग

ईश्वर सत्य=सत्तात्मक एक पदार्थ=वस्तु, एक चीज है, सदा रहने वाला है । अब प्रयोग करेंगे "ओं सत्यम् ।" उच्चारण के साथ अर्थ– हे ईश्वर आप सर्वरक्षक और सत्य हैं । सम्बोधन करते हुए अपने ज्ञान को देखेंगे, ऐसी स्थिति बनी या नहीं ?

ओम् एक शब्द है, ओम् एक अर्थ है । नाम-नामी में अभेद स्थिति है । ओम् एक वस्तु, पदार्थ, चीज है ।

प्रयोग करके देखें ओं ऽऽऽ। प्रयोग करके द्वितीय नियम में वर्णित स्वभावों को ग्रहण करें। गुण–कर्म–स्वभाव कहने से पूर्व लक्षण उपस्थित रहते हैं या नहीं। किसी को बोलने में बाधा हो तो मन–मन में प्रयोग करे। प्रयोग .... ।

अनुभूतियाँ

साधक १ – एक बार ओं का उच्चारण कर सत् शब्द का उच्चारण करते हुए व्यापकत्व की अनुभूति बनाये रखी। पुनः चित् शब्द का उच्चारण करते हुए सर्वज्ञता बुद्धि की।

स्वामी जी – अब एक प्रयोग धुन के रूप में उच्चारण करते हुए करेंगे। मानसिक जप का दूसरा स्तर रहेगा। केवल अपने लिए करेंगे इसे उपांशु नाम से भी कहते हैं।

'ओं सच्चिदानन्दः'। केवल ओष्ठ चलाना है, शब्द न हो। ओष्ठ भी न चले केवल मन में उच्चारण होवे। संगीतमय भी हो।

सारे प्रयोग आने चाहिएँ। सर्वत्र सफलता होनी चाहिए। अब मन्त्र सहित ध्वनि के रूप में।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेधव्यो शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ २/२/४ ।

यह ध्यान की विधि बताई गई। ईश्वर में गोता कैसे लगाएँ ? प्रणव धनुष हो, आत्मा तीर है, ब्रह्म लक्ष्य है जहाँ तीर को लगना है। आलस्य, प्रमाद, अज्ञान रहित होकर उस तीर को मारना चाहिए। शर जैसे लक्ष्य में लग जाता है अन्यत्र कहीं नहीं जाता, आत्मा ऐसे ईश्वर में लग जाना चाहिए।

आपने कभी पानी में गोता लगाकर देखा है ? देखा है तो ईश्वर में गोता क्यों नहीं लगाते ? एक दृष्टान्त दिया जाता है, ईश्वर में गोता क्यों नहीं लगाता। एक प्लास्टिक का छाता (ट्यूब) ले रखा है उसको खोल रखा है अब गोता लगाना चाहते हैं तो वायु उसे रोक देती है डूबने नहीं देती है। आप भी गोता लगाना तो चाहते हैं (लोक-रुचि) रूप छाता लगाकर गोता लगाना चाहते हैं, वह लगाने नहीं देता है।

कभी आप इस प्रकार विचार करते हैं कि हे ईश्वर ! आप हम जीवों से पृथक् हैं, प्रकृति से पृथक् हैं। हम जीवात्माएँ और प्रकृति आप से पृथक् हैं।

अब इसका प्रयोग करेंगे — **एतावानस्य महिमा.....** ॥ यजु० ३१/३। आशुतोष जी इसका अर्थ करेंगे। सारा संसार ईश्वर की महिमा है, ईश्वर इससे भी महान् है। **पादोऽस्य विश्वा भूतानि** = सारा संसार ईश्वर के एक कोणे में रहता है। **त्रिपादस्यामृतं दिवि** = तीन पाद आनन्दमय खाली पड़े हैं।

स्वामी जी — मन में अर्थ आ गया, तो बुद्धि में आता है कि ईश्वर बाहर भी है ?

साधक१ — वैशेषिक ७/१/२० में एक सूत्र है **नित्यं परिमण्डलम्** अर्थात् जो-जो नित्य होता है वह-वह गोल होता है। इसके अनुसार ईश्वर भी नित्य है तो गोल होना चाहिए ?

स्वामी जी — नित्य का सीमित अर्थ लेना चाहिए अर्थात् परमाणु पर्यन्त अभिप्राय समझना चाहिए। सूत्रकार के अभिप्रायानुकूल अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। पुनः ऊहा करनी चाहिए। इसलिए निरुक्तकार ने कहा एक धातु के अनेक अर्थ संभव हैं तो वहाँ किसी भी मन्त्र का अर्थ प्रकरण विरुद्ध नहीं करना चाहिए। मीमांसा का कथन है, अर्थ करने में कौन गौण-प्रधान होता है— श्रुति—लिङ्ग—वाक्य—प्रकरण—स्थल—समाख्या ये छः बातें अर्थ करने में सहायक होती हैं। किन्तु इनमें पूर्व-पूर्व उत्तर की अपेक्षा बलवान् होता है। अर्थ की निकटता से स्थल के सामने समाख्या = शब्दार्थ निर्बल होता है। श्रुति सबसे बलवान् है। श्रुति ने कह दिया **"नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"** अब किसी का नहीं चलेगा। श्रुति में कहा **"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया......तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति"** यहाँ मन्त्र में लिंग दिखाई देता है कि भोग होना चाहिए, आप त्याग की बात करते हैं ? इसी प्रकार से-

- **इहैव स्थ गृहा मा बिभीत.......** ।
- **अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व.......** ।

  यहाँ प्रकरण कथन गौण है वाक्य बलवान् है।
- **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः** ।
- **मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्** ।
- **अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता । गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥**

उपनिषद् में भक्ति प्रधान वाक्य बहुत से आते हैं। उपनिषद् का बहुत सी भाषाओं में अनुवाद हुआ । बताते हैं मुगल बादशाह औरंगजेब का भाई दारा शिकोह उपनिषद् से बहुत प्रभावित था । उसके द्वारा भी उपनिषद् का अनुवाद हुआ । परन्तु पहले के अनुवादकों ने अर्थ के नियम को न जानकर कई जगह उलटा अर्थ कर दिया था इसलिए उनके आधार पर दारा शिकोह के द्वारा अनुवाद करने में दोष हो गया। इसलिए अर्थ करने में भाषा बहुत सहायक है, इसका रखना चाहिए ।

जब कहा **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति,** यह तो सीधा वाक्य है ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही होता है, तो आप क्या करेंगे ? वैसे आपने वैदिक परम्परा से निरुक्त, दर्शन, सत्यार्थ-प्रकाश आदि पढ़ा है अतः जानते हैं, उपनिषद् वाक्य का क्या अर्थ है ?

यहाँ एक मृगेन्द्र नामक ब्रह्मचारी थे । पढ़-लिख लेने के पश्चात् **अहं ब्रह्मास्मि** के चक्र में फंस गए । अभिमान में आकर किसी को कुछ समझते ही नहीं थे । कहते थे योगदर्शनकार अद्वैतवादी हैं । मैंने कहा तीनों का अलग अलग वर्णन है । कहते थे नहीं; लोग गलत अर्थ करते हैं । दर्शनकार तो **अहं ब्रह्मास्मि** अर्थ को बताता है ।

आप इतने प्रयोग न करें एक छोटा सा करें जैसे यह हाथ उठ रहा है अब कौन हाथ उठा रहा है, ब्रह्म? हम कभी मूर्खता की बात करते हैं, कभी ज्ञान की बात करते हैं । कभी उलटी को सुलटी समझते हैं। अब यह कोई सर्वज्ञ ब्रह्म का कार्य हो सकता है? पता चल गया ! नहीं हो सकते हम सर्वज्ञ ब्रह्म ।

तो जो कहा **एतावानस्य महिमा.......** । सारा संसार ईश्वर की महिमा है, ईश्वर इससे भी महान् है और समझाने के लिए कहा – **पादोऽस्य विश्वा भूतानि** = सारा संसार ईश्वर के एक कोने में रहता है । **त्रिपादस्यामृतं दिवि** = तीन पाद आनन्दमय खाली पड़े हैं । फिर वहाँ क्या कहा – **वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहासद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्** = सारा संसार एक घोंसले के समान है, फिर क्या होता है ? **तस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम्** = वह प्रलय काल में परमात्मा में लीन हो जाता है, **विचैति** = जब उत्पत्ति का समय आता है तब परमात्मा इसको पुनः बना के खड़ा कर देता है । अब प्रयोग करके देखो आप का मन क्या कहता है –

आपने आत्मा पर अधिकार किया, ज्ञान-इच्छा पर अधिकार किया। पाठ यहाँ अन्य-पुरुष में है इसको मध्यम-पुरुष में बदल सकते हैं। अस्य ईश्वरस्य महिमा। ओं एतावान् .... । मानसिक प्रयोग करके देखो। हे ईश्वर आपकी इतनी बड़ी महिमा है ! पूरा विश्व आपके एक भाग में रहता है ! आपके तीन भाग बिल्कुल खाली पड़े हैं ! प्रयोग ....।

अब स्थिति सुनाएँगे, कुछ अधिकारपूर्वक ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना हो पाई या नहीं ?

अनुभूतियाँ

साधक १ – अधिकारपूर्वक मन्त्र-चिन्तन, ईश्वर-समर्पण बनाये रखा और वृत्ति कोई नहीं उठाई, अन्तिम समय में मस्तिष्क में भार की प्रतीति हुई तब अर्थ-चिन्तन और ईश्वर-समर्पण को छोड़कर केवल मन्त्र का उच्चारण करता रहा।

साधक २ – प्रायः स्थिति अच्छी बनी रही। एक वृत्ति उठाई थी। यहाँ जितनी शान्ति होनी चाहिए उतनी नहीं रहती; बीच-बीच में व्यवधान हो जाता है, जैसे कोई खांसता है, कोई कुछ करता है।

स्वामी जी – आपको पता है जब अभ्यास करता रहता है और सुनते-सुनते इन बातों पर अधिकार हो जाता है, तब यह बाधा नहीं रहती, वह आपका भी हो जाएगा।

साधक ३. बाह्य वृत्ति कोई नहीं उठाई ऐसा अनुभव हुआ, एक बार सृष्टि को चित्रात्मकरूप में एक सेकेण्ड के लिए उपस्थित किया उसके बाद उसको नहीं उठाया केवल ईश्वर को सम्बोधनादि करता रहा।

स्वामी जी – चलते-चलते कई बार विचार उठा लेते हैं तो देखते हैं असावधानी हो गई मुझ से। अब यह विचार उठाया था, आगे नहीं उठाना है यह ध्यान रखूँगा। उसने रोक दिया और सावधान होकर पुनः आ गया अपनी स्थिति पर। जैसे हम प्रयोग करते हैं –

हे ईश्वर आप सर्वरक्षक हैं। तो सर्वरक्षक लम्बी स्थिति का नाम है, बहुत गम्भीर है। परन्तु थोड़ा सा भाग कहीं से ले लेते हैं, कैसे सर्वरक्षक है ? जैसे उपनिषत्कार कहते हैं **को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदि एष आकाश आनन्दो न स्यात्।** रक्षा को समझ पाए आप ! हाँ जी आशुतोष जी क्या अर्थ है ? कौन जी सके, कौन प्राणों को ले सके यदि ये आकाशरूप ईश्वर

न हो तो ? साधक पाठ करता है ओं सर्वरक्षक । हे ईश्वर आप सर्वरक्षक हैं। ऋषि ने बात कही है **को हि अन्यात् कः प्राण्यात्.......।** आप न हों तो कोई व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता, कोई प्राण नहीं ले सकता । इस रूप में आप सर्वरक्षक हैं ।

साधक १ – नेत्रों को बन्द करके जब व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध बनाते हैं, तब एक स्थिति होती है, अन्धकार बना लेते हैं और ईश्वर व्यापक है हम व्याप्य हैं । दूसरी स्थिति में जब हमने अन्धकार जैसी स्थिति नहीं बनाई है तो सूक्ष्मवृत्तिरूप में सृष्टि भी साथ रहती है । अब हम वहाँ सम्पूर्ण सृष्टि में और स्वयं में ईश्वर को व्यापक मानते हैं । सूक्ष्मरूप से सृष्टि की भी स्मृति रहती है ।

स्वामी जी – अच्छा ! जब ईश्वर का ध्यान करते हैं तब ?

साधक – दोनों स्थितियाँ अर्थात् अन्धकार जैसी स्थिति है तब तो सृष्टि की सूक्ष्म स्मृति नहीं है, और अन्धकार जैसी स्थिति प्रगाढ़ नहीं हो तो हो सकता है कि सृष्टि की स्मृति सूक्ष्म रखते हुए हम ईश्वर को व्यापक मान रहे हैं ।

स्वामी जी – हाँ एक स्थिति यह है । उसमें देखना यह है कि जिस समय हमने माना कि सृष्टि में, जीवों में, प्रकृति में ईश्वर व्यापक है और ये व्याप्य हैं तो यह एक स्थिति हुई । अब आगे बढ़े जब हम ओं सर्वव्यापक कहते हैं तो उस समय केवल आरम्भ में दोहराया तीन तत्त्व हैं उनमें ईश्वर एक है, इस प्रकार अब हम अकेले ईश्वर को ही रखें तो एक भिन्न स्थिति है । अकेले ईश्वर को रखेंगे उस अवस्था में और जो मोटा रूप है उसको जब व्याख्या का रूप देंगे तब इसको बढ़ा लेंगे। हे ईश्वर आप सर्वव्यापक हैं यहाँ अन्य भी रहेंगे पर रहेगा सम्बन्ध केवल ईश्वर से ।

साधक - उस समय सृष्टि की स्मृति नहीं उठानी है ?

स्वामी जी – नहीं उठानी है, अधिकारपूर्वक बात करनी हो तो । जैसे हे ईश्वर आप व्यापक हैं, जीवात्माओं में, प्रकृति में व्यापक हैं तो जीव को याद नहीं करेंगे । कहेंगे आप जीवों में व्यापक हैं लेकिन उस ओर ध्यान नहीं ले जाएँगे । आप सत्त्व, रज, तम में व्यापक हैं, पर उस ओर ध्यान नहीं ले जाएँगे । जब कहेंगे कार्य-जगत् में आप व्यापक हैं तब हम ईश्वर को सम्बोधित कर रहे हैं । यदि आप ये चाहें थोड़ा सा उस ओर ले जाके

बात को समझ तो कोई बात नहीं सृष्टि को ले लो। अधिकारपूर्वक ले जाना पृथक् बात है, अनधिकार पूर्वक हो जाना अलग बात है। हो जाना यह अनधिकृत अवस्था में होता है। अधिकारपूर्वक जो करता है उसको तो इतनी बाधा पड़नेवाली नहीं है। हम अणु जीवात्माएँ हैं, कितने हैं हम नहीं जानते, बस! इन सभी जीवात्माओं में आप विद्यमान हो और यह जो सृष्टि महत्तत्व से लेकर शरीर पर्यन्त उसमें आप व्यापक हैं। अधिकारपूर्वक जो करेगा उसको बाधा नहीं पड़ेगी। जिसका अधिकार नहीं है उसको ईश्वर मुख्य बनाये रखना पड़ेगा नहीं तो दूसरे तत्त्व में बुद्धि चली जाएगी। यह अन्तर है दोनों में। आप लोगों को समझ में आ रहा है या कुछ नहीं आ रहा ? या एक ही व्यक्ति से बात कर रहे हैं तो दूसरा कैसे पूछे ?

साधक – जब हम कहते हैं सर्वव्यापकः। तो इस शब्द का यदि हम अर्थ करेंगे तब सर्व शब्द का कोई न कोई अर्थ तो लेना पड़ेगा। यथा **सर्वस्मिन्व्यापक इति**।

स्वामी जी – आप सर्वव्यापक हैं इसमें सर्व क्या चीज है, हम इसका मन्थन कर चुके हैं (जीव-प्रकृति)।

साधक – ध्यान में तो अर्थ आएगा ही ?

स्वामी जी – नहीं नहीं। गौण पड़ा रहेगा। सर्व का अर्थ हम पहले अच्छी तरह कर चुके हैं अब केवल मुख्य केन्द्र बिन्दु ईश्वर को रखेंगे। आपने पढ़ा है – **तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः** ॥ यो. द. १/४२। तो जब सम्प्रज्ञात-समाधि में सवितर्का समापत्ति होती है, जहाँ शब्द, अर्थ, ज्ञान संकीर्ण=मिश्रित रहते हैं। पुनः आगे बढ़ा तो कहने लगा शब्द को हटा दो, पुनः ज्ञान को भी हटा दो, पुनः अर्थ-प्रधान हो जाएगा। वहाँ निर्वितर्का समापत्ति होती है; इसी प्रकार यहाँ बुद्धि बनेगी सर्व का अर्थ सब जगह है। इसमें दो बातें हैं – सर्व का एक अर्थ पदार्थों को लेना तथा दूसरी खाली आकाश सहित को लेना।

साधक – सबको लिया जाएगा।

स्वामी जी – कुछ भी हो। पर वह जो केन्द्र बिन्दु है हमारा, जिसको हम सर्वव्यापक कह रहे हैं, वह मुख्य है और सर्व शब्द में जितनी वस्तुएँ आईं वे सब गौण हैं।

जिस समय हम ईश्वर में तल्लीन होंगे उस समय सर्व को कहने वाला व्यक्ति जो था वह उसमें तल्लीन हो गया तब । तल्लीन तब होगा जब औरों को गौण बना देगा । बिल्कुल ऐसी स्थिति तब उसको केवल ईश्वर ही सूझेगा और कुछ भी नहीं सूझेगा । अर्थमात्र वहाँ केवल प्रधान रह जाएगा ।

साधक — यदि केवल अर्थमात्र रह जाता है तो उसका गुणमात्र रह जाएगा । जहाँ व्यापक है उस जगह को नहीं ले रहा है तब तो उतनी उसकी महिमा तो नहीं दिखेगी ?

स्वामी जी — देखना यह होता है जैसे शरीर को ले लो । यहाँ आकाश में शरीर है । आकाश शरीर में व्यापक है । जिस समय आप शरीर में तल्लीन हो जाएँगे तब आप आकाश को याद करें या न करें इसमें कोई बाधा नहीं। यद्यपि शरीर के लिए आकाश चाहिए ।

इस प्रकार 'सर्व' का अर्थ 'जगह' कह दीजिए तो वहाँ आकाश का लेना न लेना कोई महत्त्व नहीं रखता ।

साधक — यदि हम केवल शरीर का चिन्तन कर रहे हैं, जगह के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित नहीं कर रहे हैं, तब यहाँ तो ऐसा हो सकता है आकाश न लें, शरीर का ध्यान रहेगा परन्तु जब देश के साथ सम्बन्ध कर रहे हों जैसे हम इस कमरे में बैठे हैं तो क्या हमें कमरे का ज्ञान अपेक्षित नहीं है ? ऐसे ही ईश्वर को उसके इसी सर्वव्यापक गुण का ध्यान करना चाहते हैं तो उस आधारभूत 'सर्व' शब्द का अर्थ ध्यान में रहना चाहिए।

स्वामी जी — नहीं, एक बात आई न इसमें कि दो भिन्न-भिन्न स्थितियाँ रहती हैं । सर्व क्या है हमने जो मन्थन करना था कर लिया, सर्वव्यापक= जो जीवात्माओं में व प्रकृति में भी व्यापक। अब हम जिसमें तल्लीन होना चाहते हैं या जिसको प्राप्त करना चाहते हैं जो सर्वव्यापक वस्तु है, उसको देखो वह वस्तुतत्त्व है । आप का कहना है जब हम उसमें तल्लीन होना चाहते हैं तो उस समय 'सर्व' का ग्रहण होना चाहिए, यही न ! हम कहेंगे हमने तो ईश्वर का ग्रहण करना है । वह जो वस्तु जिसको सर्व शब्द से बोल रहे थे, वह है ही । ईश्वर के साथ उसको ग्रहण करना अपेक्षित नहीं है । क्योंकि उस वस्तु के आधार से ईश्वर ठहरा हुआ हो ऐसा नहीं है । जब केवल वस्तुओं के आधार पर ईश्वर सिद्ध होता हो तब तो बात मानी जाएगी सर्व को साथ रखो । परन्तु सर्वव्यापक को वस्तुओं की अपेक्षा नहीं

है तो हमको सर्व जो है उसकी आवश्यकता नहीं है, केवल ईश्वर की है। अतः उस समय सर्व को याद करना, न करना आवश्यक नहीं होगा। ईश्वर का साक्षात्कार, ईश्वर की अनुभूति के क्षेत्र में सर्व को याद करना चाहें तो कर सकते हैं जिसका पर्याप्त अभ्यास हो गया वह न करेगा, कोई आपत्ति नहीं। वह सबको दुहरा सकता है। ईश्वर आप सर्वव्यापक हैं। इस प्रकार ईश्वर का साक्षात्कार करता हुआ— हमारे अन्दर आप व्यापक हैं, प्रकृति में आप व्यापक हैं ऐसा विचारता है, वहाँ यह अर्थ करने में आपत्ति नहीं है।

पर जो नया व्यक्ति ईश्वर का साक्षात्कार करेगा, उसके लिए सर्व को याद करना आवश्यक नहीं है और करना भी चाहे तो उस अवस्था में सर्व को याद नहीं कर पाएगा। उसको तो उलझन खड़ी हो जाएगी, उसको याद करने लग जाएगा तो ईश्वर की साक्षात्कार स्थिति में रह नहीं पाएगा और वहाँ तो अपनी स्थिति भी ओझल हो जाती है। जीवात्मा की और पूरे विश्व की स्थिति ओझल हो जाती है। तब मैं और मेरा याद नहीं आएगा, सृष्टि बीच में दिखाई नहीं देगी। ऐसा क्यों ? उसमें कारण यह है कि कोई जगह ऐसी नहीं जहाँ ईश्वर न हो अतः जब ईश्वर को इस स्थिति में देखेंगे तो ईश्वर को अनुभव नहीं कर पाएँगे। हाँ अभ्यास करते-करते स्थिति गम्भीर और अधिकारपूर्ण हो जाएगी तब अधिकारपूर्वक सबको देख सकेगा। फिर कोई समाधि में बैठकर मन्त्र का अर्थ भी करना चाहे तो समाधि में बाधा नहीं पड़ेगी।

अब प्रयोग करेंगे — **सर्वान्तर्यामी**।

ईश्वर सब के अन्दर रहता हुआ नियंत्रण करता है। सम्बोधन ईश्वर को करेंगे। हे सर्वरक्षक, सर्वान्तर्यामी !

साधक — वर्तमान में कैसे नियंत्रण करता है ?

स्वामी जी — जैसे इस शरीर में अवस्थित है। उसके द्वारा नियुक्त शरीर में ही रहकर कोई कार्य करते हैं। ईश्वरकृत व्यवस्था के बिना कुछ भी नहीं कर सकते। यहाँ जो जीवात्मा है, इसको शरीर ईश्वर ने दिया है, उसकी व्यवस्था की हुई है। यह नियंत्रण भी ईश्वर के द्वारा हो रहा है, स्वयं यहाँ नहीं आ गया। यहाँ जो जीव की स्वतन्त्रता है वह ईश्वर के नियंत्रण से भिन्न है। किन्तु जो भी अवस्था है वह ईश्वर के अन्दर रहते हुए है, इसमें ही तोड़-फोड़ करने में समर्थ है, जैसे रेल के अन्दर-अन्दर व्यक्ति

चल व दौड़ लगा सकता है, बाहर उसके वश की नहीं है । भय, शंका, लज्जा प्रेरणादि में पृथक् स्थिति रहती है ।

शरीर में एक स्थान में धारणा बना लें । वहाँ ईश्वर व्यापक है । जहाँ स्वयं हैं वहीं ईश्वर को सम्बोधित करें । हे ईश्वर..... । अनुभव करने का प्रयास करें। शब्दप्रमाणानुसार यथार्थ संबोधन कर रहा हूँ, काल्पनिक नहीं, ऐसा मानें ।

साधक १ – प्रायः अधिकृत स्थिति रही, १/२ ध्वनि सुनी किन्तु वृत्ति-निरोध किये रहा ।

साधक २ – अच्छी स्थिति रही ।

साधक ३ – क्षणभर ध्वनि की बाधा रही ।

साधक ४ – आरम्भ से अन्त तक शोभना स्थिति रही ।

स्वामी जी – मैं विचार रहा हूँ यह अनुभूति होती है या नहीं ? एक भी विचार देश, काल, ज्ञान के बिना, परीक्षण के बिना घुसकर स्थिति बिगाड़ देता है । योजना इस कर्म में बाधा डालती है । ईश्वर की उपासना छोड़कर लोक में संलग्न हो जाता है ।



ईश्वर-निश्चय

जब निदिध्यासन या उपासना करते हैं तो जैसाकि वेदादि शास्त्रों में ईश्वर के विषय में लिखा है, वैसा स्वीकार करते हैं या सन्देह होता है? परीक्षा करके अपनी-अपनी बताएँगे-

अनुभूतियाँ

साधक १ – प्रत्यक्ष वस्तु को देखकर जैसे प्रभावित होता हूँ, उससे जो सम्बन्ध बनता है, ईश्वर के साथ वैसा प्रभावित नहीं होता, न सम्बन्ध बनता है । अतः परोक्षवत् प्रतीत होता है ।

स्वामी जी – परोक्ष लगने पर भी संशय तो नहीं होता ?

साधक २ – आजकल ईश्वर के कुछ निर्धारित स्वरूप का चिन्तन, निदिध्यासन करता हूँ, सब को विषय नहीं बनाता जैसे सत्, चित्, आनन्द स्वरूप, सब का स्वामी आदि का ।

साधक ३ – मन्तव्य के रूप में जैसा लिखा है वैसा ही मानता हूँ।

स्वामी जी – आत्मा = स्वयं को सदा सन्देह रहित रखना अच्छी बात है। इसके पश्चात् प्राप्ति के लिए गवेषणा की स्थिति बनती है क्योंकि पहले शब्दों से ज्ञान होता है पुनः वह यम-नियमादि का अभ्यास करता हुआ समाधि अवस्था को प्राप्त होता है। साक्षात् से पूर्व किन्हीं गुणों में सन्देह रहता है, किन्हीं में नहीं। स्वाध्याय का इस पर प्रभाव पड़ता है। विचार करने से सन्देह न्यून होता जाता है। आपका प्रयोग ठीक होना चाहिए जैसा कि शास्त्रों में देखते हैं। उसकी आवृत्ति से सन्देह या भ्रान्ति दूर होती है। इसीलिए 'स्वाध्याय' योगाभ्यास के अन्तर्गत है।



प्रलयगत-ईश्वरोपासन

आपको जैसा बताया जाता है सारे संसार को बौद्धिक स्तर पर प्रलय की स्थिति में देखो और ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ो। पुनः कभी आपको ऐसा दिखाई देता है जैसे हम नीचे से चीजों को छोड़-छाड़कर विमान पर बैठकर ऊपर चल पड़े हों? अच्छा ये जो हमारे संसार के संबंध थे टूट-फूट जाएँगे पुनः हम कहाँ जाएँगे ? सारा संसार तो जाएगा ही यह कोई कल्पनामात्र तो है नहीं। यदि जाएगा तो हम भी वहीं होंगे। उसी स्थिति में होंगे। जो स्थिति होगी उसको आज मानने में क्या बाधा है? ऐसा देखने लगते हैं प्रलयवत् स्थिति में तो कोई संयोग नहीं, कोई राग नहीं, कोई द्वेष नहीं। कोई भोग्य-पदार्थ नहीं, हम भोक्ता भी नहीं। इस स्थिति में पहुँच गए अब ईश्वर की खोज करना या उससे संबंध जोड़ना बहुत सरल हो गया, कितनी उलझनें दूर हो गई ! अन्यथा जीना–मरना, खाना–पीना, मानापमान, एषणाएँ, मैं और मेरे का कितना बड़ा बोझ उसके ऊपर पड़ा हुआ था ?

तो अभ्यास करते-करते आपको आभास होने लगेगा, हाँ ऐसी स्थिति बनती है। हम बिलकुल अनित्य नाशवान् देखते हैं और यह ज्ञान काम करने लगता है सब नाशवान् हैं। दूसरा सब ईश्वर के हैं। नाशवान् न मानना बाधक है। इनको जब हटाते हैं तब मित्रादि जितने लौकिक संबंध हैं कोई दिखाई नहीं देते, सब टूट गए होते हैं।

जब कभी पीछे मुड़कर देखने का विचार करते हैं, हमारा निर्णय कच्चा हो तो पुनः प्रलय हट जाएगी संसार दिखने लगेगा। अभ्यास होने पर पुनः वैसा ही बना लेते हैं। ऐसा बार-बार करना पड़ता है।

कभी आप प्रलय बनाकर ईश्वर से सम्बन्ध जोड़कर उपासना करते हैं, ऐसी अनुभूति होती है ? उस समय कैसा दीखता है ?

साधक १ — सरलता की अनुभूति होती है।

साधक २ — अपने शरीर की अनुभूति होती रहती है जिससे रहता है शरीर के होते हुए विचार रहा हूँ। अन्यों के प्रलय के विषय में कठिनाई होती है।

स्वामी जी — इसको हटाना होता है। इसका निषेध नहीं है, कि शरीर नहीं रहता, ऐसा नहीं है। इसको कार्यरूप में मानते हैं, वर्तमान में रहता हुआ भी वस्तुतः नष्ट जैसा हो जाता है, अथवा जो आनेवाली स्थिति है उसको देखने का प्रयास करते हैं। यहाँ विकल्प नहीं है, इसमें वाद-विवाद नहीं है।

हमारा शरीर या अन्यों का शरीर पहले नहीं था, आगे नहीं रहेगा, यह निश्चित है; इसको बौद्धिक रूप में देखते हैं। आगामी स्थिति शतप्रतिशत दिखाई देती है। सामने वाला मर गया, जला दिया गया, हमारी भी यही स्थिति होगी, उसका सम्बन्ध विच्छेद हो गया, हमारा भी ऐसा ही होगा। ऐसे चलते चलते पृथ्वी, सूर्य पर्यन्त चला जाता है। सब ओर देखता है संसार नाम की वस्तु नहीं रहती। ऐसी स्थिति होती है जैसे आकाश में विचर रहे हों।

प्रलय सिद्ध हो जाने पर मन में पूर्व सिद्ध ईश्वर सर्वव्यापक, सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त से मिलना चाहता है। मैं ईश्वर को प्राप्त करूँ, मिलूँ। जब कभी ईश्वर-सम्बन्ध छोड़ने की स्थिति आती है तो कहता है, संसार तो रहेगा ही नहीं; इसलिए ईश्वर की ही ओर चलो। उस समय जो भी आपने सीखा गायत्री-जप, सच्चिदानन्दादि स्तुतिप्रार्थनोपासना वह सब करता है। इस प्रकार ईश्वर की खोज करता है। इस स्थिति में ईश्वर-प्रणिधान की गतिविधि रहती है **सर्वक्रियाणां......**। सभी क्रियाओं को, जो कुछ विचारता है ईश्वर को समर्पित करता है। इस अवस्था में सर्वत्र ईश्वर ही ईश्वर दिखता है। जितनी भी लौकिक स्थितियाँ होती हैं उत्पत्ति से प्रलय पर्यन्त सबको देखता है। पुनः ईश्वर से ही प्रभावित होता है। जब सबको प्रलय में देखता है, ईश्वर को सब का स्वामी देखता है तो ईश्वर से प्रभावित हो जाता है।

अब कहा जाता है, पहले प्रलय थी, आगे भी होगी, सभी संयोगों का वियोग होगा तथा निर्माता ज्यों का त्यों रहेगा, इस स्थिति को बनाकर देखिए। यहाँ क्या-क्या समस्याएँ आती हैं, पुनः उनको देखिए । मानसिक स्तर पर पाठ भी करते रहें । साथ-साथ सारे उपायों का प्रयोग करते चलें। यद्यपि यह शरीर साधन है किन्तु भविष्य में जो स्थिति आने वाली है, उसको देखें। इस प्रकार आकाशवत् स्थिति बनाकर ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास करें। मानसिक जप ओं सच्चिदानन्द ! मनोनियंत्रण के उपाय में आत्मा इन्द्रियादि का संचालक हूँ । कोई स्मृति नहीं उठाऊँगा । वैदिक लक्षणोक्त ईश्वर की खोज कर रहा हूँ आदि । अब आरम्भ करें – प्रयोग ....।

अनुभूतियाँ

साधक – अन्तिम प्रयोग पूरा नहीं कर पाया पूर्वावस्था तक जा सका।

स्वामी जी – आपको यह अनुभूति कुछ हुई प्रलयावस्था बनाई तो ऐसा लगने लगा कि शरीरादि सब गये ! आपने प्रयास किया कि अपना स्वामित्व छोड़ रहा हूँ और ईश्वर का स्वीकार कर रहा हूँ ? इसको अनुभव करना और सुरक्षित रखना, सतत बनाये रखना 'अभ्यास', ज्ञान का प्रथम होना 'विवेक,' ममत्व परित्याग 'वैराग्य' है । ऐसा ही व्यवहार में बनाये रखना।

समाधि के लिए अपने को मार देने, मरकर चलने जैसी अवस्था होनी चाहिए। व्यक्ति यह मानता है मैं संसार के स्तर पर रहता हुआ समाधि में चला जाऊँगा; यह उसकी भ्रान्ति है । ऐसा कभी नहीं हो सकता कि संसारिक स्तर पर रहता हुआ समाधि में चला जाय । इसमें इसीलिए व्यक्ति का प्रवेश नहीं हो पा रहा है, बहुत कठिन पड़ रहा है । यद्यपि इस वैराग्य के नीचे स्तर वाले लोग साधना करते हुए मिलते हैं, उनको अपने स्तर पर लाभ मिलता है, औरों से उनकी स्थिति अच्छी हो जाती है पर जहाँ तक ऊँचे स्तर की बात है, नितान्त पृथक्त्व की बात है, समाधि की जहाँ तक बात है, ऐसी अद्भुत ऐसी विचित्र स्थिति है संसार में कहीं नहीं मिलती ।

आप जब ध्यान में बैठते हैं तो अपने शरीर सहित संसार को प्रलय जैसी अवस्था में ले जाएँगे । उसी अवस्था में यह देख सकेंगे कि जितनी वृत्तियों का उद्वेग होता है, अर्थात् लोक में सृष्टि में जितना व्यवहार होता है जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त, वह सारा व्यवहार प्रलयावस्था में समाप्त कर दिया जाता है । अब आपके पकड़ में कैसे आएगा ? जब प्रयोग करोगे तो आ जाएगा नहीं तो नहीं। अन्यथा वह बौद्धिक स्तर आपका नहीं बन

पाएगा। जिस समय व्यक्ति ऐसी स्थिति का सम्पादन करता है, वह देखता है उस अवस्था में अपने सहित पूरे संसार को प्रलयावस्था में । उस काल में उसकी यह स्थिति हो जाती है कि ये जो विविध वृत्तियाँ उठती रहती हैं, व्यक्ति का चक्कर बना रहता है; यह सारा बन्द हो जाता है । उस स्थिति में उसका अनुभव क्या होता है, उस समय उसकी जो स्थिति होती है एक उदाहरण दिया गया था आपके सामने जैसे पूर्व सृष्टि का हमको आभास नहीं होता है; उसको जोड़कर आप समझ सकते हैं। पूर्व सृष्टि का जितना वातावरण रहा उसका आभास हमारे दिमाग में नहीं है; कैसा था, क्या था। उसको यदि हम थोड़ा भी देखना चाहें उसका कोई व्यापार, कोई वृत्ति, कोई उतार–चढ़ाव कोई हानि–लाभ तो कोई प्रसंग नहीं उठेगा। जैसे उसका नहीं उठ रहा है वैसे इस वर्तमान को कर देता है । आपको कैसा लगता है ?

साधक – सम्पादन करने पर ऐसा ही लगता है अर्थात् उस समय वृत्तियों का प्रभाव रुक जाता है ।

स्वामी जी – जैसे ही इसने वह स्थिति भंग की, संसार को देखना आरम्भ किया तत्काल वृत्तियों का वातावरण अवतरित हो जाएगा । उसको रोकने के लिए पुनः दूसरे उपाय करने पड़ेंगे, बहुत प्रयास करना पड़ेगा । तब तक वह स्थिति नहीं रहेगी । और इसका क्षेत्र क्या है ? जब से सृष्टि हुई और जब तक प्रलय होगा, इस सारे वातावरण को वह अनित्य सिद्ध करता है । इस वातावरण की कोई वस्तु, कोई विचारधारा, कोई योजना, कोई करना-धरना, जितनी भी आप कल्पना करेंगे पूरी सृष्टि की, वह नहीं आएगी। सारी को समाप्त करता है । इसको कहते हैं गहरी दृष्टि में अनित्य को अनित्य जाननां ।

अनुभूतियाँ

साधक १ – प्रलयावस्था का विधिवत् सम्पादन नहीं कर पाया, विचारधारा अन्धकार की स्थिति बनाकर प्रथम अपने शरीर को नष्ट कर दिया ।. तब चेतन ईश्वर को सर्वव्यापक मानकर सम्बोधन करता रहा । कोई वृत्तिबाधा नहीं हुई । कोई स्मृति नहीं उठाई ।

साधक २ – प्रलयावस्था नहीं बना पाया । व्यापक मानकर जप करता रहा। २–३ स्मृतियाँ उठाईं, पुनः रोक दीं ।

स्वामी जी – यदि प्रलयावस्था नहीं बनती है तो ईश्वर के प्रति अतिशय प्रेमभाव से सच्चिदानन्दादि के जप में तल्लीन होना चाहिए । कोई बात नहीं, प्रलयावस्था के स्थान में अतिशय प्रेम का प्रयोग कर सकते हैं ।

सज्जा कर लेने पर सहायता होती है और सफलता मिलती है । परन्तु व्यक्ति को यह प्रयोग तत्काल सिद्ध करना आना चाहिए । अभ्यास किया हुआ होना चाहिए । किसी ने समझ लिया संसार प्रलय में था, भविष्य में भी होगा; यह निश्चित है, इसमें कोई सन्देह नहीं, तो उसकी तत्काल स्थिति बन जाएगी ।



वृत्ति-निरीक्षण तथा निरोध

कभी उपासनाकाल में यह निरीक्षण किया कि यह अमुक वृत्ति है? दूसरी बात, इसका निरोध इस प्रकार से किया ? एक--एक का पाँचों वृत्तियों को देखकर पुनः उनको रोकना, ऐसा कभी किया ? जैसे शब्द–प्रमाण–वृत्ति उठा, पुनः यह तो प्रमाणवृत्ति है, इसे नहीं उठाएँगे इस प्रकार रोक दिया । पुनः वह चली गई ऐसा अनुभव हुआ इसके पश्चात् पुनः कोई या उसी की स्मृति उठा ली । इस प्रकर से कभी प्रमाणवृत्ति शाब्दिक, कभी अनुमानिक, प्रात्यक्षिक उठा ली । अथवा कभी स्मृति या अन्यवृत्ति उठा ली और पहचानकर उसको रोक दिया । पुनः आलस्य–प्रमाद, निद्रादि से अभिभूत हुआ तो निद्रा वृत्ति जानकर हटा दिया । पुनः देखा मन चला गया, फिर ले आया । यह गया-आया यह सोचना विपर्यय-वृत्ति है ।

विपर्यय विशेष जैसे यह शरीर नित्य है, इसको नाशवान् स्वीकार नहीं करता, यह विपर्यय-वृत्ति है । जीवात्मा मरता नहीं है, संसार कहता है मर गया या मर जाता है, यह विपर्यय-वृत्ति है । ईश्वर, जीव एक ही हैं, दो या तीन पदार्थ नहीं हैं, हम ही ब्रह्म हैं आदि यह विपर्यय-वृत्ति है । पुनः कहता है पाँचों इन्द्रियों के विषयों में सुख है, यह सुख देखना विपर्यय-वृत्ति है । चुपचाप बैठे हैं अकस्मात् विषयान्तर ले आया और कहा विचार क्यों आ गया ? यह आ गया मानना विपर्यय-वृत्ति है । वृत्ति उठ जाने पर दिखाई देना विपर्यय-वृत्ति है, उठता हुआ नहीं दिखना विपर्यय-वृत्ति है । वही स्वयं पंखा चला देता है पुनः कहता है क्यों चल गया, यह विपर्यय-

वृत्ति है । चलते-चलते, खाते-खाते मोटा हो गया, बुढ़ापा आ गया, दिन भर देखता रहता है क्या करूँ मोटा हो गया, बूढ़ा हो गया आदि ।

समस्त पदार्थ ईश्वर के हैं, उनको अपना मानना । शरीर, नस-नाड़ी, विद्या, धन-सम्पत्ति, पुत्र-पौत्रादि को अपना मानना विपर्यय-वृत्ति है । दिनभर विपर्यय में घूमता है, फिर भी अपने को मूर्ख नहीं मानता, कहीं राग, कहीं द्वेष करता रहता है, यह विपर्यय-वृत्ति है । काम-क्रोधादि मुझमें रहते हैं, मेरे अंश हैं, यह विपर्यय है । सुमेरु प्रसादजी ने बहुत परिश्रम किया, संसार में दुःख ही दुःख है, जाना किन्तु दुःख दिखाई नहीं देता, यह विपर्यय-वृत्ति है । करोड़पति, अरबपति विमान में चलते हैं, पञ्च सितारे आवासों में रहते हैं, बहुत सुखी हैं यह मानना विपर्यय-वृत्ति है। शरीर को सुन्दर देखना, अन्दर मलमूत्र भरा पड़ा है जबकि बाहर से निर्मल देखना विपर्यय-वृत्ति है । अपने अन्दर दोष भरे पड़े हैं पुनरपि कहता है कहाँ दोष हैं ? यह विपर्यय-वृत्ति है । यह संसार सदा से बना-बनाया है, अनादि कालीन है यह विपर्ययवृत्ति है । संसार स्वयं बन गया यह मानना विपर्यय-वृत्ति है । अस्मिता (आत्मा, मन, बुद्धि, शरीरादि को एक मानना) विपर्यय-वृत्ति है। आत्मा को अनादि, नित्य नहीं मानता है । जब तक मृत्यु का भय है तब तक अपनी मौत दिखाई देती है । शरीर के उच्छेद होने पर आत्मा नहीं दिखाई देती अतः मानता है मैं भी ऐसे ही मर जाऊँगा, अपनी आत्मा की मृत्यु देखता है । इस प्रकार विपर्यय का कितना विशाल क्षेत्र है ?

विकल्पवृत्ति – ईश्वर भिन्न और उसका आनन्द भिन्न है । निराकार कोई रूपविशेष है । स्थूल उदाहरण जैसे किसी ने कहा आज वन्ध्या का पुत्र आनेवाला है, वह घी का लड्डू व जलेबी लाएगा । यह विकल्प-वृत्ति है। किसी ने कहा मुम्बई के चौपाटी पर समुद्र के ऊपर बहुत से पुष्प खिल रहे थे पर कोई पेड़-पौधा वहाँ नहीं था । उपासना में देखा कि जंगल में भूत रहता है, मिल गया तो कचूमर निकाल देगा ।

साधक – क्या जीवात्मा को इच्छा गुण से अलग मानना विकल्प वृत्ति है ?

स्वामी जी – हाँ । स्वाभाविक जो गुण हैं ज्ञान-बल उसको अलग मानना विकल्प-वृत्ति है ।

साधक – अर्थात् जिस इच्छा को हम पकड़ते हैं उसका दर्शन ही जीवात्मा का दर्शन = साक्षात्कार है ?

स्वामी जी — ठीक है उसका गुण है तो उसका दर्शन मान लो एक भाग का। सारे गुण तो एक झुण्ड हैं यहाँ आंशिक प्रत्यक्ष माना जाएगा। एक और बात है जैसे एक गुण को देखते हैं न जब, तो ये समझ में आ जाता है, यह गुण जीवात्मा का है, अर्थात् आप कहेंगे यह जीवात्मा का स्वरूप है, ऐसा ही कहेंगे न ? पर उसमें एक अन्तर क्या रहता है, एक गुण का पता चलना एक स्थिति है, और सारे गुणों का पता चलना दूसरी स्थिति है।

साधक — जिस इच्छा का प्रायः हम निरोध करते हैं वह तो नैमित्तिक इच्छा होती है ?

स्वामी जी — इसमें एक और बात देखने की है, नैमित्तिक इच्छा के दो भाग बन सकते हैं, इच्छा गुण चेतन का है उसमें एक वह इच्छा जिसमें जीवात्मा निमित्तों से प्रभावित होता है, जैसे अधर्म में प्रवृत्त होता है, मिथ्या भाषणादि करता है। दूसरी है ईश्वर के निमित्त से इच्छा होती है जिससे परोपकारादि में प्रवृत्त होता है।

तो चर्चा थी पाँच वृत्तियों के स्वरूप को पृथक्-पृथक् जानकर एक-एक का निरोध करना। जैसे अब प्रमाणवृत्ति, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति। योगाभ्यासी प्रत्येक के स्वरूप को पृथक्-पृथक् जानता है। पाँचों को पकड़कर रोकने में समर्थ होने पर समाधि में जा सकता है।

अस्तु ! कभी सुनते हैं ईश्वर को तीनों कालों में सर्वव्यापक मानकर चलें। सारे भूत, भविष्य, बने हुए और न बने हुए सब उसी में रहते हैं। जैसे ही बुद्धि फैलाता है सब ईश्वर में दिखाई देते हैं। सर्वव्यापक मानने पर सारा संसार ओझल हो जाता है। अब यदि कहें कि सबको समाप्त कर चित्र भी समाप्त करो तो कर देंगे ?

साधक१ — कुछ काल के लिए हो सकता है।

साधक२ — ईश्वर और जीव के निराकार होने से चित्र तो नहीं के समान होना चाहिए ?

स्वामी जी — परस्पर प्रभाव से लौकिक आकार-प्रकार फीका हो जाता है किन्तु थोड़ी भी असावधानी होने से सहसा चित्र आ जाता है।

साधक – एक प्रलय बनाना है शाब्दिक अनुचिन्तन या स्मृति-वृत्ति को उठा लेना । दूसरा है वास्तविक नश्वरता से युक्त अनुभूति होना, दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर है ?

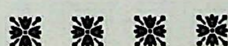
स्वामी जी – इसको समझने का ढंग है, यहाँ बुद्धि से देखो, विचार करो जब यह सृष्टि नहीं बनी थी, उस स्थिति को देखो । आप उत्पत्ति की स्थिति को मानते हैं तो क्या ध्यान देने से वह स्थिति नहीं दिखाई देगी बुद्धि में ? जो स्थिति रहती है वह सतत दिखाई देती है, नहीं बन पाती है, यह भिन्न बात है । जो वास्तविक नश्वरता से युक्त होती है वह भी दिखाई देती है, किसी की काल्पनिक भी हो सकती है । बुद्धि में बैठ जाने पर पहले कुछ नहीं था ऐसा शत-प्रतिशत दृढ़ हो जाने पर उसी को जब वर्तमान में लागू करता है तो लगता है जैसे पहले था वैसा ही अब भी हो जाएगा । इस प्रकार विवेक होने पर वैराग्य होता है । सत्त्वादि से लेकर स्थूल पर्यन्त पुनः विपरीत स्थूल से प्रकृति-पर्यन्त जाना; यह बात बैठ जाती है ।

साधक – यथाक्रम प्रलयावस्था बना देने पर स्वस्वामित्व स्वतः चला जाएगा या इसके लिए अलग से विचार करना पड़ेगा ?

स्वामी जी – निज जीवन सहित सब का विनाश मानने पर अलग से विचारने की अपेक्षा नहीं रहेगी । जब स्वयं ही नहीं रहा तो स्वामित्व कहाँ टिकेगा ? दूसरी बात यदि पहले से सृष्टि-कर्तृत्वादि के कारण ईश्वर का स्वामित्व मान लिया तब भी पृथक् से स्वामित्व-निवारण को विचारने की अपेक्षा नहीं रहेगी । वैसे भी ईश्वर के द्वारा कर्मानुसार शरीरादि की प्राप्ति, माता-पिता, धन आदि का संबंध हुआ इसे मान लेने पर अपना स्वामित्व नहीं बनता । किन्तु जब ईश्वर से असंबद्ध होकर विचार करते हैं तब अलग से छोड़ने की स्थिति बनानी पड़ती है कि मैं ही नहीं रहने वाला हूँ तो मेरा कैसे हुआ ? ईश्वर का हुआ ।

एक बात है उत्पन्न होना, दूसरी बात है न रहना, इससे जुड़ा है यह ईश्वर द्वारा बना है । पुनः प्रलय होगा । ऋषियों के अनुसार ईश्वर जैसे उत्पत्ति करता है, वैसे ही विधिपूर्वक प्रलय भी करता है ।

पाँचों वृत्तियों के विषय में सुना अब उसका प्रयोग करना – उसको पकड़कर रोक देने से समाधि में सरलता हो जाती है ।



कभी ऐसा दिखाई देता है कि माता की तरह ईश्वर की गोद में बैठे हैं—

साधक१ — दो-तीन बार देखा सामान्यरूप से ।

स्वामी जी — संस्कार दग्धबीज हो जाएँगे ऐसा कभी लगता है?

साधक२ — ओं भोः ।

स्वामी जी — भोजन में जो सुख दिखाई देता है वह कभी दुःख दिखेगा ऐसा लगता है ?

● स्वप्न में भक्ति कर रहे हैं, ऐसा कभी प्रतीत होता है ?

● स्वप्न के पश्चात् कुछ जागने पर ईश्वर का ध्यान करने से ऐसी स्थिति आई; जिसके लिए विचार किया कि यह स्थिति दिनभर बनी रहे ?

● कभी अस्वस्थ होने पर लगा मैं ईश्वर की उपासना करता हूँ ?

जब मुझे सोने का प्रयत्न करने पर रोग के कारण निद्रा नहीं आती है, जागरितकाल में यदि उपासना नहीं करते हैं तो पीड़ा बढ़ती है तब रोग से उत्पन्न दुःख को रोकने के लिए बलपूर्वक उपासना करते हैं । अति तीव्र होने पर उपासना भङ्ग होती थी । टूट जाने पर भी मनोनियंत्रण होने पर दुःख नहीं होता था । रोग के मन्द होने पर पुनः उपासना पुनः दुःख कम होता था । शनैः शनैः उपासना बढ़ने से दुःख रुक पाता था।

इसमें ईश्वर-प्रणिधान यम-नियम का एक भाग है जो काम करता है। इसके पालन से और सम्यक् भोजन, ब्रह्मचर्य आदि पालन से रोग का आक्रमण नहीं होता । मानसिक कामनाओं के आक्रमण को ईश्वर-प्रणिधान रोक लेता है मानसिक कामादि रोग सारे नष्ट हो जाते हैं यह निश्चित है परन्तु शारीरिक रोग को सर्वथा रोक लें, ऐसा नहीं है। हैजा, न्यूमोनिया आदि में सहनशक्ति, न्यून पीड़ा संभव है, परन्तु सर्वथा रोगविनाश संभव नहीं ।

साधक१ — आजकल बिना मूर्छित किये शल्यक्रिया करने का परीक्षण चल रहा है । वहाँ जितना सह्य है सहन करेगा पुनः मूर्छित होगा ।

साधक२ — सहन करना भिन्न स्थिति है यहाँ तो ध्यान से विषयान्तर करके पीडानुभूति का अभाव बताया जा रहा है ?

स्वामी जी – अच्छा आपको दग्धबीजभाव अवस्था करने का कुछ ढंग आता है या नहीं ?

साधक – जो प्रक्रिया है वह तो समझ में आती है ।

स्वामी जी – देखो ! जब हम संस्कारों को लेकर दग्धबीजभाव के लिए ईश्वर के समक्ष उपस्थित होते हैं तब क्या करते है ? हम पर्याप्त परिश्रम के पश्चात् भी अविद्या को हटा नहीं पाते हैं, पुनः उलटा दीखने से विषय भोगों में सुख दीखने लगता है तो व्यक्ति उस विचारधारा को पकड़ता है और ईश्वर के समक्ष उपस्थित करता है कि हे ईश्वर यह मिथ्याज्ञान हट नहीं पा रहा है ? आप मुझे विद्या दो, इसको मैं मार सकूँ । ऐसा बना दूँ कि आगे कभी उभरे ही नहीं । ऐसा प्रयोग करते जाते हैं । करते-करते पुनः उसका देखने का ढंग । अब देखो ! इन्द्रियों के विषय-भोगों में जो सुख का आभास होता है, मन में प्रवृत्ति होती है कि वहाँ सुख होगा क्या वह सुखरूप है; ऐसी बात है क्या ? यदि सुखरूप नहीं है तो आभास क्यों होता है ? कहता है यह जो संस्कार मेरे अन्दर है इसको छोड़ूँगा नहीं । इसका विनाश करूँगा । इच्छा नहीं करूँगा कभी विषय-भोगों की । संस्कार के बल पर उठेगी तो उठने नहीं दूँगा । उठ गई तो पकड़कर पुनः उसको मार मारूँगा। पुनः पुनः आवृत्ति करता है, सुखरूप नहीं दुःखरूप है । विभाजन करता है कि देखो संसार के अन्दर जो अन्याय से, मिथ्यारोपण से दुःख मिलता है, बहुत लम्बा-चौड़ा है । पशु-पक्षी, कीट-पतंग योनियों में जाना पड़ता है । अधर्म से जो कुछ चोरी आदि जो सुख मिलता है उसका भी फल घोर दुःख मिलेगा । एक व्यक्ति ने धर्मपूर्वक धन कमाया, उससे लड्डू-पूड़ी, हलवा-खीर खाया उसमें भी सुख है, पर योगी क्या देखता है ? यद्यपि धर्माचरण से जो सुख मिलता है और धर्माचरण से जो मनुष्य योनि मिलती है यह भी सुख क्षणिक तथा इसमें परिणामादि दुःख मिला हुआ है । इसको लेता है और पुनः उस पर ज्ञान की चोट मारता है । आपने योग दर्शन में एक पढ़ा होगा **प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्या ॥ २/११। ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावः पूर्वसंस्कारो न प्रत्ययप्रसूर्भवति ॥४/२८।** अशुभ-संस्कारों को ज्ञानाग्नि के द्वारा व्यक्ति जला देता है पुनः वे नहीं उगते हैं । जैसे घास को अग्नि से जला देते हैं पुनः नहीं उगती हैं । संस्कारों को जलाने की पद्धति वही है

जो पीछे सुनाई गई । कैसे इसको पकड़ते हैं कैसे ईश्वर के सामने रखते हैं ? बार-बार दुहराते हैं, इस प्रकार मारते हैं ।

● किसी को कितना काल लगेगा किसी को कितना, परन्तु आभास होने लगेगा यह दुःख ही है । सुख भी दुःख ही है ।

● ऐसी स्थिति में अकस्मात् रुचि नहीं होगी जैसे चलते-फिरते हो जाती है । पुनः सतत सोचते रहना, खाते-पीते सावधान रहना, तब रुचि नहीं होगी, कुछ असावधानी हुई तो मध्य में रुचि उठ सकती है ।

● इसके साथ एक और स्थिति रहती है वह है सतत ईश्वर का आनन्द मिलना । चलते-फिरते, उठते-बैठते सतत आनन्द रहना । उसमें यह रहता है कि इधर तो ईश्वर में इतना आनन्द है उधर संसार में क्लेश हैं । उनको पकड़ो भोगो तो उनसे विपरीत संस्कार बनेंगे, पुनः इन क्लेशों को क्यों अपनाऊँ, इनमें क्यों रुचि करूँ ? ऐसे युद्ध चलता है । और क्या सोचता है संसार में कोई ८०-१०० वर्ष लगाए पर यह ईश्वरीय आनन्द की स्थिति नहीं मिलती जिससे तृप्ति होती है । मिले कहाँ है ही नहीं । **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।** ईश्वर का निर्णय है, ऋषियों का निर्णय है कि और कोई मार्ग नहीं है जिससे कि हम इन क्लेशों से छूट जाएँ और नित्यानन्द को प्राप्त कर लें ।

आपने अन्यत्र देखा है लम्बी-चौड़ी खोज, पर बात तो वही कही जा रही है कि परमधाम से आता है । हम जाते हैं, कहते हैं – भाई क्या करते हो ? खामखा खरगोश के सींग ढूँढ रहे हो ! बेचारे गरीब, दया के योग्य हैं । बेचारे ये टोल के टोल दण्ड-बैठक मारने-वालों की तरह हजारों-लाखों इस प्रकार उठते-बैठते हैं, कुछ पल्ले नहीं पड़ता। सारा ईसाई वर्ग माथा मारता है । पौराणिक बेकार बुद्धि रगड़ रहे हैं कुछ पता नहीं । जैनी लोग सिर के बाल फाड़-फाड़कर पागल हो जाते हैं । आपके मन में ऐसा नहीं आता हम सत्य जानकर वहाँ जाकर उन बेचारों की गरीबी हटाएँ । नहीं आता है मन में ?

साधक – आता है, अधिक आता है उससे और भी वृत्तियाँ बन जाती हैं ।

स्वामी जी – नहीं ! यह सोचो हम धीरे-धीरे बनेंगे और इन सब बेचारों को बचाएँगे। देखो कितने दुःखी हैं । आपने सुना था बुद्धि के उच्च स्तर

को प्राप्त प्रज्ञा-प्रसाद के हृदय और शोचतः साधारण व्यक्ति के हृदय में कितना अन्तर होता है ?

साधक – यहाँ शोचतः शब्द तो क्रियापद है ?

स्वामी जी – यहाँ ! इतनी असावधानी नहीं करना । नहीं तो आपकी वही गति होगी जो ब्रह्माकुमारी वालों की होती है । बोलना आए नहीं, बात कहनी आए नहीं । हाँ जी ? जनान् का विशेषण है । शोचतः जनान्। वहाँ भी द्वितीया बहुवचन यहाँ भी द्वितीया बहुवचन है । असावधान हुए और पिटाई हुई आपकी । आपने भाष्यकार की भाषा पढ़ी है न **"केशेषु गृहीतमिवात्मानं मृत्युना ॥"** योग द. व्यास भाष्य ३/५१ । थोड़े से असावधान हुए तो जैसे बाल पकड़ करके किसी को घसीटा जाता है वैसे योग के क्षेत्र में घसीटे जाओगे । जैसे वासुदेवजी पीछे बैठते हैं न, पुनः झपकी आने लगती है। और कहावत है "गाड़ी निकल गई तो घर से चला मुसाफिर ।" ये माताएँ कहती हैं कई बार ? **ओ हो ! बुढ़ापा आ गया, सारा जीवन निकल गया । अब कहते रहो बुढ़ापा आ गया सारा जीवन निकल गया, बुढ़ापा आ गया सारा जीवन निकल गया, कहते रहो परन्तु लुटाई-पिटाई से बच नहीं सकते ।** आप भी थोड़े बूढ़े होकर आगे ऐसा ही कहा करेंगे । आज तो जवानी को देख रहे हैं पुनः बुढ़ापे को देखेंगे । योग को देखना भूल जाएँगे । वे लोग अब तो कहते हैं अभी तो जवान हैं, वानप्रस्थ का काल नहीं आया है । जब ७३ ऐसे झुककर चलेंगे तब काल आएगा !

देखो ! युवावस्था में जो विवेकवैराग्यावस्था को प्राप्त कर लेता है वह सबसे महान् व्यक्ति है । उसकी जैसी कोई स्थिति नहीं है।

अज्ञान से युद्ध करने की स्थिति पूरी रहती है । विद्याप्राप्ति की भी पूरी रहती है । इन सभी गतिविधियों को अच्छी प्रकार से समझना चाहिए और उनका प्रयोग करते रहना चाहिए । जैसे-जैसे हम प्रयोग करते जाते हैं वैसे-वैसे गति होती जाती है । उसको कहा गया **भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योगएवोपाध्यायः॥** व्या० भा० ३/६६। योग की एक स्थिति समझ में आकर वही अगली को दिखाएगी। आगे-आगे जैसे पहाड़ की पैड़ियों पर चढ़कर मोड़ पर जाओ तो वह अगले मोड़ को दिखाएगा । उस पर जाने पर अगला मोड़ दिखाई देगा। इस प्रकार योग का अगला-अगला स्तर समझ में आता चला जाएगा।

अब जो हम मुण्डक उपनिषद् का वाक्य देख रहे थे कि ईश्वर को जब व्यक्ति देख लेता है तब क्या होता है; पंक्ति क्या है ?

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ २/२/८।

भावार्थ – उस परमात्मा को जान लेने पर अविद्या नष्ट होती है, कुसंस्कार नष्ट होते हैं और बुरे कर्म जो होने वाले हैं वे रुक जाते हैं।

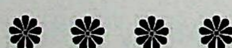
पर से पर दूर, अवर से अवर नजदीक । कैसा विचित्र पदार्थ है और आप कहते हैं हमको मिल नहीं रहा है । यह क्या बात है ? आप भी इस पर बहुत गम्भीरता से विचार नहीं करते हैं या करते हैं ?

साधक१ – उतनी गम्भीरता से नहीं करते हैं ।

साधक२ – पकड़ में नहीं आता है ।

स्वामी जी – अच्छा यह कहो कि 'है' तो परन्तु पकड़ में नहीं आ रहा है किन्तु पकड़कर छोड़ेंगे । उसमें जो-जो बाधक कारण हैं उनको व्यक्ति खोज लेता है । स्वयं गवेषणा करता है पुनः अन्यों से सहायता लेता है, ऋषि ग्रन्थों से सहायता लेता है, इस प्रकार करता रहता है । इसमें कोई न कोई उलझन अवश्य रहती है । कुछ ऐसी उलझनें रहती हैं जिनको व्यक्ति स्वयं खड़ी कर लेता है; जैसे, मान्यताओं की उलझनें हैं । वे पुनः आगे नहीं बढ़ने देतीं हैं; यथा – संसार के भोगों में रुचि होना । चाहे वह सूक्ष्म हो पर उलझन है, बाधा है । उस ओर देखो सम्मान की थोड़ी-थोड़ी इच्छा। आप अपना अनुभव बताओ थोड़ी-थोड़ी इच्छा तो होती होगी कभी असावधानीवशात् ? थोड़ी-थोड़ी होती है, खूब भी होती है । होती है न! वह बाधा है । ऐसे 'मैं और मेरे' का स्वस्वामी संबंध । संसार को नित्य समझने की धाराएँ चलती हैं वे सब बाधक हैं । अधर्माचरण, अशुद्ध-पदार्थों में पवित्रता की भावना । अधर्माचरण को मानसिक स्तर पर अच्छा मानना। अपवित्र द्रव्य चाहे खाद्य पदार्थ हों उनको पवित्र मानना । मन को चेतन मानना। यह भी उलझन है। मन को चेतन मानने पर उसे अधिकार की स्थिति में नहीं चला पाते हैं।

बाहर की उलझनें जैसे कहीं भोजन, कहीं वस्त्र, कहीं रोग ये सब भी बाह्य उलझने हैं ।



बुद्धि में ईश्वर-सत्ता-स्थापन

इस समय परीक्षण करें – बैठे हुए ईश्वरोपासना कर रहे हैं या लोकोपासना ? प्रेमाकर्षण ईश्वर में है या लोक में; मन में देखें ।

ईश्वर में प्रेम होने पर ईश्वरोपासना होगी । लोक में प्रेम होने पर लोकोपासना होगी, ईश्वरोपासना खण्डित रहेगी । अन्तःस्थिति में देखेंगे, जब निर्वाचन होगा ईश्वर आनन्दस्वरूप है तब उसमें प्रेम होगा; लोक में प्रेम नहीं होगा; यही ईश्वरोपासना है । विस्मृति होने पर लोक में रुचि ईश्वर की विस्मृति; यही स्थिति मिलेगी जब सब विचारों को रोककर देखेंगे।

आपको आर्य समाज का दूसरा नियम याद है ?

साधक – हाँ जी ।

स्वामी जी – अर्थ भी याद है सच्चिदानन्दस्वरूप ।

साधक – ईश्वर सत है, चित् है, आनन्द है यह बुद्धि में बैठे किस प्रकार से ? थोड़ा-थोड़ा इस रूप में बताएँ ।

स्वामी जी – तो सत् चित् का तो हो गया था कुछ स्मरण है ? पुनः सुनो !

तो पृथिवी सत् है, जल सत् है, वायु सत् है, प्रकृति सत् है । जैसे ये सत्तात्मक वस्तुएँ हैं वैसे ही ईश्वर भी सत् है, एक सत्तात्मक वस्तु है। सत् का ज्ञान प्रमाणों से होता है तो असत् को कैसे जानते हैं ? असत् को भी प्रमाणों से ही जाना जाता है । इसलिए कहा–

सतश्च सद्भावोऽसतश्चाऽसद्भावः । सत् सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति, असच्चासदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति । कथमुत्तरस्य (असतः) प्रमाणेनोपलब्धिः ? सत्युपलभ्यमाने तद्वदनुपलब्धेः प्रदीपवत् । यथा दर्शकेन दीपेन दृश्ये दृश्यमाने तदिव यन्न गृह्यते तन्नास्ति यद्यभविष्यद् इदमिव व्यज्ञास्यत विज्ञानाभावात् नास्तीति । तदेवं सतः प्रकाशकं प्रमाणमसदपि प्रकाशयतीति ॥ **न्याय दर्शन भाष्य १/१/१।**

प्रमाण से सत् का ग्रहण सत्तात्मक रूप से होता है वैसे ही असत् का ग्रहण प्रमाण से असत् के रूप में होता है । जैसे यहाँ पर २० व्यक्ति हैं, अधिक नहीं है तो २२–२५–५० नहीं हैं उनका अभाव है । इस प्रकार प्रमाण से ही असत् के रूप में ज्ञान हो गया । आया समझ में ?

साधक – थोड़ा बहुत ।

स्वामी जी – कितने दर्शन पढ़े हैं आप ?

साधक – (....)

स्वामी जी – इसलिए ।

दर्शन का मन्थन किये बिना ये बातें समझ में कम आती हैं । जिसका हावभाव-पूर्वक मन्थन चला हो वह व्यक्ति सूक्ष्मता को समझता-पकड़ता है, दूसरा व्यक्ति कम पकड़ता है । उसको कम समझ में आता है ।

तो हमने प्रमाणों से जाना प्रकृति के परमाणु हैं, प्रकृति के कार्य हैं। जिस प्रकार से प्रमाणों से प्रकृति का ज्ञान होता है, उसी प्रकार प्रमाणों से ईश्वर का भी ज्ञान होता है । ईश्वर सत् है, कल्पना नहीं है । ये जो लोग कल्पना करते हैं कि ये तो समाज में डराने की बात रख रखी है कि डरा करके धमका करके कि देखो पाप करोगे तो दण्ड मिलेगा, गदहा, घोड़ा बना देगा; यह तो मात्र कल्पना है । कल्पना करते रहो ईश्वर है, लोग डरते रहेंगे; ऐसी कथा बना ली। दूसरे लोग कहते हैं यह तो बात ऐसी है, मानने के ऊपर है, मान लो कि ईश्वर है तो ठीक है, नहीं मानो तो नहीं है । इन सारी स्थितियों को हटाने के लिए हमको सूक्ष्मता में जाना पड़ता है । वस्तुतः प्रमाणों के आधार पर यह न तो डराने की बात है न केवल कल्पना की बात है, न ऐसा मान लो ईश्वर है । प्रमाण से असिद्ध बात को हम भी स्वीकार नहीं करते हैं ।

वस्तुतः ईश्वर एक पदार्थ है, सत्तात्मक वस्तु है । जब वस्तु या पदार्थ की परिभाषा की बात उठती है तो एक आधार होगा कि जिसके आश्रित गुण रहते हैं उसको वस्तु कहते हैं, उसको पदार्थ कहते हैं, उसको चीज़ कहते हैं । तो यह जो बात है कि ईश्वर को वस्तु मानने का आधार, जैसे भूमि में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, भार आदि गुण रहते हैं, जल में अपने गुण रहते हैं रस, रूपादि वैसे ही ईश्वर में अपने ज्ञानादि गुण रहते हैं तो यह पता चला कि ईश्वर एक पदार्थ है, वस्तु है इसलिए कल्पना नहीं है ।

दूसरी बात – वस्तु, द्रव्य, पदार्थ कहने से आधुनिक भौतिक वैज्ञानिकों के दिमाग में एक बात रहती है कि जिसमें रूप हो, आकार हो, भार हो, तरल हो, गैस जैसी हो; यह उनके मन में बैठी हुई है । उनके यन्त्रों से दिखे वह भिन्न बात है । आगे चलकर कुछ वस्तुएँ उनको भी यन्त्रों से दिखाई

नहीं देतीं जिनको उन्हें भी अनुमान से जानना-मानना पड़ता है । तो व्यापकरूप में यह दूसरा भाग है कि जिसके आश्रित गुण रहते हों किन्तु रूप हो, तरल हो, लम्बाई–चौड़ाई हो, यन्त्रों से दिखती हो आदि आदि तो ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो यन्त्रों से दिखाई दे वही वस्तु होती है, वही पदार्थ होता है। बाहर के यन्त्रों से दिखाई देना, एक । पुनः मन से दिखाई देना, दो । आत्मा से दिखाई देना, तीन । देखने के जो भिन्न-भिन्न उपकरण हैं वे केवल जड़ यंत्र ही नहीं हैं अपितु उनमें आत्मा, मन, इन्द्रियाँ भी देखने के उपकरण हैं।

तो वस्तु या पदार्थ होते हुए एक प्रसंग आता है कि परमाणु से बनी हुई वस्तु इस रूप में देखी गई परन्तु आगे पदार्थों का और भी विभाग है जड़ और चेतन । उसमें ईश्वर चेतन-पदार्थ है जाननेवाला है । प्रकृति और प्रकृति से बने पदार्थ जड़ हैं, ज्ञान–रहित हैं ये कोई अनुभव, ज्ञान नहीं रखते, यह विभाजन कर लेना चाहिए । तो जब हम ऐसे समझते चले जाएँगे तो और भी बात आएगी । जब हम कहेंगे ये आँख, नाक बन गए, सूर्य, चन्द्रमा बन गए, इन्हें किसी मनुष्य ने तो बनाया नहीं है । एक बात । प्रकृति स्वयं बना नहीं सकती । संसार बनी–बनाई वस्तु है नहीं । तो पता चला कि यह जो कुछ दिखता है, आँख–नाक की रचना, सूर्यचन्द्रादि की रचना, ये बिना बनाने वाले के नहीं हो सकते । पुनः एक परिणाम निकलता है कि बनाने वाला जो बनाएगा विधिपूर्वक, वह भी कोई पदार्थ होगा, वस्तु होगा, तब तो बना सकेगा, नहीं तो नहीं । हाँ जी क्या समझ में आया ?

बिना वस्तु के बनाये कोई वस्तु स्वयं नहीं बनेगी । यह भवन बना है इसको बनाने वाले को देखा या नहीं ? किन्तु यह जो बना है इसको बनाने वाला पदार्थ है जिसने सोच समझकर बनाया है कि ऐसा भवन बनाओ । इसलिए ईश्वर पदार्थ न हो तो कोई रचना नहीं कर सकता । बनाने में बल चाहिए और उसका उद्देश्य चाहिए कि इसकी पूर्ति के लिए बनाया जाए, प्रयोजन चाहिए । नहीं तो नहीं बनेगा ।

तो अब सुनो । कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जिनमें परिवर्तन होता है । हमारा शरीर है इसमें सतत परिवर्तन हो रहा है, क्षण-क्षण में बदल रहा है । ऐसी परिवर्तनशीलता पूरे संसार में है, कोई खण्ड ऐसा नहीं जिसमें परिवर्तन नहीं हो रहा हो परन्तु यह (ईश्वर) पदार्थ होता हुआ भी परिवर्तनशील नहीं है । गलना, सड़नादि जो अन्य भौतिक पदार्थों में होते हैं वह भी उसमें नहीं होता है । अन्य अन्तर – जीवात्मा को काम–क्रोधादि विकार प्रभावित करते रहते

हैं ईश्वर को ये विकार प्रभावित नहीं करते हैं। हाँ जी समझ में आया कि ईश्वर सत् है और उसकी ये विशेषताएँ हैं ? एक विशेषता सामान्य होती है और एक विशेषता ऐसी होती है जो कि किसी अन्य में नहीं होती है। एक स्थान से दूसरे स्थान में जाना-आना इन पदार्थों में होता है, ईश्वर में ऐसा नहीं होता ।

साधक – आकाश में भी जाना-आना नहीं होता है ।

स्वामी जी – खाली जगह वह तो अभाव हो गया । जो व्यवहार के लिए पदार्थ माने जाते हैं जैसे काल, आकाश । ये अभावात्मक पदार्थ हैं। ये ईश्वर, प्रकृति, संसार के समान पदार्थ नहीं हैं केवल व्यवहार के लिए हैं, इसलिए इनको पदार्थ में गिना जाता है । काल से हम मापते हैं, अपनी कल्पना से काल बनाया, उससे कार्य चलता है परन्तु चेतन-पदार्थ के होने और जड़-पदार्थ के होने जैसा यह पदार्थ नहीं है अथवा यह कहो कि तीन पदार्थ स्वीकार किये गए हैं– ईश्वर, जीव, प्रकृति ।

साधक – काल को वैज्ञानिक पदार्थ सिद्ध कर देते हैं ।

स्वामी जी – नहीं । वैशेषिक की भाषा में पदार्थ नाम दे दिया ।

साधक – नहीं ! आधुनिक वैज्ञानिक लोग काल की सत्ता को मानते हैं और इसको सिद्ध करते हैं ।

स्वामी जी – नहीं नहीं ! एक बात, जब आप गहराई में जाएँगे तो काल की सत्ता का स्वरूप, जैसे ईश्वर चेतन और प्रकृति जड़ पदार्थ हैं, उस धारा में आता दिखाई नहीं देता है ।

साधक – प्रकृति का ही अवयव मान लिया जाय तो ?

स्वामी जी – मान लिया जाय और चीज है, प्रकृति तो सत्त्व, रज, तम का नाम है। ये पारिभाषिक पृथक् पदार्थ हैं । वे पदार्थ हैं, उनका प्रयोग है हमारे लिए। हम दिशाओं से काम लेते हैं । ध्यान देना – जो दिशा वर्तमान में पूर्व कहला रही है, प्रताप सिंह जी देख रहे हैं, उसी को वे पश्चिम कहते हैं । अपेक्षा से व्यवहार होता है । दो पदार्थ ऐसे नहीं होते हैं कि उसी को आप पश्चिम भी कहें और पूर्व भी कहें ।

साधक – काल का व्यापार तो तीनों कालों में होता है ।

स्वामी जी – व्यापार तो होता है । एक परिभाषा है दर्शन की अपनी। पर ईश्वर की जैसी रूपरेखा है, प्रकृति की अपनी रूपरेखा है, उनमें से काल

नहीं है । स्वामी दयानन्द ने अपने ढंग से पदार्थों का विभाग बनाया ईश्वर, जीव, प्रकृति । यहाँ तो इतना ही लेना है । इनमें से काल कोई नहीं है। खाली जगह कोई पदार्थ है नहीं, जिसको आकाश बोलते हैं । जो उत्पत्ति धर्मवाला है वह तो चलता-फिरता है । अनुत्पन्न आकाश अर्थात् अभाव यद्यपि उसका भी काम बहुत है। यदि थोड़ी देर मान लें न हो तो परमाणु कहाँ रहेंगे?

साधक — उसको तो ईश्वर के समान माना है, सर्वव्यापक है ।

स्वामी जी — माना क्या वह तो अभाव है । अवकाश का नाम वहाँ आकाश है । जो उत्पन्न होता है वह परमाणु से बना है, वह नष्ट भी होता है । शब्द जिसका गुण है, श्रोत्रेन्द्रिय से जिसका सम्बन्ध है। वह तो उत्पन्न पदार्थ है प्राकृतिक है और जहाँ परमाणु रहते हैं खाली जगह जिसको कहते हैं, यह तो स्वभाव से सिद्ध है । अच्छा खाली जगह नहीं होगी तो भरी हुई होगी । भरी होगी तो वहाँ पदार्थ आ गए । अच्छा एक बात और भी है परमात्मा की दृष्टि से तो वह भी खाली नहीं है, परमात्मा वहाँ भरा हुआ है । वह तो केवल व्यवहार के लिए है कि खाली जगह में रख दो, खाली जगह है ही नहीं वहाँ तो ईश्वर रहता ही है, पुनरपि कहा जाता है ।

सत् की बात आ गई समझ में ? और चेतन की ? तो जो ज्ञानवान् है, ज्ञानवाला, ज्ञानयुक्त है, अनुभव करता है, जानता है । तो ईश्वर का लक्षण चेतन है, ज्ञानवान् है । लोक में घड़ा, पत्थर आदि ज्ञानरहित देखे जाते हैं। आप यह जानना चाहें कि ज्ञानवान् कैसा होता है तो ध्यान में बैठकर देखो। आप स्वयं ज्ञानवान् हैं । जैसे आप हैं वैसा ही ईश्वर भी है । आप जानते हैं, अनुभव करते हैं । एक आधार बना हुआ है जिससे कम जानते हैं, अधिक जानते हैं, उलटा जानते हैं। अमुक कार्य करना चाहिए यह लाभदायक है, अमुक कार्य नहीं करना चाहिए क्योंकि हानिकारक है । यह सब ज्ञाता के अन्दर देखा जाता है, वैसा ही ईश्वर है । किन्तु थोड़ा विशिष्ट है । जीवात्मा परिमाण की दृष्टि से अणु-परिमाण है अर्थात् सबसे छोटा, जिससे छोटा और कोई हो ही नहीं सकता है । ईश्वर महत्परिमाण है, सबसे बड़ा जिससे बड़ा और कोई हो ही नहीं सकता है । तीसरा है मध्यम-परिमाण जो प्रकृति का है । प्रकृति न तो ईश्वर से बड़ी है न जीवात्मा से छोटी है, बीच की है। ईश्वर चेतन होता हुआ महत्परिमाण वाला है, जीवात्मा चेतन होता हुआ अणु-परिमाण वाला है ।

साधक – क्या ईश्वर में दोनों होते हैं महत्परिमाण भी अणु-परिमाण भी?

स्वामी जी – नहीं । अणु कहाता है सूक्ष्मता की दृष्टि से, क्षेत्र की दृष्टि से नहीं। वह जो अणु बोलते हैं, सूक्ष्म बताने के लिए बोलते हैं, यदि ऐसा मानोंगे तो दोनों टकराएँगे, एक में ही अणु-परिमाण भी और महत्परिमाण भी होंगे ।

साधक – अणोरणीयान्......महतो महीयान्...... । इसमें प्रमाण है?

स्वामी जी –फिर भी वही बात दुहरा रहे हैं जैसे दर्शन पढ़ा ही नहीं हो । टकराव हो जाएगा दोनों में एक ओर अणु मानो दूसरी ओर महत् मानो तो, दोनों एक में हो नहीं सकते । महत् व अणु का जब सापेक्ष कथन करते हैं वैशेषिक के आधार पर तब बीच वाले महत् भी होते हैं और अणु भी होते हैं । क्या समझ में आया? सो रहे हैं या जाग रहे हैं ? मध्यम-परिमाण वाले दोनों होते हैं । पृथिवी अणु-परिमाण है आकाश, वायु की अपेक्षा । वायु पृथिवी की अपेक्षा से महत्परिमाण है परमात्मा की अपेक्षा से अणु-परिमाण है ।

साधक – स्वामी जी ! ऐसा प्रयोग दर्शनों में मिलता है ?

स्वामी जी – क्यों नहीं ! अपेक्षा से ऐसा प्रयोग दर्शनों में मिलेगा। **अणुमहदिति तस्मिन्विशेषभावाद्विशेषाभावाच्च ॥ वैशेषिक७/१/११।**

अणु और महत् एक पदार्थ में कहे जाते हैं, विशेष के होने और न होने से । जैसे बिल्व की अपेक्षा आंवला अणु और बेर की अपेक्षा से आंवला महत्परिमाण होता है ।

परिमाण अपेक्षा से अणु-महत् होते रहते हैं । जब वह परमाणु अन्तिम में मान लें तो महत् होते हुए भी अणु ही रहेगा । उसी से द्व्यणुक बना, त्रसरेणु बना वह अणु भी है, महत् भी है । द्व्यणुक अणु-परिमाण है त्रसरेणु महत् है।

जीवात्मा अणु ही रहेगा, न महत् बनेगा, न मध्यम बनेगा । ईश्वर महत् ही रहेगा, न मध्यम बनेगा, न अणु बनेगा । बीच वाले दोनों बनते रहेंगे । बस! छोटे से छोटा जीवात्मा, बड़े से बड़ा ईश्वर, मध्य में प्रकृति। एक शब्दावली है महर्षि दयानन्द की उनका लगभग वाक्य है – यह जीवात्मा परमाणु में भी रह सकता है । उपनिषत्कार ने जहाँ कहा बाल के टुकड़े करो तो छोटे से छोटा तक चला गया । तो ईश्वर चेतन होता हुआ महत्परिमाण, जीवात्मा

चेतन होता हुआ अणु-परिमाण है। इससे आपको यह लाभ होगा मैं अणु-परिमाण हूँ, इतना छोटा, तो ईश्वर को सर्वव्यापक मानने में कोई कठिनाई नहीं होगी। उसका रहना न रहने के बराबर दिखता है, इतना छोटा जीवात्मा। जब आप अपने को बड़ा देखोगे तब ईश्वर को मानने में कठिनाई पड़ेगी।

साधक – आप जीवात्मा के परिमाण का अनुभव कर लेते हैं, इतना छोटा हूँ मैं ?

स्वामी जी – नहीं।

साधक – आपको किस प्रकार का आभास रहता है ?

स्वामी जी – परिमाण के विषय में अनुभव नहीं किया कि इसकी इतनी लम्बाई-चौड़ाई है। कुछ तो अनुभूतियाँ होती हैं कि मैं ज्ञाता हूँ, मैं सत्तात्मक पदार्थ हूँ। ज्ञान-बल हमारा प्रत्यक्ष है। कुछ गुण ऐसे होते हैं जिससे पदार्थ को जान लेते हैं। कुछ ऐसे गुण होते हैं कि हम उन सारों को नहीं जान सकते हैं।

साधक – कल्पना तो करते होंगे ?

स्वामी जी – कल्पना तो होती है। कल्पना पर सब चलता है जाना जाता है। कल्पना में हम यह कहेंगे कि जो जानता है वह अपने रहने की जगह भी रखता है। ज्ञान है तो पदार्थ है, ज्ञान बिना पदार्थ के रह नहीं सकता, द्रव्याश्रित गुण होते हैं। हम हाथ को चलाते हैं, बल लगाते हैं। तो बल भी बिना आश्रय द्रव्य के रह नहीं सकता। इसी प्रकार से ईश्वर के गुण भी ऐसे हैं जिनमें कितने का तो हम प्रत्यक्ष कर लेते हैं पर उसके सारे गुणों का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते।

अच्छा आपको अपना अनुभव कैसा होता है ?

साधक३ – हम हैं यह निश्चित है।

साधक५ – स्पष्ट अनुभूति रहती है।

स्वामी जी – यह शब्द-प्रमाण से जंचता है या अनुभव भी होता है?

साधक५ – अनुभव भी होता है।

साधक६ – जंचता है जी, जंचता है, पक्का जंचता है।

स्वामी जी – ऐसा कुछ अनुभव नहीं होता है कि मैं ऐसा हूँ ! अच्छा जैसा अपना अनुभव होता है वैसा ईश्वर का होता है या नहीं ?

साधक५ – जी ।

स्वामी जी – आप यहाँ तक पहुँच गए अपना अनुभव हो जाता है और ईश्वर का नहीं । क्यों जी ?

साधक७ – अपना होता है ईश्वर का नहीं ।

साधक३ – केवल अपना ही होता है अन्यों का नहीं । अन्यों का अनुभव करना भी चाहते हैं तो नहीं होता है ।

स्वामी जी – अपने में देखो पहले ।

साधक३ – अपना तो होता है ।

स्वामी जी – चलो अपना तो होता है । अब यह एक नियम है कि अपना अनुभव हो जाय तो ईश्वर के अनुभव में सरलता होती है ।

साधक४ – यहाँ अनुभव की स्थिति को अलग-अलग करना पड़ेगा। एक तो हमने सुना है या अनुमान करते हैं; उसको अनुभव मान रहे हैं । दूसरा है समाधि का प्रत्यक्ष वह अनुभव है । दोनों में भेद करना पड़ेगा ।

स्वामी जी – हाँ कोई बात नहीं । कम से कम एक व्यक्ति यहाँ तक पहुँच गया। कुछ उसका अनुभूति का विषय बनता है कि मैं सोचता हूँ, मैं जानता हूँ । इतना तो कम से कम अनुभव का विषय बनता है ? इतना पता चल गया कि जीवात्मा एक पदार्थ है । ज्ञान द्रव्य के आश्रित रहता है तो यह ज्ञान जिसके आश्रित या जहाँ रहता है वह या वहाँ जीवात्मा है। तो यह अनुभव होता है मैं इतना जानता हूँ, नहीं जानता हूँ, संशययुक्त हूँ आदि। इससे यह पता चल गया कि जैसे मैं अनुभव करता हूँ, मैं जानता हूँ, मैं नहीं जानता, यह अच्छा है यह बुरा है। ईश्वर भी ऐसा चेतन पदार्थ हो सकता है जो जानता है यह ठीक है यह ठीक नहीं है । ऐसा ईश्वर भी पदार्थ हो सकता है ।

अब एक और बात – जहाँ हम हैं वहाँ ईश्वर है, यह जंचता है या नहीं; यह देखो ? क्यों नहीं जंचता वह बताओ ?

साधक – नहीं जंचता क्योंकि जो वस्तु हमारे पास है उसकी अनुभूति होती है, यदि ईश्वर उपलब्ध है; यदि हमारे पास है तो उसकी अनुभूति होनी चाहिए ?

स्वामी जी – कहीं विद्यमान वस्तु की भी अनुभूति नहीं होती है, जैसे वृक्ष के मूल की, अन्धे को रूप की । प्रमाण से सत् का ग्रहण सत्तात्मकरूप

से होता है वैसे ही असत् का ग्रहण प्रमाण से असत् के रूप में होता है। आप ईश्वर के इन गुणों पर विचार करें ।

साधक – आप ईश्वर के किन-किन गुणों का प्रत्यक्ष कर लेते हैं?

स्वामी जी – आनन्द, ज्ञान स्पष्ट होता है । कुछ और जैसे बल है, उसका स्पष्ट अनुभव नहीं होता है ।

साधक – न्यायकारी का ?

स्वामी जी – न्यायकारी तो अनुमानादि से सिद्ध है, उसका प्रत्यक्ष कैसे करोगे ? न्याय को देखकर जैसे शरीरादि से पता तो चलता है ईश्वर न्यायकारी है परन्तु न्याय करता हुआ दिखाई दे जैसे इसको फाँसी तोड़ो, इसको गदहे में भेजो, इसको घोड़े में भेजो, ऐसा पूरा न्याय किया गया है, ऐसा तो दिखाई नहीं देता । ईश्वर का न्यायकारित्व तो सृष्टि की रचना, मनुष्यादि की रचना से सिद्ध है ।

साधक – ज्ञानगुण का प्रत्यक्ष कैसा होता है ?

स्वामी जी – ज्ञान का प्रत्यक्ष तो होता है, जैसे हम समाधि लगाते हैं तो एकदम ज्ञान का विकास होता है, बहुत विकसित हो जाता है । समाधि के टूटने पर पुनः वह स्थिति नहीं रहती है । पुनः सुख की अनुभूति। इस ओर जैसे हलुआ खाते हैं तो हमको सुख की अनुभूति होती है, समाधि में हमको आनन्द की अनुभूति होती है, समाधि टूटने पर वह आनन्द रहता ही नहीं है । ऐसे प्रत्यक्ष होता है।

महत्परिमाण के विषय में ईश्वर को जब हम व्यापक रूप में देखेंगे तो ऐसा दिखाई देगा कि यह ईश्वर है और इसकी कोई सीमा नहीं है। वह सर्वव्यापक है, इसमें कितना ही दौड़ो इसकी कोई सीमा नहीं है । इस प्रकार उसके महत् की अनुभूति होगी ।

चेतन आ गया समझ में ? अब आनन्द की बात । भौतिक वैज्ञानिक ईश्वर में आनन्द नहीं मानते हैं, एकाध को छोड़ो । वे यदि ईश्वर को मान लेते और ईश्वर में आनन्द को मान लेते तो संसार का भला हो जाता। उनको किसी ने मनवाया भी नहीं । एक तो इनको ऐसा पठन-पाठन नहीं मिला यह कमी रही । इनको वैदिक पठन-पाठन, विद्या नहीं मिलना एक कारण है । बालक को बाल्यकाल से अच्छी तरह से पढ़ाओ । भौतिक-विज्ञान भी पढ़ाओ और आत्मा-परमात्मा के विषय भी पढ़ाओ । तो इनके संस्कार बन जाते, इनका दिमाग वहाँ तक पहुँच जाता। तो इस रूप में इन वैज्ञानिकों की पढ़ाई नहीं हुई । दूसरा इनको सिखाने वाले अच्छे लोग नहीं मिले या

इन्होंने सीखा नहीं दोनों ही बातें रहीं । सीखना-सिखाना दोनों का न होना दूसरा कारण है ।

साधक – वे लोग ईश्वर को अच्छी तरह से जान सकते हैं क्योंकि संसार को अच्छी प्रकार से समझते हैं ?

स्वामी जी – यदि वे जानना चाहें, जिज्ञासु हों, अभिमान न करें, ऋषियों के ग्रन्थों को पढ़ें जैसे अपने वर्मा जी ने न्यायदर्शन को पढ़ा । संभवतः इनका न्यायदर्शन पूरा हो गया । तो पढ़ने से जैसे इनका दिमाग बदला, इनकी स्थिति बदली यदि और वैज्ञानिक भी न्यायदर्शन को पढ़ लेते तो उनकी भी स्थिति भी बदल जाती । मान्यता ही बदल जाती । सिद्धान्त ही दूसरे हो जाते । यदि वे ऐसा पढ़ें-सुनें तो अब भी ऐसा हो सकता है ।

तो ईश्वर आनन्दस्वरूप है । ईश्वर में आनन्द नित्य है और जैसे ईश्वर में ज्ञान की सीमा नहीं है वैसे आनन्द की भी सीमा नहीं है । परिमाण गुण की सीमा नहीं है तो किसी गुण की सीमा नहीं है, सारा अनन्त है । आपके मन में बैठना कठिन रहता होगा किन्तु इतना विचारें कि वेद, दर्शन के योगी विद्वान् ईश्वर को आनन्दस्वरूप मानते हैं और आनन्द अनन्त है । उपनिषद् में आनन्द की मीमांसा लिखी है, भाव सुनाता हूँ –

एक व्यक्ति नीरोग, हट्टा-कट्टा जवान, वेदों का विद्वान्, सदाचारी, योगाभ्यासी, धार्मिक है तो उसके माध्यम से समझाने का प्रयास किया कि उसका जो आनन्द है वह एक मनुष्यानन्द कहलाएगा । आगे १ × १०० = इतना । ऐसे लगभग १०× तक दिखलाया गया है । वस्तुतः यह हीन उपमा है, बताने के लिए है । ईश्वर के तुल्य किसी का आनन्द हो ही नहीं सकता। तुलना समझाने के लिए है सूर्य तुल्य उपमा ।

ईश्वर में आनन्द है इसका अनुमान – देखो उसने सूर्य-चन्द्र, सोना-चाँदी आदि सारा जगत् बना के खड़ा कर दिया पर कभी वह लोगों का छीन-झपट करके आनन्द लेना नहीं चाहता है, इससे पता चलता है उसको लौकिक-सुख की अपेक्षा नहीं है । यदि अपेक्षा होती तो राजाओं की तरह दबा के रखता, खूब खाता-पीता मजे में रहता ।

साधक – कहीं अन्यत्र पृथक् संसार बना रखा हो, हमें पता नहीं।

स्वामी जी – तो वह काल्पनिक हुआ । पता ही नहीं तो कैसे कह रहे हैं, इसमें तो प्रमाण चाहिए ।

❖ ❖ ❖ ❖

अपर-वैरागी का व्यवहार व पतन-संभावना

जिसकी अपर-वैराग्य की स्थिति आ जाती है, उसका हावभाव, लौकिक-जीवन, भाषा, बोलचाल, आकृति सब कुछ बदल जाते हैं ।

यदि आप में से किसी की स्थिति बन जाय और कोई विशेष व्यक्ति मिलने आ जाय तो बदल जाएँगे या वही स्थिति बनाए रखेंगे ? क्या स्थिति है ?

यदि लगा स्वयं की क्या स्थिति है किसी से पूछनी चाहिए अथवा किसी से पूछे जाने पर नहीं बताया तो मुझको उन्मत्त, अशिष्ट या दुष्ट मानेगा; यदि ऐसी भावना वहाँ होती है तो ऊँची अवस्था को उत्पन्न नहीं कर सकते । जिसकी अपरिपक्व अवस्था होती है वह प्रभावित होकर स्थिति परिवर्तित कर सकता है ।

योगदर्शन के भाष्यकार ने चार प्रकार के योगियों का लक्षण दिया है। वहाँ ऋतम्भरा-प्रज्ञा प्राप्त हो जाने पर भी पतन की सम्भावना मानते हैं । यथा बहुत बड़ा सम्मेलन हो रहा हो, उसमें आपके अभिनन्दन समारोह की तैयारी हो रही हो । तो सम्मान की उस स्थिति में परिवर्तित (मानेच्छु) होंगे या नहीं ? वहाँ पूरी सम्भावना है; क्योंकि संस्कार अभी दबे हुए हैं । असावधान होते ही आलम्बन के कारण संस्कारों के जग जाने की संभावना रहती है । एक स्थूल होता है, दूसरा सूक्ष्म। मन में सूक्ष्म दोष आ सकते हैं । **व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः** .... । इसमें कहा व्युत्थान संस्कारों को रोक देने पर असम्प्रज्ञात-समाधि होती है । इसके विपरीत व्युत्थान-समाधि होती है ।

कोई मानते हैं एक बार साक्षात्कार हो जाने पर पुनः प्रयास की अपेक्षा नहीं रहती, अब मोक्ष में चला ही जाएगा । साक्षात्कार की परिपक्वता होने पर ऐसा सम्भव है अतः केवल प्रथम साक्षात्कार में सभी दोषों की निवृत्ति नहीं होती है, संस्कार-दोष रहते हैं ।

साधक – पूरे संस्कार सम्प्रज्ञात में या असम्प्रज्ञात में दग्धबीज होते हैं?

स्वामी जी – इसका समाधान पीछे आ चुका है, और स्वयं विचार कर लेना । यहाँ प्रसंग है अपर-वैराग्य होने पर भी स्थिति बनी ही रहती है या परिवर्तन होता है । 'मैं और मेरा' की समस्या बहुत दूर तक कैसे

पीछे लगी रहती है ? स्वस्वामि-सम्बन्ध कैसे बनाये रखता है ? इनको दूर हटाने के लिए साधक क्या करता है आदि बातें कही जा रही हैं ।

जैसे वैराग्य की स्थिति में किसी से बातें नहीं करता, कोई नमस्ते करे तो उसका उत्तर भी नहीं देता है तब सामनेवाला कहता है इसका व्यवहार अच्छा नहीं है, बड़ा दुष्ट है । वहाँ यह समाधान करता है— "मेरा व्यवहार और मैं दुष्ट ? मैं कौन और मेरा क्या है ? सब ईश्वर का ही है । अच्छा भी बुरा भी सब उसी का है, अतः जो भी हूँ, जैसा करता हूँ, सब ठीक है ।" यद्यपि यह समाधान निर्दोष नहीं है । किन्तु आरम्भिक काल में अनभिज्ञता के कारण साधक इतना ही समझ पाता है इसलिए ऐसा व्यवहार करता है पश्चात् विशिष्ट ज्ञान होने पर सुधार करता है और ऐसा मानता-करता है – जितना ईश्वर का आदेश है और जितना उसके आदेश के अनुकूल है उतना ही ठीक है, शेष जितना उसके आदेश के प्रतिकूल है वह दोष है और वह मेरा है ।

● अन्दर ईश्वर को स्वयं से भिन्न मानकर ईश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना करता है किन्तु बाहर सब को एक मानकर ही चलता है । यह 'एकत्व' केवल आरम्भिक काल में 'मैं और मेरा' को तोड़ने का सरल उपाय है। स्थिति परिपक्व बन जाने पर ज्ञानपूर्वक ईश्वर, स्वयं तथा प्रकृति सब को भिन्न-भिन्न मानकर अन्दर-बाहर समान व्यवहार अर्थात् अन्दर ईश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना और बाह्य व्यवहार करता है ।

● कभी वंशी आदि बजाया करते थे पुनः वैराग्य हो गया तो सब छोड़-छाड़ दिया । पुनः लोग कहने लगे यह पागल हो गया है इसको उलटा लटकाकर पिटाई करो । वहाँ यह सुनकर नाममात्र भी भय नहीं लगता था कि मेरे साथ अब अनिष्ट करेंगे । आप क्या कहते हैं मेरे साथ यह किया, वह किया?

ईश्वर के कार्य में कोई पूर्ण कल्पना नहीं हो सकती कि क्या-क्या बाधाएँ आएँगी परन्तु सब ओर से निर्भय हुए बिना समाधि के क्षेत्र में प्रवेश संभव नहीं है ।

भोजन के संबंध में प्रश्न आया – घर वालों ने कहा बिना कुछ कार्य किये भोजन नहीं मिलेगा । मैंने कहा – मैं माँग नहीं रहा हूँ । कहीं भी नहीं माँगा। अब तो मृत्यु सामने थी, वहाँ कोई चिन्ता नहीं की । पानी मिला

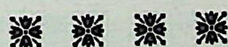
थोड़ा दूध मिलता था। मैंने संकल्प किया तीन दिन कुछ नहीं लूँगा पुनः ८ दिन तक भूखा रहा पुनरपि स्थिति नहीं छोड़ी। शरीर में विकलता होती थी, चिन्तन में भी प्रभाव पड़ता था, घर नहीं जाता था, बैठना सोना दूसरों के ही बैठक में होता था, वस्त्र भी वहीं रखता था। ऐसी स्थिति में आप कभी चिन्तित होने लगें, घबराहट हो सकती है। कभी ऐसा मत कर देना।

मैंने किया अर्थात् कभी अच्छा या बुरा यह मैं अपनी शक्ति से करता हूँ; इस प्रकार के मान्यता दोष से ईश्वर-प्रणिधान की हानि हो जाती है। यह ममत्व दोष है।

आप पढ़े लिखे हैं, दर्शनाचार्य हैं अब आपको कोई कहे कि न तो यह आपकी विद्या, न बुद्धि, न इन्द्रिय, न शरीर, न उपाधि है। व्यर्थ हो, कोई अस्तित्व नहीं, उन्मत्त हो।

तब आप विचारेंगे क्या कहता है, मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं है समाज में, इसे कौन सहन करेगा ? जब आपके पास एक समय का भोजन भी न हो, माँगने पर गालियाँ मिलती हों, आपकी परम्परा को मानने वाले भी आश्रय देने को तैयार नहीं। जिधर जाओ उधर ही पागल-पागल कह के हल्ला करें, तो उस समय क्या करेंगे ? कहीं ये तो नहीं सोचेंगे देखो कितने मूढ़ लोग हैं, मेरे प्रति कुछ सोचते ही नहीं। तो ऐसा नहीं सोचना; ऐसे में राग-द्वेष की सम्भावना रहती है। यह आपको गिरा सकता है। यहाँ पूरी आध्यात्मिक—मृत्यु की ही स्थिति होती है।

यद्यपि समाधि से पूर्व परिश्रम करने पर समाज, राष्ट्र की सेवा की योग्यता हो सकती है परन्तु समाधि की योग्यता नहीं बन सकेगी। यहाँ तो स्वयं को मार देना पड़ता है, निमित्त के अभाव में ही। मरना नहीं चाहते हैं और समाधि चाहते हैं तो ऐसा नहीं होगा। पूरे बल से योजनापूर्वक प्रशिक्षण दिया जा रहा है। इस रूप में अंश-अंश की व्याख्या, विधि, बाधकों को पुनः पुनः बताया जा रहा है, इस स्थिति में भी नहीं करते हैं तो कितनी न्यूनता या दोष माना जा सकता है ?



कैसे जीता जाता है इन अज्ञान, कुसंस्कार आदि आन्तरिक शत्रुओं को; यह शिक्षा दी जा रही है। योगाभ्यास करते-करते परमात्मा से सहायता मांगो, जीत जाओगे। उसकी आज्ञा का पालन करो। यदि ऐसा नहीं करोगे तो नहीं जीतोगे, कुछ भी करो। आपको यह ज्ञान होगा कि इन मन्त्रों का बार-बार प्रयोग करने पर, तैयारी रखने पर, जब कुछ पूछा जाएगा तो सुना सकेंगे नहीं तो नहीं सुना सकेंगे। दोहराने से जीवन के अङ्ग बन जाते हैं। बोलचाल की भाषा जैसा इनका अर्थ दिखाई देने लगता है। ध्यान में वह बाधा नहीं आती जो अर्थ को कम जानने पर आती है।

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते.....यह मन्त्र आपको याद हो गया ? हो गया तो सुनाओ। **साधक –**

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥

ऋग्वेद.९/८३/१।

स्वामी जी – हाँ जी इसका अर्थ क्या है ? **साधक –**

ब्रह्मणस्पते = ब्रह्माण्ड और वेदों के पालक
प्रभुः = सर्वसामर्थ्ययुक्त, सर्वशक्तिमान्
गात्राणि = संसार के सब अवयवों को
विश्वतः = सब ओर अपनी व्याप्ति से
पर्येषि = व्याप्त कर रखा है।
ते = उस आपका जो
विततं = व्यापक
पवित्रं = पवित्र स्वरूप है उसको
अतप्ततनूः = ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण, शम, दम, योगाभ्यास, जितेन्द्रियता सत्संगादि तपश्चर्या से रहित जो
आमः = अन्तःकरणयुक्त है वह अपरिपक्व आत्मा
न अश्नुते = उस तेरे स्वरूप को प्राप्त नहीं होता
शृतासः = और जो पूर्वोक्त तप से शुद्ध हैं वे ही

इत् वदन्तः = इस तप का आचरण करते हुए

तत् समाशत = उसे शुद्धस्वरूप को अच्छे प्रकार से प्राप्त होते हैं।

तो इस मन्त्र में बताया कि ईश्वर का स्वरूप कैसा है ? उसको प्राप्त करनेवाले की क्या क्षमता होती है। जो उसे प्राप्त नहीं कर सकते उनमें क्या दोष होते हैं ? मुख्य तीन बात आ गईं ? सीधा-सीधा मन्त्र है या नहीं ? इस बात को बताने के लिए कि हे ईश्वर ! आप का स्वरूप पवित्र है। विततं = फैला हुआ है। आप ब्रह्माण्ड के पतिः = स्वामी हैं। आप सर्वशक्तिमान् हैं। पूरा संसार, अरबों-खरबों लोक-लोकान्तर इस सृष्टि के भाग हैं, अवयव हैं। उन सभी में आप पर्येषि = व्याप्त हैं। यहाँ तक पहुँचे हम। फिर कहा अतप्ततनूः = अब तनू नाम शरीर का है वैसे, परन्तु किसी शब्द, वाक्य का अर्थ ऐसा करना चाहिए जिससे उचित बात सामने आए। चाहे जैसा अर्थ नहीं कर सकते। तनू का अर्थ बिना विचारे किया जाए तो अर्थ यही बनता कि जिसका शरीर तपा हुआ नहीं है उसे ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। किन्तु यहाँ तनू शब्द से पूरा जीवन ले लिया और तप से केवल सर्दी-गर्मी नहीं किन्तु शम, दम, योगाभ्यास, ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियतादि इन बातों को भी लिया गया। इनका जो पालन नहीं करता वह अतप्ततनू है। आप अपने ऊपर लागू करो, आप इनका पालन नहीं करते हैं तो अतप्ततनू कहलाएँगे। और अतप्ततनू व्यक्ति कच्चा कहलाता है। आमः कच्चे को कहते हैं और जो खाया-पीआ न पचे यों ही निकल जाय उसको कहते हैं आमः। आम बिना पका भोजन। ऐसा व्यक्ति ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता !

आप जो प्रयोग करते हैं बार-बार। हम बहुत प्रयत्नशील रहते हैं, बड़ी सावधानी वर्तते हैं। अब ये शम और दम का ऋषि ने संकेत कर दिया। इसका समझने का क्षेत्र क्या है ? कहते हैं न आत्मा को रोको। पुनः कहते हैं मन को अन्तःकरण को रोको। यह इसमें है। अपनी आत्मा अधर्म की ओर न जाय। अन्तःकरण में मन, बुद्धि अहंकार इन तीनों को ले सकते हैं। उनको अधर्म से रोको। हंम प्रयोग करते रहते हैं मन को रोको। मन को खुला नहीं छोड़ना। अधिकार में रखना है। आत्मा स्वयं आत्मा है वह अपने ज्ञान, प्रयत्न को रोकता है। अन्दर से आत्मा की प्रवृत्ति अधर्म की ओर होती है और धर्म की ओर भी होती है। क्या समझ में आया ? रोज देखते हैं प्रतिक्षण देखते हैं। व्यक्ति आत्मा को रोकना नहीं जानता। आत्मा क्या है? उसको कैसे रोका जाता है ? कोई इनको जाने बिना पचास वर्ष

में भी रोक नहीं सकता। आत्मा क्या है ? आत्मा को रोकना क्या है ? क्या पता लगता है ? जब ध्यान देंगे तो पता चलेगा कि इस व्यक्ति को इतना ज्ञान हो जाना चाहिए कि ये जो चौबीस तत्व हैं जड़-वर्ग इन्द्रिय आदि और मैं आत्मा इनसे अलग हूँ और इन सब का संचालन करने वाला हूँ। अन्तःकरण को, इन्द्रियों को प्रेरणा करनेवाला हूँ । यदि मैं अपने को रोक दूँ, ज्ञान-प्रयत्न को रोक दूँ तो सब रुक जाएगा । हम कहेंगे थोड़ी देर के लिए आत्मा को रोक दो, मन-इन्द्रियों के पीछे दौड़ लगाना छोड़ दो । यद्यपि सभी को रोकना पड़ता है परन्तु प्रधानता और गौणता होती है । प्रधानता हमने आत्मा को दे दी । आत्मा को रोक दिया । आत्मा को रोक देने पर न तो अन्तःकरण चलेंगे न बाह्यकरण । जो आत्मा को जानता नहीं, उसके गुण इच्छा, प्रयत्न हैं इनको पकड़ता नहीं है तो वह आत्मा को रोक नहीं सकता। जैसे जब हम कोई बुराई सोचते हैं तो मन में इच्छा होती है, आत्मा चाहता है कि चोरी करूँ। तब वहीं से आत्मा को रोक दो नहीं, चोरी नहीं करनी है । यह है बुरे काम से आत्मा को रोकना । एक भाग यह हो गया आत्मा को बुराई से रोकना ।

अब पुनः आया आगे का भाग बुद्धि । यद्यपि जीवात्मा काम करता है पर बुद्धि से निर्णय करता है, वह उपकरण तो रहता है उसके साथ, उसके बिना सोच नहीं सकता । पर बुद्धि से जो निर्णय करते हैं वह बड़ी तीव्रता से होता है, पता भी नहीं चलता है वहाँ अच्छे को बुरा मान लेना, बुरे को अच्छा मान लेना। वहाँ यदि विशेष ध्यान न दें तो देखते ही निर्णय हो जाता है । हो गया सो हो गया, गलत को भी 'यह ठीक है' ऐसा मान लिया। तो वहाँ मन को रोको । देखते ही उसको ग्रहण करने की इच्छा, देखते ही छोड़ने की इच्छा (मत करो, विचार करो) । यों ही निर्णय ले लिया उसने तो अन्तःकरण नहीं रुका । क्या समझ में आया ? जो हम निर्णय करते हैं, वह बड़ा शीघ्र होता है । कहीं अविद्या को हम विद्या मान के चलते हैं, विद्या को अविद्या मान के चलते हैं; वह निर्णय बुद्धि का होता है । करता तो जीवात्मा है पर बुद्धि नामक उपकरण से करता है । वहाँ परीक्षा करो। बुद्धि को रोको, अधिकार में लो । कभी विपरीत निर्णय न हो जाय। विचार करो पुनः निर्णय करो नहीं तो बुद्धि से इतनी देर में निर्णय हो जाएगा। मन से संकल्प करते हैं यह पदार्थ अच्छा है या बुरा । तो आत्मा को, अन्तःकरण को अधर्माचरण से धर्माचरण में चलाना यह एक प्रमुख कार्य हमारा हो गया।

अच्छा अब प्रयोग करें । ईश्वर का स्वरूप ऐसा है, परन्तु प्रार्थना करनी है हे ईश्वर ! मैं कच्चा व्यक्ति न रह जाऊँ ! ये जो साधन बतलाया है 'तप्ततनू' मैं इसे सुसज्जित कर लूँ, अपने को ऐसा बना लूँ । आप मुझे सहायता दो। पुरुषार्थ करने वाले को ईश्वर सहायता देगा ही । अब मन-मन में बोलें — **पवित्रं ते विततं......** । हे ईश्वर आप का स्वरूप शुद्ध है, अज्ञान से रहित, पवित्र है । मैं अभी अच्छे प्रकार से तप्ततनू हुआ नहीं, कुछ आंशिक हो सकता हूँ । पूरा हो जाऊँ । प्रार्थना में ईश्वर से मांगना है कि — मैं आत्मा स्वयं को अधर्माचरण की ओर न जाने दूं, धर्माचरण की ओर चलाऊँ । बुद्धि, अन्तःकरण को भी अधर्माचरण में न जाने दूं । अधिकार पूर्वक धर्माचरण में चलाऊँ । ऐसे याचना करनी है ।

अब त्वं हि विश्वतोमुख..... इस मन्त्र से ईश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना करेंगे। मन्त्र किस-किस को याद है ?

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि । अप नः शोशुचदघम् ॥

आप का मुख =उपदेश सब ओर हो रहा है । आप सब ओर अपनी सत्ता से विद्यमान हो । हमें पाप से दूर करो ।

साधक — शोशुचत् शब्द स्पष्ट नहीं हो रहा है ।

स्वामी जी — पुनः देख लेंगे, कोई लम्बी-चौड़ी बात नहीं है । अर्थ है हमारा पाप दूर हो जाय । तो बात है ईश्वर के लिए क्या आया ? **त्वं हि** = निश्चय से आप ही । **विश्वतोमुख** = सब ओर मुखवाले हैं और आगे है **विश्वतः परिभूरसि** सब स्थानों में व्यापक हैं । आगे **अप नः शोशुचत् अघम्।**

कभी-कभी आपके मन में यह बात आती है, ईश्वर का मुख सब ओर है, कैसा समझ में आता है ?

साधक१. आलंकारिक वर्णन समझ में आता है ।

स्वामी जी — मान लो ईश्वर सब जगह है तो यह जो कहा सर्वतोमुख तो सब जगह उसका मुख मानना पड़ेगा । जीवात्मा का भी तो सब ओर मानना पड़ेगा। इसमें एक बात और लिखी है कि "आप सब जीवों के हृदय में नित्य सत्य उपदेश कर रहे हो ।" इस पंक्ति को देखो ?

साधक — जो भय, शंका, लज्जा होती है यही उपदेश है ।

स्वामी जी — नहीं ! पहले तो इसको लेंगे कि "उपदेश कर रहे हो"। भय शंकादि तो पीछे होगी ।

साधक — समाधि में तो करेगा, अन्यत्र नहीं ।

स्वामी जी — अच्छा यह मानकर चलो जब आप स्तुतिप्रार्थनोपासना करेंगे समाधि से पूर्व स्तर पर तो क्या उस समय ईश्वर ज्ञान नहीं देगा ?

साधक — सहायता दे देता है, बुद्धि को उत्कृष्ट बना देता है ।

स्वामी जी —नहीं नहीं ! आप यों ही कह रहे हैं दे देता है, क्या दे देता है? ज्ञान ही तो देता होगा ? यहाँ तो सब जीवों के हृदय में नित्य सत्य उपदेश कर रहे हो, 'नित्य है,' न कि सृष्टि के आदि में है; यह बात भी आ गई ।

साधक — यहाँ सब जीवों से केवल मनुष्यों का ग्रहण करेंगे ।

स्वामी जी — क्यों ? हम तो गदहे, घोड़े, कुत्ते का भी ग्रहण करेंगे? उसमें क्या बाधा है ?

साधक — यह तो संभव नहीं है । गदहे, घोड़े क्या उपदेश सुनेंगे ?

स्वामी जी — लो, ये कहते हैं सम्भव नहीं है । अच्छा चलो हम न्याय दर्शनादि का आश्रय लेकर उदाहरण लेकर आपसे पूछते हैं कि वह जो बया नामक पक्षी है । आपने देखा-सुना होगा ? कितना सुन्दर घोसला बनाता है, तूफान में भी नहीं टूटता है । उसको कौन उपदेश देता है, कहाँ से विज्ञान आता है उसको ?

साधक — उनका ज्ञान नैसर्गिक माना जाता है, सृष्टि प्रवाह से अनादि उन-उन योनियों में ।

स्वामी जी — नैसर्गिक का क्या मतलब है ?

साधक — इसमें एक बात यह आती है कि सभी प्राणियों के संस्कार सभी मन में होते हैं, हमारे मन में भी हैं, अवसर विशेष में ईश्वर उनको उद्बुद्ध कर देता है, जैसा योगदर्शन में आया हुआ है ।

स्वामी जी — क्या-क्या ? आपने क्या कहा ?

साधक — (आवृति — सभी प्राणियों के संस्कार .... उद्बुद्ध कर देता है ।)

स्वामी जी — यह तो तोड़ मरोड़ की बात हुई । आप यह क्यों नहीं मानते कि भिन्न-भिन्न प्राणियों को ईश्वर जीवन निर्वाह के लिए उपदेश देता है । ज्ञान देता है । सीधी बात करो; इसमें क्या बाधा है ?

साधक — वेदज्ञान है ..... ।

स्वामी जी — सुनो सुनो ! गुनगुनाओ मत ।

साधक — यह सूत्र है **जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्** ॥ यो० द० ४/१०।

सूत्रार्थ — मनुष्यादि जाति, स्थान तथा काल के व्यवधान से युक्त वासनाओं की भी समीपता होती है, स्मृति और संस्कारों के सदा समान विषयक होने से अर्थात् पूर्व जन्म के संस्कारों के अनुरूप ही इस जन्म में स्मृति उत्पन्न होती है ।

स्वामी जी — हम यह नहीं कहते हैं । यह आनन्तर्य तो सब में होता है। हम तो यह कहते हैं इन प्राणियों को जो योनि दी जाती है उसी योनि के निर्वाह के लिए ईश्वर अपनी ओर से उनको ज्ञान देता है या नहीं ? यह सीधी बात है। न दे तो उनका निर्वाह कैसे होगा ? बछड़े को पानी में फेक दो अभी-अभी तैरकर पार हो जाएगा और मनुष्य डूब जाता है । ऐसे कैसे ज्ञान हो जाएगा ? अभाव से भाव की उत्पत्ति तो होती नहीं ? कहीं के संस्कार क्यों न हों ? देखना तो यह है इसमें बाधा क्या है कि उस-उस योनि को ईश्वर ज्ञान देता है ?

अब देखो, ध्यान देना यह चिड़िया घोंसला बनाती है। ये गिलहरी बनाती है, कितना कोमल-कोमल रुई लाती है छान-बिछान करके, नहीं देखा है ? वह कैसे जान गई मेरा बच्चा इतना कोमल होगा और इस पर रहेगा आनन्द से और तब जाकर पनप पाएगा ? बिना ज्ञान के तो ऐसा होगा नहीं । मनुष्य का बच्चा तो बिना सिखाए इतना भी नहीं जानता कि मेरा बच्चा होगा उसका घर इस प्रकार का होगा ? बालक को न सिखाया जाय तो जंगल में भेड़िए की तरह घूमता है । इसलिए निष्कर्ष निकला कि ईश्वर उस-उस योनि के निर्वाह के लिए ज्ञान देता है । कार्य के लिए, भोग के लिए उतना-उतना ज्ञान देने में असंगति क्या है ?

साधक — उनको भी प्रतिदिन देता है या पहले से दिया हुआ है ?

स्वामी जी — दिया हुआ है का क्या मतलब ? कहाँ ले जाओगे ?

साधक — ईश्वर ने व्यवस्था बना रखी है जैसा शरीर मिलेगा उस प्रकार के संस्कार उद्‌बुद्ध हो जाएँगे ।

स्वामी जी — अब आपने संस्कार कह दिया, हमने ज्ञान कह दिया, अन्तर क्या हुआ ? आपने एक कड़ी और जोड़ दी कि उसको पहले संस्कार देगा पुनः ज्ञान होगा, इतना दूर अर्थ को क्यों ले जाओ ? **श्रुति-लिंग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां पारदौर्बल्यम्** । अर्थ की निकटता के कारण सीधा 'ज्ञान' अर्थ बलवान् है 'संस्कार' अर्थ निर्बल है ।

साधक — उद्‌बुद्ध करेगा संस्कारों को जो पहले से हैं ।

स्वामी जी — कुछ भी कहो, ईश्वर ने संस्कार दे दिए यह मानके चलते हैं, पर बीच में संस्कार को क्यों लाओ, सीधे ज्ञान दे देता है यह क्यों न मान लें ? ज्ञान के संस्कार डालेगा तो सीधा ज्ञान क्यों नहीं डाल देगा ?

साधक — कर्मों के कारण वे संस्कार हमारे स्वयं के हैं ।

स्वामी जी — न न न । ऐसा मानेंगे तब भी ज्ञान नाम की चीज तो आएगी। क्योंकि यह देखा जाता है कि पशु-पक्षियों के पास अपना-अपना विशिष्ट ज्ञान होता है । सब में सारे विशिष्ट-ज्ञान होते नहीं है । यह बिना व्यवस्था के कैसे होगा ? हमने सुना है यह जो बन्दर होता है यह सूंघता है । बताते हैं किसी ने जहर मिलाकर रोटी दे दी पुनः सूंघकर एक ओर खड़ा हो गया । मनुष्य को पता भी नहीं चलता। महर्षि को जहर दिया पता ही नहीं चला ।

आपने संस्कार मान लिया उसकी व्याख्या करनी पड़ेगी, कैसे लाता है आदि आदि । पर देखा जाता है यह जो बया पक्षी है अकेले नहीं बनाता है। एक भीतर एक बाहर होता है। कैसा सुन्दर बनाता है, डाली से चिपकाता है तूफान में भी नहीं टूटता । टोपा सा बनाता है जैसे पोरबन्दर वाले की टोपी होती है ।

इसलिए आर्यभिविनय में जो कहा कि — हे ईश्वर ! आप अपने सामर्थ्य से सभी जीवों के हृदय में नित्य उपदेश दे रहे हैं । आप वहाँ संस्कार लाएँगे पकड़कर और कहेंगे नित्य संस्कार दे रहे हैं ।

साधक — स्वामीजी की भाषा आर्यभिविनय में कहीं-कहीं भावप्रधान भी है ।

स्वामी जी – सुनो न ! इसमें तो सीधा लिखा है, तोड़-मरोड़ की कोई आवश्यकता नहीं है ।

साधक – एक जगह लिखा है हमारे पापों को क्षमा कर दीजिए ।

स्वामी जी – कोई बात नहीं वह तो सहन अर्थ में है । क्षमूष् सहने धातु है । यहाँ तो शब्दावली है "नित्य उपदेश करते हो ।"

अब चलो तर्क पर । जब व्यक्ति बुरे काम की योजना बनाता है.....भय, शंका, लज्जा उत्पन्न करता है । वह उपदेश हुआ या नहीं हुआ ? जब एक जगह बात सिद्ध हो गई । पता चला अच्छे काम में आनन्द-उत्साह देता है; बुरे काम में भय, शंका, लज्जा उत्पन्न करता है । व्यक्ति को उस अवस्था में बताता है । इससे सिद्ध होता है नित्य उपदेश=ज्ञान उत्पन्न करता है ।

साधक – इससे नहीं सिद्ध होता है । भय, लज्जा तो ईश्वर का अपना गुण ही नहीं है वह तो प्रकृति से उत्पन्न करता है ।

स्वामी जी – कोई बात नहीं । वह भय उत्पन्न कर सकता है, इतनां तो पता चल गया । भले ही प्रकृति से करता हो । यह ऐसा है आप कहना चाहते हैं ईश्वर हमको दण्ड देता है, सूअर बना देता है । तो अपने अन्दर से बनाता नहीं है। प्रकृति से बनाता है । पर बनाता है । वहाँ पर भय उत्पन्न कर दिया। मान लो भय प्रकृति का गुण है पर वहाँ से उत्पन्न तो कर सकता है ?

साधक – इसी प्रकार आनन्द प्रकृति का गुण है, सत्त्व को उभार देता है, अपना नहीं देता है ।

स्वामी जी – यह तो आवश्यकता (प्रकरण) से बाहर ले गए, आनन्द उसके पास है या नहीं ? भय तो नहीं था । यहाँ बात नहीं लगेगी ।

साधक – इनका अभिप्राय है समाधि से पूर्व ज्ञान नहीं देता है । क्योंकि उतनी पात्रता नहीं होती ।

स्वामी जी – नहीं । महर्षि दयानन्द ने लिखा है उपासना का फल ज्ञानप्राप्ति है । अंशों में अन्तर पड़ेगा । समाधि वाले का ऊँचा ज्ञान है । पर नीचे वाले को थोड़े ही ऐसे हो जाएगा । जहाँ से स्तुति–प्रार्थना–उपासना आरम्भ करते हैं वहीं से (यथायोग्य) देना आरम्भ कर देता है । अंश थोड़ा होगा । ईश्वर के लिए काट-छांट की कोई कठिनाई नहीं है । सारी बातें ऐसे करता है और ठाठ से बैठा है अपने मजे में । खूब बैठा है और सब ओर

काम कर रहा है। पता नहीं कैसा व्यक्ति है? हम जैसा तो है नहीं। योगदर्शन में कहा– **क्लेश....अपरामृष्टः पुरुषविशेषः** । हम जैसा नहीं है । त्वं हि विश्वतो मुख = हे ईश्वर सर्वत्र आपका मुख अर्थात् ज्ञान देने का स्वरूप = सामर्थ्य सभी जीवों के बाहर-भीतर विद्यमान है और आप अपने नियमानुसार सबको ज्ञान दे रहे हो ।

एक बात और निकली इससे कि वह सृष्टि के आदि में ही ज्ञान देता है ऐसी बात नहीं है । लोग इस बात को उठाते रहते हैं ।

अब प्रयोग करेंगे । शरीर में एक केन्द्र (धारणा) बना लो, उससे सुविधा हो जाएगी आप धुन में या मन में त्रिकर्म करते रहें और क्या-क्या बाधाएँ खड़ी कीं, उनको देखते रहिए । आरम्भ कीजिए – प्रयोग ....।

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे । यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् । अथर्व ११/४/१।

प्राणस्वरूप ईश्वर के लिए नमस्कार हो, जिस ईश्वर के वश में यह सारा संसार है । जो सम्पूर्ण संसार का स्वामी था, है और रहेगा । जिस ईश्वर में यह जड़-चेतन सारा संसार प्रतिष्ठित है, उसको मेरा नमस्कार है ।

जैसा अर्थ किया गया ऐसा ईश्वर मन में कितना स्थान बना पाया (बैठा) पूरा, कम या संशय होता है ? कितनी स्थिति है ?

साधक १ – संशय तो ऐसा नहीं है पर जब पूरी तैयारी करके उपासना के लिए तत्पर होते हैं उस समय अच्छा सम्बन्ध बन जाता है, पर व्यवहार में पूरा सम्बन्ध नहीं रहता है । दूर है या परोक्ष लगता है ।

स्वामी जी – दैनिक जीवन में जैसे कोई आचार्य मेरे पास है; ऐसी प्रतीति नहीं होती है, कैसा लगता है ?

साधक २ – कभी रहती है कभी छूटी रहती है । अपनी ओर से जितना करने योग्य है स्वस्वामि-सम्बन्ध-परित्यागादि सब कर लिया उसके पश्चात् जब मांगने का क्रम आता है तब संशय का पुट आता है देगा, नहीं देगा, सुनता है या नहीं सुनता है ? सब करने पर भी कोई प्रतिक्रिया विशेष न दिखने से संशय हो जाता है ।

स्वामी जी – आप को यह आभास नहीं होता कि मेरे कर्तव्य में कोई न्यूनता रह गई ! उस समय जो व्यक्ति की मान्यता बनती है कि देखो मैंने सब कुछ किया पुनरपि प्रतिफल देगा या नहीं देगा । यहाँ जानना चाहिए

योगदर्शन में बताई गई १४ विघ्नबाधाओं में से यह संशय एक है । इसको दूर करने का एक उपाय शब्दप्रमाण है । प्रथम यह परिणाम निकलना चाहिए कि मेरे कर्तव्य में कोई न कोई दोष, त्रुटि हो रही है अतः उपलब्धि नहीं हो रही है । और जी आपको सानिध्य दिखाई देता या नहीं ?

साधक ३ — प्रयास करने पर ऐसी स्थिति दिखाई देती है पर कम काल के लिए, प्रायः परोक्षवाली स्थिति रहती है या छूट जाती है ।

स्वामी जी — सिद्धान्त क्या है ? पूरे दैनिक जीवन में ईश्वर और हमारा सम्बन्ध जुड़ा रहना चाहिए । आप क्या मानते हैं ऐसा सम्बन्ध लाभप्रद नहीं हो सकता या ऐसा सम्बन्ध बन नहीं सकता, कौन सा दिखता है ?

साधक ४ — व्यावहारिक रूप में यह सम्बन्ध बहुत ही न्यून बन पाता है ।

स्वामी जी — यह मान्यता तो आपकी निश्चित है या नहीं कि दैनिक जीवन में सतत सम्बन्ध रहना चाहिए ?

साधक ४ — रहना चाहिए ऐसी मान्यता सिद्धान्त रूप में है ।

स्वामी जी — शब्दप्रमाण से तो सिद्ध है ही, अब आप इसको अनुमान प्रमाण से समझ सकते हैं कि जीवात्मा की स्थिति क्या है ? वह एक पक्ष में तो ईश्वर से सम्बद्ध रहता है तथा सम्बद्ध रहता हुआ सारे कार्यों को करता रहता है । दूसरे पक्ष में लौकिक-पदार्थों या व्यक्तियों के साथ सम्बद्ध रहता है । उस समय ईश्वर से उसका सम्बन्ध कटा हुआ रहता है । ये दो स्थितियाँ हैं । जीवात्मा जब ईश्वर से सम्बद्ध रहता है तो उस समय ईश्वर का प्रभाव उस पर रहता है, ज्ञान मिलता है, आनन्द मिलता है, बहुत सा बल मिलता है । यदि वह ईश्वर से सम्बद्ध नहीं रहता है तो लौकिक स्तर पर अज्ञान, अधर्म, राग–द्वेष–क्लेश, बुरे विचार उसके साथ जुड़े रहते हैं । इन्हीं दोनों स्थितियों में यह रहता है, अब किस में रहना ठीक है ? इस ओर अणु अल्पज्ञ जीवात्मा प्रकृति से प्रभावित होता है, शरीरेन्द्रिय मन से प्रभावित होता है, मनुष्यों से, जीवों से प्रभावित होता है, पृथ्वी आदि से प्रभावित होता है। यह इनकी उपासना है । उस ओर ईश्वर से प्रभावित होता है तो इनमें से कौन सा पक्ष ठीक है? यह मानकर (आगे बढ़ता है ।) कभी व्यक्ति ऐसा मान लेता है कि हम उपासना में रहते हुए कैसे काम कर सकते हैं ? तो लौकिक वस्तुओं, शरीरों, धनसम्पत्ति की उपासना करते हुए सारे काम कैसे कर लेते हैं? यह भी विचारो ।

ईश्वर के सान्निध्य में क्या-क्या उपलब्धियाँ हैं ? कितने अज्ञानाधर्म दूर होते हैं ? लौकिक पदार्थों की उपासना में कितने अज्ञानाधर्म आते हैं; कितने राग-द्वेष, दुःख आते हैं; इसको भी देखो तो यह अनिवार्य दिखाई देने लगेगा, पुनः हम उस स्थिति का सम्पादन करेंगे । अब हम मन्त्र का प्रयोग करेंगे– प्रयोग ....।

अनुभूतियाँ

साधक २ – बीच में लगभग दो बार स्मृति-वृत्ति प्रारम्भ हुई परन्तु पूर्ण होने से पूर्व उसे रोक दिया और इस मन्त्र से उपासना में स्वस्वामिपरित्याग का प्रयास किया।

स्वामी जी – आपको कभी स्मृति-वृत्ति दिखाई देती है या उठा लेते हैं तब उठाकर रोकते हैं ? उस पदार्थ को प्रलय में पहुँचाते हैं या अधिकार पूर्वक वृत्ति को रोक देते हैं ?

साधक २ – प्रबल होने पर इच्छापूर्वक न रुकने पर प्रलय का प्रयोग करता हूँ।

स्वामी जी – दोनों में अन्तर समझना चाहिए । जैसे एक ऐसी अवस्था है जिसमें हमने यथा 'प्राणाय नमः' जप करते समय कोई स्मृति उठा ली। जब पदार्थ सामने आता है तो उससे सम्बद्ध क्या-क्या स्थिति बनाते हैं ? उस समय उस पदार्थ सहित अपने शरीर को भी प्रलय में पहुँचा देते हैं। किन्तु उस योग्यता के अभाव में स्मार्त-पदार्थ तथा स्वयं विद्यमान आत्मा स्मृति-वृत्ति को रोक देते हैं ।

साधक १ – उस समय सारा क्रम बिगड़ जाता है अतः प्रलयावस्था का प्रयोग नहीं कर सकते हैं । बहुत देर लगती है ।

स्वामी जी – इस विषय में सुनें । वह जो देर लगने वाली बात है उसमें कारण है । आपका ज्ञान-विज्ञान इतना ऊँचा या अभ्यस्त नहीं है । कभी सिद्धान्त न बन जाय कि इस समय प्रलयावस्था नहीं बनानी चाहिए। जिसका ऊँचा विज्ञान और अभ्यास है वह तत्काल बना लेगा । इसके लिए लम्बे विचार-विमर्श की कोई अपेक्षा नहीं पड़ती । आपको यदि अधिक समय लगता है तो इसे छोड़कर ज्ञानपूर्वक रोकने का प्रयत्न करो । जिसके लिए दृष्टिपातमात्र से प्रलयावस्था बनती है उसके लिए यह सरल है । अन्य पक्ष ये सब जड़-पदार्थ हैं मैं वृत्तियों को उठाता हूँ और नहीं उठाऊँगा; इसका

प्रयोग करते हैं। अन्य पक्ष सम्बन्ध से ईश्वर के प्रति हमारा प्रेम विशेष बनता है उसमें कारण रहता है ईश्वर की शक्ति, उपकार आदि बहुत अधिक मानना। जड़-चेतन द्वारा जो हमारा उपकार हो रहा है उसका कारण भी ईश्वर है। सर्वदाता, रचयिता मानकर चलता है तो श्रद्धातिशय से भी वृत्तियाँ रुकती है। कभी किन्हीं कारणों से स्थिति बिगड़ जाय तो अधिकारपूर्वक ईश्वर में मन को लगाता है। ईश्वर के प्रति प्रेम उभारता है।

शन्नो मित्रः शं वरुणः .... विष्णुरुरुक्रमः ॥

नमो ब्रह्मणे नमस्ते .... अवतु वक्तारम्॥

मन्त्र का आप पहले प्रयोग करें पुनः पीछे प्रयुक्त वाक्य का स्तुति-प्रार्थना- उपासना में प्रयोग करें। उस समय व्यक्ति बोलता है **नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो**, वायु ईश्वर का नाम है। **त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि** तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है और तुझ प्रत्यक्ष ब्रह्म को ही कहूँगा और जो वस्तुतत्त्व स्थिति है उसी को बताऊँगा। और सत्य ही कहूँगा। पुनः कहा गया – मेरी रक्षा करो आप। मुझ वक्ता की रक्षा करो। पुनः दोहराया – वक्ता की रक्षा करो। अन्त में तीनों दुःखों से मुझे छुड़ा दो। ऐसे आप प्रयोग करें।

प्रथम मन्त्र-प्रयोग स्वशैली से धीरे-धीरे और वृत्तियों पर ध्यान रखो, क्या असावधानी होती है, कौन सी वृत्ति उठाता हूँ और किस उपाय से रोक देना चाहिए? आरम्भ कीजिए –

● मानसिक स्थिति बनाये रखें। यह जीवन ईश्वर ने दिया है, उसी के लिए यह जीवन है और कोई प्रयोजन नहीं है। इस स्थिति में रहने का प्रयास करेंगे।

योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये ॥

साधक १ – वाज शब्द का एक अर्थ धन भी है यहाँ योगैश्वर्य अर्थ ले सकते हैं?

स्वामी जी – हमने विस्तार में नहीं जाना है, हमने तो पहले एक अर्थ लेकर चलना है। यों तो एक-एक मन्त्र के अनेक अर्थ होते हैं, प्रकरण-प्रकरण में बदलता जाएगा। उसमें कहीं विस्तार में न चले जाएँ। हमारा तो मुख्य केन्द्र बिन्दु है योग और योगाभ्यास में आने वाला युद्ध। क्या समझ में आया? अन्दर अविद्या से युद्ध करना है, काम-क्रोध, लोभ-मोह से युद्ध करना है। अन्याय हमारे अन्दर है। आपने छः प्रकार के कर्म देखे थे;

आत्मा को, अन्तःकरण को अधर्म से हटाकर धर्म में चलाओ यह युद्ध है। असत्य से हमारा युद्ध है । काम, क्रोध, लोभ, मोह से युद्ध है । वाज से लिया वह युद्ध ।

सखायः – बहुवचन में सम्बोधन है । सब मिलकर मित्र बनकर रहो। योगाभ्यास करते-करते ईश्वर की सहायता लो । आज्ञा का पालन = भक्ति करो सहायता मिल जाएगी । अन्दर से कामादि से युद्ध करना हो तो परमात्मा से सहायता लो । इन्द्रम् = उस परमात्मा को हम अपनी रक्षा के लिए आहूत करते हैं ।

तो ईश्वर को हम अन्दर सम्बोधित करते हुए प्रयोग का प्रयत्न करेंगे। हे ईश्वर बार-बार योगाभ्यास में, यम-नियमों के पालन में, जप में, मन- इन्द्रियों के जीतने में आपसे हम सहायता मांगते हैं, आपकी उपस्थिति चाहते हैं । अज्ञान, अधर्म, अन्यायादि विरोधी तत्त्वों के साथ हम युद्ध करेंगे, इनको समाप्त करेंगे, अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करेंगे, उसमें हम आपकी सहायता मांगते हैं । हम सभी मित्र होकर, मिलकर अपनी रक्षा के लिए यह सब करते हैं ।

तो आप मन में प्रयोग करके देखो ! वृत्तियों का कितना निरोध होता है? कितना कर पाते हैं । मौनाभ्यास .... ।

ईश्वर के प्रति रुचि होना एकाग्रता में साधन है । प्रेम केवल ईश्वर में ही रहे और कहीं न जाए । जिन पदार्थों की ओर व्यक्ति मन को भेजता है, जिसकी ओर जाता दिखता है वहाँ पर यह प्रयोग होता है कि देखो ! जहाँ भी जोड़ूँगा, कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो सदा मेरे साथ रहेगा । वियोग निश्चित है, संयोग नहीं रहेगा । वियोग निश्चित है और संयोग नहीं रहेगा तो ईश्वर की ओर से रुचि नहीं हटेगी, आकर्षण रहेगा ।

- वियोग देखो और मन को हटाओ ।
- ईश्वर की ओर से मन को हटाने वाला एक मन्तव्य है 'ये पदार्थ मेरे हैं'। जब आप मन को मेरे की ओर चलाओगे तो उस समय क्या करोगे? यह जो 'मैं-मेरा' मानकर पदार्थों का प्रयोग कर रहा हूँ ये मेरे नहीं हैं, सब ईश्वर के हैं । जब ईश्वर का मानेंगे और अपनापन हटाएँगे तो मन उस ओर नहीं जाएगा।

● ईश्वर के तुल्य न कोई पदार्थ था न होगा । वह सर्वोत्तम है । जब ईश्वर के गुणों का यह आभास होता है तब मन में ईश्वर के प्रति रुचि, प्रीति, आकर्षण होता है ।

● आप देखने का प्रयास करेंगे प्रकृति से २४ पदार्थ ईश्वर ने बनाए हैं अतः ईश्वर का मानकर, ईश्वर को समर्पित करना । आपके ये पदार्थ हैं इनमें मेरा कोई नहीं है । उनमें मूल प्रकृति को छोड़कर सारे नाशवान् भी हैं । ऐसा वह मानता है पुनः ईश्वर के साथ अपना संबंध जोड़ता है । उसको दिखता है एक आकाशवत् अवस्था आ गई उसमें संसार का प्रलय जैसा हो गया। ऐसा प्रतीत होगा।

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु ।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नःपशुभ्यः ॥ यजुर्वेद ३६/२२

ईश्वर अभय = भय-रहित है हम भी भय-रहित हो जावें तो ईश्वरप्राप्ति में सफलता मिलेगी, यदि आपमें-हममें कोई भय रहता है तो ईश्वर की गवेषणा व प्राप्ति नहीं हो पाएगी । जितने भी भय सृष्टि में हैं उन सबसे मुक्त होना पड़ेगा । यदि कोई भी भय आपको दिखता है तो समझ लेना यहाँ पर अविद्या विद्यमान है, और अविद्या के कारण हमने कुछ मान्यता बना रखी है, उससे यह भय लगता है । जीवात्मा में भय आता, प्रयोग होता, जीवात्मा भययुक्त होता है और ईश्वर है सदा अभय । कभी भी ईश्वर को डर नहीं लगा, आज भी नहीं लगता, आगे भी नहीं लगेगा किन्तु हम जब तक उस स्थिति में नहीं पहुँचते, ईश्वर साक्षात्कार करके वहाँ जम नहीं जाते, मुक्त नहीं हो जाते, तब तक हमारा जीवन भययुक्त रहेगा। कभी अधिक कभी कम ।

ईश्वर अभय है और हम ईश्वर से प्रार्थना करें कि हमको भी भय-रहित बना दो। पुनः देखेंगे कि यह भय क्यों लगता है ? तब कारण पता चलेगा। कहीं मैं और मेरे का, कहीं मृत्यु का, कहीं दुखों से भय । अनेक प्रकार से भय होता है । आत्मनिरीक्षण करते जाएँगे तो कारणों का पता चलता जाएगा पुनः उसे हटाते जाएँगे । एक वाक्य है – **वैराग्यमेवाभयम्**। कारणों को गिनाते गए **भोगे रोगभयमादि** । आगे कहा **वैराग्यमेवाभयम्** वैराग्य में ही अभय है।

वस्तुतः उस अवस्था में भय नहीं लगता है जब उसने भय का जो कारण था 'स्वयं को वस्तुओं का स्वामी मानना' उसके दिमाग में उसको छोड़ दिया।

आगे वह देखता है कि सृष्टि में जो कुछ होना था हो गया, होना है वह हो रहा है, शेष आगे पूरी सृष्टि समाप्त हो जाएगी । तो वह कहता है मैं तो उसी अवस्था को देखना चाहता हूँ, देखकर रहूँगा जहाँ यह प्रलय में बदल जाएगी । तो प्रलय में ले जाता है। इस विषय में ज्ञात है कि इस सृष्टि का रचयिता ईश्वर है । जितने पदार्थ सृष्टि में हैं उनका स्वामी ईश्वर है, मैं या अन्य कोई नहीं । इस सृष्टि में जो सुख और सुख के साधन हैं वे क्षणिक हैं, चार प्रकार के दुःख से मिश्रित हैं । अब क्या करूँ ? अब ईश्वर के साथ जुड़ना चाहिए । ईश्वर को प्राप्त करूँ । तब कहता है **वैराग्यमेवाभयम्**। वह निर्भयता की स्वाभाविक स्थिति होती है । तब किसी कार्यादि से जंगल में जाना-रहना हो, तो उसको डर नहीं लगता है । अब सम्बोधन करें अभयः। पुनः प्रार्थना । धुन प्रयोग..... ।

रुकें ।

आप आत्मा को स्वयं को, मन को ईश्वर के समर्पित करो और यह कहो— हे ईश्वर! सृष्टि के समस्त पदार्थ आपके हैं । मैं इनको अपना मान लेता हूँ और उससे मुझे भय लगता है । मुझे वैसी बुद्धि दें जिससे इन सबको आपका मानूँ और निज का मानना छोड़ दूँ । आप प्रार्थना करते-करते ऐसा कर पाए? इसका अनुभव करें । पुनः प्रयोग.........।

स्वयं एकदेशी, अणु आत्मा, सब से अलग, अकेला, न पहले कुछ अपना था, न आज, न आगे होगा । अब प्रयोग करके देखो —

आँख खुली रहे, बाहर न देखकर मन ही मन जप करें । हे ईश्वर आप सर्वरक्षक हैं । इस प्रकार अपना सम्बन्ध ईश्वर से जोड़ने का प्रयत्न करें —

अनुभूतियाँ

साधक१ — इस प्रकार से करने पर बाह्य-वृत्तियाँ कम अनुभव में आईं। अन्दर जो ईश्वरानुभूति की स्थिति बनाई तो यह प्रमाण-वृत्ति सामने आई यथा प्रकाशमय दिखना । संबोधन थोड़ा कच्चा हुआ, पुनः इनको गौण करके संबोधन में आमने-सामने की स्थिति बनाई । शब्दार्थादि करता रहा ।

स्वामी जी — बिना पलक झपकाए आप अपनी आँखों को कितनी देर तक खुला रख सकते हैं ?

साधक१ — तीन बार पलक को झपकाया होगा ।

स्वामी जी — इनको हम अपने मानसिक बल से रोके तो ? (झपकी रुकी रहेगी ?)

मान लो जब आप रेलगाड़ी में बैठे हों और आपकी सन्ध्या का समय हो गया, तब क्या करोगे ? पीछे आपके, मित्रों के झोले-वोले दाएँ-बाएँ रखे हों इधर आप अपनी आँखें बन्द करके सन्ध्या करने लगे तो लोग ऐसे में सारा सामान उठा ले जाएँगे, पता नहीं रहेगा। उस समय तो आँख खोलकर सन्ध्या करनी पड़ेगी।

अभ्यास करते-करते आँखों का जो बाहर के प्रति आकर्षण बल है वह धीरे-धीरे मन्द पड़ता जाता है। पुनः ऐसा हो जाता है कि आँख खुली रहती है पर बाहर हम देख नहीं रहे होते हैं। एक बात तो है इस दृष्टि से तो वह बड़ा सावधान रहता है कि कोई वृत्ति न आ जाए।

साधक१ — इसमें प्रत्यक्ष-प्रमाण-वृत्ति की बाधा तो बनी रहेगी ?

स्वामी जी — तब उसको आँख का विषय नहीं बनाते हैं। इसको तो यहाँ से रोक दिया और ऐसा करेंगे कि कोई अन्य स्मृति आदि भी न उठ सके। निद्रा तो कठोर शरीर करने से ही चली जाती है।



निरीक्षण-खण्ड

सम्माननीय विद्वद्गण, धर्मप्रेमी सज्जनों, माताओं और ब्रह्मचारिगण !

अब हम गायत्री मन्त्र और विश्वानि देव....... मन्त्र से ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करेंगे ।

ओं भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात्।

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

ध्यान दें –

प्रश्न – भोजन में आपका नियन्त्रण रहता है या नहीं ? वैसे तो व्यक्ति भूख समाप्त हो जाने पर ही रुकता है, या फिर अधिक खाने से पेट-दर्द आदि हानि के भय से रुकता है । कभी-कभी भूख न होने पर भी स्वाद के कारण खा लेता है ।

शरीर को स्वस्थ रखने के लिए यथाशक्ति प्रयास करते रहना चाहिए। एतदर्थ अपेक्षित साधन भोजन, व्यायाम, ब्रह्मचर्य पालन, जागरण, शयन आदि का विशेष ध्यान रखना चाहिए । व्यायाम को छोड़ आलस्य-प्रमाद, अभक्ष्य का ग्रहण आदि नहीं करना चाहिए । बिना भूख के नहीं खाना, स्वाद के वशीभूत होकर खाने के स्थान में विद्या, बल, बुद्धि, स्वास्थ्य आदि के निमित्त से भोजन ग्रहण करना । इसी प्रकार शरीर से पुरुषार्थ करते रहना चाहिए, केवल पड़े नहीं रहें।

भोजनादि में इन्द्रियसुख का अभिलाषी व्यक्ति विवेक—वैराग्य को प्राप्त नहीं कर सकता है । साधारण रूप में या आंशिक रूप में विवेक—वैराग्य हो जाए, उसका निषेध नहीं है । आपको स्मरण होगा कि योगदर्शनकार ने विरोधी कारणों के प्रसंग में 'अविरति' का विक्षेप नाम से वर्णन किया है। अविरति अर्थात् इन्द्रियों के विषयों में राग होना योग का विक्षेप = बाधक= विरोधी है ।

प्रश्न – ऐसे ही आपको सम्मान की इच्छा होती है या नहीं ?

साधक – है । शनैः शनैः न्यून हो रही है ।

स्वामी जी : इन सब दोषों को थोड़े प्रयत्न से दूर नहीं किया जा सकता है । आत्मनिरीक्षण के बिना दोषों को पकड़ने में कुशलता प्राप्त नहीं होती है ।

आत्मनिरीक्षणः परिभाषा एवं स्वरूप

व्यक्ति अपने सम्बन्ध में अर्थात् आत्मा के सम्बन्ध में जो कुछ करता, देखता, सुनता और मानता है, उसे जानने को **'आत्मनिरीक्षण'** कहते हैं। इसके दो विभाग हैं। प्रथम – जिसमें अपने और दूसरों की उन्नति के कारण होते हैं। दूसरा– जिसमें अपने और दूसरों की अवनति के कारण होते हैं। अर्थात् जिस ज्ञान से, जिस कर्म से, जिस उपासना से अपनी और अन्यों की उन्नति होती है, वह प्रथम भाग है। जिस ज्ञान से, जिस कर्म से, जिस उपासना से अपनी और अन्यों की अवनति होती है; वह आत्मनिरीक्षण का दूसरा भाग है।

आवृत्ति करके देखिए क्या समझ में आया ?

साधक – जिस ज्ञान से, अपना और अन्यों का जीवन बिगड़ता है और सुधरता है। जिस कर्म से अपना और अन्यों का जीवन गिरता/ उठता है, अशुद्ध होता है और शुद्ध होता है। जिस उपासना से अपना और अन्यों का जीवन निम्न होता है और उत्कृष्ट होता है।

स्वामी जी – आत्मनिरीक्षण से इन्हीं को जानने का प्रयत्न किया जाता है। उदाहरण– ज्ञान के तीन क्षेत्र हैं – ईश्वर, जीव और प्रकृति। तो हमने व्यक्तिगत रूप से इन्हें जानने का प्रयत्न किया। ईश्वर, जीव और प्रकृति के ठीक–ठीक स्वरूप को बताने वाली विद्या पढ़ी। इससे हमारा जीवन उन्नत हुआ। फिर हमने दूसरों को भी यही पढ़ाया तो इससे उसका जीवन उन्नत हुआ।

इसी प्रकार जो कार्य ईश्वर के आदेश के अनुकूल थे, ऋषियों के आदेशानुसार थे; उनको किया। जिस विधि से योगाभ्यास करना चाहिए, उसी विधि से योगाभ्यास किया। ऐसा ही अन्यों से कराया। यह अपने और दूसरों के जीवन के उत्थान का कारण हुआ।

विपरीत पक्ष – हमने ईश्वर के विषय में, आत्मा के विषय में, प्रकृति के विषय में विपरीत ज्ञान कर लिया और दूसरों को भी वैसा ही बताया, जैसे कि ईश्वर नहीं है। यह संसार स्वयं बनता और स्वयं विनष्ट हो जाता है। इसको बनाने वाली ईश्वर नाम की वस्तु मानने की कोई अपेक्षा नहीं है। यह ईश्वर को न माननेवालों के पक्ष में मिथ्याज्ञान है।

ईश्वर को माननेवाले के पक्ष में मिथ्याज्ञान – जैसे, ईश्वर एक स्थान में रहता है। समय-समय पर अवतार लेता है। इस प्रकार जानना और अन्यों को जनाना पतन का कारण हुआ।

कर्म के क्षेत्र में – जो ईश्वर का आदेश, ऋषियों का संविधान था, उसके अनुकूल कर्म न करके उसके विपरीत कर्म किया और कराया।

इसी प्रकार उपासना के विषय में वेदों के प्रतिकूल, अनृषिकृत अनीश्वर की उपासना सीखी, की और कराई। ये सब अपने और अन्यों की अवनति के कारण हुए।

इसी प्रकार अपनी उन्नति के लिए जितनी ज्ञान–कर्म–उपासना करनी आवश्यक थी उतनी की, वैसी की और कराई। अथवा न्यून की–कराई, आंशिक की-कराई तो वैसे ही उतने ही लाभ प्राप्त हुए। नितान्त न किया, न कराया तो लाभमात्र से वञ्चित रहे।

विषय – आत्मनिरीक्षण के द्वारा यह देखना चाहिए कि अपने और अन्यों के लिए जो शुद्ध ज्ञान–कर्म–उपासना के विषय में पढ़ा–सुना, उसकी आवृत्ति की या नहीं। पूर्व पढ़ा हुआ, सुना हुआ, निदिध्यासन किया हुआ आवृत्ति कर लेने पर ठीक हो जाता है। बिना आवृत्ति के उपस्थित नहीं रहता।

कर्तव्याकर्तव्य अर्थात् ज्ञान के विषय में, कर्म के विषय में, उपासना के विषय में, अपने लिए, अन्यों के लिए, कृत–अवशिष्ट, न्यून–अधिक आदि (के रूप में देखना)। इस प्रकार इसके सूक्ष्म–स्थूल अनेक क्षेत्र बन जाते हैं। इनमें भी जो यथा सुना, पढ़ा उसकी आवृत्ति। इसके पश्चात् जो कुछ सही विपरीत का निर्णय। एतदर्थ संशय, शंका–समाधान, तर्क–प्रमाण को उपस्थित करना। बचे हुए संशय को स्थगित रखकर पुनः गुरु/ अध्यापक आदि से संशयनिवृत्त कराना। निर्णीत विषय में भी अन्य विद्वानों से सम्मति माँगना।

ऐसा देखा जाता है कि पढ़े हुए पाठ को जीवन में धारण करना चाहते हैं, आचरण या व्यवहार में लाना चाहते हैं; परन्तु उसके विरोधी संस्कार जो पूर्वतः सञ्चित हैं; इसको उखाड़ फेकते हैं (व्यवहार में आने नहीं देते)। लगने लगता है क्या होती है समाधि? ऐसा कोई मनुष्य हुआ है, जिसने ईश्वर का प्रत्यक्ष किया हो, आनन्द प्राप्त किया हो और अन्यों को कराया हो?

पूर्व के संस्कार अत्यन्त प्रबल होते हैं। उनका आक्रमण बहुत दूर तक होता है। ये संस्कार २०–२०, ४०–४० वर्षों तक पढ़ी–पढ़ाई बातों को उखाड़ फेकते हैं। इसलिए तो कोई संन्यासी होकर भी पुनः गृहस्थ में चला जाता है।

विद्या के विरोधी संस्कार कैसे विद्या को छिन्न–भिन्न कर देते हैं ? ईश्वर, समाधि आदि विषयों की व्यक्ति कैसे निन्दा करने लगता है ? बताने भी नहीं देता है। ऐसी स्थिति में वहाँ क्या करना चाहिए; यह आत्मनिरीक्षण से देखना चाहिए।

अविद्या-जनित संस्कारों को देखें। अविद्या से उत्पन्न संस्कार कैसे विद्याजनित संस्कारों को दबाते हैं ? ५० वर्षों तक अनुष्ठित समाधि, मोक्ष आदि विषयों को दबा देते हैं।

संस्कारों के उत्थान के विषय में दो विचार-धाराएँ चलती हैं – एक तो संस्कार स्वयं उद्बुद्ध होते हैं। दूसरा – इन संस्कारों को जीवात्मा स्वयं उद्बुद्ध करता है। इस विषय में अपनी मान्यता को आत्मनिरीक्षण से देखना चाहिए। प्रथम सिद्धान्त में तो बहुत परिश्रम से, लम्बे काल के पश्चात् भी इन संस्कारों को दबाना, क्षीण करना, तनु करना आदि बहुत कठिन है। दूसरे पक्ष में चेतन जीवात्मा स्वयं इन संस्कारों को उभारने तथा न उभारने, रोकने, दबाने, चोट मारने, नष्ट करने में समर्थ है, स्वतन्त्र है; इस दूसरी मान्यता को ग्रहण करने पर संस्कारों से लड़ने में, मनोनियन्त्रण में सरलता हो जाती है।

मन में संकल्प–विकल्प की क्रिया चलती रहती है। व्यक्ति थोड़ा भी असावधान हुआ कि विरोधी संस्कारों को उठा लेता है। अज्ञान उत्पन्न कर लेता है। अच्छे को बुरा और बुरे को अच्छा मानने लगता है।

यद्यपि यहाँ दो बार आत्मनिरीक्षण का नियम है, करते हैं; किन्तु आत्मनिरीक्षण तो दिनभर सतत चलना चाहिए। यह जो संस्कारों की बात चल रही है, तभी समझ में आएगी।

सतत आत्मनिरीक्षण कैसे चलता है ? उसमें क्या करते हैं ? जैसे ही सत्य, अहिंसादि, यम-नियमादि के विरुद्ध विचार उठाते हैं, तत्काल ही रोक देते हैं। इसके विपरीत पुनः सत्यादि के अनुकूल बुद्धि बना लेते हैं। जब तक इतनी सूक्ष्मता से परीक्षण नहीं किया जाय, असावधानी बनी रही तो

स्थिति बिगड़ने में कोई देर नहीं लगेगी। जैसे कि २० वर्ष पूर्व देखे हुए किसी सुन्दर रूप की स्मृति उठा ली। अब यदि उसको ठीक मान लिया और तत्काल रोक नहीं लगाई तो दुष्ट संस्कार उसे अपने जैसा बना डालेगा।

यद्यपि वर्षों तक प्रयत्न करता है, किया हुआ होता है, पुनरपि जैसे ही उभार दिखाई दिया और तत्काल रोक नहीं लगाई तो दुष्ट संस्कार उसे अपने जैसा बना डालेगा। पागल बना डालेगा। ऐसा सोचकर तत्काल सांसारिक संस्कारों को रोक देना चाहिए।

'मैं ही संस्कारों को उठाता हूँ और कोई नहीं', केवल इतने ज्ञान मात्र से, बिना प्रबल संघर्ष, प्रयत्न और अभ्यास के व्यक्ति शीघ्र सफल नहीं हो सकता। मान लिया कि कोई आलम्बन को देख रहा हो, आकर्षित हो रहा हो तो यह जानता हुआ भी कि मैं ही मन को प्रेरित कर रहा हूँ, स्वयं ही आकर्षित हो रहा हूँ; तो अब आकर्षित नहीं होऊँगा, बिना आकर्षित हुए रूप को देखूँगा; तो इस प्रकार उसका दिवाला निकल जाएगा। उसे तो तत्काल आलम्बन से विमुख होना चाहिए।

यहाँ शंका होती है कि द्रष्टा का ज्ञान तो शुद्ध है, पुनरपि असफल कैसे हो रहा है? तो उत्तर है कि वस्तुतः वह उसका ऊपर–ऊपर का ही शुद्ध-ज्ञान है। अन्दर तो अशुद्ध-ज्ञान से ही, विपरीत संस्कारों से ही दबा हुआ है, अन्यथा आकर्षण नहीं होना चाहिए। दूसरा कारण है आज तक उलटा ही करता आया तथा केवल शब्दप्रमाण से जानकर उतने को ही पर्याप्त मान रहा है। अथवा शब्दप्रमाण से तो अनुचित जान रहा है, परन्तु अन्दर से सुन्दर रूप आलम्बन को अच्छा ही मान रहा है। अनुभूति तो सुख की ही कर रहा है।

अन्य दृष्टान्त लीजिए, जैसे कि व्यक्ति जानता है कि अधिक नहीं खाना चाहिए। रात्रि में तो बिल्कुल नहीं। पेट में दर्द होगा, ब्रह्मचर्य की हानि होगी आदि सब जानता है; परन्तु पाकशाला में जाता है, भोजन में बैठता है और स्वादिष्ट भोजन सामने आते ही अब उसकी एक भी नहीं चलती। अन्दर मन में स्वादिष्ट भोजन के जो संस्कार हैं, इसके ऊपरी ज्ञान को उखाड़ फेंकते हैं और वह वही भूल कर बैठता है।

कोई बहुत बड़ा विद्वान् है। वह जानता है, पढ़ा है, पढ़ाया है, सुना है, सुनाया है कि सम्मान को विष के तुल्य और अपमान को अमृत के तुल्य समझना चाहिए, परन्तु जब अवसर आता है; जैसे कोई अन्ताराष्ट्रिय बहुत

बड़ा सम्मेलन हो रहा हो और वहाँ उसकी प्रशंसा हो रही हो तो व्यक्ति को अच्छा न लगे, स्वीकार न करे बहुत कठिन है ।

एक विषय समझ में आने पर दूसरा भी आता है । एक नहीं आया तो उस स्तर का दूसरा भी विषय समझ में नहीं आएगा । तो जो स्थिति सम्मान के क्षेत्र में है वहीं स्थिति एषणा के विषय में भी समझनी चाहिए। जिसकी लोकैषणा रहती है उसकी वित्तैषणा (धन, भोग की एषणा) और पुत्रैषणा भी रहती है । इस विषय में महर्षि दयानन्द का प्रमाण भी देख लेना चाहिए। न्यून परीक्षा होने पर व्यक्ति को तीनों नहीं दिखाई देती हैं ।

आत्मनिरीक्षण के प्रसङ्ग में यह जानना चाहिए कि –

१. जो कर्त्तव्य था वह किया या नहीं ?
२. जो नहीं करना था उसे कर तो नहीं दिया ?
३. जो ज्ञान करना था उसको जाना या नहीं ?
४. जो नहीं जानना चाहिए था उसको तो नहीं जान लिया ?
५. जो उपासना करनी थी वह की या नहीं ?
६. जो उपासना नहीं करनी थी उसे किया तो नहीं ?

चित्त-प्रेक्षण

चलते समय मन पर नियन्त्रण रहता है या नहीं ?

मन में कोई भी बात बलात् प्रवेश नहीं करनी चाहिए । मन नियन्त्रित है, वृत्तियाँ निरुद्ध हैं, ऐसा स्वयं को लग रहा है पुनरपि सत्य है या नहीं, इसका निर्णय शब्दप्रमाण से करना चाहिए । व्यक्ति के व्यवहार से भी इसका अनुमान होता है । उतनी योग्यता है या नहीं, क्रियाकलाप योगी के समान करता है या नहीं, परीक्षापूर्वक चलता है या नहीं ?

मन की दो धारा कही हैं, नियन्त्रित और अनियन्त्रित । नियंत्रित स्थिति में अभीष्ट-विषय से भिन्न किसी बाह्य-विषय को नहीं पकड़ता है । चाहे कोई भी विषय नहीं उठा लेता । जो भी विषय मन में प्रवेश कराता है उसका ध्यान रखता है । यह ऊँची स्थिति है । इससे निम्न स्थिति होती है जिसमें जब कोई विषय बलात् प्रविष्ट होता है तो उसे तत्काल रोक देता है । घुसने नहीं देता है ।

अनियन्त्रित स्थिति में विचार प्रविष्ट हो जाते हैं, पर उसे पता भी नहीं चलता। अथवा सूक्ष्मरूप से अनिष्ट बाह्य विषय पकड़े रहता है, पर मानता है कि कोई अनिष्ट विषय नहीं चल रहा है ।

मनोनियन्त्रण का अभ्यास हो जाने पर, क्लान्ति हो जाने पर आत्मा यदि चाहता है कि अब विचार नहीं करना है तो आगे विचार नहीं करता, मन को वहीं रोक देता है । किन्तु अनियन्त्रित स्थिति में रोकने पर रुक नहीं पाता। विश्राम करना चाहता है, पर करने नहीं देता । अधिकार हो तो कह देता है, अब थक गया और नहीं विचारूँगा । मनोनियन्त्रण का अभ्यास हो जाने पर दिन भर मन को वश में रखने पर भी कोई तनाव नहीं होता । नये अभ्यासी को बल लगता है, वह तनावयुक्त होता है ।

मन को नितान्त रोकने के अभ्यास काल में तनाव की स्थिति आने पर पुनः एक विषय में लगा देना चाहिए, जैसे; सच्चिदानन्दः, ओं सच्चिदानन्दः आदि। क्लान्ति रोकने की दृष्टि से मन को नियन्त्रित रखने के लिए यह प्रयोग है – ओम् का जप । इसमें विशेष बल नहीं लगता ।

अधिक अभ्यास हो जाने पर कोई भी कार्य स्वाभाविक सा हो जाता है। जैसे कि प्रलयावस्था बनाने में प्रारम्भ में एड़ी से चोटी तक बल लगाना पड़ता है। आत्मा, प्रकृति, सृष्टि की व्याख्या, व्याप्यव्यापकभाव, ईश्वर-प्रणिधान आदि सब कुछ करना पड़ता है। पर्याप्त अभ्यास हो जाने पर कुछ भी कठिनाई नहीं होती। जैसे १००० दण्ड-बैठक लगाने पर भी कठिन नहीं लगता, परन्तु आरम्भ में १० दण्ड-बैठक में भी शरीर टूटता है। ऐसे ही अध्ययन में होता है । अष्टाध्यायी मूल रटने में कितना परिश्रम करना पड़ता है, पश्चात् कहीं से भी सूत्र उठा लेता है और बोलने लगता है ।

कभी मन में क्रोध आता है ?

साधक १ – बुरा देखकर क्षोभ उत्पन्न होता है ।

साधक २ – द्वेष की तरंगें हैं, पुनः सोचते हैं यह मूर्खता है ।

स्वामी जी – मन में वितर्क उठने पर कैसे युद्ध करते हैं ?

साधक १ – वितर्क हैं, ऐसा मानकर छोड़ देते हैं, कभी कुछ चलाकर छोड़ देते हैं ।

साधक २ – दोष का कुप्रभाव जानकर छोड़ देते हैं ।

स्वामी जी – ये जो काम, क्रोध, मोह, अहंकार की वासनाएँ आती हैं ये किसके गुण हैं? मूर्छित, उन्मत्त, उच्चकोटि के योगियों में ये नहीं

उत्पन्न होते किन्तु अन्यों में होते हैं । इस स्थिति में पूछा जाता है किसके गुण हैं ये ?

साधक — प्राकृतिक हैं ।

स्वामी जी — क्रोध करते समय किसके प्रतीत होते हैं ?

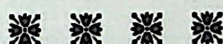
साधक — अपने ही दिखते हैं ।

स्वामी जी — यदि प्रकृति के मानें, पक्ष में अपने मानें तो नैमित्तिक को उखाड़ना सरल, अपना मानने पर कठिन होता है । मेरे नहीं किसी अन्य के ये क्रोधादि गुण हैं; इस प्रकार उन्हीं गुणों या उनके आधार को देखना आरम्भ करे । क्रोध उठने से पूर्व दूसरे का माने तो अच्छा है । जैसे; विचार कहाँ से आते हैं इसके प्रयोग में भिन्न-भिन्न उत्तर आते हैं — किसी का मन से, किसी का इन्द्रिय से, कोई कहता है देखने लगे तो उठा ही नहीं, इसलिए आत्मा का है।

ईश्वर के विषय में लगता है, कोई वस्तु है ?

साधक — शब्दानुमान से ज्ञात होता है, लगता है अपनी तरफ से नहीं लगता है।

स्वामी जी — ईश्वर के विषय में बड़ी विचित्र स्थिति होती है अनेक गुणों से युक्त होने से । शनैः शनैः संशय हटने पर स्थिति बन जाती है। जैसे, अनन्त के विषय में, अनादि के विषय में आदि ।



विवेक-वैराग्य-प्रेक्षण

आपको दैनिक जीवन में अपर-वैराग्य की अनुभूति जैसी कि पढ़ी है वैसी कभी दिखाई देती है ? विवेक—वैराग्य का स्तर सदैव बनाये रखना चाहिए । अज्ञान, न सुनना—सुनाना, पढ़—सुनकर भी प्रयोग नहीं करना आदि की कठिनाई इसके कारण हैं। एक है लौकिक-जीवन जिसमें सुख और सुख-साधनों से जुड़ा रहता है, जिसमें सुख व सुखसाधनों को सुखप्रद मानता है। दूसरा है वैराग्यमय जीवन जिसमें सुख व सुख-साधनों को सुखप्रद मानता हुआ भी दुःखयुक्त मानता है तथा सब कुछ ईश्वरप्रदत्त मानता है । विवेकी व्यक्ति जीवन को चुटकी के समान मानता है। लौकिक इसे सर्वस्व मानता है । लौकिक प्रभाव से युक्त रहते हुए इनका विरोधकर वैराग्य का निर्माण

करने में संघर्ष होता है जो अशान्ति का कारण बनता है। लौकिक व्यक्ति सर्वत्र घूमता रहता है, उसको एकाग्रता सम्पादन करना कठिन लगता है। किन्तु जिसका अभ्यास हो गया उसके लिए सरलता ही रहती है। एकाग्रता होने पर जब सुख की अनुभूति होती है, इसके अभाव में दुःख की अनुभूति होती है तो पूर्व को नहीं छोड़ना चाहता है। जैसे अधिक शीत होने पर रजाई रखता ही है, उष्णता होने पर फेंक देता है। इस प्रकर विवेक–वैराग्य का स्तर धीरे-धीरे बढ़ने लगता है।

साधक– रागद्वेषादि रहित लौकिक स्थिति होने पर भी सन्तुष्टि होती है, तब भी ईश्वर की ओर बढ़ने में रुचि नहीं होती ?

स्वामी जी –शान्ति की अनुभूति अच्छी लगती है, विचारता है यह बड़ी उपलब्धि है, जाने पुनः मिलेगी या नहीं ? अतः जब इसमें भी दोष देखेगा तब इसको छोड़ सकेगा। यह सत्त्वप्रधान स्थिति मात्र है। इसको पार करने के पश्चात् आगे समाधि में जो क्लेशरहित स्थिति प्राप्त होती है वह इसमें नहीं होती। उच्च सम्प्रज्ञात में उससे भी अधिक सुख होता है, इसमें भी दोष देखने पर परवैराग्य को पकड़ता है। परवैराग्य से असम्प्रज्ञात-समाधि प्राप्त होती है, उसके पश्चात् ईश्वर का सुख प्राप्त होता है। ईश्वर सुख के समक्ष पूर्वोक्त सुख कुछ भी नहीं है। ईश्वर के सान्निध्य में सात्त्विक सुख का प्रभाव नहीं होता परन्तु लोक में सात्त्विक सुख उत्कृष्ट उपलब्धि है।

प्रश्न – वितर्कों का निवारण कैसे करते हैं, जैसे किसी ने द्वेष से आपके ऊपर चोरी का आरोप लगा दिया और आपने चोरी की नहीं है, पुनः कैसे समाधान करेंगे, उसकी पिटाई का विचार करेंगे या नहीं ?

साधक– इन विषयों पर अधिक ध्यान देने से मनःस्थिति भंग होती है।

स्वामी जी – आप में से कोई दयालु है या नहीं ? अपर-वैराग्य आने पर बहुत दयालुता, कोमलता आएगी। दयालुता आई और समाधि लगी।

जब लौकिक स्थिति में स्वार्थप्रधान व्यक्ति सब कुछ को अनित्य देखकर उसका परित्याग कर देता है तब उसकी जो रागद्वेषरहित अवस्था उत्पन्न होती है वह अन्य लौकिक सम्बन्धों में कहीं नहीं मिलती। इसी स्थिति को बनाये रखने पर पुनः राग–द्वेष की स्थिति नहीं आती। मैं और मेरे का दुःख नहीं आता। यदि थोड़ा भी राग-द्वेष उठाया तो यह स्थिति चली जाती है। **सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यं** में जो स्थिति कही है वह यही रागद्वेषहीनता में उपलब्ध होती है। वह सोचता है वह भी जाने वाला है, मैं भी जाने वाला हूँ, अपमान

का स्थान कहाँ है ? जिसमें राग हो और उसने अपमान कर दिया हो तो पुनः उसमें राग नहीं होगा ।

प्रश्न – आप के मन में कभी होता है; व्यर्थ में नैष्ठिक बन गया, वैसा ही संसारी रहता तो अच्छा था ।

साधक – कभी नहीं, स्वप्न में भी नहीं ।

स्वामी जी – कभी पढ़ाने लायक दर्शन पढ़ा ?

साधक – न्यायदर्शन ब्रह्ममुनि मुख से, सत्यप्रिय शास्त्री से ब्राह्म विद्यालय में ।

स्वामी जी – वाक्य स्पष्ट होना चाहिए, अक्षर, शब्द सब पृथक्-पृथक् सुनाई दे ।

– कभी प्रकोष्ठ में चर्चा करते हैं ?

साधक – नहीं । कभी बाहर आकर वार्तालाप कर लेते हैं ।

स्वामी जी –किसी साधन की न्यूनता दिखाई देती है ?

साधक – कभी होती है तो आचार्य जी से बता देता हूँ ।

स्वामी जी – बादाम आदि कभी कम पड़ जाए तो कैसा अनुभव करते हैं ? जब मिल जाएगा ठीक है या पूछेंगे, तब माँग लेंगे ? यों तो कहेगा अच्छा हुआ, पर जाते समय दुःखी होगा । पूछा गया – कभी भोजन में कहीं न्यूनता दिखाई देती है ? तब ऊपर-ऊपर तो कहता है नहीं । पर, मन में रखे रहता है । यहाँ से जाकर पुनः कहेगा यह कमी थी, वह कमी थी। इसलिए वहाँ बताना चाहिए मेरे पास समाप्त हो गया है, यदि हो तो ठीक है ।

कभी अनुभव करते हैं सन्तुलित खाता हूँ ।

साधक – नहीं ! न्यूनाधिक होता रहता है ।

स्वामी जी – कभी लगता है उसको तो अधिक सुविधा दी जा रही है, किसी से अधिक प्रेम किसी से न्यून प्रेम रखा जाता है, इस प्रकार?

साधक – कभी व्यवहार से दृष्टि भेद दिखाई देता है, कभी किसी की अधिक ताडना (डांट फटकार), किसी की न्यून होती है; ऐसा लगता है।

स्वामी जी – वहाँ योग्यता, अवसर, दोष आदि की स्थिति देखी जाती है । स्तर ही कारण होता है, राग-द्वेष नहीं । ऐसे ही फल बाँटने में कोई आपत्ति करते हैं अच्छे-अच्छे रखे रहते हैं सड़-गल, सूख जाने पर बाँटते हैं– वहाँ जैसे मैं खाता हूँ वैसा ही अन्यों को देता हूँ । यदि न दें सारा

गल जाए तो ? और खराब होगा। अतः वहाँ परीक्षण करना चाहिए। सेवादि में लोक में मोह से पक्षपात होता है, यहाँ तो ताड़ना ही अधिक होती है। समाज की हानि को देखते हुए कहना पड़ता है, व्यक्तिगत रूप से अपने या उसके लिए न भी हो। यदि बहुत कहने पर भी नहीं मानता, दण्ड देने पर दुष्ट मानकर भाग जाता है अथवा अपना काम स्वयं ही करना पड़ता है, उस स्थिति में उपेक्षा की जाती है। यों तो सुधारभावना रखते हैं पर कोई कहने से सुधार कर लेता है, कोई सुनता ही नहीं है। मेरे पास तो अनेक प्रकार के लोग आए, छली-कपटी आदि सभी। अब कारण बताया जाता है मेरे पास रहनेवाले क्या-क्या त्रुटि करते हैं। जैसे;

- भूल जाते हैं।
- मेरे बताये हुए कार्यों को गौण मानते हैं।
- त्रुटि को स्वीकार नहीं करते, त्रुटि को त्रुटि ही नहीं मानते हैं।
- अपनी बुद्धि को बताने वाले से बड़ी मानते हैं। जब कि मैं कहता हूँ बताने वाले को बड़े मानकर सुनो।
- बताने वाले की बात यदि समझ में न आए तो स्पष्टीकरण कराना चाहिए कि समझ में नहीं आया, अनुचित मानकर चुप न रहे। परन्तु ऐसा नहीं करते हैं।

दोष बताने पर सर्वथा प्रेम से सुनना चाहिए, पुनः समझना चाहिए। इतना धैर्य नहीं रखते हैं।

कार्य पूरा होने पर भी प्रशंसा की आशा को छोड़कर नहीं रहते हैं।

यद्यपि जितना मानते है, उतना उत्साह बढ़ाता हूँ। यदि सब बताने पर भी नहीं सुनते, उल्टे दुःखी हो जाते हैं तब पुनः छोड़ देता हूँ।

बताने वाले पर मन में दुर्विचार आते हैं, तो कोई बात नहीं, सब की यही स्थिति होती है; जन्म-जन्मान्तर के संस्कार होते हैं, प्रयास में लगे रहें। हमने तो आरम्भ से ही संस्थाओं में रहकर सुधारने का प्रयास किया। सोचने की शैली दी। यहाँ विद्यालय में भी यही किया।



संशय-भ्रान्ति-निवारण

समय-समय पर व्यक्ति की स्थिति पर्याप्त परिवर्तित होती रहती है। योगाभ्यासी के स्तर का उत्थान-पतन प्रायः होता रहता है। प्रयोग करते-करते कभी अच्छी शान्तिप्रद अवस्था शान्त वातावरण में पहुँच गया परन्तु दूसरी बार उसी स्थिति को लाना चाहा तो आती ही नहीं है। जो परिपक्व हो जाता है उसकी बात भिन्न है। उच्चस्तरीय हो जाने पर कभी कोई रोगादि न हो तो सामान्य रूप से जैसा सुख अनुभव करता है पुनः उसके सम्पादन में समर्थ होता है। किन्तु अपरिपक्व स्थिति में व्यक्ति जब तक अबाधित रहता है तब तक प्रतिदिन अच्छी स्थिति में रहता है, सन्ध्या, जप, ध्यानादि की अच्छी स्थिति रहती है किन्तु बाधित होते ही इस स्थिति में परिवर्तन हो जाता है। तब सन्ध्या, जप, ध्यानादि की अच्छी स्थिति नहीं रहती है, भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है, विपरीत विचार आरम्भ हो जाते हैं। पुनः आश्चर्य करता है, ऐसा क्यों हुआ ? ऐसी स्थिति में कभी कोई उस मार्ग को ही छोड़ देता है। कोई मार्ग को तो नहीं छोड़ता परन्तु उसका विश्वास न्यून हो जाता है। पर जो कोई कहता है संशय की स्थिति क्यों आई, इसको उखाड़कर फेकूँगा तो उसकी प्रगति होती है।

इस प्रकार जो नीचे से ऊपर तक की अवस्थाओं को जानता है, वह स्थिति को जोड़ सकता है। जोड़ना साधारण कार्य नहीं है, किन्तु असम्भव भी नहीं है। संन्यासी, ब्रह्मचारी, सर्वत्र देखेंगे पढ़े–लिखे, योगाभ्यासियों में भी भ्रान्तियाँ मिलेंगी, विकसित स्थिति नहीं होती है, गुत्थियाँ रहती हैं। आपने लम्बे काल तक पढ़ा, सुना, सीखा, तब इतना क्षेत्र पार कर गए। मतान्तर में तो प्रशिक्षण ही नहीं होता है। उनके पास तो ढ़ेर की ढ़ेर समस्या बची रहती हैं। उनकी मान्यताएँ विपरीत होती हैं। पूरे कोरे होते हैं। करोड़ों लोग इसके आधार पर शान्त दिखाई देते हैं, कहते हैं हम सफल हैं। स्वर्ग में जाएँगे, यह हमारे गुरु का वचन है। वहाँ प्रदर्शन एक बहुत बड़ा कारण होता है। अन्य मतों में देखा कि वहाँ जो बाह्य वातावरण बनाते हैं वह बहुत ही सुन्दर लगता है किन्तु आन्तरिक तो अन्दर ही होता है, उसको तो दिखाते ही नहीं हैं।

आपने देखा कैसे उत्थान-पतन होता है ? यहाँ पूरा नास्तिक भी हो सकता है। आजीवन ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा थी, उसको तोड़कर भी गृहस्थ में

जाते हैं, इस प्रकार का परिवर्तन होता है। इसलिए अपना ज्ञान, सिद्धान्त अत्यन्त दृढ़ करना होता है। लक्ष्य को प्रमाणों से सिद्ध करके ऐसा रखता है कि कभी विपरीत स्थिति आए तो उखाड़ न सके।

कभी-कभी मार्ग को छोड़ने की स्थिति आ गई, वहाँ देखा कि कहाँ जाएँ? सर्वत्र देखता है, कहीं कुछ नहीं मिलता। अतः वेद का निर्णय है **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**। दुःख से बचने का मार्ग ईश्वरप्राप्ति के अतिरिक्त और कोई नहीं है। यह ईश्वर का निर्णय है। प्रत्येक योगाभ्यासी को अच्छी प्रकार यह निर्वाचित करना होता है कि मैं यदि इस मार्ग को छोड़ता हूँ तो क्या परिणाम होगा? तत्काल उत्तर आता है; मेरा महाविनाश होगा। अतः इसको नहीं छोडूँगा। और कोई मार्ग नहीं दिखता।

विकल्प दिखाई देने पर भी इसको छोड़ सकता है, जैसे; ऐसा खाने-पीने को मिलेगा। कभी विचारता है भिन्न -भिन्न प्रकार से अनेक लोग अभ्यास करते हैं, सफलता मिलती है, पुनः क्या आवश्यक है कि वैदिक त्रैतवाद को ग्रहण करें, यम--नियम का पालन करें, क्या यही एक मार्ग है? सेवा करने से तो सब कुछ प्राप्त होता है। अन्य स्थान में तो लोग सेवा करना चाहते हैं जैसे देखना हो तो आबू पर्वत पर जाकर देखो। उनके कथनानुसार १० सहस्त्र लोगों का दैनिक सुन्दर भोजन बनता है। कितना प्रबन्ध करना होता होगा इसके लिए। प्रबन्धक कितना बुद्धिमान् होगा? आधुनिक यन्त्र हैं। यहाँ तो माताएँ पाकशाला को जाकर भी नहीं देखती हैं। वहाँ तो योगाभ्यासी सेवा में लगे रहते हैं। उनको बस बताना ही होता है, सेवा से स्वर्ग मिलता है।

वहाँ दोष है केवल ज्ञान का अभाव। उनमें आत्मा-परमात्मा के विज्ञान का पठन-पाठन नहीं होता। विद्वान् निर्माण नहीं होता, उनका अभाव होता है। उपासना की जो रीति, विधि-विधान वैदिक परम्परा में है वह वहाँ नहीं है। उनकी पद्धति है १४ बार यथा समय पर जहाँ से मुरली उतरती है, वहाँ से मुरली ले लेना। शेष काल में एड़ी से चोटी तक कार्य करते रहना। सफाई इतनी रखते हैं, देखने वाले मुग्ध। अरबों की सम्पत्ति बना ली है।

दोष होता है निष्काम सेवा केअभाव में। यह सर्वाङ्गजीवन नहीं है, शुद्ध ज्ञानकर्मोपासना में सन्तुलन नहीं है। वैज्ञानिकों में भी असन्तुलन दोष है, आत्मपरमात्मज्ञानविज्ञान को छोड़ दिया। अत्यावश्यक को अनावश्यक मानकर

छोड़ दिया, न्यून आवश्यक को पकड़ लिया। इन्द्रिय-भोगों में सुख मान लिया, परमात्मानन्द का बहिष्कार कर दिया।

एक दोष होता है कर्म के क्षेत्र में, सकाम-निष्काम-रूप में। वहाँ भौतिक वैज्ञानिक निष्काम रूप में कर्म करने में असमर्थ होते हैं। कीर्ति, यश, धन, मान का सकामता से सम्बन्ध है। ईश्वरप्राप्ति के अभाव में शुद्ध निष्कामता नहीं होती, हो ही नहीं सकती। अपेक्षा से होती हो निर्धनों आदि से धन न लेते हों।

यह साधारण कार्य नहीं है कि दोष न आए। अति पुरुषार्थ साध्य होता है। स्मरण रहे अतः बता रहे हैं। उषर्बुध नामक एक विद्वान् थे। अच्छे वक्ता थे। समाज में ख्याति प्राप्त थी। आर्यवीर दल में व्याख्यान देते थे। आगे चलकर विदेश गए। सूत्ररूप में कहने का अभिप्राय है, पढ़ने—सुनने ख्याति प्राप्त होने के पश्चात् भी अद्वैतवादी के शिष्य बन गए। आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत की प्रतिज्ञा थी, वहाँ जाकर गृहस्थ बन गए। यह पढ़े हुओं की भी दुर्दशा होती है। दयानन्द मठ में उनका प्रवचन सुना करते थे। एक बार उनके सामने शंका रखी कि ईश्वर आगे की बातों को जानता है या नहीं ? तो आवश्यक नहीं है ऐसा कहकर टाल दी।

यहाँ तो जैसी उनकी शान्ति होती है स्वयं को ब्रह्म मानते हैं, वैसी शान्ति नहीं चाहिए। न वैसी शान्ति चाहिए जिसमें खाओ—पीओ शान्त रहो, न पढ़ना, न पढ़ाना। न वैसी शान्ति चाहिए जिसमें गुरु के आदेशमात्र से स्वर्गप्राप्ति होगी। वैसी भी शान्ति नहीं चाहिए कोई बात नहीं ईश्वर जो चाहे करेगा। हमें तो वह शाश्वत वास्तविक शान्ति चाहिए जो वेदादि शास्त्रों, प्रमाणों से सिद्ध हो।



परीक्षा पूर्वक ज्ञानग्रहणादि व्यवहार

आप का यह प्रयोग आरम्भ हो गया कि पहले परीक्षा करो। परीक्षा पूर्वक ज्ञानग्रहण, परीक्षापूर्वक कर्मानुष्ठान, परीक्षापूर्वक उपासना का प्रयोग करना।

कुछ ध्यान रहता है, क्या-क्या अनुभव करते रहते हैं ? जैसे हम मन की स्थिति को देखते हैं, अपने विचारों की परीक्षा करते हैं; इस विषय में इच्छा हुई। तो जैसे ही लौकिक-सुख की इच्छा हुई, वैसे ही पहले क्या परीक्षा करते हैं ? इस समय मेरे ज्ञान में यह विषय सुखद है, इसको ग्रहण करें।

परन्तु इस सुख का निर्धारण अपने ज्ञान से किया है और जिस ज्ञान से निर्धारित किया उसकी परीक्षा नहीं की है कि मेरा यह ज्ञान शुद्ध है या अशुद्ध है?

सुख की इच्छा पश्चात् हुई इससे पूर्व ज्ञान ने कार्य किया। जिससे विचार किया उसको देखा नहीं, यह ज्ञान है या अज्ञान ?

साधक – वहाँ वस्तुग्रहणत्याग के विषय में ज्ञान होता है या संस्कार?

स्वामी जी – जो वस्तु ज्ञानपूर्वक स्वीकार की जाती है, वहाँ ज्ञान रहता है, जैसे; इसको छोड़ो। यहाँ हानिकर है इस ज्ञान के होने पर त्याग करते हैं। कहीं उपदेश सुनकर लाभदायक को भी हानिकर मानकर छोड़ दिया वहाँ अज्ञान रहता है। इसी प्रकार उपासना में किसी से सम्बद्ध हो जाते हैं, यह सुखद है, अथवा दूरस्थ से आसक्त हो जाते हैं। बिना परीक्षा के कारण ऐसा होता है।

एक पक्ष में ईश्वर आनन्दस्वरूप है इस प्रकार ज्ञानपूर्वक उपासना को आरम्भ किया वहाँ परीक्षा कर ली, ईश्वर है या नहीं, कभी ईश्वर ही न हो और उपासना प्रारम्भ दें। ऐसे ही भोजन को बिना परीक्षा के सुखद मान लिया और भोजन प्राप्त कर लिया। पुनः वहाँ परीक्षा की कि इसमें तो चार प्रकार के दुःख मिश्रित हैं।

साधक – परीक्षा पुनः पुनः करते हैं या एक बार.....?

स्वामी जी – किसी की तो उस विषय में पहले से परीक्षा होई हुई रहती है। कोई करता है, छोड़ता है, उसको पुनः पुनः करना होता है। जो लौकिक-पदार्थों के उपस्थित होने पर ईश्वर की उपासना छोड़कर उसमें लग जाता है; वहाँ भी ज्ञानपूर्वक ग्रहण या त्याग होना चाहिए। वहाँ यह विक्षेप के कारण त्याज्य है ऐसा करके छोड़ता है। इसी प्रकार पूरा मापदण्ड होने पर सम्पूर्ण दिवस क्रिया नियंत्रित होती है।

यहाँ स्थिति यह है कि वास्तविकता को पहले जानना चाहिए। कहीं छः मास पश्चात् कहे कि आज पता चला, पहले से पता होता तो नहीं करता। आगे चलकर यह भी स्थिति हो सकती है ईश्वर के सान्निध्य में अच्छी स्थिति बन गई, विद्या और अविद्या का ज्ञान हो गया। अब कहता है इस विद्या से अविद्या को मारूँगा; पर स्थिति गिर जाती है तो अविद्या अविद्यारूप में

नहीं दिखाई देती है किन्तु विद्यारूप में दिखने लगती है, पुनः कुछ नहीं कर पाता ।

साधक – अच्छी स्थिति रहने पर व्यवहार में परीक्षा करते हैं, परन्तु अच्छा न लगने पर बुद्धि नहीं चलती है ?

स्वामी जी – वैराग्य होने पर अच्छी स्थिति रहती है, भिन्न काल में कारण विशेष से स्थिति गिरती–उठती रहती है । आप ने कभी उपासना में विचारना आरम्भ किया, विचार करते–करते वहाँ उपासना बुद्धि चली गई पुनः १५ वर्षीय प्रवाह चल पड़ा कि वहाँ खेलते थे, पारितोषिक मिला था, ऐसा हुआ वैसा हुआ। इस प्रकार लौकिक प्रवृत्ति बढ़ जाने पर पुनः सावधान हुआ कि इसको क्यों आरम्भ किया ? पुनः हटा दिया, तब अच्छी स्थिति बन गई ।

देखो कितना गम्भीर ज्ञान–विज्ञान है । कोई जीवात्मा ईश्वर की उपासना जैसे ही छोड़ता है वैसे ही आपत्ति आरम्भ हो जाती है, परन्तु कौन इसको जानता है? लौकिक तो लोक में लगे रहते हैं । अन्याय, अधर्म, चंचलतादि आपत्तियों को कोई साधक ही जानता है । जीवात्मा की स्थिति है एक पक्ष में ईश्वर उपासना करे या दूसरे में लोकोपासना । शरीर में विविध दुःख होते हैं, मानसिक रागादि। उनको हटाने के लिए दौड़ लगाता है, पुनः जो कोई सुख दिख जाता है उसी के लिए प्रयत्नशील हो जाता है । आपका जब ईश्वर से संबंध विच्छेद हो जाता है तब पता चलता है ?

साधक – सम्बद्ध रहने का ज्ञान होता है, कब टूट गया इसका पता नहीं चलता है ।

स्वामी जी – ईश्वर से सम्बन्ध रहने पर सत्य, आनन्द, स्वाधीनता की उपलब्धि होती है, पुनः सम्बन्ध को क्यों तोड़ते हैं ? जैसे शीताधिक्य में स्वेटर पहनकर भी भोजन, व्यायाम करते हैं, कैसे करते हैं ? स्वाभाविक वैदिक जीवन को आप नाममात्र जानते हैं। कृत्रिमता में सारा संसार लगा है । आपने सुना तो है – **अन्धन्तमः प्रविशन्ति ....** । नाच–गान अच्छे लगते हैं । वैज्ञानिक असम्भूति में लगे हैं ।



आपके प्रयोग में जैसे दोषों, त्रुटियों की न्यूनता, गुणों की, अच्छे कर्मों की वृद्धि हो रही है; ऐसा दिखाई देता है अथवा परीक्षण ही नहीं करते ?

साधक १ – कभी वृद्धि दिखाई देती है, कभी ह्रास, ऐसे कभी उतार-चढ़ाव दिखाई देते हैं । लगातार वृद्धि नहीं दिखाई देती है ।

साधक २ – ज्ञान के रूप में देखते हैं तो बहुत सी बातों को आचरण में आए हुए देखते हैं ।

साधक ३ – कुछ बातें जो बार-बार सुनी थीं वे प्रयोग में नहीं आती थीं, इस बार आईं । उपासना का स्तर घटता-बढ़ता रहता है । सप्ताह में २–३ अच्छी स्थिति देखते हैं ।

स्वामी जी – ये तो आपको परिज्ञान होगा कि किसी का न्यून किसी का अधिक उतार-चढ़ाव होता है । पर यह उतार-चढ़ाव की स्थिति प्रायः सभी की होती है । ऐसा कोई न माने कि केवल मेरी ही होती है ।

साधक ४ – प्रयोगों को करने के आधार पर श्रद्धा, रुचि में वृद्धि दिखाई देती है । यद्यपि पुरुषार्थ का स्तर कोई विशेष नहीं बना है । पर ईश्वरादि पर विश्वास बढ़ा देखता हूँ ।

साधक ५ – किन्हीं विषयों में विकास की अनुभूति होती है । जिनका प्रयोग नहीं किया है वहाँ कोई वृद्धि नहीं दिखाई देती ।

साधक ६ – श्रद्धा, विश्वास की वृद्धि हुई है, उपासना में काफी लाभ की अनुभूति होती है ।

साधक ७ – भगवन् प्रत्येक विषय में प्रगति अनुभव हो रही है ।

उपाय

अपने योग की स्थिति, विवेक-वैराग्य की स्थिति, ईश्वर-प्रणिधान की स्थिति नीचे की ओर जा रही होती है तो पतन को रोकने में सावधानी एक उपाय बनती है अर्थात् असावधान होने पर पतन होता है । असावधान होने पर स्थिति नीचे जाएगी और बहुत तीव्रता से नीचे जाएगी और वह अपनी स्थिति से दूर चला जाएगा । यदि वह व्यक्ति सावधान है तो प्रारम्भ में तो स्थिति को गिरने नहीं देता, यदि गिर जाय तो तत्काल अपने आप को संभालकर उस स्थिति को बना लेता है ।

१. शब्दप्रमाण — शास्त्र की बात भी यहाँ पर प्रयोग में लानी होती है। उनको लाते रहना पड़ता है। **नैकचित्तस्य समाधिहानिः॥** सांख्य० ४/१४। इषुकार के समान एकाग्र स्थिति वाले की समाधि बनी रहती है। तो जब आप वेद, दर्शन, उपनिषद् आदि ऋषिकृत बातों को यथा-समय स्मरण रखेंगे और प्रयोग करेंगे तो आपकी रक्षा होगी, इससे यदि पतन की स्थिति हुई तो न्यून होगी और उसको रोकने में तत्काल सफलता मिलेगी।

२. अधिकृत ज्ञानस्तर — यदि ज्ञान का स्तर अधिकार में नहीं रहता तो व्यक्ति की स्थिति नीचे गिरती चली जाती है। जैसे ईश्वर सर्वव्यापक है, मैं ईश्वर के समर्पित रहूँ, दूर न जाऊँ, ईश्वर के साथ रहना अनिवार्य है, इस प्रकार मेरी उन्नति होती ही रहेगी। जब यह ज्ञान ठीक नहीं रहता है, तब स्तर नीचे गिरने लगता है तब उसको रोक देता है, तो नीचे जाने वाली स्थिति रुक जाती है। जैसे आप इस ज्ञान को उपस्थित रखते हैं कि मैं जीवात्मा चेतन हूँ, मन को मैं चलाता हूँ, स्वयं नहीं चलता है, तब स्थिति आपकी नीचे की ओर नहीं जाएगी और आपका यह ज्ञान हट गया और संस्कार के आधार पर आपको वह ज्ञान काम करने लगा कि मन स्वयं चलता है। बिना योजना के मन की गतिविधि प्रारम्भ हो गई तो स्थिति गिरेगी।

३. स्मृति — योगी बनने के जो-जो उपाय बताए गए, उन-उन उपायों को स्मरण रखना, उनका प्रयोग करते रहना तब तो स्थिति ऊँची बनी रहेगी और उन उपायों को स्मरण नहीं रखेंगे, प्रयोग नहीं करेंगे या न्यून प्रयोग करेंगे तो स्थिति नीचे गिरेगी।

४. सत्संग — व्यक्ति के ऊपर एक प्रभाव पड़ता है सत्संग का। उसी प्रकार का वातावरण, उपदेश, अध्ययन यदि चलता रहता है तो स्थिति ऊँची बनी रहेगी। यदि सत्संग नहीं होता, ऐसे साधकों उच्चस्तरीय विद्वानों का संग नहीं होता तो स्थिति नीचे गिर जाएगी।

५. उद्देश्य-शीघ्रता — अपने उद्देश्य को शीघ्र ही पूरा करना है, शीघ्र से शीघ्र समाधि को प्राप्त करना है, उसको पूरा करने की तीव्र इच्छा, उत्साह, रुचि हो तो उसका स्तर बना रहेगा। यदि इन बातों को छोड़ता है तो स्थिति नीचे गिरेगी।

६. अध्यापन — उन्नतस्थितिस्थापन का एक अंश है व्यक्ति की बुद्धि में एक बात रहती है मैं इस ज्ञान को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करके ऊँची स्थिति को बना लूँ और अन्यों को भी वह विद्या पढाऊँ, उनकी भी स्थिति ऊँची

बनाऊँ। तब वह इसको सिद्ध करने के लिए, इस विज्ञान के लिए शीघ्रता करता है, तीव्र पुरुषार्थ करता है। ऐसा करने से स्थिति ऊँची बनती है यदि ऐसा नहीं करता है तो उतने अंश में स्थिति गिरेगी ।

७. पतन में हानि देखना – पुनः स्थिति गिरने से बहुत बड़ी हानि होगी, उसका परिणाम दुःख होगा । अर्थात् स्तर गिरने में हानि का दिखाई देना । यदि नीचे चला गया तो यह यह हानि होगी । उस हानि से बचने की इच्छा स्तर को ऊँचा बनाये रखने में काम करती है ।

८. शरीरानित्यता – कभी-कभी व्यक्ति यह विचार करता है कि यह शरीर कब समाप्त हो जाएगा कोई विश्वास नहीं, अकस्मात् कौनसा रोग लग जाए; पता नहीं। उस प्रकार विचारने पर लगता है इस शरीर के जाने से पूर्व जो कुछ अच्छा कर सकते हो कर लो ।

९. पुरुषार्थ में रुचि, आलस्य में अरुचि – अधिकाधिक पुरुषार्थ करना उसको अच्छा लगता है । जिस स्थिति में विश्राम करना अच्छा लगता है, पुरुषार्थ करने में कष्ट होता है, तब उसका पतन होगा ।

१०. गुणवृत्तिविरोध – साधक यदि ऐसा विचारता है कि मैं अपने योग के स्तर को गिरने देता हूँ तो तमोगुण मेरे जीवन पर हावी हो जाएगा। यदि इसको नहीं रोका तो स्थिति सीमा से बाहर हो जाएगी इसलिए इसको रोकना अनिवार्य है।

११. एषणात्याग – लौकिक-सुख व सुख-साधन, तीन एषणाओं को पूर्ण करने की इच्छा स्थिति को गिराती है । जहाँ एषणाओं पर वैराग्य को बनाये रखते हैं तो स्थिति ऊँची बनी रहती है ।

१२. अब एक **मानसिक प्रयोग** करेंगे –

स्थिति कैसे ऊपर-नीचे जाती है, उठती-गिरती है, या वर्तमान में स्थिर रहती है; इसका उपाय बताया जाता है ।

आप कभी उपासना के समय या जब ध्यान, जप कर रहे होते हैं, तब कोई विचार अकस्मात् उपस्थित होकर बाधा डाल देता है, तब आप क्या अनुभव करते हैं मैंने असावधानी से विचार उपस्थित कर लिया और मेरे ध्यान में बाधा हुई?

किसी को आ जाने पर पता चला, विचार आ गया । घटना हो जाने पर पुनः रोक देना; यह दूसरी अवस्था है । वह कहता है भूल हो गई, असावधानी

कर दी आगे नहीं होने दूँगा । यहाँ व्याख्यान में रोक तो दिया, पर यह नहीं विचारा मेरा दोष है, दूसरा रोककर अपनी भूल भी मानता है ।

एक रोक देने पर भी विशेष रूप से अनुभव नहीं करता कि इसको रोक रहा हूँ, किन्तु रोक देता है । आगे यह भूल नहीं होने दूँगा इस प्रकार विचार करने से विचारोत्थापन न्यून होता है । इस स्थिति में योग में विकास होता है। पहले की तरह त्रुटि न हो, इसके लिए सज्जित रहता है ।

आप ऋषियों के वाक्यों को भी समय-समय पर दुहराते रहें । जैसे –

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत....... ॥ कठ १/३/१४ ।

आप अटक-अटक कर क्यों बोल रहे हैं ? जिसका शैथिल्य दिखता है समझो उसकी तीव्र जिज्ञासा नहीं होती है । स्वयं सीखकर औरों को भी सिखाऊँगा, यह भावना भी उसके मन में नहीं रहती है । मुझसे किसी ने पूछ लिया, परीक्षा देनी पड़ी तो उस समय क्या बोलूँगा ? किसी ने आक्षेप किया तो क्या समाधान करूँगा आदि नहीं सोचता । जो इन विचारों को लेकर चलता है वह ध्यान देता है कि यह कभी पूछा जा सकता है, इसकी परीक्षा देनी पड़ सकती है ? यह उस प्रसङ्ग का वाक्य है । इसलिए इन दोषों को हटाकर रहना चाहिए ।

आज गृहस्थियों की स्थिति प्रायः जितनी गिर सकती है गिर चुकी है, लोग उसी को सुधरी स्थिति समझते हैं । बच्चों को धर्म=व्यवहार का ज्ञान एक मिनट भी नहीं दिया जाता है । इस स्थिति में कैसे आशा की जाय कि आगे संसार में शान्ति मिलेगी ? यहाँ शान्ति की आशा करना वैसा ही है जैसा खरगोश के सींग पा जाने की ।

हमारा जो मुख्य विषय है ज्ञान–कर्म–उपासना; इसमें आप देखेंगे कि व्यक्ति का परीक्षापूर्वक ज्ञान का ग्रहण और अज्ञान का परित्याग नहीं होता है प्रायः । जैसे आप अपनी मनःस्थिति देखेंगे, मानसिक स्तर पर विचार तरंगें उठाई जाती हैं तो पहले एक ज्ञान उत्पन्न कर लेता है । व्यक्ति ज्ञान उत्पन्न करके किसी विषय की इच्छा करता है तो उस काल में साधक क्या करता है – पुनः पीछे लौट आता है, जहाँ उसने मान्यता बनाई उस पर कि यह कार्य सिद्धान्त निर्णय में आ चुका है ? वहाँ के अनुसार यदि अनुचित है

तो वह सुधार करता है। जो साधना नहीं करते उनका कोई हिसाब–किताब नहीं रहता है कि वे दिनभर क्या करते हैं ? कोई अता–पता नहीं । विशेष ध्यान देने वाले की स्थिति बताई कि दिन में हम विविध इच्छाएँ रखते हैं तो वहाँ पहले हमारा ज्ञान काम करता है । यदि हमारा ज्ञान शुद्ध होगा तो जिस काम की इच्छा करेंगे, यत्न करेंगे वह अच्छा होगा । जैसे आप अपने कमरे में बैठे हुए हैं वहाँ मन में एक बात आई कि अब क्रियात्मक योग की घण्टी लगेगी, अब चलो वहाँ योग के विषय में जानकारी उपलब्ध करेंगे। यह क्या हुआ? इस रूप में ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ, मानसिक स्तर पर हमने ज्ञान को उभारा। इससे ज्ञात हुआ कि यह हमारा ज्ञान ठीक है ।

दूसरी स्थिति में बिना योजना के अकस्मात् कोई बात आ गई जो कोई दस वर्ष पीछे की हो, कोई पांच वर्ष, कोई एक वर्ष की हो; तत्काल व्यक्ति उस स्मृति को उठा के रख लेता है जो अच्छी नहीं थी । झूठ बोलने की थी, चोरी करने की थी आदि । बिना योजना के उसने उठा ली । उठा ली तो स्मृति आ गई। अब जो स्मृति आ गई यदि चोरी आदि की बुरी स्मृति है तो व्यक्ति चोरी आदि की बुरी-विचार धारा में बहने लगेगा । अन्तःकरण उसका बुरी विचारधारा में बहने लगेगा । यदि उसको न रोका जाय तो स्थिति बहुत आगे बढ़ सकती है । साधक की दृष्टि से देखो तो उसने क्या किया बुरी घटना, जिन बुरे विचारों में रहता था उन्हें उठा लिया और अब पुनः बुरे विचारों में लग गया । पुनः उसने देखा कि ये जो हमने स्मृतिवृत्ति उठाई है ये तो अच्छी नहीं है, हानिकारक है । स्मृतिवृत्ति उठाने से पहले ज्ञान काम करता है । जीवात्मा बड़ी तीव्रता से सोचता है । अब यह व्यक्ति अपने ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न को पकड़कर रखता है । आपको समझ में तो आ ही जाता होगा पकड़ के रखना क्या होता है ? यह पकड़ के रखना और न रखना ये स्थितियाँ हैं । ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न को जब पकड़ के रखता है तो उस स्थिति में चाहे जो ज्ञान उत्पन्न हो जाए ऐसा नहीं होता, बुरा ज्ञान नहीं उत्पन्न हो पाता । नियम क्या है ? किसी भी विषय में ज्ञान की परीक्षा करो और परीक्षा करके उसका ग्रहण करो । यह कुछ कम समझ में तो नहीं आया ?

साधक– समझ में तो आया है पर इसका प्रयोग करना बहुत कठिन पड़ता है ।

स्वामी जी — यह तो निश्चित है कि यह तलवार की धार है । प्राचीन काल में जब तलवार की धार थी तो आज तो इसका स्तर और बढ़ (कठिन हो) गया होगा ! जब ऋषि महर्षियों का परीक्षण, परम्पराएँ, वैदिक रीति से चलती थीं तब यह तलवार की धार था, अब कितना कठिन होगा ? जिसको आप कठिन कहते हैं उसको करने वाला जीवात्मा समर्थ भी तो है ।

साधक — अपनी शक्ति से तो नहीं कर सकता ?

स्वामी जी — अपनी शक्ति की बात छोड़ो । कहीं से भी शक्ति लेकर वह जीवात्मा इसको कर तो सकता है । जो-जो ज्ञान-कर्म-उपासना के स्रोत हैं वहाँ से संग्रह करता है, संग्रह करके व्यक्ति समर्थ हो जाता है, न करे तो कुछ नहीं होता । दूसरी बात और सोच लो जब कठिन के ऊपर बात चल पड़ी । आप देख लो इसका फल कितना बड़ा है, इसको जोड़ो और इसका फल ले लो ! लाख जन्म ले लो और राजा बनते रहो, एक ओर मोक्ष को प्राप्त कर लो फिर देखो कौन सा सुख अधिक हुआ ?

साधक — मोक्ष वाला ।

स्वामी जी — पुनः कठिन क्या हुआ ! कठिन कार्य के साथ-साथ उसका फल भी देखना चाहिए । सरल-कठिन की परिभाषा — कोई भी कार्य सामर्थ्य और अभ्यास से सरल होता है और कोई भी कार्य असामर्थ्य अनभ्यास से कठिन होता है । इसको सब जगह लागू कर लो । क्या समझे ! दोहरा लो !

साधक — कोई भी कार्य सामर्थ्य और अभ्यास से सरल होता है और कोई भी कार्य असामर्थ्य, अनभ्यास से कठिन होता है; यह सब जगह लागू होता है।

स्वामी जी — अनभ्यास से कोई भी कार्य झाड़ू देना भी कठिन हो जाता है । अब मैं आपको सिखाता=बताता हूँ न (जैसा) अब मैं संसार को प्रलयावस्था में खड़ा करूँगा । मेरा अच्छा अभ्यास सामर्थ्य होने से मैंने तत्काल बना दिया और आपको कठिनाई पड़ती है ।

साधक — बना लेना या बनाये रखना ।

स्वामी जी — नहीं बना लेना और उसको पुनः बनाये रखना पड़ता है । वहाँ जब बना लिया और थोड़ी सी असावधानी हुई तो उसमें छिद्र हो जाएगा ।

साधक – अर्थात् जो आप व्यवहार करते हैं, पढ़ाना, बताना आदि में बनाये रखते हैं ?

स्वामी जी – बना के रखता हूँ। यदि थोड़ी सी असावधानी हो जाय तो छिद्र हो जाएगा। बीच में थोड़ी सी असावधानी हो जाय तो प्रलयावस्था बिगड़ जाएगी। यह तो अब आँख खोल के बनाने का अभ्यास हो गया। आज से ३०–३५ वर्ष पूर्व आँख खोल के अभ्यास नहीं था। तब बनाना चलना थोड़ी सी दूर, थोड़ा देख लिया, पुनः स्थिति बना ली, ऐसा करते थे। उपासना-काल में आँख बन्द करके बना लेता था पर ऐसे खोल के नहीं बना पाता था। आपने तो अभी थोड़ा-थोड़ा परिश्रम करना आरम्भ किया है नाम मात्र का। ठीक है या नहीं ?

साधक – वैसे तो १५ साल से कर रहे हैं।

स्वामी जी – वह तो बहुत न्यून है। उसमें भी बहुत सा काल तो पहले के कुसंस्कारों को दबाने में निकल गया होगा या नहीं ?

साधक – वह तो अभी भी जाता है।

स्वामी जी – हाँ तो पहले के संस्कारों को दबाने में कितने वर्ष निकल गए और अब भी जाता है तो वह तो योगाभ्यास में नहीं गिना जाएगा, वह तो दबाने में लग गया। उतना परिश्रम किया, बड़ा पुरुषार्थ किया संगति की, पढ़ाया–लिखाया तब जाकर पता चला कि हाँ यह मार्ग अच्छा है। इतना समय लग गया तब इतना बना। यदि इतनी संगति न होती, इतना पठन-पाठन न होता, रुचि न बनाते तो आप भी वैसे ही होते जैसे और लोग हैं, दुनियाँ के अन्य युवक होते हैं।

आपने सुना है, याद हो तो देखो ! क्या था ? अधर्म बड़ा कोमल है, बड़ा स्वादु है, बड़ा मीठा है। धर्म बड़ा कठोर है, कड़वा है। सुना है या नहीं सुना है ? स्वामी दयानन्द जी ने लिखा है या नहीं ? जहाँ वैशेषिक के गुणों का परिगणन किया गया है वहाँ लिखा हुआ होगा और सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में संकेत दिया है ? वहाँ से भी याद कर लो – **यद् यदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्** ॥ जो पहले विष के समान कठोर लगता है वही परिणाम में अमृत के समान होता है।

तो हमारी बात चल रही थी, उसको पुनः देखो। ज्ञान–कर्म–उपासना मानसिक स्तर पर परीक्षापूर्वक करते रहने का अभ्यास करना पड़ता है। यदि

परीक्षापूर्वक करते रहने का अभ्यास नहीं करेंगे तो मिथ्याज्ञान का ग्रहण हो जाएगा। सत्यज्ञान का त्याग हो जाएगा । उसी प्रकार धर्माचरण का परित्याग कर सकता है, अधर्माचरण को मानसिक स्तर पर ला सकता है । पुनः जो उपासना नहीं करनी चाहिए उसको वह करता रहेगा और जो करनी चाहिए उसको वह छोड़ डालेगा । इसका उदाहरण लेकर चलते हैं; जब आपको भूख लगी, आज हलुआ बना था ! तो उस काल में घण्टी लग गई और आप अपनी थाली-कटोरी ले के चले तो फटाफट हलुये की याद आ गई और हलुये की उपासना आरम्भ हो गई और वहाँ पर पुनः ईश्वर की उपासना छोड़ दी। उदाहरण समझ में आ गया कि नहीं ! उपासना का मतलब ईश्वर में जो प्रेम था वह हट गया, आपने छोड़ दिया और बिना परीक्षा के छोड़ा है और जिससे प्रेम नहीं करना था, उस हलुये की उपासना आरम्भ कर दी आपने। ऐसे होगा सब जगह । यह हलुआ आनन्द स्वरूप है मुझे कृतकृत्य बना देगा, मैं सन्तुष्ट हो जाऊँगा, हलुये से जो यह प्यार है यही हलुये की उपासना कहलाएगी।

दूसरे पक्ष में बुद्धिपूर्वक त्यागपूर्वक खानेवाला ईश्वर की उपासना करने वाला व्यक्ति कहता है अब खाएँगे, बल मिलेगा, बुद्धि मिलेगी, इन्द्रियाँ काम करेंगी, मन काम करेगा, पढ़ेंगे, ध्यान लगाएँगे, परोपकार करेंगे, चलो हलुआ खाएँगे वह कहता है हलुये की उपासना नहीं करेंगे, बिना उपासना के खाएँगे। नहीं आया समझ में ! आ गया ।

अच्छा दूसरा दृष्टान्त ले लो । गाड़ी चलाने वाले, कार चलाने वाले, जीप चलाने वाले को देखा होगा । जब उसका तेल समाप्त हो जाता है तब वह तेल डलवाता है । सौ रुपये का डाल दो । सौ का कितने का डल गया । बिचारा दुःखी होता रहता है पर डालता है । क्या समझ में आया बोलो ?

साधक — तेल डालना आवश्यक है ।

स्वामी जी — तेल डालना ही पड़ेगा । डालना चाहता नहीं है । वैराग्यवान् व्यक्ति को भोजन खाना पड़ता है, खाना चाहता नहीं है वह । अब क्या समझ में आया! या उलटा दीखने लग गया ?

साधक — खाना नहीं चाहता, खाना पड़ता है ।

स्वामी जी — हाँ खाना पड़ता है उसको, नहीं तो भूख सतायेगी, बल नहीं रहेगा, शरीर काम नहीं करेगा, नींद भी आनी मुश्किल है । उसका यदि

बिना भोजन खाए, मिठाई खाए शरीर यदि स्वस्थ, बलवान् रह सकता तो एक तिनका नहीं खाता वह। यह हलुये की उपासना नहीं कहलाएगी।

साधक – यह ईश्वर की व्यवस्था है; ऐसा कह सकते हैं ? खाना है, स्वस्थ रहना है, सम्भूति की उपासना करनी है; ऐसा सोचने में दोष दिखता है।

स्वामी जी – कैसे ?

साधक – खाना पड़ता है ऐसा क्यों कहें ? खाने का विधान है यह क्यों नहीं कहें ?

स्वामी जी – आपको दवाई खानी पड़ती है या खाना चाहते हो, यह बताओ पहले ?

साधक – शरीर के लिए आवश्यक है इसलिए खाते हैं।

स्वामी जी – फिर वही बात ! भोजन भी ऐसे खाते हैं और यह प्रक्रिया यदि पशु में देखनी हो ! यह डालो, वह डालो, छौंक लगाओ कुछ नहीं बेचारा यों ही समेट कर पेट में डाल लेता है। देखा या नहीं देखा ? नहीं पता चला! आक खड़ा रहता है हम खाएँ तो शायद मर जाएँ पर बकरी ऐसे चपेटती है और खा जाती है, सारी शाखा समाप्त कर देती है; क्या स्वाद और क्या, कुछ भी पता नहीं चलता।

साधक – उसको भी स्वाद तो आता होगा ?

स्वामी जी – यों तो स्वाभाविक जो रस होगा वह आएगा, पुनरपि उसने तो भूख मिटाना मुख्य है। यों तो हम लड्डू खाएँगे तो हमको भी रस तो आएगा ही। खाना पड़ता ही है तो भी वह जो स्वभाविक मीठा है वह तो लगेगा। नहीं तो कभी पता न चले तो कुछ भी खा जाएँ हम। तो अब पता चल गया न खाना पड़ता है, खाना नहीं चाहता। इस ओर वैराग्यवान् को सोना पड़ता है, सोना नहीं चाहता। क्या करोगे।

साधक – सोना तो कोई नहीं शायद चाहता। जैसे टी.वी. देखते समय नींद तो आती है पर सोना नहीं चाहता पुनरपि सोता है बन्द करके।

स्वामी जी – जो ध्यान, वैराग्यवान् होता है वहाँ भी ऐसा ही होना चाहिए **नैकचित्तस्य समाधिहानिः**। वैराग्यवान् व्यक्ति ऐसा चाहता है।

साधक – ऐसा तो लौकिक भी चाहेगा।

स्वामी जी — लौकिक-विषयों में सोना ईश्वर के लिए मुश्किल है। हाँ कोई बहुत लम्बी-चौड़ी या घाटे की बात आ जाए तब तो सोना नहीं चाहते, साधारण स्थिति में तो नींद ही नहीं आती, लालायित रहता है । यह लौकिक की मनःस्थिति बताई। वैराग्यवान् व्यक्ति यदि सोता है तो समाधि भंग होती है और उसको जो आनन्द आ रहा था, अच्छी स्थिति बन रही थी, वह हाथ से चली जाती है अतः सोना नहीं चाहता । लौकिक व्यक्ति तो ये करो वो करो, किसी से राग किसी से द्वेष में पिसता रहता है पुनः कहता है सो जाओ तो अच्छा है । जो होगा सो होगा। वह सोकर निश्चिन्त होकर, इतनी देर तो निश्चिन्त रहे, पुनः सोना चाहता है, इसमें आनन्द आता है । किसी को तो यथाकाल सप्ताहभर नींद अच्छी आ जाए तो स्वयं को सौभाग्यशाली समझता है। निद्राकाल में व्यक्ति दुःखों से छूट जाता है, यह उसकी बहुत बड़ी उपलब्धि है । तो आपको सुना दिया गया कि वह सोना नहीं चाहता, खाना नहीं चाहता पर सोना पड़ता है, खाना पड़ता है तो भाई यह जीवन तो बड़ा भयंकर है; आप कभी ऐसा सोचने लगो ?

ये तीनों वर्ग बहुत गम्भीर हैं । जैसा दृष्टान्त दिया इस एक भोजन से आप समझ सकते हैं । दिनभर हमारा किसी न किसी लौकिक विषय से प्यार बना रहता है, उसकी उपासना चलती रहती है । वह प्यार ही उपासना है । केवल यह समझना कि जो हम दो समय बैठकर करते हैं, उसका नाम उपासना है और कोई उपासना नहीं; ऐसा नहीं समझना । अब शब्दप्रमाण— महर्षि दयानन्द सरस्वती का वाक्य क्या है ? कोई भी जीव क्षणभर ज्ञान-कर्मउपासना से रहित नहीं होता। तारतम्य चलता रहता है, एक काल में एक विषय हो आवश्यक नहीं, क्षणभर में तीनों कर डालता है मन की गति के कारण। हमको काल सिद्ध नहीं करना है हमें सातत्य बताना है । ईश्वर से हटते ही अन्यत्र चला जाता है । ऐसे पकड़े रहना पड़ेगा मन को, देख लो कितना कठिन है ? पर्वतीय यान चालक की तरह । पर्वतीय मार्गों पर चलता हुआ कोई व्यक्ति नीचे तो देखता ही नहीं, देखते ही भयंकर डर । कोई तो देखता रहता है ।



आपको अशुभ-संस्कारों को पकड़ना, मारना या निर्बल करना आ गया या नहीं ? कैसे क्या करते है ?

साधक १ – प्रतिपक्ष-भावना से दबाते हैं और किसी विशेष प्रक्रिया का परिज्ञान नहीं है ।

साधक २ – कुछ भावनाएँ हैं जिनको निश्चित कर रखा है इनको नष्ट करना है । उसमें प्रथम वहाँ से दृष्टि हटाना, उपेक्षा करना; यह प्रयत्न उस समय करते हैं पश्चात् उस पर चिन्तन विशेष करते हैं ।

साधक ३ – ये अशुभ-संस्कार हैं इनको प्रतिपक्ष-भावना करके हटाना और ये शुभ-संस्कार हैं इनको विचार करके बनाना; यह प्रक्रिया चलाते हैं।

साधक ४ – अशुभ-संस्कार के विषय में यह सोचता हूँ इससे मेरी क्या हानि हो सकती है ? दूसरा ईश्वर की ओर से इसका दण्ड मिलेगा; ऐसी प्रतिपक्ष- भावना रहती है ।

साधक ५ – प्रतिपक्ष-भावना का प्रयोग करता हूँ और कभी-कभी बुरे कार्यों से रोकने के लिए अच्छे कार्यों में मन को लगाता हूँ ।

साधक ६ – ऐसे संस्कार उठाने पर प्रतिपक्ष भावना करते हैं कि इनको छोड़ देना चाहिए, ईश्वर के समक्ष प्रार्थना का भी सहारा लेता हूँ । मारने का और कोई उपाय नहीं बनाया है ।

साधक ७ – भगवन् इन संस्कारों को मारने के लिए परम पिता परमेश्वर से प्रार्थना की जाती है और शुभ-संस्कारों का संग्रह किया जाता है ।

स्वामी जी – ये जो आपको दिखते हैं कि किसी भी विचार को ला के खड़ा कर देते हैं (योजना, समय और हानि-लाभ को जाने बिना ही विचार आ जाते हैं) इनको पकड़ पाते हैं ? दोहराओ क्या समझे ?

साधक – बिना योजना के, बिना समय के और हानि-लाभ को जाने बिना हम किसी भी विचार को ला के खड़ा कर देते हैं ।

स्वामी जी – पहले हम मन को किसी विषय में लगाते हैं जैसे ध्यान में बैठे और बिना ही काल के अन्य विचार को ले आए । और परीक्षापूर्वक भी उसको उठा के नहीं लाते हैं कि इस विचार से हमको यह लाभ होगा

या हानि होगी; ऐसा विचार भी नहीं करते हैं। अच्छा हम स्वयं को अपने विचार को उठाते हुए भी नहीं देख पाते हैं !

साधक १ – ऐसी भी वृत्ति आती है जिसमें कोई सुख-दुःख प्रतीत नहीं होता फिर वे विचार क्यों उठा लिए जाते हैं ?

साधक २ – वह जो सिद्धान्त है कि बिना सुखप्राप्ति-दुःखनिवृत्ति की इच्छा के कोई काम नहीं करते हैं तो वहाँ सुख की इच्छा भी नहीं, हानि-लाभ को जाने बिना किसी भी विचार को ला के खड़ा कर देते हैं; ऐसा कैसे हो जाता है ?

स्वामी जी – होता नहीं है पर लगता है, इसको पकड़ नहीं पाते हैं?

साधक – उदाहरण जैसे ?

स्वामी जी – उदाहरण है कि जैसे आप ध्यान में बैठे और उस दिन अनेक लोगों को देखा था साधारण को भी देखा एक उसमें मोटा तगड़ा भी था। तो उपासना काल में मोटे तगड़े व्यक्ति का चित्र ला के खड़ा कर दिया। कोई उससे लाभ, लेना-देना नहीं, धन मिलना नहीं, कुछ नहीं, जितने भी देख सकते है आप ।

साधक १ – वहाँ अनियंत्रण कारण होता है। वहाँ कोई योजना नहीं थी, इच्छा नहीं थी सुख लेने की ।

स्वामी जी – अच्छा आप ध्यान में बैठे थे तो कोई लाभ-हानि की बात नहीं और एक सींगवाला व्यक्ति लाकर खड़ा कर दिया और उसको देखने लगा। अब कुछ विचित्र दिखता है, कैसा समझ में आता है ? ऐसा नहीं होता है क्या?

साधक २ – ऐसा हो सकता है उत्सुकता की जो भावना होती है उसकी कल्पना कर रहा हो ?

स्वामी जी –नहीं पहले तो यह देखो सींग वाला बनाता और उसको देखना इससे क्या मिलता है उसको ?

साधक – उत्सुक है विचित्रता को देखना चाहता है ।

स्वामी जी – उत्सुकता का तो दर्शन नहीं हो रहा है। अच्छा कभी देखने के लिए तीन सूर्य बना के खड़ा कर लेता है। क्यों ?

साधक – आनन्द आता है ।

साधक २ — होता है, पर सींगवाला व्यक्ति बना लेना, तीन सूर्य बना लेना ऐसा तो नहीं होता है । हमने नहीं बनाया कभी ।

साधक — कभी स्मृति उठा ली जाती है जिसमें लगता है कोई सामान्य सुख नहीं लिया ।

स्वामी जी — व्यक्ति विचार करता-करता उलटी-सीधी बात खड़ी कर लेता है । ऐसे ही किसी न किसी प्रकार का कोई इष्टानिष्ट कारण वहाँ भी होता है। कइयों को बात कम समझ में आ रही होगी, चलो !

जब हम संस्कारों को पकड़ते हैं और उन पर आघात पहुँचाते हैं मार मारते हैं तो उभारते ही उस इच्छा को पकड़ लिया । जैसे मन में लोकैषणा उभारी, अब वह सोचता है इस इच्छा को मैं कहीं नहीं छोड़ूँगा, मन के कोने में भी कोई कोना देखो रह न जाए, आत्मा में देखो कहाँ रहती है वह?

साधक — एषणा उठने पर दीखती है पहले नहीं, संस्काररूप में नहीं?

स्वामी जी — एक ही बात है **वृत्तिभिः संस्काराः क्रियन्ते संस्कारैश्च वृत्तयः**। यो.द.व्या.भा.१/५ । अब देखो ! उसने देखा कि यह इच्छा कहाँ से हुई थी, कहाँ से उठी थी कि मेरा सम्मान हो । यह सोचता है और सावधानी रखता हुआ ढूँढ़ता है कि अब यदि कहीं भी मिल गई तो मार डालूँगा ।

साधक — स्वामी जी ! जब वह मन में ढूँढ़ रहा है, उस समय में तो है नहीं लोकैषणा मन में ।

स्वामी जी — नहीं ! अति सावधान रहता है उठने से पहले ही उठने ही नहीं देना है, घातक है, हानिकारक है, उससे घृणा करता है ।

साधक — यह तो उठने के बाद की प्रक्रिया है न स्वामी जी ?

स्वामी जी — हाँ तो उठने के बाद और उठने के पहले की भी है। सावधानी तो रहती है न । अन्यथा तो बाद में पता चलेगा । पहले से सावधान हो तो उठने ही नहीं देगा ।

साधक — उठने से पहले कैसे मानें ?

स्वामी जी — पहले कैसे मानेंगे ? पहले तो हमको पता चल जाता है न उठी और रही कुछ सेकण्ड, उससे पता चला आज तो मैं मान के लिए प्रयत्नशील था, हाँ अन्दर एषणा बैठी हुई है । इसको अब मैं समाप्त करूँगा। यह तो उनमें से एक है ।

तो जब वह कभी कहता है कि इसको मारो तो संस्कारों के बल पर कभी मारने-हटाने की बात पर पुनः सोचने लगता है कि इसको मार देने पर कभी हानि न हो जाय ? लोकैषणा छोड़ देने से प्रगति न रुक जाय! इस स्थिति में वह रुक जाएगा । आप ऐसे सभी क्षेत्रों में देख सकते हैं। समझ में तो आ गया अपने दोषों से प्यार कैसे करते हैं ?

साधक – यहाँ पर ऐसा कह सकते हैं (कर सकते है) वह पूरी परीक्षा करे कि हानि तो नहीं होगी ?

स्वामी जी – परीक्षा तो उसने कर ली थी कि अच्छा नहीं है पर साधारण रूप से माना था । अतः इस रूप में बार-बार मानना जिससे पुनः संशय न उठे। संशय भी हम उठाते या उठ जाते हैं ? जैसे ईश्वर के विषय में संशय उठ गया। उठ गया को हम क्या कहेंगे ? मैंने उठाया है । अब परिणाम यह निकलेगा कि जहाँ बिना योजना, कारण, परिणाम के जो संशय उठता है वहाँ जीवात्मा ही कारण माना जाता है । दोहरा लो !

साधक – जहाँ ऐसा लगता है संशय उठ गया वहाँ जीवात्मा ने उठाया है ऐसा समझना चाहिए ।

स्वामी जी – उठ गया नहीं कहके उठा लिया है यह प्रयोग चलता है । अच्छा 'उठ गया है, क्या करूँ,' इससे हानि होती है, सोचने का ढंग गलत है । संशय उठाते समय आप देखेंगे जैसे ईश्वर के विषय में संशय उठ गया, बताते हैं ईश्वर ऐसा है, पता नहीं ऐसा है या नहीं ? यह देखा। पुनः क्या करते हैं ? नहीं नहीं ऐसी बात नहीं, संशय क्यों कर लिया । सोचते-सोचते पुनः संशय उठा लिया जाता है । पुनः क्या देखता है; इस संशय को उठाने वाला मैं हूँ, पुनः संशय क्यों उठाता हूँ । इसको लेता है। बिना योजना के बिना सोचे-विचारे ऐसी विविध बातें रख लेता है जो बाधक होती हैं । जैसे स्मृति के विषय में ले लो। १०–१५ वर्ष की स्मृति क्यों न हो, कभी भी चलते-फिरते, खाते–पीते, उठा लेता है । कभी तो कारण को देखकर स्मृति उठाता है, कभी बिना कारण के ही उठा लेता है ।

साधक – इसमें क्या हेतु है ?

स्वामी जी – जीवात्मा के अन्दर उसके संस्कार होते हैं ।

साधक – उसी को क्यों उठाया, संस्कार तो अनेकों के हैं ?

स्वामी जी – उसमें क्या होता है ? एक कारण है सारे संस्कार मन के साथ एक बार में नहीं जुड़ सकते । उपकरण, हमारी गति एक में साथ जुड़ेगी पहले, वह इससे जुड़ सकती है ।

साधक – उसमें हमारी कोई कामना नहीं है ?

स्वामी जी – कामना जो होती है वह संस्कारों के आधार पर होती है । जिसको कामना बोलते हैं वह संस्कारों के रूप में रहती है ।

साधक – जैसे पहले प्रसंग आया था, कोई भी चित्र आ गया जिसमें बताया कि हमारी सुख की कोई इच्छा नहीं होती तब भी स्मृति को उठा लेते हैं ।

स्वामी जी – सुख की इच्छा रहती है, दिखाई नहीं देती है । जैसे स्मृति, जब हमने अनुभव किया था तब हमको सुख हुआ था । वह जो सुख हुआ था उसके संस्कार हमारे पास हैं, उसमें खाने से, देखने से । तो वहाँ जो यो.द.व्या.भा.१/११ में आता है कि **विषयस्य चित्तं स्मरति आहोस्वित् प्रत्ययस्य** ? तो कहा बुद्धिपूर्वक पहले ज्ञान आएगा पुनः विषय आएगा । तो जो ज्ञान हुआ था वह होया हुआ ज्ञान वहीं रहता है हमारे पास । जो सुख का ज्ञान हुआ था वह उभर कर आएगा। कहेंगे उभारते हैं । पर वह हमारे पास रहता है पूर्वतः यह मुख्य बात है । उभारते समय ज्ञान नहीं रहता, पता नहीं चलता कि हम उभार रहे हैं । आपने कभी देखा होगा गाय ने बछड़ा दिया अब १०–१५ मिनट में वह बछड़ा गौ के स्तन की ओर भागने लगता है । अब देखो इसको पता नहीं कहाँ दूध पीया था कैसे पीया था, पर उसको पता चल गया कि स्तन में दूध है इसको हमें पीना चाहिए । ऐसे ही इसको पता नहीं मैं संस्कार को उभार रहा हूँ ।

तो आप जीवात्मा को पकड़े रखो । एक तो यह स्थिति है कोई विचार प्रमाण-वृत्ति या विपर्यय के रूप में चलता रहता है । यह काम लगातार चलता रहता है तो उसमें वृत्तियों को न उठने देने के लिए आत्मा पर अधिकार रखो तो बच जाएँगे । कभी-कभी व्यक्ति आत्मा पर अधिकार नहीं कर पाता है तब मन पर अधिकार करने की बात सोचता है । जैसे-जैसे विचार उठाते जाता है वैसे-वैसे पकड़ते जाता है; ऐसे पकड़े रखता है ।

साधक – स्वामी जी ! लोग मुझे देख रहे हैं यह कौन सी वृत्ति है? आप जैसे प्रवचन दे रहे हैं हम लोग आपको देख रहें । आपको यह अनुभूति हो रही है; तो यह कौन सी वृत्ति है ?

स्वामी जी – प्रमाणवृत्ति होगी और कौन सी होगी ?

साधक – अथवा विपर्यय में होगी ।

स्वामी जी – नहीं नहीं आप जीवात्मा की ओर ले जा रहे हैं । लोक में जीवात्मा शरीर सहित एक वस्तु है । यदि हम जीवात्मा को केवल शरीर बना दें तब विपर्यय-वृत्ति हो जाएगी । यदि चेतन ज्ञान रहा तो नहीं । मुझे अर्थात् शरीर सहित जीवात्मा। उस पक्ष में पृथक्-पृथक् विभाजन करने पर ये मेरे शरीर को देख रहे हैं । संमिलित पक्ष में मैं जीवात्मा शरीरधारी हूँ मुझे देख अर्थात् जान रहे हैं यह अभिप्राय होगा ।

कभी आप प्रयोग करके देखते हैं आत्मा को हम कैसे वश में करते हैं, तब कोई विचार नहीं उठेगा ?

साधक – अपनी इच्छा को नियंत्रण में करना यह कहने की एक शैली है । दूसरी शैली है कि अपनी आत्मा को नियंत्रण में करना, दोनों में क्या भेद है ?

स्वामी जी – तो आत्मा को कहने में कोई तो विशेषण देना पड़ेगा न ! दोनों में अन्तर के विषय में ऐसा होता है कि कहने वाला व्यक्ति इस विषय में क्या कहता है । हम जब कहेंगे आत्मा को वश में करना । आत्मा एक सत्तात्मक पदार्थ है । वह बलवान् भी है, वह ज्ञानवान् भी है, उसमें इच्छा भी है । जो भी उसके सामर्थ्य हैं । जब वह मानता है मैं आत्मा स्वयं को, स्व ज्ञान को, स्व बल को, स्व इच्छा को किसी विषय में नहीं लगाऊँगा तब उसको प्रतीत होगा । यदि उसने गम्भीरता से देखा होगा तो जो भी अन्तःस्थिति में बात उठाई जाएगी, आत्मा की; एक स्थिति होगी । पुनः किसी विषय में उठाना चाहेगा तो वह देखेगा मैं अब इस विषय में विचार उठाना चाहता हूँ । जैसे गायत्री-मन्त्र के विषय में गायत्री को प्रथम देखेगा, पुनः उठाएगा। प्रथम तो स्वतंत्रता से गायत्री-मन्त्र के लिए योजना बद्ध होकर लगना । दूसरी स्थिति है संस्कारों के बल पर या अधिकार न होने के कारण बलपूर्वक किसी विचार को उठाने की सोचता है । जैसे आप इसे ले लो आप का कोई घनिष्ट मित्र आ गया उस अवस्था में आप यहाँ बैठे हैं तो आप मान रहे हैं कि 'मैं आत्मा' यह ठीक ज्ञान है, पर वह जो मित्र से मिलने की तीव्र इच्छा है उसको रोकना चाहते हैं । अब उसे तीव्र करेंगे बल लगाएँगे तब रोक सकेंगे ।

साधक – यहाँ मैं अपनी इच्छा को रोकना चाहता हूँ इस प्रकार एक विकल्प-वृत्ति माननी पड़ती है, तब रोक पाते हैं । यहा जैसे कि गुण-गुणी पृथक् हैं ! यहाँ विकल्प-वृत्ति न रहती तो सुविधा रहती ।

स्वामी जी – नहीं । आपने जैसा कहा आत्मा शब्द से तो महर्षि दयानन्द के अनुसार २४ शक्ति इकट्ठी हो जाएगी ।

साधक – हाँ, पर उसमें विकल्प-वृत्ति तो नहीं रहती !

स्वामी जी – ज्ञानपूर्वक करेंगे तो विकल्प-वृत्ति नहीं रहेगी । यदि स्वयं को अलग, ज्ञान को अलग मानेंगे तब विकल्प-वृत्ति रहेगी । यदि जानता है मेरी सारी शक्तियाँ हैं तब विकल्प-वृत्ति नहीं बनती ।

प्रायः ईश्वर को मानते नहीं हैं, जिस समय हम ईश्वर को मान रहे हैं किन्तु जैसा ईश्वर नहीं है वैसे लक्षण वाले ईश्वर को मानते हैं, वैसे जीवात्मा को मानते हैं । ऐसे ही प्रकृति को मानते हैं किन्तु स्वयं सृष्टि बना लेती है ऐसा मानते हैं, तो समझना इस समय हम अविद्यायुक्त हैं । इसमें पूरा संसार आ गया । दो विभाग बन गए, एक न होने में, दूसरे यथार्थ न होने में । इस प्रकार जीव, प्रकृति, ईश्वर में सर्वत्र समझना चाहिए । तो इस प्रकार से विद्या और अविद्या का परीक्षण सदा करते रहना पड़ता है ।



विपर्यय-व्यापार

विपर्यय-वृत्ति का प्रयोग किस-किस रूप में आप देख पाते हैं ? कौन से क्षेत्र हैं, आपके ?

साधक१ – एक तो स्वामी जी ! आत्मा के स्वरूप के विषय में काफी स्पष्टता अनुभव में आती है और कभी-कभी जप, उपासना आदि करते हुए उतनी स्पष्टता आत्मा के स्वरूप के विषय में नहीं होती है । कभी-कभी ईश्वर के विषय में परोक्ष भाव भी बना रहता है और जो मेरा कर्तृत्वभाव है आत्मा का, उसकी भी विस्मृति हो जाती है । मन में जो विचार हम उठाते हैं उनके विषय में अपना कर्तृत्व कई बार विस्मृत सा होता है । कभी-कभी ऐसा लगता है आत्मा को मान तो रहा हूँ, अनुभव तो कर रहा हूँ किन्तु जैसा शास्त्रों में अति सूक्ष्म अणुस्वरूप वर्णित है उतना सूक्ष्म नहीं स्वीकार कर पा रहा हूँ या वैसा नहीं कर पा रहा हूँ तो लगता है कि वहाँ पर भी विपर्यय-वृत्ति काम कर ही रही है ।

स्वामी जी – तो कुछ मोटे रूप में सोचते हैं, जितना शास्त्रों में सूक्ष्म कहा है उतना नहीं सोच पाते ? उस तक जाने में गति न होना ।

साधक १ – सोचने में तो चला जाता हूँ पर विचार नहीं करता तो मोटा ही भाव बना रहता है ।

साधक २ – उपासना काल में मैं वृत्तियों को उठाता हूँ एक तो यह ध्यान नहीं रहता है । शेष अनित्यता आदि के विषय में वैसा ही रहता है, बलपूर्वक मानना पड़ता है । दो तरह की भावनाएँ रहती हैं – एक दृष्टि से अति सूक्ष्म है ऐसा मानते रहते हैं, अति सूक्ष्म बुद्धि में वैसा ही लगता है पर कभी-कभी स्थूलता भी लगती है । ईश्वरादि के संबंध में भी देख-सुन-जान रहा है ऐसा लगता है, कभी ऐसा कुछ भी नहीं लगता है; ऐसा भी हो जाता है ।

स्वामी जी – आपने ध्यान दिया या नहीं । जो बात हमने प्रमाणों से अच्छी प्रकार सिद्ध कर ली है, उसके विषय में संशय हो अर्थात् संशय को उभारना, इस स्थिति में जानना, मानना अर्थात् यह प्रयोग करना चाहिए कि यह मेरी भूल है, मैं जो संशय उठा रहा हूँ यह मेरा मिथ्याज्ञान है, इसलिए मुझे यह स्वीकार्य नहीं है, इसको नहीं मानता, क्यों संशय उठाऊँ मैं ? ऐसे उसको रोकने का ढंग है । या पुनः दोहराऊँ ? सुनो –

जैसे संशय उभरा, भ्रान्ति उभरी तो यह तो जान गया कि उभारने वाला तो मैं हूँ, यहाँ तक पहुँचे हम, किन्तु उसमें ध्यान देने की यह एक बात है कि खुला मन रहने पर, पूरा अधिकार न होने पर असावधानी के कारण पूर्व के संस्कारों के कारण चाहे जो विचार आके खड़ा हो गया ऐसी स्थिति आती है । तो उसने यह बात ध्यान से देखी कि वास्तव में संशय को तो मैं ही उठाता हूँ, मैं ही संशय को उत्पन्न करता हूँ इसलिए नहीं करूँगा संशय। जो बात प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी है उसके विषय में संशय नहीं करूँगा। यदि करूँगा तो रोक दूँगा । ऐसे इसको रोकना पड़ता है ।

साधक ३ – एक तो यह कि मैं तो नहीं चाहता, पुनः यह विचार क्यों आता है ? जैसे कि पूरी कोशिश की, बल लगाया कि कोई विचार नहीं उठाना, कोई इच्छा नहीं करनी है, पर प्रयोग करते-करते पांच मिनट से अधिक होने पर ऐसा लगने लगता है कि विचार बलात् आने लगे, इच्छा नहीं, नहीं उठाता चाहता पुनः ऐसा क्यों हो रहा है; यह अभ्यास करते-करते

कुछ देर के पश्चात् होने लगता है । अनेक बार ऐसा भी लगता है कि मन स्वयं चलता है । ये भी विपर्यय- वृत्ति आती है ।

स्वामी जी – इसमें ध्यान देना पड़ता है कि वेदों में, दर्शनों में, सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि मन एक जड़-पदार्थ है और आत्मा उसका संचालन करता है । उस प्रमाण से जैसे बात सिद्ध होई हुई हो और यह कोई नई घटना नहीं है लम्बे काल तक चलता है । ज्ञान के क्षेत्र में उतार-चढ़ाव होता रहता है जैसे एक विषय को हम कुछ भी नहीं जानते हैं, उसी विषय में हम उलटा ज्ञान उत्पन्न करते हैं, उसी में संशयात्मक ज्ञान होता है, उसी विषय में निर्णयात्मक ज्ञान होता है। इसका उदाहरण हम देते हैं कि इस गद्दे के नीचे बिच्छू है, हम इसी पर सोते हैं पर नीचे क्या है कुछ भी पता नहीं । थोड़े दिन पश्चात् कोई चलती हुई वस्तु दिखाई दी । जब वस्त्र के नीचे कोई छोटी चीज सरकती है तो बहुत बड़ी दीखती है, इससे जब यह चला तो लगा कि कोई मकड़ा है, पुनः देखा तो लगा यह तो बहुत लम्बा है, पता नहीं बिच्छू है या मकड़ा है, तो भला उघाड़ के क्यों न देखा जाय, पर जैसे ही हाथ रखा झट मारा डंक । अब पता चल गया ओहो यह तो बिच्छू है ! ऐसा परिवर्तन होता रहता है, कोई नई बात नहीं; निर्णय से अभाव तक चला जाता है ।

साधक३ – आत्मा की सूक्ष्मता के विषय में लगता है वह कुछ बड़ा है, बड़े हैं हम, इतने छोटे नहीं हैं, ज्ञानादि अधिक है । ईश्वर के विषय में परोक्षानुभूति होती है जैसे हम सुना रहे हैं, वह सुन रहा है परन्तु कहीं दूर में है । ऐसी विपर्यय-वृत्तियाँ बनती है ।

स्वामी जी – यहाँ पर भी वही बात लाकर उपस्थित करनी चाहिए। अर्थात् जो ऋषि लिखते हैं, तीनों कालों में ईश्वर व्यापक और जीवात्मा, प्रकृति और सृष्टि व्याप्य हैं, यह ऋषि लिखते हैं तो हमको यह मानकर चलना चाहिए।

तो उसमें यह ज्ञान हमारा जब विरुद्ध काम करने लगता है तो हम उससे टकराते हैं, नहीं यह मेरा ज्ञान गलत है, इसको नहीं स्वीकार करूँगा, नहीं करना है । टकराते हैं, टकराकर वही जो मानेंगे जो ऋषियों ने लिखा है, समझ में चाहे जितना ही आए, कम आता है तो कम सही, पर मानेंगे वही जो ऋषियों ने लिखा। टकराने से हमारा उलटा संस्कार निर्बल बनता जाता है। तनु होता जाता है, होते होते ध्यान में अधिक समझ में आता है । बार-

बार सुनने से, स्वाध्याय करने से, वेदाध्ययन, ऋषि के ग्रन्थों का अध्ययन करके टक्कर लेना चाहिए।

साधक४ – एक जो सूक्ष्म बातें उठा लेता हूँ तो लगता है स्वयं आ गई; जैसे ईश्वर परोक्ष है यह वृत्ति बनी रहती है अर्थात् सम्बोधन करते हुए भी सुन रहा है ऐसा नहीं लगता। ईश्वरप्राप्ति मुख्य होनी चाहिए सांसारिक गौण होनी चाहिए इसके स्थान में सांसारिक-प्राप्ति भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण मुख्य लगती रहती है।

स्वामी जी – इन सबसे व्यक्ति को अच्छे प्रकार से संघर्ष करना चाहिए और वहाँ पर शब्दप्रमाण और अनुमान-प्रमाण को मानकर चलना चाहिए। ऐसे ही संघर्ष करते-करते वही बातें लम्बे काल में भी समझ में आती हैं। आपने कभी सुना कि एक व्यक्ति ने १५ वर्ष पहले कोई उपदेश सुना और सुनता ही रहा। पुनः कालान्तर में कहता है, आपने यह पाठ पहले भी पढ़ाया था, पहले भी सुनाया था पर आज जैसा समझ में आया अब तक नहीं आया था। पांच वर्ष में वही व्यक्ति पुनः कहता है आज जितना समझ में आया पहले कभी नहीं आया था पुनः....... । तो हमारा ज्ञान इसी स्तर का है, हम स्वाभाविक-ज्ञान थोड़ा सा रखते हैं और नैमित्तिक-ज्ञान बढ़ाते हैं। वह ज्ञान बढ़ता है, रुकता है, कभी पूरा ही रुक जाता है, ऐसे चलता रहता है।

साधक४ – सूक्ष्मवृत्तियों को उठा लेता हूँ तो लगता है अपने आप आ गई, उठा रहा हूँ ऐसा नहीं लगता। यद्यपि इच्छा-प्रयत्न मेरा ही है यह स्पष्ट हो जाता है किन्तु मन्त्रादि आरम्भ कर देने पर यह ज्ञान बना नहीं रह पाता है। ईश्वर के विषय में कभी तो लगता है मेरे अन्दर व्यापक है पर कभी लगता नहीं है, दूर में अन्यत्र लगता है। कभी उपासनादि में पुरुषार्थ करने पर भी सुख नहीं मिलता है तो लौकिक-विषयों को उठा लेता हूँ और लगने लगता है कि इसमें सुख है ईश्वर में नहीं।

स्वामी जी – लौकिक विषयों में सुख दिखता है तो परिणाम, तापादि ऋषि-वाक्यों से टकराव दिखाई नहीं देता है ?

साधक४ – देता है अपितु कुछ देर पश्चात् लौकिक-विषयों में सुख समाप्त होकर स्वतः -दुःख प्रतीत होने लगता है।

साधक५ – एक तो जीवात्मा का कभी-कभी उपासना में स्थूल स्वरूप का अनुभव करता हूँ पुनः उसको रोकने का प्रयास करता हूँ। साथ में कभी

आमने सामने की स्थिति जीवात्मा और ईश्वर की लगती है, इसे भी हटा देता हूँ। कई बार वृत्तियां उठा लेने पर लगता है मैं रोकना चाहता हूँ, प्रयास कर रहा हूँ किन्तु ये अपने आप आ रही हैं। इस प्रकार से पकड़ में आती हैं और कोई विशेष बात ध्यान में नहीं है।

स्वामी जी – जब ऐसी वृत्तियाँ दिखाई देती हैं तो तत्काल आप यह प्रयोग करते हैं कि यह मान्यता तो ठीक नहीं है कि वृत्तियाँ स्वयं उठ रही हैं, वास्तव में तो मैं ही उठाता हूँ, ऐसा प्रयोग नहीं करते हैं ?

साधक – जी ! करता हूँ। ऐसा मानकर प्रयास करता रहता हूँ।

साधक ६– भगवन् ! वैदिक सिद्धान्तों में कहीं भी किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं रहता है, इसलिए मेरे अन्दर, मेरे द्वारा कोई विपर्यय-वृत्ति नहीं उठाई जाती है। यदि कभी उठ भी जाएगी तो उसको स्वीकार नहीं किया जाएगा, यदि फिर भी काबू में नहीं आएगी तो प्रलयावस्था बना दी जाएगी, प्रलय में पहुँचा दी जाएगी।

स्वामी जी – अच्छा कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है, कौन सी वृत्ति उठती है, कब उठती है ? यह समझ प्रयोग-व्यवहार में ही नहीं आती हो! व्यवहार में न आने से ऐसा मान लिया जाता है मेरे अन्दर तो कोई वृत्ति नहीं उठती। वस्तुतः वह वृत्तियों को पकड़ नहीं पाता, ऐसा प्रयोग नहीं करता और मान लेता है कि मेरे अन्दर कोई वृत्ति नहीं आती है। वह मानता है कि जो सुन रखा है वह शत-प्रतिशत ठीक है। आपको एक दूसरा दृष्टान्त दूँ तो समझ में आएगा – किसी वैदिक धर्मी से पूछो जो २०–३०–५० वर्ष से सत्संग में आता है कि आप ईश्वर को मानते हैं ? हाँ बिल्कुल शत-प्रतिशत मानता हूँ और मेरे दादा, पिता, ये तीसरी-चौथी पीढ़ी है। तो ईश्वर को मानने में कोई सन्देह थोड़े ही है ? जबकि वास्तव में सन्देह और संशय से भरा पड़ा है। क्या समझ में आया?

पुनः पूछा जाय चोरी आदि बुरे विचार तो नहीं आ जाते ? नहीं ! काम ही नहीं पड़ता है, कोई अवसर ही नहीं है। जबकि उसके मन में सारे विचार आते हैं, चोरी, छल-कपट के सारे, फिर भी कहता है नहीं नहीं कोई नहीं उभरता। तो आपको इसलिए सुना रहा हूँ, जब व्यक्ति परीक्षण नहीं कर पाता और परीक्षण न होने से पता नहीं चलता कि कौन सी वृत्ति कब उठ रही है और कैसे रोकी जाय तब मान लेता है कि वैदिक-धर्म की बात हम मानते

ही मानते हैं पुनः विपर्यय-वृत्ति का मतलब क्या है ? ऐसा मान ले तो पता नहीं चलेगा ।

तो जिस-जिस वृत्ति को देखते जाएँगे, प्रयोग करते जाएँगे तो कालान्तर में वह कमजोर पड़ जाएगी । उसको पकड़ने का ढंग पता चल जाएगा, उसके कारण का ज्ञान हो जाएगा । ऐसे करते-करते बहुत सी संशयात्मक, भ्रमात्मक बातें दूर होती चली जाएँगी ।

साधक – एक प्रश्न आता है मन में कि जब तक प्रत्यक्ष नहीं होता है आत्मा का, मन का अथवा ईश्वर का, बिना प्रत्यक्ष हुए तो ऐसा संभव नहीं लगता कि कोई विपर्यय-वृत्ति न चले ।

स्वामी जी – एक बात बतलाता हूँ, प्रत्यक्ष होने पर भी प्रत्येक निर्णयात्मक ज्ञान के पीछे यदि स्थिति उतरती है तो पुनरपि संशयात्मक ज्ञान हो जाएगा। यह जानना चाहिए ।

साधक – जहाँ हम लोग आज खड़े हैं वहाँ कोई न कोई विपर्यय-वृत्ति तो रहेगी ही।

स्वामी जी – देखना है कि वह विपर्यय-वृत्ति हमारी ईश्वरोपासना में कैसे बाधक होती है, उसको कैसे हटाया जाय । यहाँ यह नहीं बताया जा रहा है कि विपर्यय-वृत्ति आपकी सारी हट गई होगी, या हट जानी चाहिए। बताया जा रहा है कि अध्ययन में उस विपर्यय-वृत्ति को कहाँ कहाँ उठाते हैं और उसको दूर करने के लिए क्या प्रयत्न करना चाहिए । यह उसके साथ बताया जाता है । इसका आप प्रयोग करेंगे । जैसे शब्द-प्रमाण से बात टकराती हो तो शब्द-प्रमाण से उसका खण्डन करेंगे । तो शब्द-प्रमाण पर आपको अधिक विश्वास बढ़ाना पड़ेगा। ऋषियों को भी आप देखते रहेंगे तो अच्छा रहेगा । वह समय-समय पर दूसरे ऋषियों की बात को लेकर लिखते हैं, अपनी बात की सिद्धि में दूसरे का प्रमाण देते हैं यथा इति जैमिनि, इति पतंजलिः आदि । वे कहते हैं, षट्क-सम्पत्ति में शब्द-प्रमाण पर श्रद्धा। एकाग्रता – अर्थात् मुमुक्षु को एकाग्रता बनाये रखनी चाहिए और जो वेद के शब्द हैं, ऋषि के शब्द हैं उन पर पूरी श्रद्धा रखनी चाहिए । तो ध्यान दें ये ऋषि अन्य ऋषियों की बातों का कितना सम्मान करते हैं ।

एक प्रसंग है व्याकरण महाभाष्य का । महाभाष्यकार न्याय की तरह विषय को प्रश्नोत्तर के रूप में रखता है । बात चली वृद्धि शब्द पर, पहले तो

इसका खण्डन-मण्डन किया पुनः यह कहा कि इतना बड़ा शब्द क्यों बना दिया, यह तो अशुद्ध दिखता है ? पुनः कहते हैं — **दर्भपवित्रपाणिराचार्यः प्राङ्मुखोपविश्य..... तत्र किं वर्णेन.....** । पवित्र हाथ वाले आचार्य पाणिनि ने पूर्व की ओर मुख करके शब्दों की रचना की वहाँ शब्द की तो बात क्या एक वर्ण भी अशुद्ध नहीं हो सकता । भाव बतलाया जा रहा है । इसी प्रकार कहा व्याकरण से शुद्ध शब्दों का पता चलता है कि अशुद्ध का ? शुद्ध-अशुद्ध दोनों का ? यदि शुद्ध का पता चल जाता है तब तो अशुद्ध का भी ज्ञान हो जाएगा और यदि शुद्ध शब्दों के ज्ञान से पुण्य होता है तो अशुद्ध शब्दों के ज्ञान से पाप भी हो जाएगा ? पुनः कहा कि — "आचार्य ने कहा शुद्ध शब्दों के ज्ञान से पुण्य होता है, यह नहीं कहा कि अशुद्ध शब्दों के ज्ञान से पाप होता है।" **शब्दप्रमाणका वयं यच्छब्दमाह तत्प्रमाणम्।** हम शब्दप्रमाण को मानते हैं अतः जो शब्द-प्रमाण कहता है वही मानते हैं। कहीं-कहीं पूर्वापर देख लेने पर कोई त्रुटि दिखाई दे गई तो कहा **प्रमादकृतमेतदाचार्यस्य** यथा तदधीते तद्वेद सूत्र पर थोड़ा याद है मुझे। स्वामी दयानन्द ने बहुत श्रद्धा से बात कही, पर उनकी बात पर जहाँ-कहीं वेदों से कोई टकराव आया तो कहा यह अशुद्ध है । यथा कात्यायन के विषय में । तो इनमें बहुत श्रद्धा रखनी चाहिए उससे हम बच जाते हैं । अपने आपकी सुरक्षा के लिए शब्दप्रमाण बहुत काम करता है । गिरती हुई स्थिति में तत्काल शब्दप्रमाण को ले लो । यदि मान लोगे कि इसमें जो लिखा है ठीक है बस बच जाओगे नहीं तो गिर जाओगे ।

सुख–साधनों में रुचि

आप दिन में अपना आत्मनिरीक्षण करते होंगे कि संसार के सुख–साधनों में रुचि कितनी होती है या नहीं, कैसे होती है, उसको रोकते हैं या क्या करते हैं; बताएँगे ?

साधक१ – रूप और स्पर्श का विषय नाममात्र के लिए कभी प्रभावित करता है, यदि करता भी है तो अधिककाल तक नहीं रहने देता हूँ । गन्ध विषय उतना पकड़ में नहीं आता । लेकिन क्षुधा होने पर भोजन की ओर आकर्षण होता है उसमें क्षुधा कारण है या अन्य, उसमें गहराई से नहीं देखा।

स्वामी जी – उसमें प्रयोग से पता चल जाता है कि भूख अधिक होने पर सताने लगती है। एक होता है सुख, उसमें आकर्षण हो तो उस अवस्था में हम अपने मानसिक स्तर पर उस सुख की प्राप्ति की इच्छा को लेकर उस भोजन की ओर बढ़ते हैं।

साधक २ – दिनभर यह मानकर चलता हूँ कि सभी विषयों का मुझ पर प्रभाव रहता है, अतः कैसे इसका समाधान हो इसके लिए प्रयत्न करता रहता हूँ, सोचता-विचारता रहता हूँ।

स्वामी जी – उसमें एक स्थिति तो यह होती है कि उस विषय में असावधानी से विचार उठाना, पुनः प्रवृत्त होकर प्रवृत्ति को रोकना। दूसरी स्थिति होती है ज्ञानपूर्वक अर्थात् तीव्र इच्छा से सुख-साधनों के प्रति रुचि का होना।

साधक २ – तीव्रेच्छा प्रवृत्ति तो नहीं होती है।

स्वामी जी – ऐसी स्थितियों में आपको इसको रोकने के लिए जो अनेक प्रयोग सिखाए गए उनका प्रयोग होता है। जैसे आपके मन में सुख व सुखसाधन के प्रति राग दिखाई देता है तो तत्काल उन सुख व सुखसाधनों को नाशवान् सिद्ध कर दो, बस राग वहीं समाप्त हो जाएगा।

साधक १ – जड़ मानने से भी प्रभाव कुछ कम हो जाता है।

स्वामी जी – जड़ मानने से तो मोटा प्रभाव कम होता है, नाशवान् का तो सीधा प्रभाव होता है। सुख-साधनों को नाशवान् सिद्ध करने से राग नहीं रहेगा, राग नहीं रहा तो द्वेष भी नहीं रहेगा; इसके साथ इसका सीधा सम्बन्ध है। यदि आप नाशवान् सिद्ध नहीं कर पाएँगे तो राग सताएगा ही। ऐसा नहीं है कि मन रुकेगा नहीं। मन को जड़ मानेंगे, बहुत परिश्रम करना होगा, ताप-दुःख आदि को देखेंगे। यह तो करना ही होता है। शब्दप्रमाण का आश्रय लेंगे। शब्दप्रमाण को लेकर उस राग को हम हटाते हैं। शब्दप्रमाण पर पूरा विश्वास, अपनी बात पर विश्वास न करना; यह प्रयोग करना होता है। शब्दप्रमाण जो कहता है वह ठीक है, और यह जो मैं मानता हूँ सुख और सुख-साधन मुझे चाहिएँ; यह मेरी अपनी कल्पना है और अशुद्ध है। शब्दप्रमाण के साथ जब अपनी मान्यता का टकराव होता है तो अपनी मान्यता को उखाड़ के फेंक देता है। कभी-कभी शंका हो तो व्यक्ति अपने जीवन का पूर्वापर विचार कर देख सकता है कि हम कितनी मिथ्या बातों को सत्य

मानते रहे हैं । क्या समझ में आया ? अनेक बातें शत-प्रतिशत उलटी होती हैं उन्हें सत्य माने बैठे रहते हैं । इससे सिद्ध होता है हम अज्ञान-ग्रस्त होते हैं, बहुत उलटा ज्ञान रखते हैं, उलटा सोचते हैं, यह भी हमारी मिथ्याज्ञान वाली अवस्था है, ऐसा सोचना चाहिए । किसी को यह संशय न हो कि मेरी बुद्धि में जो आ गया वह ठीक ही होगा, मेरी बुद्धि ठीक ही होगी । उसके निवारण के लिए यह उपाय है कि बुद्धि ठीक ही होगी ऐसा आवश्यक नहीं है। कितनी बार हम उलटा विचार करते रहे, बुराई को अच्छाई व अच्छाई को बुराई मानकर चलते रहे, दुःख में सुख, सुख में दुःख मानते रहे । यह हमारी बुद्धि के मापदण्ड से ऋषियों के साथ टकराव होने पर उनकी बात सच्ची है, मेरी बात झूठी है; ऐसा सोचकर उसे हटाना चाहिए ।

इसमें समय कितना लगेगा यह तो अपनी योग्यता के ऊपर है, संस्कारों के ऊपर है । प्रयोग करते-करते व्यक्ति इनको तनु बना लेता है । प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार और दग्धबीज भाव तक ऐसे ही पहुँचेगा । जब ये विचारधारा उभार ली जाती हैं तो तत्काल शब्दप्रमाण का प्रयोग करते हैं कि शब्दप्रमाण तो वह कहता है और मैं यह करता हूँ ! यह मेरी बात झूठ है। अपनी बात को ऊँचा मान लिया, महत्त्व दे दिया कि बुद्धि में तो यही दीखता है इन विषयों में । तब कहेंगे यह तो मेरी अविद्या है, कुसंस्कार हैं, कुसंस्कारों से अविद्या उत्पन्न हुई है । यह मानकर टकराते हैं तो उसको छिन्न-भिन्न कर देते हैं ।

जब सुख व सुख-साधनों से टकरा जाते हैं तो दुःख व दुःखसाधनों से द्वेष की स्थिति एकदम घटती चली जाती है । आपको जैसे खीर, हलुआ, फल आदि से राग हुआ, उसमें राग को आपने हटाया तो आपको फल बाँटते समय नहीं मिलने पर बाँटने वाले के प्रति द्वेष नहीं होगा, मुझे नहीं मिला इसका शोक सागर नहीं उमड़ेगा, कुछ नहीं होगा, हो सकता है न मिलने पर आप प्रसन्नता का अनुभव करें । आपने मेरे अपने प्रयोग सुने थे ! स्मरण है ? आठ दिन लगभग उपवास किया था । अच्छा मुझे खाना पड़ता था, मैं स्वाद की दृष्टि से कभी खाता ही नहीं था । दूध वाली घटना है ! वह यह है कि मुझे सूचना मिली कि आज से आगे आपको एक पाव दूध मिला करेगा, बस वहीं पर तहलका मचा कि यह खतरे की घण्टी है, इससे राग उत्पन्न हो सकता है। और राग उत्पन्न होकर परमात्मा की उपासना से हमको उखाड़ेगा । इसलिए यह कोई अच्छी चीज़ नहीं है कि दूध मिले । क्यों जी आपको याद है ?

साधक – सुनाई थी।

साधक – स्वामी जी ! इसमें एक कारण यह हो सकता है कि उस समय आप दूध पीने के अभ्यस्त नहीं थे (देखा नहीं था) ? अभ्यास में आ जाने पर तो व्यक्ति को इतनी बाधा नहीं होती है ?

स्वामी जी – नहीं । इसमें अनभ्यास कारण नहीं था । यहाँ तो ठीक उसके प्रति वैराग्य कारण है । यहाँ न तो उसके प्रति घृणा हो, न यह बात कि आगे दे या न दे यह झंझट हो, जितने भी तर्क-वितर्क उसमें हो सकते हैं उनमें कोई नहीं है । बस ! सुख-साधन में राग खतरे की घण्टी है, यह ईश्वरोपासना को उखाड़कर फेंकेगा । इसको छूना ही नहीं । मन से भी नहीं छूना है सुख व सुखसाधनों को; यही था ।

साधक – मतलब दूध के प्रति आपका इस प्रकार का अभ्यास नहीं था।

स्वामी जी – अभ्यास क्या करेगा ! वैराग्य था । वह तो हमने सारे संसार को छान मारा । अनित्य सिद्ध कर दिया । अनित्यसिद्धि से सारी राग नाम की चीज़ नहीं रही ।

साधक – राग तो रोटी में भी हो जाता है ?

स्वामी जी – वह भी नहीं होने देता था कभी ।

साधक – रोटी का तो आपने अभ्यास कर लिया था, दूध का अभ्यास रह गया होगा ।

स्वामी जी – एक दिन की घटना थोड़ी है, वर्षों तक अभ्यास किया दूध के प्रति। दूध क्या होता है ? अब दयानन्द मठ में भिक्षा माँग कर लेते थे, उनमें वे लोग प्याज डाल देते थे, मिर्च डाल देते थे रोटियों में भी, सारा बालटी में गुथमुथ कर के लाते थे । स्वामी सोमानन्द, सुरेन्द्रानन्द जी थे, वे जो कुछ भी बना होता था सब घोंट–घांटकर खाते थे । उस समय हम सूखी रोटी खाते थे सायं मध्याह्न। उस रोटी में भी प्याज लहसुन हुआ तो रोटी भी नहीं खाते थे । उसके सामने यह दूध क्या करेगा ?

साधक – पुनः डर किस बात का ?

स्वामी जी – भय का मतलब आप जैसा नहीं । उससे यह आशंका रहती है कि इससे राग हो सकता है, इसलिए यह कोई अच्छी स्थिति नहीं आई है कि हमारा कुछ उसके प्रति आकर्षण है । आकर्षण नाम की चीज नहीं है बल्कि उसके प्रति विकर्षण है । इसको इस भाषा में ले लो । भय

की बात छोड़ दो, उसमें भ्रान्ति होती है — **सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।** इसमें भी तो भय लिखा है । क्या चीज है यह ? अपमान की इच्छा अमृत के तुल्य करना और सम्मान से डरना, दूर रहना । यह अवस्था रहती है उस व्यक्ति की ।

अपर-वैराग्य सम्प्रज्ञात का साधन है उसके बिना बात ही नहीं बनती कि मन में राग है, द्वेषादि है । तो आप लोगों की यह तो उसके पूर्व की स्थिति काम कर रही है उसकी ओर आगे बढ़ने का है । विवेक हो जाय तो वैराग्य हो जाता है । वैराग्य होने के पश्चात् अभ्यास होता है । वैराग्य को सतत जमाये रखने के लिए अभ्यास करना पड़ता है । नहीं तो जमेगा ही नहीं । प्रयास नहीं करेंगे तो विवेक–वैराग्य जम नहीं पाएँगे, उसके लिए अभ्यास चाहिए लगातार। सतत दिनभर ईश्वर की उपासना में ही रहना । खाते समय भी, उठते समय भी, जागरितावस्था में ईश्वर की ही उपासना में रहना और उसी में जो कुछ करना हो कर लेना, अपना या दूसरे का । किसी से कोई बात ही नहीं करनी । किसी को कुछ बताना हो तो एकाध बात कर ली नहीं तो दुनिया की कोई बात नहीं, कुछ नहीं । इतना अभ्यास ऐसी स्थिति बनानी पड़ती है ।

अब थोड़ा और सुन लो ! वहाँ जितने भी बालक थे अपनी सामर्थ्य के अनुसार १२–१५ वर्ष के बालक होते थे, कुछ बड़े भी होते थे, कुछ जवान भी होते थे जो तीन-तीन किलो घी खाते थे महीने में और कितना ही दूध पीते थे। इधर मैं खाता था सूखी रोटी । अब दाएँ-बाएँ बैठे खूब घी खा रहे हैं खूब दूध पी रहे हैं, अच्छा ! मुझे उनको देखकर बड़ा आनन्द आता था कि देखो घी खा रहे हैं, दूध पी रहे हैं । ईर्ष्या की बात द्वेष की बात, मुझे नहीं मिलता आदि कुछ भी नहीं ।

विवेक का होना एक बात है, ईश्वर-प्रणिधान का होना दो और तीसरी वैराग्य का होना । पुनः अभ्यास करना । इस समय स्थिति जितनी स्पष्ट समझ में आती है उसके बिना नहीं । तब तक शब्द-प्रमाण, अनुमान-प्रमाण को लेकर खूब परिश्रम करते हैं; उससे प्रगति होती है, विकास होता है, संस्कार तनु होते हैं, ये सब लाभ होते हैं किन्तु जब वह स्थिति आएगी तब तो सारा उथल–पुथल हो जागा और अभ्यास दिनभर, संसार को अनित्य देखते रहना। खाते समय, पीते समय, बैठते समय ऐसे देखते रहना । उसे थोड़ा सा नित्य देखने लगे तो एकदम राग होगा। जब मौत को देख रहे

हैं तो इस ओर राग समाप्त । लोक में इन घटनाओं को देख सकते हैं जब मृत्यु की स्थिति आती है तो व्यक्ति की क्या स्थिति होती है ? यहाँ भी वैरागी की स्थिति वैसी ही होती है । उसको भी वही मृत्यु दीखती है।

एक भाग में और सहायता मिलती है । ये जितने भी पदार्थ हैं, उनको अपना मानना छोड़ दिया है, ईश्वर का मानता है । दूसरा भाग रहता है दिनभर वह जितना प्रेम ईश्वर के साथ रखता है वह किसी के साथ नहीं रखता । इतना प्रेम, इतनी श्रद्धा, इतनी रुचि ईश्वर के अतिरिक्त किसी में भी नहीं रहती यह कारण बना रहता है । आगे बढ़ो तो ईश्वरोपासना से उसे सुख मिलता है । उस सुख के मिलने से लौकिक-सुख उसे आकर्षित नहीं करता है । जैसे कोई बच्चा मिठाई खा रहा हो, अब उससे छीन लिया तो रोएगा, पर दूसरी दे देने पर नहीं रोएगा अपितु पहले को भूल जाएगा लड्डू था या क्या था ?

आपको ऐसा लगता होगा कैसे बीहड़ में लाकर छोड़ दिया ! कैसी खोज चल रही है ? हम तो प्रयत्न भी कर रहे हैं पुनरपि लगता है अब तक इनको हटा नहीं पाए, अब तक इनको मार न पाए । कई बार सोचता है व्यर्थ की बातें हैं ये मरते-मराते कुछ नहीं हैं; कहीं ऐसा न सोचने लग जाना ! इन शंकाओं के उभरने पर शब्द-प्रमाण बहुत कार्य करता है । आपको सुनाता हूँ —

बारह खड़ी तो खेत में पढ़ी थी । यह सत्यार्थ प्रकाश पश्चात् मिला इससे पूर्व 'मंगल प्रभात' नामक पुस्तक पढ़ी थी । बहुत अच्छी लगी और महात्मा गांधी पर बहुत श्रद्धा हो गई । उसमें सत्यादि की बातें लिखी थीं। डेढ़ वर्ष पश्चात् किसी ने बतलाया कि स्वामी दयानन्द का लिखा एक ग्रन्थ है उसका नाम है सत्यार्थप्रकाश। उसको पढ़ना चाहिए । उसको उपलब्ध किया पुनः पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते उससे मैंने बहुत से सिद्धान्तों का निर्णय किया। अनेक सिद्धान्त । पुनः जहाँ उसमें योग की बातें आईं उसको लिया । उससे बड़ा भारी प्रभाव पड़ा और मैंने किसी से एक-एक पंक्ति, एक-एक प्रकरण समझा। बस सब ठीक है । अब इसी के अनुसार चलना है, करना है । इतनी रुचि, श्रद्धा थी उसमें । आज भी मैं सत्यार्थ प्रकाश को पढ़ूँ तो बहुत अच्छा लगेगा, बड़ी रुचि होगी। और नई-नई बातें भी निकल आएँगी । पुनः मैंने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पढ़ी, उसमें विशेषकर उपासना-विषय । उसमें भी वैसी ही बड़ी रुचि और श्रद्धा रही । पुनः संस्कार-विधि पढ़ी । इस

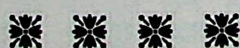
ग्रन्थ को पढ़ने पर पाठ्यक्रम का पता चला, क्या पढ़ना चाहिए क्या नहीं। योग का विषय क्या है, समाधि क्या है ? समाधि में क्या-क्या होता है, ईश्वर का साक्षात्कार आदि आदि। तो इनको ले-लेकर अपने अगले मार्ग को ऊँचे स्तर पर ले जाता रहा। सिद्धान्तों का निर्णय करता रहा। बहुत कितनी बातें होती हैं और आगे जीवन में भी जो-जो बातें आती गईं, जो-जो विचार उठते-गिरते रहे उनमें सहायता मिली। तो ऋषियों को आधार मानकर चलना यह ठीक है।

साधक – जब आप प्रथम बार सत्यार्थप्रकाश का स्वाध्याय कर रहे थे तब कोई ऐसी बात मिली थी जिसमें आपकी बात से ऋषि की बात से टकरा रही थी?

स्वामी जी – अब वह याद नहीं है। बातें तो होंगी कुछ। स्मरण हुआ तो बताऊँगा, कैसे समाधान किया था। एक मोटा दृष्टान्त जैसे कि भोजन आदि खा लेते थे उनमें प्याज-लहसुन आदि न खाना आदि का टकराव था। पता लगने पर छोड़ दिया। एक ऐसी स्थिति थी ईश्वर में मग्न होना और जीवात्मा और संसार की सत्ता को उड़ा देना, यह पहले चलता था। तो सत्यार्थप्रकाश में जैसा भिन्न-भिन्न विवरण है। पहले इतना पक्का निर्णय नहीं था। यों तो जानता था मैं परमात्मा की उपासना करता हूँ। सत्यार्थप्रकाश के पढ़ने से इसमें बल मिला।

साधक – गाँव में जब थे तब जीवात्मा के विषय में क्या मानते थे, प्रश्न उठता था कि मैं शरीर हूँ या भिन्न हूँ आदि, स्वरूप के बारे में ?

स्वामी जी – ये प्रश्न नहीं उठते थे। केवल मैं हूँ यह पता रहता था। अब मैं किस रूप वाला हूँ ऐसे का स्मरण नहीं है। इतना तो निर्णय हो गया था कि शरीर सहित सारा संसार नाशवान् है, पर विनाश नहीं होता केवल रूपान्तर होता है; यह मैंने स्वयं निर्णय किया था। पुनः जो रहता था बस सब कुछ ईश्वर है। व्यक्ति उस समय इतना प्रभावित होता है बस ईश्वर के अतिरिक्त कुछ नहीं है। पर सत्यार्थप्रकाश में जब भिन्न जीवादि चर्चा आती थी तो सोचने का अवसर मिलता था। पर हम ब्रह्म हैं; इसमें लगता था जीव ब्रह्म कैसे हो सकता है ? मक्खी की टांग बराबर भी नहीं, सारे संसार की रचनादि कैसे कर सकता है ?



एषणा-दर्शन

दिन में दैनिक जीवन में अपनी तीन एषणाओं को उभारते हैं, अथवा नहीं उभरने देते अथवा उभारकर रोक देते हैं या निरीक्षण–परीक्षण ही नहीं करते ?

साधक १ – उभारकर रोक देते हैं ।

साधक २ – यहाँ कहाँ वह स्थिति संभव है, यहाँ तो दिनचर्या में लगे रहते हैं ?

स्वामी जी – यह तो बहुत ऊँची स्थिति है एषणाओं को न उभारे, समाधि प्राप्त होने पर भी रोकने का प्रयास करना होता है । जैसे कि योगदर्शन व्या० भाष्य में कहा – **स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्॥** यो० द० ३/५१। ऐश्वर्यसम्पन्न लोगों से सत्कृत होने पर भी सङ्ग तथा अभिमान न करे पुनः अनिष्ट की संभावना होने से । यहाँ भाष्यकार ने प्रारम्भिक योगियों को तो छोड़ दिया, उसमें तो लोक का प्रभाव रहता ही है, अतः उसको छोड़ दिया, उपेक्षा कर दी । किन्तु जिसने सम्प्रज्ञात समाधि से ऋतम्भरा-प्रज्ञा को प्राप्त कर लिया उसको सावधान करते हैं । कहीं ऐसी घटना हो कि सम्पन्न विद्वान् भी सम्मान करने लगे कि अरे यह तो योगाभ्यासी है ! विविध प्रकार की सुविधा सामग्री उसके समक्ष उपस्थित कर देते हैं । ऐसी स्थिति में अत्यधिक सावधान रहना चाहिए अन्यथा पतित हो सकता है । यद्यपि पतनकाल कितना होता है भिन्न बात है, कितना पतित होगा भिन्न बात है । कभी वह विचारने लगे कि मेरे योगाभ्यास के पुरुषार्थ से उपलब्ध हैं तो सेवन करने में क्या आपत्ति है ? यहाँ कहा सङ्ग = सेवन से अनिष्ट हो सकता है । क्या ? अच्छा ये इतने बड़े-बड़े लोग मेरा सम्मान कर रहे हैं । यहाँ भी कहा मार खाएगा। जैसी योग्यता होगी वैसा पतन संभव है । इसलिए मैं कहता हूँ उनके लिए भी पतन की संभावना है, सावधानी अपेक्षित है, पर आप कहते हैं, ऐसी बात नहीं है तो यह विचारणीय हो जाता है।

साधक ३ – पकड़ में आती है उसको रोकने का प्रयत्न करता हूँ ।

स्वामी जी – इसकी दो स्थितियाँ हैं । प्रथम इच्छा करके उभारना, द्वितीय वृत्तिवत् अकस्मात् उभर आना, कैसा होता है ? ऐसा होता है कि मन में बात आई मेरी जब समाधि (सम्प्रज्ञातावस्था) सिद्ध होगी तो लोग कहेंगे कि इसकी तो समाधि सिद्ध हो गई !

यहाँ बुद्धिपूर्वक एषणा को उभार रहा है। जब कोई योजना नहीं, घटना नहीं, उपलब्धि नहीं चलते-चलते आ गया मेरा सम्मान होना चाहिए। यह वृत्तिरूप अकस्मात् एषणा उभारी हुई है। इसी प्रकार अन्य विषय में लौकिक सुख-साधन होना, कर लेना या कारण पूर्वक होना।

साधक ४ – पुत्रैषणा, वित्तैषणा तो शीघ्र पकड़ में आती हैं और रोक लेते हैं परन्तु कभी स्वतन्त्रता पूर्वक लोकैषणा को ईश्वर-प्रणिधान से युक्त होने पर रोकने का प्रयास करते हैं, अन्यत्र नहीं करते हैं, लगता है कि यह स्थिति रहे। रहती ही है।

साधक ५ – आलम्बन आने पर होता है। कभी योजनापूर्वक भी उभारते हैं।

स्वामी जी – भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भी पता चलता है। वहाँ अपने शरीर सहित सम्पूर्ण सृष्टि को विनाश के मुख में देखता है, नाम-रूप दिखाई ही नहीं देते। एक प्रभाव यह होता है इसको सुनें और प्रयोग करें, जैसे हलुवे को देखा और तत्काल उसके सुख की इच्छा हुई। किन्तु उसी समय हलुवे और स्वयं दोनों को प्रलय में पहुँचा दिया तो वित्तैषणा नहीं उठेगी। यदि दोनों को वर्तमान रखते हैं तो तत्काल सुख की इच्छा होगी।

यह जो लोकैषणा है, इस विषय में, यदि हम ठीक प्रकार से सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माता, स्वामी ईश्वर को स्वीकार करते हैं तब लोकैषणा नहीं उत्पन्न होती है अन्यथा रोक नही सकते हैं। जैसे प्रथम तो व्यक्ति पदार्थ, गुण, विद्यादि वस्तुमात्र से यह सम्बन्ध बनाता है कि यह मेरा है, तब लोकैषणा उत्पन्न होती है। जब ईश्वर का मानते हैं तब नहीं होती है। जीवात्मा जब शरीरादि को ईश्वर का मानकर स्व-स्वामित्व नष्ट कर देता है तब भी लोकैषणा नहीं उत्पन्न होती है। इसके साथ प्रलयावस्था का सहयोग जुड़ा रहता है। प्रलय मानने पर लोकैषणा नहीं रहती। वहाँ बुद्धिपूर्वक कार्य करता हुआ विनाशी देखकर यदि ईश्वर का न माने तो लोकैषणा उत्पन्न होती है।

पुत्र की इच्छा पुत्रैषणा कहाती है। इसके दो भाग हैं प्रथम तो गृहस्थ में जाकर सन्तति उत्पन्न करना, द्वितीय पठन–पाठन में शिष्य रूप में। वहाँ शिष्य को पुत्र मानने पर पुत्रैषणा उत्पन्न होती है। इस सम्बन्ध में दो बातें जानने योग्य हैं। अच्छे शिष्य हों, योगी, विद्वान्, संसार का कल्याण करने वाले हों, ऐसा मानना पुत्रैषणा नहीं है। निष्काम भाव से निर्माण किया जिससे संसार का कल्याण हो, किन्तु उससे मेरा सम्मान, कीर्ति, ख्याति हो यह मानना

पुत्रैषणा है । ईश्वर-प्राप्ति के लिए उससे अपने लिए सुख चाहना भी पुत्रैषणा नहीं है । लोक के सुख के लिए, शरीर स्वास्थ्य के लिए, वह भी लेख लिखता है, पढ़ता है सेवा करता है, स्वयं उपकार में संलग्न रहता है तब सेवा कराता है तो वह एषणा नहीं होती ।

कभी ऐसा प्रश्न आता है तब विचारपूर्वक उत्तर सिद्ध हो तो अच्छा समाधान कर लेते हैं । अपने पक्ष से भी दूसरे पक्ष से भी प्रश्न संभव है । एक स्थान में शिविर काल में प्रश्न आया । वहाँ बुद्धि-जीवी-वर्ग उपस्थित था। उसने सुना था जब तक तीन एषणाएँ रहती हैं तब तक योगी नहीं हो सकता – ऐसा ही प्रशिक्षण दिया जा रहा था । वहाँ उन्होंने कहा आप पढ़ाने वाले हैं, हम पढ़ने वाले हैं, पुनः पुत्रसदृश हुए, ऐसा ही शास्त्र में कहा था। हमने कहा यह पुत्रैषणा नहीं है । जैसे ईश्वर हमको विद्या पढ़ाता है इस प्रकार उसमें पुत्रैषणा नहीं होती वैसे ही यह पढ़ाना है; मेरी भी पुत्रैषणा नहीं है । यहाँ एषणा का कारण जानना चाहिए –

धन, भोग हमारे पास होने चाहिएँ, वहाँ उनका प्रयोग यदि इन्द्रियों की तृप्ति के लिए, सम्मान के लिए किया जाए तो वित्तैषणा होगी । यदि संसार के उपकारार्थ, स्वास्थ्य के निमित्त उचित भोजनादि के रूप में किया जाए तो वित्तैषणा नहीं है । अतः ऐसा समन्वय जानना चाहिए ।



आन्तरिक-युद्ध-विज्ञान

आपने अभिमन्यु का नाम सुना होगा, उसको युद्ध विज्ञान सिखाया गया, उसको चक्रव्यूह में प्रवेश करना तो आता था पर निकलना नहीं आया था। यद्यपि उसके साथ नियम के विरुद्ध अन्य योद्धाओं ने युद्ध किया था । पर यहाँ लेना यह है कि उसको प्रवेश करना तो आ गया पर निकलना नहीं आया तो मारा गया । वैसे ही आपने योगविद्या में प्रवेश करना तो सीख लिया पर संसार से निकलना नहीं आया तो यहाँ भटकते रह जाओगे । काम, क्रोध से निकलना नहीं आया तो मारे जाओगे ।

एक भाग है इस संबंध में ऋषियों ने समझाने का प्रयत्न किया कि व्यक्ति अपने मार्ग को छोड़कर भटक जाता है, मारा जाता है, अविद्या के आक्रमण से जहाँ गिरना नहीं चाहिए वहाँ गिर जाता है । जगह-जगह पर

उसका उल्लेख मिलता है और जो कुछ सिखाया गया उनको लेकर प्रयोग करोगे तो बच जाओगे नहीं तो मारे जाओगे ।

एक विचारधारा । आप काम–क्रोध–लोभ–मोह आदि आन्तरिक शत्रुओं से यदि प्यार करके रहोगे तो मारे जाओगे । जैसे जो शत-प्रतिशत अन्यायकारी व्यक्ति है, जिसमें न्याय का कोई अंश नहीं है उससे आशा करो कि इससे न्याय मिलेगा, आराम, सुख, शान्ति मिलती रहेगी प्यार करने से तो क्या होगा? ऐसी बात है, क्या समझे?

साधक १ – आन्तरिक शत्रुओं से प्यार नहीं करना चाहिए और बाह्य शत्रुओं से मेल रखना चाहिए ।

स्वामी जी – क्या कह दिया ? पूरा बोलो, कम समझ में आया ?

साधक १ – जो बाहर के शत्रु हैं उनको अच्छा बनाना चाहिए, अपना बनाना चाहिए, और अन्दर के शत्रुओं से प्यार करना चाहिए ।

साधक २ – जैसे बाहर कोई अन्यायकारी व्यक्ति है उससे प्यार करना जैसा है, उसी के समान आन्तरिक शत्रुओं से प्यार करना है ।

स्वामी जी – अब आपने क्या समझा ?

साधक १. मेरा भी वही अभिप्राय था ।

स्वामी जी – आप के ग्रहण करने (समझने) में आकर्षण, तीव्रता, तेल बुद्धि कम है । एक बुद्धि होती है लक्कड़ बुद्धि, दूसरी होती है रबड़ बुद्धि, तीसरी होती है तेल बुद्धि। यहाँ लक्कड़ बुद्धि और रबड़ बुद्धि की बात तो चलेगी नहीं, तेल बुद्धि वाले मेरी बात को पकड़ सकते हैं । फिर से दुहराता हूँ, यह तो प्रशिक्षण है, धारावाही बोलना नहीं है। एक व्यक्ति इतना अन्यायकारी है कि उससे न्याय की कोई आशा नहीं जा सकती, इतना भयंकर अन्यायकारी है । उससे प्यार करना जैसे अत्यन्त घातक है, ऐसे ही काम-क्रोध, अविद्यादि से प्यार करना अत्यन्त घातक है। अब समझ लो, दुहरा लो, अब क्या समझ में आया, कभी फिर उलटा समझ लो ?

साधक १ – जो व्यक्ति अत्यन्त अन्यायकारी है उससे न्याय की अपेक्षा करना, प्यार करना अत्यन्त हानिकारक है ।

स्वामी जी – यह मेरा मित्र बन जाएगा, यह मुझे सहायता देगा, इससे मेरी रक्षा होगी। जैसा यहाँ अन्धविश्वास के कारण **अविश्वस्ते विश्वसिति** = अविश्वास के योग्य में विश्वास करना और विश्वास के योग्य में अविश्वास

करना यह मूर्खता का लक्षण है । आया समझ में व्यवहारभानु में एक बात आती है न ! कहाँ पर— भई इतना अध्ययन करेंगे, इतनी गहराई में जाएँगे, यह पण्डित है, यह नहीं है इतना कितना विचारेंगे । तो उसने कहा — देखो भाई यह कोई विस्तार की बात नहीं है — **बिन्दुं लगन्तं संस्कृतं बनन्तम्।** तो ऐसी स्थिति यहाँ नहीं है, तलवार की धार है । उस पर चलना है तो ठीक है । मोम की धार पर चलना हो तो मौत को बुला लेना, सीधी सी बात है ।

तो जैसे अत्यन्त अन्यायकारी व्यक्ति से कोई संभावना नहीं है । उस पर विश्वास कर लेना, इससे प्यार करो, इसके साथ रहो, सहायता देगा या मित्र बन जाएगा जैसा है वैसा ही इन काम-क्रोध आदि शत्रु तथा इनकी जननी अविद्या से प्यार करना है । यदि आपने कर लिया तो बच नहीं सकते।

जब-जब उलटी विचारधारा आती है नित्यादि को अनित्यादि मानने की आती है तो यह वही खतरे की घण्टी है । अभी भी इनका पूर्ण विरोध नहीं किया जाय तो ये हटेंगे नहीं । कुछ भी करते रहो । देखा जाता है तो यह बात निकलती है कि व्यक्ति अपने दोषों से प्रेम करता है । जब वह उत्तेजित होकर बोल देता है तब यदि उसको कहो आप क्रोध क्यों कर रहे हो तो कहेगा नहीं नहीं मेरा स्वभाव है, क्रोध नहीं करता, यह मेरी भाषा ही है; यह है अपने दोषों से प्यार करना। ऐसे टाल-मटोल करता है । आप करते होंगे तो कभी देख लेना । आपकी अन्तःस्थिति से अध्ययन हो जाएगा कि क्या करते हैं? जैसे कि अपने दोष को —

(१) जितना लम्बा चौड़ा है उतना न बताना, उससे छोटा करके बताना।

(२) एक न बताना ।

(३) बताने में भय-शंका-लज्जा करना ।

साधक — छोटे दोष को बड़ा करके बताना ।

स्वामी जी — छोटे दोष को....... ? आपने क्या दोहरा दिया ? आप वाली बात को तब सम्मिलित करेंगे जब समझ में आ जाएगी । तो हमारी पहले वाली बात को समझ लो नहीं तो "लेना एक न देना दो" वाली बात हो जाएगी । एक बात तो समझ में आई नहीं उसको छोड़कर दूसरी पकड़ने लगे तो पहली भी चली गई; तो कभी ऐसा न हो जाय । विद्यार्थी कई बार ऐसा कर देता है । एक कथा है न —

सुनी है केवल कथा बना रखी है या हुई है हमें पता नहीं । बताते हैं एक देवता ने एक व्यक्ति को एक बहुत मूल्यवान् वस्तु दे दी । वह दौड़ा-दौड़ा राजा के पास गया कि उसके काम की वस्तु होगी । बहुत अच्छी थी, तो राजा कहने लगा एक और ऐसी ले लाओ नहीं तो तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी। या तुझे दण्ड मिलेगा। वह गया लेने के लिए एक और इसी जैसी दे दो। देवता ने कहा अच्छा ! पहले वाला मुझे दे दो । पुनः कहा "लेना एक न देना दो ।" ऐसी आपकी और एक बात मिलाने लगे तो कहीं वह भी हाथ से चली जाएगी।

तो एक स्थिति बताई जैसे – मन में मानसिक स्तर पर कुछ क्रोध आ गया, कुछ क्षोभ आ गया, सूक्ष्म है वह बाहर नहीं दिखाई देता। पर व्यक्ति जानता है कि अन्दर कुछ क्रोध है । कहता है इसको नहीं छोड़ना, क्यों आया? फट पकड़ लेता है । तो यह है दोषों से प्यार नहीं करना । आप प्रयोग करके देख सकते हैं ।

साधक – मन्यु का अभिप्राय क्या होगा ?

स्वामी जी – मन्यु का अर्थ प्रकरण के अनुसार होता है न्याय को जिताना, न्याय को आगे बढ़ाना, अन्याय का विरोध करना, हटाना । एक अर्थ क्रोध भी है, पर ईश्वर में क्रोध है यह केवल कहने की बात है जैसे आप क्रोध कृत हैं। क्योंकि वह सदा न्याय करता है कभी अन्याय नहीं करता है। अन्यायकारी को दण्ड देता है वही उसका क्रोध है। नहीं तो यदि क्रोध किया तो दुःखी नहीं हो जाएगा ? तो प्रकरण के अनुकूल अर्थ करने से ठीक हो जाता है ।

तो यह युद्ध करने का क्षेत्र बड़ा गम्भीर है । अब आपने आज आरम्भ किया। कुछ वर्ष हो जाएँगे । जब ४०–४५ के हो जाओगे पुनः कहोगे ये काम-क्रोध आज भी पीछा नहीं छोड़ रहे हैं, पता नहीं छोड़ेंगे या नहीं छोड़ेंगे?

अब एक व्यक्ति की कथा याद दिला दूँ – वे पहले से ही बड़ी आयु के थे। सेना में रहे गुरुकुल में भी छात्राध्यक्ष के रूप में रहे । लम्बा सम्पर्क रहा। मैंने उनको कहा शुद्ध विचार करने के लिए यह धारणा बनानी चाहिए और उनको सिखा दिया । कहने लगे अब ब्रह्मचर्य के विषय में बताओ – मैंने कहा ब्रह्मचर्य के विषय में ऐसी-ऐसी विचारधारा बनाओ । अच्छा! हाँ। तो बहुत लम्बे काल के बाद बोले मैं तो १४ साल से आपकी बात सुन रहा हूँ परन्तु आज तक वह भावना ही नहीं बनी ब्रह्मचर्य के विषय

में ! कालान्तर में एक घटना व्यवहार में आई। वे कहने लगे हाँ १४ वर्ष के पश्चात् आज मुझे कुछ समझ में आया कि हाँ ऐसी भावना होती है ।

यदि मैं और आप मुक्ति से नहीं लौटे तो इतने दिनों से भोगों को भोगते आ रहे हैं, उनकी वासना कैसे एकदम उखड़ जाएगी यह । १ अरब ९६ करोड़ वर्ष की काम-क्रोध की वासनाओं को एकदम कैसे मार दोगे आप। इस विषय में ऋषियों ने कहा – **तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः** ॥ यो० द० १/३२। सूत्र में काम–क्रोध–लोभ–मोहादि अविद्या शत्रु को मारने का उपाय बताया । दोहराओ, केवल बैठे मत रहो । खाओ-पीओ और दरवाजा बन्द करके सो जाओ, कोई टोकने वाला तो है नहीं ? हम तो सोचेंगे कोई बात नहीं अपने आप नियमों का पालन कर रहे होंगे । आप सोचेंगे क्या बात है? स्वामीजी तो देखने आते ही नहीं है! खूब लेटो, उठो, बैठो, अपने पड़े रहो। पुनः कहेंगे स्वामी जी मुझे योग समझ में नहीं आया, मैं तो घर जाना चाहता हूँ ।

साधक १ – तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः । कामादि को रोकने के लिए किसी एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए ।

साधक २ – व्याधि आदि अन्तरायों को नष्ट करने के लिए ईश्वर का चिन्तन-मनन, ध्यान करना चाहिए ।

स्वामी जी – तो प्रसंग है **ईश्वरप्रणिधानाद्वा;** यहाँ से चला । ऋषि कहते हैं विवेक-वैराग्य तीव्र होने से शीघ्र समाधि होती है । ईश्वर-प्रणिधान से उससे भी शीघ्र समाधि होती है । क्लेश = अविद्यादि से रहित ईश्वर है। उसका नाम ओम् है उसका जप करो, उससे विघ्नों का विनाश होगा। पुनः कहा इन सारे प्रतिषेधों को हटाने के लिए एक तत्त्व ईश्वर का अभ्यास करो। उसकी उपासना करो, उसकी आज्ञा का पालन करो । तो ये शत्रु मारे जा सकते हैं अन्यथा कोई उपाय नहीं । अब देख लो कितनी चीजें आ गई इसमें ? व्याधि = रोग । स्त्यान = शुभ कर्मों में अरुचि । अकर्मण्यता। आप में से कोई सोच लेता होगा भाई एक घण्टे का कार्यकाल है आधे घण्टे तक घास उखाड़ो और आधे घण्टे तक अपना इधर-उधर कर लो । थोड़ा सा पीछे खिसक जाता हूँ, जब घण्टा पूरा होनेवाला होगा तो चला जाऊँगा और हाथ लगा के आ जाऊँगा । ऐसे व्यक्ति शुभकर्मों से अपने आप को बचाने का प्रयास करते हैं । आप बचते हैं या नहीं, मुझे पता नहीं । बताओ अपना अपना ?

साधक – नहीं बचते हैं, अपना काम करते हैं।

स्वामी जी – ठीक है अब संशय को देखो–पता नहीं ईश्वर है भी या नहीं ? कैसे हम रगड़म-रगड़ा कर रहे हैं। वह भी कोई ईश्वर है, उसकी कोई सीमा नहीं, कोई देश नहीं, एक क्षण में दुनिया के पाप–पुण्य का निर्वाचन कर लेता है, उसका फल देता है और बिना हाथ–पैर के सृष्टि को बनाता है। कहाँ है ईश्वर ? होता तो दिखाई तो देता ? भाई हमें नहीं जंच रहा है ईश्वर है या नहीं? यह संशय है।

ध्यान देना जब ये शत्रु उभरते हैं, संशय उभरते हैं, कौन इसको उभारता है ? तब क्या करोगे ?

दो स्थिति – संशय उठ गया। संशय हटता नहीं है। हटा दिया पुनः आ गया। यह जीतने का ढंग नहीं है, आप जीत नहीं सकते। युद्ध करना नहीं आता। इसके जीतने का ढंग है, युद्ध करने आना चाहिए, वैसे जो चाहे जीत ले ऐसा नहीं होगा ? वह क्या ढंग है, क्या करता है, वह सोचता है– यह संशय मैं उठाता क्यों हूँ ? अज्ञानता काम करती है। अतः कहता है संशय उठानेवाला तो मैं हूँ, नहीं उठाऊँगा। ईश्वर–जीव–प्रकृति के विषय में संशय यह मिथ्याज्ञान है, इसको मैं उठने ही नहीं दूँगा। यह जीतने के ढंग है। नहीं समझ में आया तो बताओ ?

साधक - आ गया।

स्वामी जी – या चिकने घड़े की तरह हो, लगने नहीं देते। सुनकर उठ जाते हो। यह बात इसलिए कही जाती है कि कभी आपके अन्दर भी वही दोष न आ जाए। यदि दोष आ जाए पुनः न जाए तो आप तो कहोगे भाई चुपचाप रहना ठीक है। उपदेश हो गया, बेड़ा पार हो गया। तो ऐसे काम नहीं चलता है, यह ढंग पद्धति नहीं है।

तो वह कैसे सोचता है, सोचने में क्या देखता है। देखो ! प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है, ईश्वर है, ऐसा ही है, जीवात्मा है ऐसा ही है, प्रकृति है और ऐसी ही है। है और वैसा है, जैसा लक्षण किया गया है। जब-जब संशय उठता है, उसके हटाने का यह ढंग है। अपने आप नहीं हटेगा, जैसे ही संशय आएगा, आपकी विरोधी विचारधारा उठ खड़ी होगी।

साधक – पुनः सिद्ध करना हो तो क्या करना चाहिए ?

स्वामी जी – तो वही पहले वाला प्रमाण काम में लाना चाहिए। जैसे पहले सिद्ध किया। पुनः उलझन खड़ी हो तो भाई आओ! युद्ध के लिए

तैयार हैं। संशय वाला तुम्हारा पक्ष और यह हमारा पक्ष है चलो। उपासनाकाल में तो छोड़ दो, सोच लो इस समय उपासना करनी है। पुनः भिन्न काल में खड़े हो जाएँगे, अच्छा अब आओ मैदान में ? अपने कमरे में बैठ जाओ और अपने को कहो बताओ अब क्या विपक्ष उठाते हो ? विरोधी पक्ष को लेकर न्यायालय में उपस्थित हो जाओ। न्यायदर्शन को सामने रखो। पञ्चावयव को ले लो, ऐसे प्रमाणों को ले लो, पूरी तैयारी कर लो। पुनः कहो, देखो हो गया न सिद्ध ! पुनः संशय की बात मत उठा देना।

साधक – जिस समय तमोगुण–रजोगुणादि उभरकर आते हैं, उस समय सत्त्वगुण को और आत्मा को भी अभिभूत कर देते हैं; तब क्या करें ?

स्वामी जी – वह तो ऐसी अवस्था हो गई जैसी हमारी रुग्णावस्था है। आलस्य, निद्रा में संस्कारों को उभार लिया हो, उस वातावरण में हो तब तो दबाने की बात आती है। अत्यन्त सावधान रहो, आते ही पता चल जाता हो तो तत्काल संभल जाओ। मनु ने लक्षण बताए यह तमोगुण का, रजोगुण का लक्षण है आदि आदि।

इस योग के क्षेत्र में, इस योग की सेना में प्रवेश तो कर लिया पुनः भागने की तैयारी तो नहीं करोगे, अथवा करोगे ? पता नहीं, 'भी' में या 'ही' में आता है, भाग भी सकते हो, यह नहीं कहते भाग ही जाओगे। पर भागकर जाओगे कहाँ ? यह बताओ। कोई जगह बता दो जहाँ छुटकारा मिलता हो। जब कोई छिद्र, कोई कोण, स्थान मिलता हो तब तो यहाँ से भागकर वहाँ जाओगे, नहीं तो वहाँ जाकर भी मारे जाओगे ? क्या करोगे ? इसलिए युद्ध ही करना श्रेयस्कर है।

❖ ❖ ❖ ❖

अपर-वैराग्य-अवलोकन

आप कभी अपर-वैराग्य की स्थिति का अवलोकन करते हैं, झलक देख पाते हैं या नहीं ?

साधक१– दो स्थिति में इस स्थिति का अनुभव होता है एक तो बुद्धिपूर्वक बिना कल्पना के प्रलयावस्था बनाने पर दूसरी आत्मा पर अधिकार अर्थात् इच्छा–प्रयत्न–ज्ञानादि स्वाधीन दीखने पर।

साधक २: पहले-पहले उपासना काल में अनेक बार ऐसा हुआ आजकल तो नहीं हो रहा है। यह जो स्थिति है वशीकारसंज्ञा = मन-इन्द्रियों पर पूरा अधिकार, सांसारिक इच्छाओं का न उठना।

स्वामी जी – अच्छा कभी आपने यह देखा हो उपासनाकाल में व्यक्ति की स्थिति जो ऊँचे स्तर की होती है, उसके अन्दर रागद्वेषादि कम होते हैं और बौद्धिक स्तर पर्याप्त होता है, सूक्ष्म बातों को पकड़ना; ऐसे होता है और उस ऊँची स्थिति को देखता है कि आगे चलता हूँ तो मेरी यह स्थिति नहीं रहती है ? क्यों नहीं रहती ? वह सोचता है जैसी स्थिति उपासना में थी वैसी ही व्यवहार में बनाये रखने का प्रयास करूँ। आप कभी ऐसा सोचते हो या नहीं ?

साधक १ – ऐसा तो होता है जब उपासना में स्थिति बनती है तो दिन में कई घण्टे तक उसका प्रभाव रहता है।

साधक २ – कभी-कभी ऐसा असंभव सा लगता है, इस स्थिति में कैसे व्यवहार हो सकता है ? प्रयास करते हैं पर रहता नहीं।

स्वामी जी – उस प्रकार असंभव लगने का कारण है कि इस क्षेत्र में अनुभवात्मक ज्ञान-विज्ञान का प्रयोग न होना, इससे ऐसा लगता है। एक कारण है कि वैराग्य की स्थिति इतनी विचित्र है, अद्‌भुत है कि लगता है व्यक्ति जैसे संसार से कट जाता है। संसार कहीं, वह कहीं और उसमें सब कुछ मरा हुआ ही दिखाई देता है। कितनी विचित्र अवस्था है ?

साधक – प्रकोष्ठ बन्द करके बैठे रहें, तब तो लगता है कि इस स्थिति को काफी हद तक बनाया जा सकता है, रखा जा सकता है।

स्वामी जी – उसका तो यह उपाय है कि आपको जैसे एक घण्टा मिला, दो मिले, उसमें आप ध्यानावस्थित होकर इसकी गहराई की खोज कर सकते हैं, इसकी सूक्ष्मता में जा सकते हैं। किसी से बात नहीं करनी, लेना नहीं, देना नहीं, उस अवस्था में आप निर्वाधरूप स्थित रहते हैं, तो उस गम्भीर स्थिति को पकड़ सकते हैं। ऐसे इसको उभारते हैं। पुनः व्यवहार में भी यह स्थिति न बिगड़े तो उसके लिए खाना–पीना, लेना–देना आदि में प्रयास करना होता है कि मेरी कमरे में बैठे वाली स्थिति बनी रहे। ऐसे-ऐसे बढ़ाते हैं।

साधक – सामने वाले से व्यवहार में कुछ ऊटपटांग स्थिति लगती है, कठिनाई सी दीखती है, वैसा ठीक व्यवहार उचित नहीं लगता है। स्वाभाविकता नहीं लगती।

स्वामी जी — यह कठिन हो या कुछ हो, सामने वाला क्या मानता है, कुछ नहीं। वहाँ तो मान्यता यह है कि तीन काल में सत्य क्या है ? सामने वाला क्या मानता है, क्या कहता है ? यह चिन्ता का विषय ही नहीं रहता। वह तो देखता है यह सामने वाला भी गया और मैं भी गया । दोनों उस अवस्था में हैं । यहाँ बात है सामने वाला बुरा माने, अच्छा माने, कुछ भी माने; कुछ नहीं । परन्तु ऐसे उलटे काम नहीं करने चाहिएँ कि कुछ का कुछ कर दें । स्वाभाविक रूप से जो होता है उसे करता जाता है । जितने कार्य कर सकता है अपनी स्थिति को बनाये रखते हुए, उतना कर लेता है । उसका हाव-भाव, लौकिकों के साथ लौकिक जैसा व्यवहार करना, आमने-सामने करना पुनः हंस लेना ये नहीं कर सकता । ये सब बन्द हो जाएँगे। आकृति देखना और किसी ओर ध्यान देना आदि आदि नहीं ।

आपको मैंने सुनाया था परोक्ष में कितने ही व्यक्ति क्यों न हों उनके विषय में नहीं कह रहा, न यह कहता कि जितने मेरे सामने आए उनकी परीक्षा कर ली यह भी उत्तरदायित्व नहीं लेता परन्तु मेरे साथ जो सम्बद्ध रहे संन्यासी, ब्रह्मचारी, योगाभ्यासी आदि और जिनकी मैंने परीक्षा की, अध्ययन किया तो वे वैराग्यवान् हों; ऐसा ५५-५६ वर्ष में कोई देखने को नहीं मिला।

साधक — एक आचार्य ..... हैं; वे कहते हैं उन्हें ईश्वर की अनुभूति हो गई है, अपर-वैराग्य हो गया है ऐसा अपने प्रवचनों में कहते हैं ।

स्वामी जी — मैंने उनकी परीक्षा नहीं की । व्यक्ति क्या सोचता है, क्या बोलता है, क्या व्यवहार करता है इसमें सूक्ष्मता से निरीक्षण करने पर पता चलता है । उनके बाह्य व्यवहार में स्थूल रूप में पुत्र के प्रति ममत्व जैसा देखा उससे तो नहीं लगता । मैं, मेरा, परिवार, सम्बन्ध, पुत्रों के साथ रहना यह संकेत करता है कि सम्प्रज्ञात की स्थिति नहीं है । इससे अधिक का पता नहीं ।

एक तुष्टि दोष होता है जिसमें स्थिति भिन्न होती है पर मानता है उच्च । वह आगे की स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता ।

वैसे यह अच्छा गम्भीर विषय है । वह व्यक्ति बैठे । उससे सुनते जाएँ, कैसे हुआ यह वैराग्य आपको, कैसे-कैसे आगे बढ़े, सृष्टि के विषय में कैसे सोचा, स्वस्वामि संबंध कैसा था पहले, आगे कैसे बढ़ाया, आजकल कैसा रहता है । उस समाधि का प्रभाव आपके शरीर पर क्या पड़ता है, जब समाधि में जाते हैं तो ईश्वर का आनन्द किस स्थिति में कैसा अनुभव होता है ।

समाधि रहती है तो क्या स्थिति ? टूटती है तो क्या स्थिति रहती है । अर्थात् इतने सारे अध्ययन के पीछे सारे निर्णय दे सकते हैं । व्यवहार में व्यक्ति की मोटी-मोटी कुछ बातें झलकती हैं और कुछ लेना—देना करता है ।

व्यवहार भी परीक्षा का एक भाग होता है । व्यवहार में लेना—देना, कार्य करना—करवाना आदि कार्य करते देखो । जैसे हम मिलकर करते हैं । उन कार्यों को करते हुए उसका मन, वाणी, उसका खाना—पीना, उसकी मान्यता क्या रहती है ? इससे भी परीक्षा होती है ।

साधक – एक और स्वामी जी आपके सहपाठी रहे हैं ।

स्वामी जी – सहपाठी नहीं उन दिनों वहाँ पढ़ते थे । क्या पूछना है?

साधक – वे भी योग-शिविर आदि लगाते हैं ।

स्वामी जी – अच्छी बात है । आर्य समाज के सिद्धान्तों को सिखाते हैं, आसन-प्रशिक्षण करते हैं, लोगों को वैदिक परम्परा में ढालते हैं । थोड़ा सा हठयोग प्रदीपिका पर जोर देते हैं, प्राणायामादि पर ।

हाँ कौन था आगे ?

साधक३ – घटना विशेष के उपस्थित होने पर जब ईश्वर के प्रति रुचि उत्पन्न होती है तब इस अवस्था की अनुभूति कुछ काल के लिए होती है। शेष काल में वैराग्य की उच्चावस्था अनुभव में नहीं आती है ।

साधक४ – ऐसी अवस्था कभी-कभी घण्टा-आधा घण्टा तक दिखाई देती है आगे नहीं ।

स्वामी जी – मैं ऐसी प्रलयावस्था बनाता हूँ कि पूरे संसार को समेट कर रख देता हूँ, कोई आकार—प्रकार छोड़ता ही नहीं जिसकी स्मृति आनी है या स्मृति करने वाला है । इसके अन्दर एक छिद्र – जब इसमें बीच में थोड़ी सी भी निर्बलता आ जाती है तो स्मृति के रूप में आकार का कुछ क्षण के लिए उपस्थित होना और तत्काल उसको मिटा देना । यदि पूरी सावधानी हो तो कोई भी आकार-प्रकार नहीं आएगा । पूरी सफाई रहेगी अपनी और अन्यों की भी । इसका दृष्टान्त आप देख सकते है आज ध्यान में बैठकर। जो प्रलय पहले था उसकी स्थिति की कल्पना करके देखो । वस्तुतः ऐसा ही था, पक्का निर्णय । ईश्वर सर्वव्यापक था, आज भी है । प्रकृति सत्त्वादि साम्यावस्था में पड़ी थी, जीवात्माएँ मूर्छित थीं। उस अवस्था को आज देखो तो लगेगा ईश्वर तो व्यापक था आज भी है, इसमें तो कोई आकार-प्रकार

नहीं । दूसरी अवस्था आपके सामने है मूर्छित जीवात्मा की, यह भी आकार-प्रकार रहित । तीसरी प्रकृति के परमाणु अतिसूक्ष्म उसमें किसी रूपविशेष की स्थिति नहीं, जैसे बने हुए पदार्थ की होती है । इस प्रकार तीनों का अनुभव करेंगे तो आपको नितान्त कोई आकार–प्रकार रूपरेखा रहित अवस्था दिखाई देगी । ये हैं अनुभवात्मक प्रयोग कैसे–कैसे अनुभव होता है?

अब इसको हमने बार-बार इस प्रकार सिद्ध किया है । जैसे; अपने से चले स्वयं समाप्त, पुनः मनुष्यमात्र समाप्त, वृक्ष-पशु समाप्त, भूमि समाप्त। पूरी पृथ्वी, लोक-लोकान्तर इन सबको समाप्त कर दिया । अब कोई आकार–प्रकार टेढ़ा-सीधा, रंग-रूप कुछ नहीं छोड़ा । ऐसी अवस्था बना दी जैसी सृष्टि बनने के पूर्व थी। ऐसी स्थिति बनाकर समाधि लगानी हो तो वहाँ ईश्वर का अनुभव करेंगे। ईश्वर की अनुभूति होगी और सारा विश्व प्रलयावस्था में बना रहेगा । इसको ऐसा मत समझना कि प्रलय हो ही जाता है । यह तो समझ गए कभी उलटा अर्थ करो। जैसा पूर्व प्रलय का स्तर है उसको सोचो, देखो और उसी प्रकार आगे वाला स्तर भी पूर्ण निश्चित हो जाना चाहिए कि जैसा पहले था वैसा ही होगा । तब मन में वही बात बैठेगी, जो थी। उस अवस्था में यह अन्तर मिलेगा कि अब जैसा मैं शरीरधारी हूँ ऐसा नहीं रहेगा, न कोई व्यक्ति मिलेगा । जैसे आज सोच रहे हैं वैसे नहीं सोचेंगे ।

साधक – स्वामीजी जब ध्यान में आप प्रलयावस्था बनाते हैं तो अन्धकार की स्थिति रहती है या प्रकाश की ?

स्वामी जी – उसमें ऐसा रहता है कि जब ईश्वर का अनुभव रहता है तब घने अंधकार की तरह न होकर प्रकाश जैसा रहता है । सामान्य उजाला सा रहता है । वहाँ ज्ञान-विज्ञान से कार्य आरम्भ होने के कारण अन्धकार की कोई स्थिति नहीं रहती भले ही प्रलयावस्था हो । पर भौतिक प्रकाश सी कोई अवस्था नहीं रहती है।

साधक – अन्यत्र ध्यान में प्रकाश की कोई स्थितियाँ आती हैं ? जैसे धारण दृढ़ होने पर, विशेष एकाग्र होने पर होती है ?

स्वामी जी – भौतिक प्रकाश जैसी कोई स्थिति नहीं आती ।

साधक – आप जो उजाला कह रहे हैं वह क्या है ?

स्वामी जी – यह ज्ञान-विज्ञान की बात है ।

साधक – पर आप तो घोर अन्धकार के हटने की बात कर रहे हैं पुनः प्रकाश की क़ोई आन्तरिक स्थिति उत्पन्न होनी चाहिए ?

स्वामी जी – न न, आपने की बात है । आप का कथन जो है घोर अन्धकार दिखाई देता है, यह स्थिति भिन्न है । वहाँ तो ज्ञान-विज्ञान की बातें ज्यों की त्यों दिखती हैं । जैसे ईश्वर के सामने बातें कर रहे हैं, स्तुतिप्रार्थनोपासना कर रहे हैं । वहाँ ईश्वर से आनन्द मिलता है, ज्ञान मिलता है, पुनः अन्धकार क्यों आएगा ?

साधक – स्वामी जी ! अन्धकार और अज्ञान में भेद है । दोनों अलग-अलग है न ? वहाँ अज्ञान न रहे, ज्ञान भले ही होता रहे किन्तु प्रलय के कारण अन्धकार तो रहेगा ही ?

स्वामी जी – तो इतना ही जानना है वहाँ अन्धकार की स्थिति का अनुभव होना एक पृथक् बात है, वैसे ईश्वर की अनुभूति के समक्ष अन्धकार की अनुभूति नहीं होती है ।

साधक – वहाँ व्यापक ईश्वर तो निराकार है, तब अन्धकार गायब क्यों होगा ? (तीव्र खण्डन)★

[★ **सम्पादक टिप्पणी :** प्रलयावस्था में अन्धकार की स्थिति रहती है या रहना चाहिए इसमें स्वामी जी को कोई आपत्ति नहीं है किन्तु उनका कहना है जब तक ईश्वर का अनुभव नहीं रहता है तब तक ही घने अंधकार की स्थिति संभव है किन्तु ईश्वर का अनुभव आरम्भ होने पर घने अंधकार की स्थिति न होकर प्रकाश जैसी स्थिति रहती है अर्थात् घने अंधकार की स्थिति नहीं दिखती है । परन्तु वह जो प्रकाश होता है वह भी भौतिक प्रकाश नहीं होता है। वस्तुतः वह भी ज्ञान-विज्ञान की एक अवस्था है ।

अब साधक का जो यह पक्ष है कि वहाँ व्यापक ईश्वर तो निराकार है, तब अन्धकार गायब क्यों होगा ? अर्थात् अंधकार तो भौतिक साकार प्रकाश से हटता है पुनः निराकार ईश्वर से कैसे हटेगा ?

इसका समाधान यह है कि अन्धकार निराकार ईश्वर से तो नहीं हटेगा, परन्तु ईश्वर से या किसी भी प्रकार से उपलब्ध ज्ञान से अवश्य हटेगा । क्योंकि ज्ञात या रूपरहित वस्तुओं के समक्ष अन्धकार का होना न होना कोई महत्त्व नहीं रखता । ज्ञान के अभाव में तथा रूपवान् वस्तु को ही जानने में अन्धकार बाधक बनता है या अपनी उपस्थिति दर्शाता है, गन्ध-स्पर्शादिमान् के विषय में नहीं । जैसे रसगुल्ले को अन्धकार में या प्रकाश में खाया जाय उसके रस (मिठास) में कोई अन्तर नहीं आता । हाँ उसके रूप (ललिमा या श्वतिमा) को जानने के लिए प्रकाश चाहिए, अन्धकार में उसका पता नहीं चलेगा । अतः ज्ञान के रहते हुए अन्धकार की अनुभूति नहीं रहेगी अर्थात् अन्धकार ज्ञानवान् के लिए उपस्थित नहीं होगा। यह बाधा भी उन जीवात्माओं को होगी जो भौतिक प्राकृतिक साधन नेत्रेन्द्रिय का प्रयोग करते हैं। परन्तु ईश्वर या उससे सम्बद्ध ज्ञानी जीवात्माओं के लिए कोई बाधा नहीं होगी जो भौतिक प्राकृतिक साधन नेत्रेन्द्रिय का प्रयोग नहीं करते हैं।]

स्वामी जी – भागा (नियंत्रित नहीं रही) ?

साधक – हाँ भूल हो गई ! पकड़ने तो लग गया ।

स्वामी जी – इसमें आपको बताता हूँ । उपनिषद् में ईश्वर-दर्शन काल का जो दृष्टान्त दिया । ईश्वर कैसा दिखाई देता है वहाँ उसका चित्र खैंचा।

अभी पंक्तिशः याद नहीं है । भाव है कि ऐसा-ऐसा होता है । वहाँ अग्नि के स्वरूप को लेकर बताया है ।

साधक – स्वामीजी ! सत्त्वगुण को भी प्रकाशशील कहा है उसका प्रकाश तो रहता होगा ?

स्वामी जी – सत्त्वगुण का भी यह भाव है । जब सत्त्वगुण का प्रभाव होता है जिस-जिस अवस्था में प्रधान होता है वहाँ भी अन्धकार की स्थिति नहीं होती है अर्थात् वहाँ भी ज्ञान का स्तर बना रहता है । जैसे हम वहाँ साफ-साफ वृत्तियों को देख रहे हैं, कोई वृत्ति उठानी है, कोई रोकनी है, कोई कुछ करना है, कोई नहीं करना है । इन्द्रियों की तरह बाह्य-प्रकाश नहीं पर मानसिक स्तर पर सब दिखाई देता है । आगे मानसिक स्तर पर जब अपर-पर वैराग्य आया तो वहाँ पर हमारा ज्ञान-विज्ञान, हमारी विचारधाराएँ जो भी होती हैं वे ज्ञान के स्तर पर चलती दिखाई देती हैं । अन्धकार के स्तर पर नहीं । यदि वहाँ स्मृति चित्रात्मक आ जाय तो तत्काल दिख जाती है, पुनः रोक दी जाती है । जब पुनः वह स्तर नीचे आ जाता है संसार की ओर जब बढ़ता है तब जो वैराग्य का ज्ञानस्तर उजालावत् काम करता था वह कम होता चला जाएगा ।

साधक – मेरे साथ कभी-कभी ऐसा होता है कि प्रलयावस्था नहीं बनाई है और धारणा स्थिति हृदय प्रदेश पर अच्छी है, काफी एकाग्रता है तो लम्बे काल के बाद बड़ा प्रकाश सा अनुभव होता है ?

स्वामी जी – ठीक है । ऐसा हो सकता है वह आपका सत्त्वगुण प्रधान हो गया हो, उसका स्तर दिखाई दे रहा हो पर ध्यान देना होता है कि कई बार काल्पनिक प्रकाश होता है ।

साधक – काल्पनिक तो नहीं होता है क्योंकि एकाग्रता के पश्चात् ही होता है ।

स्वामी जी – मैं आपको एक मोटा दृष्टान्त देता हूँ जैसे आप चारपाई पर लेट गए और सोचना आरम्भ कर दिया तो दिखने लगेगा कि कोई प्रकाश

दिख रहा है, कोई नीचे जा रहा है, कोई समुद्र जैसा दीख रहा है । सब काल्पनिक होता है। जैसा स्वप्नावस्था में होता है वैसा ही काल्पनिक प्रकाश दिखाई देता है । अच्छा कभी आपने अनुभव किया हो, दो धारायें होती हैं एक स्वयं सोचना आरम्भ कर दिया बैठकर । दूसरे में स्वयं सामने से तरंगे आने लग गई। इधर-उधर से प्रकाश, तरंग (चित्रादि) आने लग गए । कभी कम हो गये कभी बदल गये । तो यह काल्पनिक प्रकाश जागरितावस्था का।

ऐसे स्वप्न में भी काल्पनिक होता है, जैसे लाईट जल रही हो अमुक विद्वान् का उपदेश हो रहा है । ज्यों का त्यों लगता है । आशुतोष जी वहाँ बैठे हैं स्वामी जी के साथ सुन रहे हैं, उनकी आकृति दीख रही है, चद्दर ओढ़े बैठे हैं । आप सारा कुछ देखेंगे पर वह होता नहीं, सारा काल्पनिक होता है, ऐसा ही जागरित में भी होता है ।

एक भाग भौतिक प्रकाश, मोटा प्रकाश इसको अलग करो । दूसरा है सत्त्वगुण का प्रकाश । वह बुद्धि से, वैराग्य से, वृत्ति-निरोध से सम्बद्ध रहता है । उसको कहते हैं जैसे देखो भाई सूर्योदय से आधा घण्टा पूर्व आभा सी दिखाई देती है। पुनः प्रकाश बढ़ जाता है । अतः दृष्टान्त के रूप में समझाया जाता है, जैसे सूर्य निकलने के आधा घण्टा पूर्व जो कुछ आभास हमको दिखता है, यद्यपि है वह सूक्ष्म प्रकाश । ऐसे इससे मिलता-जुलता सत्त्वगुण की स्थिति में होता है, पर वह भौतिक अर्थात् बाह्य नहीं होता है। वह सत्त्वगुणप्रधान बुद्धि का अपना गुण है ।

साधक – योगदर्शन में एक सूत्र आया **तज्जयात्प्रज्ञालोकः★** ॥ ३/५। इसका संबंध कुछ जुड़ सकता है प्रकाश से ?

स्वामी जी – हाँ । जिस समय प्रज्ञा का विकास होगा ।

साधक – एक तो हुआ ज्ञान-विज्ञान बढ़ गया, उसके साथ जो सत्त्वगुण (का प्रकाश) आप कह रहे हैं यह भी उस समय होना चाहिए ?

स्वामी जी – हाँ । उसके साथ प्रकाश देगा, स्थिति बनेगी ।

[★**सम्पादक** – प्रज्ञा बुद्धिः तस्या आलोकः प्रज्ञालोकः । आ समन्ताल्लोकते यत्र स आलोकः बुद्धेर्विस्तार इत्यर्थः न तु मध्याह्नवत् । प्रज्ञा कहते हैं बुद्धि को उसका आलोक अर्थात् विषय की स्पष्टता प्रज्ञालोक । अर्थात् जो सब ओर से विषय को स्पष्ट करे, बुद्धि का वह विस्तार प्रज्ञालोक, न कि मध्याह्नवत् धूप होना ।]



व्यवहार-नियंत्रण

एक ओर जो ईश्वर में नित्यानन्द है, उसे प्राप्त करने का प्रयास करते हैं दूसरी ओर दैनिक जीवन में आप चलते-फिरते सभी कार्यों को करते हुए कितना नियंत्रण करते हैं या कर पाते हैं ? एक स्थिति ऐसी होती है जिसमें—

(१) व्यक्ति कभी-कभी ध्यान देता है, घण्टे—दो घण्टे में स्थिति को संभाल लिया।

(२) किसी की स्थिति एक/आधे घण्टे में सम्भलने की होती है।

(३) एक स्थिति होती है १५—२० मिनट में संभालता है,

(४) कोई १—२ मिनट में अपने आप को सम्भालता है।

(५) कोई सैकेण्डों में।

(६) एक स्थिति होती है व्यक्ति सतत मन इन्द्रियों को नियंत्रण में ही लेकर चलता है। यदि असावधानी होती दिखाई देती है तो तत्काल स्थिति को सम्भाल लेता है। इस प्रकार आपको दिन में व्यवहार में क्या देखने को मिलता है ?

साधक १ – अभी तीन-चार दिन से पुरुषार्थ में न्यूनता है। कुछ स्वास्थ्य प्रतिकूल है। और वर्तमान स्थिति है कि जैसा बीच-बीच में निरीक्षण करता हूँ तब यदि लगता है कि कोई दुर्विचार उठा लिया है तब सावधान होकर आगे के लिए स्थिति बना लेते हैं। परन्तु ऐसी स्थिति नहीं बना रखी है पहले से ही आगे के लिए सावधान रहूँ। प्रायः दुर्विचार हो जाने पर सावधान होता हूँ। यह स्थिति सामान्येन रहती है।

साधक २ – किसी विषय का चिन्तन कर रहे होते हैं तो उसमें एकाध मिनट का विलम्ब होता है, विषयान्तर हो जाने के पश्चात् पुनः लौटकर आते हैं। सामान्यतया व्यवहार में दृष्टि दोष हो जाने पर तत्काल परन्तु विचार उठा लेने के पश्चात् सावधान होते हैं।

साधक ३ – यह मन को देखने का जो कार्य है इसको सतत नहीं करते हैं, कभी देख लिया, कभी छोड़ दिया। जब कोई बड़ी असावधानी या दोष हो जाता है तब तो ध्यान देता हूँ अन्य काल में उतनी सावधानी नहीं रहती है। उपासनाकाल में भी कभी स्थिति अच्छी रहती है कभी खराब भी हो जाती है। स्वाध्याय काल में ऐसा लगता है कि मन कहीं नहीं जाता है।

स्वामी जी – स्वाध्याय में मन लगता है, उसमें रुचि होती है पर सूक्ष्म रूप में व्यक्ति मन को भेजता है, परन्तु पकड़ में नहीं आने पर लगता है कि मन कहीं नहीं गया । क्या समझ में आया ?

साधक ४ – प्रायः विचार उठा लेने के पश्चात् ही सावधान हो पाता हूँ । अनेक बार उठाते ही सावधान होता हूँ । कभी-कभी उठाने के पूर्व भी सावधान हो जाता हूँ।

साधक ५ – बुरे विचारों को उठाने के पश्चात् ही पता चलता है । आगे कुछ को तो तत्काल रोक देते हैं, कुछ को विलम्ब से रोकता हूँ । मन को मैं चलाता हूँ यह जो अनुभूति है यह किसी नये विषय को ग्रहण करने पर होती है परन्तु प्रायः अच्छे या बुरे विचारों को उठाते समय नहीं होती है ।

साधक ६ – सूक्ष्मरूप से तो ऐसा विचार नहीं करता हूँ कि ऐसा विचार कर रहा हूँ । कभी उठाने के बाद रोक देने का प्रयास करता हूँ । कभी-कभी ऐसा निरीक्षण–परीक्षण करता हूँ कि विचार जो उठा रहा हूँ, हानिकारक है या लाभप्रद है?

साधक ७ – भगवन् सहज स्वभाव से कुल मिलाकर स्थिति ठीक रहती है, कोई बाधा नहीं आती है ।

स्वामी जी – कभी ऐसा होता है कि बाधा तो आती रहती है पर माना नहीं जाता क्योंकि समझ में नहीं आता है । इस प्रकार निरीक्षण करने और न करने वाले व्यक्ति में दोनों में अन्तर है । दोनों के निरीक्षण में अन्तर, दोनों की पकड़ में अन्तर, दोनों के मन को चलाने में अन्तर होता है । यह तो तब पता चलता है जब व्यक्ति विशेष ध्यान देकर चलता है कि जड़ क्या है, चेतन क्या है ? मन जड़ है, आत्मा चेतन है । मनको हम ही चलाते हैं । मन में विचार उठाने का मूल कारण हम स्वयं हैं । हम इच्छा करते हैं, प्रयत्न करते हैं तब अच्छे-बुरे विचार उठाकर लाए जाते हैं; ऐसे वह देखता है और जैसे ही दूसरी विचारधारा में जाता है, संकेत पाते ही मन को तत्काल रोक देता है । कभी-कभी पहले विषय को पकड़ता है पुनः विचार को रोकता है पुनः पकड़े हुए विषय को छोड़ देता है । जैसे कि चलते-चलते बैठे-बैठे एक विचार उठाया कि लोक में सुख है। उसकी इच्छा हुई, उठा लिया कि लौकिक-सुख ठीक है । पीछे पता चला कि मेरी लौकिक इच्छा हो गई । आप कभी ऐसा प्रयोग करते हैं, या इस स्थिति को नहीं पकड़ पाते हैं ?

साधक — जब इच्छा तीव्र होती है तब पकड़ पाते हैं ।

स्वामी जी — लौकिक इच्छा मन्दरूप से होती है । कई बार होने से पहले पकड़ लेता है । कई बार क्या होता है पहले तो उठा लेता है और होते ही कहता है कि यह क्या हुआ ? यह तो लौकिक इच्छा हो गई । यही प्रयोग चलते हैं सृष्टि से सम्बद्ध विचार, व्यक्तियों के आकार–प्रकार, खाना–पीना आदि ।

एक स्थिति है इन पदार्थों को अनित्य देखता है । यह अनित्य स्थिति बनी रहना । थोड़ी सी असावधानी होती है तब अनित्य दिखना बन्द हो जाता है । उस स्थिति को छोड़कर लौकिक स्थिति में विचरने लगता है । अनित्यता को नहीं रखता है बुद्धि में ।

इसी प्रकार दूसरी बातें जैसे यम-नियम के विरुद्ध विचारधारा उठा लेता है। अंहिसा के विरुद्ध हिंसा की प्रवृत्ति, सत्य के विरुद्ध असत्य की प्रवृत्ति मनःस्थिति पर आती है । व्यक्ति का मनोनियंत्रण जब नहीं होता है तो विरुद्ध विचार उठा लेता है ।

अब पहले विचार उठाया पुनः नियंत्रण किया एक स्थिति। दूसरी है कि विचार उठा लिया और चलता रहा, चलता रहा । उसको आधे घण्टे में पता चला कि यह तो अच्छा नहीं था जो झूठ की योजना बनाई गई थी। इस प्रकार किसी का कितने मिनट में, किसी का कितने मिनट में । व्यक्ति की भिन्न-भिन्न स्थिति होती है ।

अधर्माचरण की बातें, धर्माचरण की बातें । उसी प्रकार ईश्वर की उपासना। ईश्वर-उपासना=ईश्वर-प्रणिधान की मनःस्थिति बने रहना, बनाये रखना एक स्थिति । अब इस स्थिति को बिगाड़ दिया । ईश्वर के सान्निध्य में रहने की जो इच्छा है, ईश्वर के समर्पित रहूँ, ईश्वर से दूर न जाऊँ । तो मन को वहाँ से हटाया और किसी लौकिक-पदार्थ में लगा दिया । लौकिक-पदार्थ से प्यार उत्पन्न हो गया, राग हो गया । राग होते ही पता चलता है कि लौकिक-पदार्थ से राग हो गया, ईश्वर से सम्बन्ध टूट गया । भले ही भोजन में ही क्यों न हो ! उस स्थिति को तत्काल देख लेना कि मैं ईश्वर से दूर हट गया हूँ । इसको तत्काल रोक देना । इस ओर व्यक्ति की स्थिति हट गई, ईश्वर से दूर हो गया । विचार करते करते विचारों में तीव्रता दिखाई दी तब

वह देखता है कि ईश्वर से तो विचारों का सम्बन्ध ही टूट गया । पुनः प्रयास करता है कि जमाओ ईश्वर के साथ ।

साधक – अधिकतर यही स्थिति रहती है ।

स्वामी जी – अब आप सुन रहे हैं इस स्थिति में मन नियंत्रण में रहता है या बीच-बीच विषयान्तर उभरता रहता है ?

साधक – नियंत्रित करते ही अनियंत्रित हो गया !

स्वामी जी – उसमें भी परीक्षण हो जाता है । नियंत्रण रखने की स्थिति भिन्न है। नियंत्रण नहीं रखने की स्थिति आपने बताई यह भिन्न है । आप देखते हैं कोई न कोई अशुद्ध विचार लाते रहते हैं । जब तीव्रता होती है तब ध्यान देते हैं कि क्या हुआ रोको इसको ?

तो आपको पता चला कि कितना सूक्ष्म नियंत्रण चलता है ज्ञान–कर्म–उपासना का । कितनी सूक्ष्मता से अध्ययन होता है । संसार को देखते समय भाष्यकार ने शौच का फल बताते समय कहा, देखो भाई ! **शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः॥** योगदर्शन २/४० । जब व्यक्ति शरीर की बहुत शुद्धि करता है पुनरपि शरीर मैला ही मैला पाता है। अब कहता है जब मैं इतना परिश्रम करता हूँ तो भी शरीर को मैला ही देख रहा हूँ तो जो शुद्धि नहीं करते हैं उनकी क्या दुर्गति होती होगी ? उनका तो इतना मैला शरीर होता होगा कि कोई कथा ही नहीं ? जैसा शरीर है वैसा ही मन भी है । हम मन को शुद्ध-पवित्र रखने का इतना प्रयास करते हैं बहुत परिश्रम, अत्यन्त परिश्रम करते हैं तो भी मलिनता आती है तो ये दुनिया के लोग क्या करते हैं? उनमें कितना मल होगा ? कितना राग और द्वेष होगा ? कितनी कामवासना, कितना स्वार्थ होगा उसकी तो कथा ही क्या ?

अच्छा अब देखो, ईश्वर-प्रणिधान की स्थिति बना लो और संसार को अनित्य समझकर उससे अपना सम्पर्क काट दो । क्यों जी क्या करोगे ?

तो वह स्थिति कैसी होती है ? जैसी कि हम आकाश में उठ गए ऊँचाई पर चले गए । नीचे से उठकर ।

साधक – यह स्थिति तो प्रलयावस्था के पश्चात् ही आएगी ?

स्वामी जी – ईश्वर-प्रणिधान की अच्छी स्थिति बनती है तब भी ऐसा होता है । प्रलयावस्था जब बनती है तब तो संसार से और सम्बन्ध कट

जाता है। एक व्यक्ति मोटेरूप में ईश्वर-प्रणिधान करता है। ऊँचे स्तर की ईश्वर-प्रणिधान की स्थिति है संसार से दूर हो जाना। ऊँची स्थिति बनती है तब यह दिखाई देता है जैसे व्यक्ति नीचे से उठकर पहाड़ पर चढ़ गया हो। अच्छा वहाँ रहते हुए फटाफट विषयों का उठ जाना, फटाफट तरंगे आ जाना, यह नहीं होता है।

साधक – एक प्रलयावस्था में ईश्वर-प्रणिधान की स्थिति होती है दूसरी बिना प्रलय के ईश्वर-प्रणिधान की स्थिति होती है इन दोनों में क्या अन्तर है ?

स्वामी जी – बिना प्रलयावस्था वाला ईश्वर-प्रणिधान नीचले स्तर का होता है। इसमें जितना ऊँचा वैराग्य होना चाहिए उतना नहीं होता है, उच्चस्तरीय वैराग्य नहीं होता है। अपर-वैराग्य वाले और बिना अपर-वैराग्य वाले की स्थिति में अन्तर रहता है। दोनों की प्रवृत्ति में मानसिक स्तर पर बहुत भेद रहता है। यहाँ अपर-वैराग्य को लेकर बोल रहा है। जिसको अपर-वैराग्य होता है उसको संसार में नितान्त दुःख दिखने लगेगा, जिसको नहीं होता है उसे यह रूप नहीं दिखाई देगा।

साधक – मेरा अभिप्राय था कि प्रलयावस्था और बिना प्रलयावस्था में दोनों में जो ईश्वर-प्रणिधान बनता है, उनमें अच्छी स्थिति बनती है पुनः दोनों में अन्तर क्यों होता है ?

स्वामी जी – पुनः दुहराइए।

साधक – आपने कहा था ईश्वर-प्रणिधान की अच्छी स्थिति जब बनती है तब भी ऐसा होता है। प्रलयावस्था जब बनती है तब तो संसार से और सम्बन्ध कट जाता है।

स्वामी जी – अच्छी का मतलब ऊँचा वैराग्य, प्रलयावस्था भी साथ है। उसका विवेचन ऐसा होता है कि संसार को लेकर इसको अनित्य सिद्ध करना, स्थिति बनाये रखना, टूट जाय भिन्न बात है, और लोक से संबंध कटा रहना, ईश्वर से जुड़ा रहना। व्यवहार में ऐसा रहना। उसकी जो स्थिति होती है जैसे नीचे से उठकर किसी ऊँची स्थिति में पहुँच गया। उस पर जाने से इतनी तीव्रता से मन का परिवर्तन, तीव्रता से वृत्तियों को उठा लेना, तीव्रता से संसार के साथ आबद्ध हो जाना या असावधान हो जाना, इस प्रकार की स्थिति नहीं होती है।

साधक – बिना प्रलयावस्था के केवल ईश्वर-प्रणिधान से यह अवस्था प्राप्त हो सकती है या नहीं ?

स्वामी जी – कौन सी ?

साधक – यही ।

स्वामी जी – ऊँचे वाली ? नहीं । प्रलयावस्था जोड़ के होगी । प्रलय का यहाँ मतलब है एक व्यक्ति इस संसार को ऐसा देखता है जैसा कि कहा- अनित्य को अनित्य देखना, नित्य को नित्य देखना । इसमें प्रलयावस्था को जोड़कर पूरी अनित्यता देखना यह एक स्थिति है । एक साधारणरूप से अनुमान-प्रमाण से अनित्य देखना । यद्यपि इस साधारणरूप से भी देखेगा तब भी कुछ स्थिति तो बनेगी ही । साधारणरूप से भी संसार को अनित्य देखने लगेगा तो उसका संबंध टूटने लगेगा उस स्तर पर । वहाँ से धीरे-धीरे बढ़ने लगेगा। वहाँ यह स्थिति होगी कि संसार से धीरे-धीरे छूट रहे हैं और ईश्वर से जुड़ रहे हैं । यह अवस्था तब अच्छी होती है जब विशेष भक्ति का प्रकरण उभरकर आता है । उसके हट जाने पर पुनः दिखाई देगा कि मैं संसार से सम्बद्ध हो गया हूँ । तो ये जो मानसिक स्थितियाँ होती हैं भिन्न-भिन्न काल में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं । जिनका चित्र खींचा है सम्प्रज्ञात के रूप में–**प्रज्ञाप्रसादमारुह्याशोच्यः शोचतो जनान्** ....। यो. द. १/४५।

साधक – ईश्वर विषय वहाँ मुख्यतः तो रहता नहीं है ?

स्वामी जी – मैं बताता हूँ । ईश्वर तो विषय रहता ही है । एक और बात होती है । उस स्थिति में जैसा कि हम बोलते हैं । एक तो स्थिति ऐसी होती है जिसे असम्प्रज्ञात बोलते हैं, वहाँ ईश्वरप्रधान हो जाता है । दूसरी स्थिति होती है जहाँ जीवात्मा ईश्वर को साथ जोड़कर रखता है सम्प्रज्ञात में। भले ही प्रत्यक्षगत न हो ।

साधक – मुख्य विषय क्या रहता है ?

स्वामी जी – मुख्य विषय की बात दूसरी हो गई । दो स्थितियाँ होती हैं उसमें एक तो यह कि एक व्यक्ति यह प्रयोग करने लग जाए कि मैं जीवात्मा को विषय बनाऊँगा, ऐसा निर्धारण करता है । इस प्रकार जब निर्धारण हो जाता है तब तो ईश्वर मुख्य नहीं रहेगा किन्तु ईश्वर सब का स्वामी है, सब कुछ देख सुन रहा है ये बातें तो ज्यों की त्यों जुड़ी रहेंगी । पर अपना स्वरूप जानना प्रधान रहेगा पुनरपि सम्बन्ध नहीं कटेगा ।

दूसरी स्थिति यह रहती है ईश्वर-साक्षात्कार के पूर्व जहाँ ओमादि का जप करता है वहाँ भी ईश्वर-प्रधान हो जाएगा । इस जप की अवस्था में ईश्वर को ढूँढ़ना मुख्य रहेगा ।

यह जो एकाग्रता की स्थिति होती है, वृत्ति-निरोध होता है जैसे कि मैं अपनी स्थिति बता रहा हूँ उस समय एकाग्रता के प्रभाव से मस्तिष्क पर दबाव पड़ता है । जब वृत्तियाँ बिखरने लगती हैं तब दबाव कम होने लगता है ।



सफल-मार्गावलोकन

आप आत्म-निरीक्षण से कभी देखते होंगे कि इस मार्ग पर चलकर जीवन को सफल बनाना, वैदिक रीति से ईश्वरप्राप्ति करना ही ठीक है अथवा सांसारिक ढंग से चलना, ईश्वर-प्राप्ति न करना । जो भी संसार के पदार्थों का उपयोग-प्रयोग है उससे सुख मिले, दुःख न मिले । यह दूसरा विकल्प आपको अच्छा/रुचिकर तो नहीं लगता है ?

साधक १ – निर्णयरूप में तो पहला विकल्प स्वीकार किया हुआ है, तदनुकूल जीवन की भावी योजनाएँ मन में बनाई हुई हैं । परन्तु व्यवहार के अन्दर ऐसा देखने को मिलता है कि लौकिक-सुखों की ओर भी प्रवृत्ति होती है और उसे भी रोकना पड़ता है ।

साधक २ – मानसिकरूप से अपनी तरफ से मानता हूँ ईश्वरप्राप्ति करना ही मुख्य लक्ष्य है और इसके लिए पुरुषार्थ कर रहा हूँ पर व्यवहार को देखते हुए उसमें न्यूनता नजर आती है ।

साधक ३ – प्रथम स्थिति में तो कोई विकल्प नहीं दिखता है, ईश्वरप्राप्ति को छोड़कर अन्य लक्ष्य को बनाकर जीवन सुखी बनाया जा सकता है, यह तो संभव नहीं दिखता है परन्तु पहले लक्ष्य को रखते हुए सांसारिक सुखों का नितान्त निषेध करना यह अभी अच्छी प्रकार से समझ में नहीं आया है । पूरा का पूरा न छोड़कर कुछ प्रयोग करते रहना ऐसा दिखता है ।

साधक ४ – शाब्दिकरूप से समझ में आता है ईश्वरप्राप्ति जीवन का लक्ष्य होना चाहिए, ऐसा समझ में आता है किन्तु व्यवहारकाल में दूसरा वाला लक्ष्य जो आपने बताया उसकी प्रधानता रहती है, ऐसा अनुभव करता हूँ ।

साधक५ – शाब्दिकरूप जो प्रथम लक्ष्य है उसकी प्रधानता है और उसके अनुरूप जीवन की भावी योजनाएँ भी हैं, लेकिन जो व्यवहार का पक्ष है वह लौकिक-सुखों की ओर अभी आकृष्ट है ।

साधक६ – मेरे ज्ञान व परीक्षण के अनुसार ईश्वरप्राप्ति ही मुख्य लक्ष्य है परन्तु कुछ आकर्षण सांसारिक सुखों में भी रहता है ।

साधक७ – भगवन् ! जीवन का मुख्य लक्ष्य परम पिता परमात्मा का दर्शन करना ही है, परन्तु साथ में परोपकार से भी प्यार है ।

स्वामी जी – अब यह अध्ययन, मनन, हमारे अपने जीवन की प्रवृत्तियाँ, हमारे विचार, हमारी मान्यताएँ, जन्म-जन्मांतर के संस्कारों का प्रभाव पुनः लोक का प्रभाव ये सब मिलाकर ऐसी स्थिति आपके समक्ष रहती है और ये लौकिक-सुखों की जो इच्छा है यह लम्बे काल तक रहती है । लम्बे काल तक इसको हम देखते जाते हैं/क्या देखते हैं ? जब लौकिक सुख–साधनों की इच्छा होती है तब उसमें हम ऋषियों के बताए परिणामादि चार दुःख को लेकर तुलना करते हैं और इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि ऋषियों ने जो लिखा है, वह पक्ष सत्य है, प्रबल है । कारण कि ये लाखों ऋषि हुए जिन्होंने पूरा तन–मन–धन लगाकर गवेषणा की कि मानव-जीवन का लक्ष्य क्या है और मनुष्य अपने लक्ष्य को पूरा करने पर कैसी स्थिति में रहता है ? इस ओर अध्ययन किया कि लौकिक-मार्ग पर चलने से क्या-क्या गतियाँ होती हैं । संसार के सुख-साधनों के भोगने से उन्होंने परिणाम निकाला कि इस मार्ग पर कोई सीमा नहीं है जिसमें व्यक्ति यह अनुभव कर पाए कि मैं तृप्त हो गया हूँ, मेरे सारे दुःख दूर हो गए हैं ।, लौकिक भोगों से मैं पूरा सन्तुष्ट हो गया हूँ । इतना ही नहीं उन्होंने आगे बढ़कर यह बात कही कि अतृप्ति ही नहीं अपितु जैसे-जैसे लौकिक-सुखों को व्यक्ति भोगता जाता है, उसका दुःख बढ़ता जाता है, तृष्णा और प्रबल होती जाती है ।

जब हम यह देखते हैं कि इसमें दो वर्ग जिसमें एक आजीवन ब्रह्मचारी रहने वाला, दूसरा गृहस्थ से योगी बनने वाला । तो गृहस्थ आश्रम में गए उससे परिवर्तन करके संन्यासाश्रम में आ गए, अथवा वानप्रस्थ में चले गए उससे पुनः संन्यासाश्रम में आ गए । यह गृहस्थ में जानेवालों की स्थिति है, परन्तु ईश्वरप्राप्ति=मोक्षप्राप्ति के विषय में दोनों वर्गों का पूर्वोक्त एक ही निर्णय है । कितने लम्बे काल का परीक्षण है और साधारण नहीं है, पक्षपात

रहित सार्वभौमरूप से सोचना, मनुष्यमात्र को लेकर सोचना, सारी गतिविधियों

को लेकर यह निष्कर्ष निकाला है। तो हम इन बातों पर बहुत ध्यान दें। जब ऐसी बात है तो हम इस लौकिक-सुख की ओर क्यों झुकते हैं, लौकिक-सुख को क्यों प्राप्त करना चाहते हैं; इन सभी आधारों को लेकर हम सोचते हैं।

इस विषय में और कुछ बातें – इधर एक वर्ग है पढ़े-लिखे लौकिकों का जिसमें कोई भी हो राजनीतिक, सम्पत्तिशाली आदि सब इसी में हैं। अपने वैज्ञानिकों का भी यह निर्णय है कि विषय भोगों में सुख है, अन्य डाक्टर, इञ्जिनीयर आदि भी इन्हीं के लिए दौड़ लगा रहे हैं। परन्तु दोनों वर्गों की योग्यता, क्षमता, बुद्धि, पक्षपातराहित्य, सार्वभौमिक दृष्टि को लेना, किसी व्यक्तिगत निर्णय को प्रधानता न देना आदि। जब दोनों की तुलना करते हैं हम तो पाते हैं कि ऋषियों के समक्ष इनकी कोई समानता नहीं है। कोई ऐसी प्रबल बात = युक्ति इनकी नहीं जो ऋषियों के समक्ष टिक सके। बहुत महत्त्वपूर्ण कुछ भी नहीं है। ऐसा अध्ययन-मन्थन आपको करना पड़ेगा। इस मन्थन से यह पक्ष जो लौकिक भोगों में सुख है निर्बल पड़ता जाएगा, क्षीण होता जाएगा, इसमें रुचि कम होती चली जाएगी। आप धीरे-धीरे कुछ प्रयोग करेंगे आध्यात्मिक क्षेत्र में ध्यान का, जप का पुनः वैराग्य की स्थिति कुछ सम्पादित कर लेंगे तो आगे चलकर इस ओर झुकना, आना समाप्त हो जाएगा। अर्थात् अपर-वैराग्य की स्थिति आएगी तो ऐसी भयंकर स्थिति होगी इस भोगों के प्रति कि कोई आपको भुगाना चाहेगा तब भी नहीं भोगेंगे। इतना दुःखदायी दिखाई देगा अर्थात् जब आप अपर-वैराग्य में स्थित हैं तब यदि कोई कहे कि इसे खाओ-पीओ, बहुत अच्छा है तो आप कहेंगे नहीं, यह दुःखदायी है।

किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि एक बार यह स्थिति प्राप्त होने पर आगे भी ऐसी ही बनी रहेगी। नहीं; बीच-बीच में ढीली पड़ेगी, कभी असावधान हो जाएँगे तो उस समय वैराग्य का स्तर निर्बल हो जाएगा तब संस्कारों के कारण रुचि पुनः उभर जाएगी पूर्ववत्। क्या समझे ? इसमें आपने पढ़ा होगा **तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः** ॥ यो. द. ४/२७ ॥ यह सब विवरण दिया है। परन्तु विवेक-वैराग्य के काल में व्यक्ति की जो स्थिति होती है वह तो होगी ही। **हेयोपादेयशून्या। ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्।** सुख की दृष्टि से उसमें लालायित होना, दुःख की दृष्टि से उससे क्रोध करना

ये दोनों स्थितियाँ वहीं समाप्त होती हैं । यद्यपि उस काल में यही स्थिति रहेगी परन्तु इसमें छिद्र हो जाएगा तो लौकिक-संस्कार उभर जाएँगे । वे संस्कार अविद्या को उत्पन्न करते हैं । अविद्या में जो असत्य है वह सत्य दिखता है, जो सत्य है वह असत्य दिखता है । आपने यह और सुना है कि यही स्थिति वैराग्य के कारण आगे चलते-चलते दग्धबीज भाव में पहुँच जाएगी।

इसको जीतने का, हटाने का एक और बहुत बड़ा आधार है जब ईश्वर की उपासना में व्यक्ति को विशेष सुख मिलने लग जाता है तो इस लौकिक-सुख की इच्छा समाप्त होती है और वैराग्य की स्थिति में भी इस सुख की इच्छा समाप्त होती है । उदाहरण के लिए रसना को लेकर चलते हैं । आपने खीर, हलुआ खाया, बड़ा अच्छा लगता है और बाल्यावस्था से, जन्म-जन्मान्तर से खाते आ रहे हैं । बाल्यकाल में तो माता-पिता, बच्चे को खूब खिलाते हैं, ये खाओ, वो खाओ । पेट ढोलक जैसा बना देते हैं । किसी को ऊपर से खिलाते जाते हैं नीचे से निकलता जाता है । वे यह मानते हैं कि हम बच्चे का उपकार कर रहे हैं । जबकि बच्चा लकड़ी जैसा हो जाता है, या पेट इतना बड़ा हो जाता है जैसे पीपा, पैर-गर्दन पतले-पतले । जब ऐसा बना देते हैं तब क्या योगाभ्यास करेगा ? आपका भी यही हुआ या नहीं हुआ? कम याद होगा ? माता-पिता ऐसा करते हैं या नहीं ? देखो यह छोटा बालक है, मुँह में कभी कुछ कभी कुछ लिये रहता है । दिनभर बकरी की तरह चबाता रहता है । माता-पिता इसको क्यों नहीं रोकते हैं ? कहते हैं इससे इसको सुख मिल रहा है । पर वह रोगी होगा, रसना का गुलाम बन जाएगा, अधिक खाएगा, जो नहीं खाना चाहिए उसको खा जाएगा। इस तरह बिगाड़-बिगाड़ के, बिगाड़-बिगाड़ के इतना बिगाड़ देते हैं कि उसका सुधरना कठिन हो जाता है । हमारे आपके सामने भी यही समस्या रही है। अन्यथा हम क्यों इतने बिगड़ते ? न माता, न पिता, न राजा,न संबंधी ने सुधारा किन्तु सबने बिगाड़ने का प्रयत्न किया, हम भी बिगड़ते रहे, इसलिए भी यह हम सबके लिए कठिन प्रतीत होता है ।

बच्चे को आप अच्छी बातें सिखाते रहिए । माता-पिता के विचार से एक आकाश-पाताल का अन्तर पड़ेगा । माता छोटे बच्चे को अच्छी-अच्छी शिक्षा देती जाती है तो वह छोटी अवस्था में ही इतना बुद्धिमान् हो जाता है कि अच्छा खाना-पीना, बहुत कुछ सोचना, बात मानना, नमस्ते करना आदि

आरम्भ कर देता है। मान लो किसी बालक को घी, दूध, मलाई, मक्खन, मिष्टान्न आदि देते रहो और मिर्च-मसाले नहीं दो तो वह घी, दूध आदि अच्छे पदार्थ खाएगा, खाना चाहेगा। तब यदि आप मिर्च खिलाने लगेंगे तो वह खाने को तैयार नहीं होगा। परन्तु उलटी प्रवृत्ति बना दी तो नमक-मिर्च से भी आगे उलटा-सीधा खाने-पीने लगेगा। जैसे सेव खाएगा तो नमक डालेगा, आम खाएगा तो नमक डालेगा। लड्डू भी दो तो नमक मिलाना चाहेगा। कोई भी चीज बिना नमक के खाएगा ही नहीं। ये हमारे पाचक हैं न विजय जी और कई बैठे होंगे। ये रोटी के अन्दर नमक ठूँस देते हैं। नमक न डालो तो इनको रोटी अच्छी नहीं लगती है। खिचड़ी में दूध मिलाकर खा जाएँगे, खीर के साथ मट्ठा पी जाएँगे। क्या आदत बना ली ? अच्छा ! खाते समय इनको नमक का स्वाद आता है। तो खाने-पीने की इस प्रकार की उलटी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न मत करो। देखो आप सच बोलना, आपको नमक वाली रोटी अच्छी लगती है या बिना नमक की ?

साधक १ – नमक वाली।

साधक २ – ध्यान नहीं दिया है।

स्वामी जी – तो यह हमको आपको इस प्रकार की स्थिति मिली कि खूब बिगड़े। बिगड़-बिगड़कर आज वैसे हो गए, जैसे कोई कहे इस जीर्ण-शीर्ण लकड़ी की आलमारी बना दो तो कैसे बनेगी ? आप भी जीर्ण-शीर्ण हो गए तो आपकी आलमारी कैसे बनेगी ? (आप का निर्माण होगा ?)

साधक – नहीं बनेगी।

स्वामी जी – नहीं ! घबराने की बात नहीं है इतनी नहीं बनेगी पर कुछ तो बनेगी; यहाँ तो यह बात मानी जाती है। एक ऐसी स्थिति हो जाती है कि सुधार हो ही नहीं सकता कुछ बन नहीं सकता, मनुष्य की ऐसी भी स्थिति हो जाती है पर आप इतने तो नहीं बिगड़े होंगे ? आपकी ऐसी अवस्था तो नहीं हो गई कि समाधि में जा ही नहीं सकते या कैसा मानते हैं आप?

साधक – उतनी कुस्थिति नहीं आई है।

स्वामी जी – अभी आप बन सकते हैं न ! आपको बताया है, याद है कि नहीं ? यह व्यक्ति अपनी शक्ति को जानकर यदि उसका पूरा उपयोग करता है तो महान् बन जाता है। यह अपना व्यक्तिगत सामर्थ्य, पुनः आचार्यों

से अन्यों से पढ़ना सीखना। उनसे सहायता लेकर सब प्रकार की सामर्थ्य उत्पन्न करता है। समाज के लोगों से और भी सामर्थ्य उपार्जित करता है। ईश्वर की सृष्टि से बहुत कुछ सामर्थ्य उपार्जित करता है, सीखता है। यह जो सृष्टि का हम विचार करते हैं सूर्य–चन्द्र, घास, वनस्पति, शरीर इनका जो निर्माण हुआ इनसे हम बहुत कुछ सीखते हैं। आगे बढ़ो ईश्वर की उपासना करते-करते ईश्वर से बहुत सा ज्ञान, बल प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार सामर्थ्य प्राप्त करते-करते व्यक्ति जो बहुत जीर्ण–शीर्ण दिखाई देता था वही बलवान् बन जाता है। इसका ढंग आना चाहिए। पदार्थों के गुण–कर्म–स्वभाव, अपने सहित और उन पदार्थों में क्या-क्या विशेषताएँ हैं, उनसे सहायता लेनी चाहिए। व्यक्तियों से, विद्वानों से, मित्रों से सबसे सहायता लेनी चाहिए। सृष्टि से उसको लेना आता है तब कहाँ-कहाँ कौन-कौन से गुण हैं वहाँ-वहाँ से ग्रहण कर लेता है। पदार्थों के गुण, कर्म, स्वभाव को जानना और प्राप्त करने की विधि, व्यवहार बहुत अच्छा करके वही व्यक्ति जो सोचता था कि मैं क्या कर सकता हूँ, समाधि तक पहुँच जाता है। इतना आपको जानना-समझना आता है तो कोई कठिनाई नहीं होगी। आप समाधि तक न पहुँचें ऐसा नहीं है। सब की बात छोड़ो कुछ ऐसे होंगे जो कितना ही बल लगाएँगे पुनरपि नहीं पहुँच सकेंगे परन्तु उनकी स्थिति भी कम से कम समाधि के आस-पास तो चली ही जाएगी। क्या समझ में आया?

पुनः क्या होगा ? इस जन्म में समाधि को तो नहीं प्राप्त हुए निकट तक पहुँच गए पुनः अगले जन्म में जब से होश सम्भलाता है, वहाँ उसको यदि अच्छे माता-पिता मिल जाएँ तो शीघ्र ही विकास होता है। वही संस्कार, वही प्रवृत्ति, रुचि ये सब एकदम उसको योग की ओर मोड़ देते हैं। इसको बोलते हैं जन्मना सिद्धि। जैसे **जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः** ॥ यो. द. ४/१। जन्म से, औषधि से, मन्त्र से, तपः से और समाधि से सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं।

अच्छा अब मेरे प्रयोग सुनो ! प्रत्यक्ष जो अनुभव होते हैं वे बहुत प्रबल होते हैं। उसको कोई खण्डित नहीं कर सकता जो प्रत्यक्ष-प्रमाण होता है। मैंने एक प्रयोग किया। एक पक्ष तो मैंने सुनाया कितना बिगड़ गया। दौड़-धूप, बलपूर्वक जितना बिगड़ा जा सकता था उतना बिगड़ा। क्या समझे ?

साधक – जितना बिगड़ना संभव था उतना बिगड़े।

स्वामी जी — संभव तो नहीं कहेंगे । अपनी शक्ति से जितना बिगड़ सकते थे उतने बिगड़े । संभव वाली बात को छोड़ देंगे नहीं तो झूठ हो जाएगी। यह स्थिति कैसे आई ? वहीं से चलो —

एक तो पूर्वजन्म काम करता है, कुछ त्रुटियाँ-कमियाँ होती हैं उन सबको मिलाकर ईश्वर उस स्तर के माता-पिता के घर भेजता है । ठीक है । आगे माता क्या करती है, पिता क्या करता है, कैसी तैयारी करते हैं ? वे विद्वान्, धार्मिक होते या नहीं ? उनको खाने–पीने की पौष्टिक वस्तुएँ मिली या नहीं? सबको साथ लेकर चलो। बच्चा जब घूमने लगा तब उसको यदि सब कुछ उलटा मिला सिखाने-बताने वाले उलटे मिले । पुनः समाज में खूब बिगड़ा। आगे बढ़ते-बढ़ते लम्बे काल में इतना बिगड़ गया कि लोग सोचने लगे यह व्यक्ति नहीं सुधर सकता है । पुनरपि हम क्या मानते हैं ? इतना बिगड़ने पर भी व्यक्ति सुधर सकता है। हमारे साथ यही हुआ ।

कुछ आवश्यक बातें जैसे एक तो हमने अपने विषय में यह गवेषणा की कि ऐसे संस्कार, ऐसी विद्या, सोचने का ऐसा ढंग, गम्भीर विवेचन जो किया गया वह सब पूर्वजन्म में पढ़े बिना, अभ्यास किये बिना, वेद–दर्शन की विद्या हस्तगत किये बिना नहीं हो सकते । एक जन्म की बात नहीं करते हैं; चाहे वह कितने ही पूर्वजन्म में किये गए हों । बिना किये यह स्थिति नहीं आ सकती। एक तो यह सार निकला ।

दूसरा सार निकला कि सृष्टि अनित्य है, सब कुछ ईश्वर का है । इस संसार को देखकर, जन्म–मरण को देखने पर यह विचार किया गया कि इसमें सत्य क्या है ? हम मेरा-मेरा करते हैं, मैं सदा जीऊँ, यह मेरी इच्छा रहती है । जब सदा जी सकता हूँ कि नहीं? इन सारी बातों को लेकर पूरी शक्ति लगा दी । इसमें अत्यन्त पुरुषार्थ किया । आ गया समझ में ?

तीसरी बात समझ में आई कि जब व्यक्ति सत्य और असत्य को जानने के लिए पूरा बल लगा देता है, और इसके साथ जोड़ दो कि ईश्वराज्ञा के अनुरूप विचारता है; जैसा ईश्वर का गुण–कर्म–स्वभाव है तदनुरूप सोचता है, सृष्टि के अनुरूप सोचता है, और आगे बढ़ो सारे संसार को अनित्य देखता है, सब कुछ ईश्वर का है यह मान लेता तब वहाँ परमात्मा ही उसको सीधा ज्ञान देता है, उसको ऊँचा उठा लेता है । तीसरा भाग यह है । कुछ

समझ में आ गई बात ! अब आप कर सकते हैं कि नहीं; क्यों जी, सुमेरु प्रसाद जी !

सुमेरु प्रसाद – कर सकते हैं ।

स्वामी जी – बस ठीक है हो गया निर्णय ।

अच्छा चलो । यह सारा बहुत बड़ा गम्भीर विवेचन है । सहेतुक बताया गया। ऐसा करें तो हम शीघ्र समाधि की ओर जा सकते हैं ।

कामना-परीक्षण

आप कभी ऐसा विचार सकते हैं कि इस योगमार्ग पर चलते-चलते पर्याप्त परिश्रम करने पर भी, तप-त्याग करने पर भी, वासनाओं को रोकते-रोकते भी ये वासनाएँ तीव्र रूप में उभरती हैं, सतत प्रयत्न करने पर भी कम रुकती हैं। पुनः इससे अच्छा तो लौकिक लोगों की भाँति रहने लग जाएँ । तब तो ये इस रूप में दुःख नहीं देंगी । बात आ रही है समझ में यह फिर दुहराऊँ?

साधक – आ रही है ।

स्वामी जी – यह मानसिक चित्र खींच रहा हूँ । उसमें यह ध्यान रखना कि कोई व्यक्ति योगमार्ग को छोड़कर और भोगमार्ग को अपनाकर कोई ऐसी स्थिति सम्पादित कर ले जिससे कि उसको वासनायें व्यथित न करें; यह असंभव है । ऐसा मानकर चलें, ऐसी भ्रान्ति मन में हो जाय तो समझना यह संभव नहीं है । ये संसार के करोड़ों लोग जो इस मार्ग को अपनाये हुए हैं, वे यही मानकर तो चल रहे हैं कि हमारी तृष्णा शान्त हो जाएगी। जो नये-नये उस ओर जाते हैं, वे क्या सोचते हैं ? अब तो वासनाएँ सता रही हैं क्योंकि अब वैसी-वैसी स्थितियाँ (भोगावसर) नहीं हैं । अतः हम गृहस्थाश्रम में जाकर जैसा मन चाहेगा भोगों को भोगेंगे, जैसा मन चाहेगा खाएँगे, पीएँगे, सोएँगे। पर आप देख सकेंगे वह व्यक्ति बल लगाकर बहुत कुछ धन उपार्जित कर पाया, साधन जुटाए, उनको भोगा । किन्तु वासनाएँ वैसे ही उनको पीसती रहीं, जैसे बिना गृहस्थ के पिसती थीं । पहले तो सोचता था २० लाख का स्वामी बन जाऊँगा तो धन की लिप्सा नहीं सताएगी । अब ४०

लाख हो जाने पर भी लालायित है और अरबपति-खरबपति बनने की सोचता है। नहीं हो पाता तो दुःखी रहता है।

ऐसे इन्द्रियान्तर भोगों में भी दुःख है और इतना ही नहीं, उनके साथ क्या जुड़ी रहती है ? "भोगे रोगभयम् ।" अधिक भोगने पर रोग का डर लगा बना रहता है, इससे बचा नहीं कोई। पर यदि व्यक्ति नहीं देखता है कि भोगों में पडूँगा तो दुःख सताएगा तो वह सोचता है योगमार्ग में ही कठिनाई है।

योगमार्ग में बड़ी कठिनाई है पर किसकी ? यह पहले देखो तो आप! जो सोचता है भोग लेवें तो दुःखी, न भोगें तो और दुःखी, उसकी। जैसे एक मोटा दृष्टान्त लेते हैं — क्या बोलते हैं कुलफी! निर्धनों के बालक उसको चूसते हैं तो दुःखी, न चूसते हैं तो दुःखी। बताओ क्यों ? मुश्किल से दिनभर में एक मिली, यह भी समाप्त होने वाली है। नहीं देखा आपने ? देखता रहता है चाटूँ या नहीं ? वह खतम होने जा रही है उसका दुःख, न चाटे तो मन दुःखी; मानता नहीं। यह भोगवादी व्यक्ति जब भोगों में पड़ता है तब दुःखी, जब नहीं पड़ता है तब उसे वासना सताती है, तो वह दुःखी! मोटी भाषा है न—प्याज भी खाता है, जूते भी खाता है!

इस आर्यावर्त देश में पीछे के भाग में हजारों चक्रवर्ती राजा हुए जैसा कि महर्षि ने लिखा है, युधिष्ठिर तक चक्रवर्ती राजा होते आए हैं। तो इतना होने पर भी अब तक इतना फल, परिणाम, सिद्धान्त नहीं निकला कि भोगों के भोगने से व्यक्ति तृप्त होता है, वासनाएँ रुक जाती हैं और वह शान्त रहता है। ऐसा कभी हुआ नहीं किन्तु ऋषियों ने कहा कि दुगुनी उभरती हैं। यह और समस्या है। भोग भोगते समय व्यक्ति सोचता है मेरी तृष्णा शान्त हो जाएगी पर वह शान्त नहीं होती है अपितु और तीव्र हो जाती है। बुद्धिमान् जब यह देखता है कि तीव्र हो गई तो क्या करना चाहिए ? घी डालने से अग्नि तीव्र हो जाती है तो ग्रीष्मकाल में और घी नहीं डालते हैं। भूल से कोई व्यक्ति तेल के कनस्तर को समझ ले इसमें पानी भरा है और घर में आग लग जाए, पुनः धड़ाम से डाले तो क्या होगा ? ऐसे ही यह भोगवादी व्यक्ति दुःखी होता है।

अच्छा योग-मार्ग पर चलने वाला भी, जिसको पता नहीं कि भोगवादी गृहस्थियों को कितना दुःख होता है ? वह सोचता है ये तो बड़े मजे में रहते हैं। जब चाहें खाते-पीते, सोते-उठते हैं, कोई टोकने वाला नहीं। टेलीविजन पर नाच-गाने सुनते-देखते रहते हैं। चाहे जो बाजार से ले आते हैं !

बेचारे गरीब क्या सोचते हैं ? मेरा जो मनोविज्ञान काम करता है बताऊँ लगभग ? वे सोचते हैं कि जो ये करोड़पति लोग हैं इतना खाते रहते हैं, इनको आनन्द ही आनन्द आता रहता होगा ? जब देखो हलुआ, खीर खाते ही रहते हैं तो इनको आनन्द तो आता ही रहता होगा, कभी रुकते ही नहीं होंगे। मैं तो झोपड़ी वाला, मुझ दरिद्र को वह सुख कहाँ ? उसका यही दिमाग काम करता है । उनके दिमाग में यह बात नहीं आती कि ये बेचारे सूखी रोटी भी नहीं खा सकते । खाएँ भी तो कितना, एक ओर पेट में इतना अफारा बन गया, नींद आए नहीं, करवट बदलता रहेगा । उधर माल पर माल, घर वाले कहते हैं यह खा लो ! नहीं । और कुछ बना दो । अब उसके सामने तो एक से एक आते हैं खाये किसको । उसके लिए पेट में डालना मुश्किल?

तो व्यास ऋषि ने एक दृष्टान्त बनाया । **वृश्चिकविषभीत इवाशीविषेन दष्टो यः सुखार्थी विषयानुवासितो महति दुःखपङ्के निमग्न इति** ।। यो. द. २/१५। बिच्छू के डर से डरे हुए की काले साँप से काटे जाने पर जो गति होती है वही भोगवादी की होती है । आशुतोष जी ने वह बिच्छू देखा था यहाँ पर। किसी ने पैर मारा था या छिपकिली ने काट खाया था । वह बेचारा तड़प रहा था, मरने की स्थिति थी । तो कल्पना करते हैं उसी समय आशुतोष जी कहने लगे हट जाओ, इससे दूर हट जाओ । कोई डरकर पीछे हटा, उधर काला साँप पड़ा था, उसने काट लिया और मौत के मुख में चला गया । इस तरह बिच्छू से डरे हुए की साँप से मृत्यु हो गई ।

मैंने दृष्टान्त सुनाया था कि एक लेखक, संभवतः उदयवीर जी ने लिखा है कि एक युवक थे । उनका विवाह-संस्कार होनेवाला था । आपको पता हो युवावस्था में यदि व्यक्ति रोगी न हो तो अत्यन्त तीव्र भूख लगती है। तो संस्कार में भोजन में विलम्ब था । वे कहने लगे बड़ी तीव्र भूख लग रही है भोजन कब मिलेगा? लोगों ने कहा अभी तो विवाह-संस्कार होगा, पता नहीं कितने बज जाएँगे। भोजन तो संस्कार के पश्चात् ही मिलेगा। उसने कहा अच्छा ! इतनी भयंकर अवस्था तो विवाह के पहले है, पश्चात् तो पता नहीं क्या होगा ? और उठकर भाग गया । नहीं करवाना है विवाह।

साधक – (मध्यपात) खाचरोली के एक महात्मा थे । पीछे जब उनका विवाह हो रहा तब पण्डित जी ने कहा सावधान ! इतना कहते ही उठ के भाग गये और पांडिचेरी में कम से कम ८७ वर्ष तक रहे । ऐसा अखबार में लिखा था ।

स्वामी जी — तो सुनो ! हमने जोर देना है, अपने ऊपर । कई बार व्यक्ति क्या करता है; अन्यों को वैराग्य की प्रेरणा देता है, परन्तु स्वयं विषयों की ओर सरक जाता है ।

तो ये विचारधाराएँ जब आती रहती हैं तो व्यक्ति तुलनात्मक अध्ययन करता है । ऋषियों की बातों को उसके साथ मिलाता है कि ऐसा नहीं है। तो इससे क्या होता है ? जो जन्म-जन्मान्तर की कामादि भोगों की वासनाएँ हैं, उनको रोकने में सरलता होती है । उनको रोकने में व्यक्ति पूरा बल लगाता है, शैथिल्य नहीं वर्तता है और जो इन वासनाओं से प्रेम करता है, इनको हटाने में न्यून बल लगाता है, उस पर ये वासनाएँ उतना ही तीव्र आक्रमण करती हैं । आप दिन में अध्ययन करते हैं, आपको बताया जाता है; देखो! हम यदि इतना भी असावधान हुए तो कोई न कोई बुरा विचार राग-द्वेषादि काम करने लग जाएगा । जो हमारे जीवन के विरोधी हैं, उनसे सावधान रहना है । वह क्या करता है ? इतना सावधान रहता है कि कभी विचार ही न उठ जाए, पकड़ के चलता है । कभी प्रयोग करके देखा है ? कैसे पकड़ के चलते हैं ? अपने ज्ञान को, इच्छा को, प्रयत्न को पकड़ के चलते हैं । यदि थोड़ी भी ढ़ील दी तो बुरे संस्कार उभर जाएँगे। अब देखो ! इनको निर्बल करने के लिए, न उभर सकें इसके लिए ईश्वर की उपासना करनी चाहिए । ईश्वर की उपासना से न तो उभरते हैं न तो इनमें तीव्रता आती है । जैसे ही ईश्वरोपासना को छोड़ता है वैसे ही तीव्रता आती है और उभरने की स्थिति शीघ्र होने लगती है ।

दूसरी बात अब आप देखेंगे उपासना-काल में क्या करता है ? उस काल में एक विषय बनाता है ईश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना का । यदि वह उस समय तीव्र-इच्छा से उपासना करता है तो वृत्ति उभरने की स्थिति तीव्रता से नहीं आएगी। तूफान नहीं आएगा, व्यक्ति विषयान्तर नहीं होगा । यदि वहाँ थोड़ा भी प्रेम कम हो गया तो तत्काल वृत्ति उभरने लगेगी । प्रेमातिशय होने पर वृत्ति धक्का नहीं देगी । न वहाँ अवकाश होता है । थोड़ी सी भी अनिच्छा होने से वृत्ति उठाई जाती है, तीव्रतादि आती है ।

वहाँ मान लो प्रेम न्यून हो गया । उस समय साधक क्या करता है? तत्काल आत्मा पर अधिकार कर लेता है । ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा को नियंत्रित कर लेता है। इन पर अधिकार होने से भी वृत्ति उठने की जो संभवना बन गई थी उसको हटा देता है । वृत्तियों को उभरने नहीं देता है । उसके साथ-

साथ ये जुड़े हुए विषय भी नहीं रहने चाहिएँ । जैसे कि स्वस्वामि-संबंध, अन्यथा वृत्ति के उभार के लिए बल मिलेगा । दूसरी बात, यदि वहाँ लोक को, संसार को अनित्य देखता रहा तो स्थिति अच्छी बनी रहेगी । यदि नित्य देखेगा तो उभार में पुनः बल मिलने लगेगा ।

जिस समय व्यक्ति स्वयं, संसार, प्रकृति को व्याप्य तथा ईश्वर को व्यापक देखता है तब भी वृत्ति नहीं उभरती है । उपासना-काल में तब तीव्रता, उद्वेग उतने नहीं आएँगे ।

व्यवहार-काल और उपासना-काल ये दोनों ही व्यक्ति के लिए सावधानी के क्षेत्र हैं । उपासना-काल में जितना सावधान रहना चाहिए उतना नहीं रहते तो कम सफलता मिलेगी । आपने यदि नियम बनाया कि उपासना-काल में ईश्वर को छोड़कर अन्य विषय नहीं उठाना है । इस नियम को आप ध्यान से देखते रहे परन्तु पुनरपि कोई विषयान्तर उठा लिया । वह विषय बुरा नहीं था अच्छा था, तो उस पर भी प्रतिबन्ध होना चाहिए । पुनः कठिनाई नहीं होगी । यदि यह नियम नहीं बनाते हैं तो कठिनाई रहती है । उतनी सफलता नहीं मिलती जितनी मिलनी चाहिए । एक और बात । एक ओर भक्ति की इच्छा दूसरी ओर कार्यान्तर की इच्छा। जब व्यक्ति दो विषय की भी इच्छा करता है तब भी अधिक सफलता नहीं मिलती है ।

व्यवहार-काल हो या उपासना-काल, सर्वत्र व्यक्ति सावधानी से एक सिद्धान्त को लेकर चलता है कि संसार के सुखों में क्षणिकता और ४ प्रकार का दुःख मिश्रित रहता है । इसको यदि मन में स्वीकार कर लेता है तो दोनों कार्यों में आत्मा या मन को रोक लेता है । यदि सुख मानता है तो उपासना और व्यवहार में मन को रोकना कठिन हो जाता है । न्यूनाभ्यासी जो संसार-सुख का इच्छुक है वह तो बल लगाते-लगाते कहता है मैं तो थक जाता हूँ । इससे क्या समझ में आता है ? शुद्ध-सुख देखने में तीव्रता आती है और उससे रोकता है, एक बार चाहता है दूसरी बार रोकता है, इससे थकान हो जाती है । आपको कभी ऐसा अनुभव होता है ? वैसे प्रेम से, बिना तनाव के ईश्वरोपासना करते रहो तो कोई थकान नहीं आएगी। किन्तु जितना-जितना संघर्ष होता है, उतनी-उतनी थकान बड़ी शीघ्र आती है । सरलता से उपासना करते रहो कुछ नहीं होगा । थोड़ा बल तो लगेगा परन्तु सिर भारी होना, ऊब जाना आदि यह सब नहीं होगा ।

अन्य बात । कल्पना कर लो ईश्वर से सुख मिलने लगे तब तो थकान की बात ही क्या ? सुख मिलने पर तो छोड़ेगा ही नहीं । थकेगा क्यों । अच्छा इतना समझने पर भी आप ईश्वर से सुख क्यों नहीं ले पाते हैं ?

साधक१ – अभ्यास, पुरुषार्थ की कमी है ।

साधक२ – अभ्यास, विवेक-वैराग्य नहीं हैं, पुरुषार्थ नहीं है, संस्कार नहीं हैं, ज्ञान शाब्दिक है व्यावहारिक नहीं है ।

स्वामी जी – और कहो तीन एषणा उपस्थित हैं । संसार की अनित्यता उपस्थित नहीं रहती; सुख–सुखसाधन में इनके बिना आकर्षण होता है । एक भाग है साधनाभाव दूसरा है बाधकों का ढ़ेर । अतः उचित साधन-संग्रह और बाधक का परिहार होना चाहिए ।



सम्बन्ध-परीक्षण

प्रायः ईश्वर को मानते नहीं हैं, जिस समय हम ईश्वर को मान रहे हैं किन्तु जैसा ईश्वर नहीं है वैसे लक्षण वाले ईश्वर को मानते हैं, वैसे जीवात्मा को मानते हैं । ऐसे ही प्रकृति को मानते तो हैं किन्तु स्वयं सृष्टि बना लेती है ऐसा मानते हैं, तो समझना इस समय हम अविद्यायुक्त हैं । इसमें पूरा संसार आ गया । दो विभाग बन गए एक न होने में, दूसरे यथार्थ न होने में । इस प्रकार जीव, प्रकृति, ईश्वर में सर्वत्र समझना चाहिए । तो इस प्रकार से विद्या और अविद्या का परीक्षण सदा करते रहना पड़ता है ।

जो व्यक्ति अभ्युदय = लौकिकोन्नति तथा निःश्रेयस्=ईश्वरप्राप्ति करना और कराना चाहता है तो उसे विशेष ध्यान देकर इस उद्देश्य को पूर्ण करनेवाले साधनों को जानना चाहिए, उसकी गवेषणा करनी चाहिए और संग्रह करना चाहिए । साधनों में हमारे जीवन के साथ सम्बद्ध जड़–चेतन पदार्थों को जानना चाहिए पुनः उन पदार्थों के साथ उचित सम्बन्ध बनाकर उनका प्रयोग करना चाहिए । न दुरुपयोग, न उपेक्षा करनी चाहिए । उन पदार्थों में एक पदार्थ है ईश्वर, जो हमारी उन्नति का साधन है । दोनों प्रयोजनों की सिद्धि में सबसे महत्त्वपूर्ण साधन ईश्वर को जानकर उससे यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए।

आप आत्म-निरीक्षण के साथ बताएँगे कि ईश्वर के साथ हमारा माता–पिता, आचार्य, राजा, उपास्य आदि का सम्बन्ध जैसा पढ़ा-सुना है वैसा रहता

है या नहीं ? उसके आधार पर उचित व्यवहार करते हैं या नहीं ?

साधक १ – सम्बन्ध बनाना भारभूत लगता है, रुचि नहीं होती है ।

स्वामी जी – जो आपको सब कुछ देता हो, आपके ऊपर हजारों का व्यय करता हो क्या उसको स्मरण करने में आप ऊबेंगे, उससे सम्बन्ध रखने में कठिनाई होती है? परन्तु इस प्रकार की बात मन में रहती है । जो हमारे हित के लिए सर्वदा उद्यत है, सारे साधनों को उपस्थित किया है, उसके समान ईश्वर को नहीं मानते हैं । ठीक है, सृष्टि का रचयिता है पर वैसा प्रभाव नहीं मानते जैसे कि लौकिक ऐश्वर्य सम्पन्नों का मानते हैं । व्यक्ति लोक में किसी अच्छे स्वभाव वाले जिससे पढ़ा-लिखा, उसका जितना उपकार मानता है, सेवा करता है, सम्मान करता है, उतना ईश्वर के प्रति व्यवहार नहीं करता है। अतः ऋषियों की बातों को पढ़कर सूक्ष्मता को समझेंगे सबके साथ प्रीतिपूर्वक यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए । जिसका जो स्तर है उसके साथ उसी स्तर से व्यवहार करना चाहिए । ज्ञान में त्रुटि रही तो किसी पदार्थ का उपयोग नहीं ले सकते, लौकिक या मोक्षप्राप्ति में कितना साधक या बाधक है प्रायः नहीं जान सकते । उससे उचित व्यवहार भी नहीं हो सकता। यदि इस दोष को हटा दें तो ईश्वर के साथ उचित व्यवहार कर सकेंगे । उचित व्यवहार से दोनों प्रयोजन ईश्वर की सहायता से सिद्ध होंगे। तुलनात्मक अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि ईश्वर जितना रक्षण, पालन, उपकार करता है, उतना जन्म देनेवाली माता भी नहीं कर सकती, न किया है । इतना ही नहीं माता भी जितना करती है वह अपने सामर्थ्य से नहीं किन्तु ईश्वर के सामर्थ्य से ही कर पाती है । जब व्यक्ति देखता है कि माता सन्तान के लिए जीवन लगा रही है, पर पूर्ण ध्यान नहीं देता है । ध्यान देने पर पता चलता है कि माता जो कुछ आवश्यक कार्य भोजन–पान, पालनादि कर रही है वह ईश्वर की तुलना में नाममात्र है। जितना माता का योगदान है ग्रहण करना चाहिए शेष ईश्वरप्रदत्त समझना चाहिए। तुलना करने पर माता और ईश्वर के उपकार का बोध होता है । इस प्रकार ज्ञान होने पर यथायोग्य व्यवहार करते हैं ।

ज्ञान के क्षेत्र में ध्यान दें क्या ईश्वर हमारे उचितानुचित व्यवहारों को नहीं जानता ? प्रायः व्यक्ति के मस्तिष्क में यह बात रहती है कि वह हमारे उचितानुचित व्यवहारों को नहीं जानता है । यदि मन में होते ही जान लेता है तो उसका फल देता है यह नहीं मानता है । अतः जो-जो बात, व्यवहार, ज्ञान, उपासना, ईश्वर के अनुकूल हो वह-वह ग्राह्य, विपरीत त्याज्य है ।

षट्क सम्पत्ति – शम, दम, तितिक्षा (चाहे लाभ-हानि), उपरति, श्रद्धा और समाधान । इनका प्रयोग कभी आत्म-निरीक्षण में करते हैं या वैसे ही छोड़ रखा है ?

साधक – थोड़ा-थोड़ा ।

स्वामी जी –अब देखो ! जहाँ कहीं ऐसी घटना घटती है कहीं हर्ष-शोक की बातें, कहीं धन-सम्पत्ति नष्ट हो जाती है; उस समय व्यक्ति ध्यान दे तो बच सकता है । कैसे? भाई योगाभ्यासियों के लिए यह किसी महत्त्व की बात नहीं है, हानि-लाभादि तो होते ही रहते हैं । सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान, हर्ष-शोक हो गया इससे प्रभावित नहीं होना है, हमारे लिए विधान नहीं है । ऐसा ध्यान दे तो बच जाएगा । न ध्यान देगा तो हानिलाभ आदि की स्थिति आने पर व्यक्ति डगमगा जाएगा । ऐसा सोचेगा तो अपने-आपको सुरक्षित रख लेगा अन्यथा नहीं ।

अब ईश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना का प्रयोग करेंगे ।

आप अधिकारपूर्वक शरीर में धारणा का निर्वाचन करके स्तुतिप्रार्थनोपासना करने का प्रयत्न करेंगे ।

अब स्थूल प्रयोग करेंगे । आप ये मत मान लेना सब जानते हैं । व्यवहार के बिना सब अज्ञात ही रहता है ।

जितना बोल सकते हैं बोलें, शेष सीखने का प्रयत्न करें ।

आर्य समाज के द्वितीय नियम का प्रयोग करेंगे ।

उच्चारण के साथ-साथ अर्थ न हो पाता हो तो करके देखें ।

प्रयोग ....॥

इति पूज्यपादश्रीमत्स्वामिसत्यपतिपरिव्राजकेनोपदिष्टस्तदन्तेवासिना ब्रह्मचारि-सुमेरुप्रसाददर्शनाचार्येण संकलितस्सम्मार्जितस्सम्पादितश्च ब्रह्ममेधानामग्रन्थः समाप्तः ॥

अग्नितर्कनभद्व्याब्दे विक्रमस्येह वत्सरे ।
श्रावणान्धचतुर्दश्यां ग्रन्थः पूर्णः कुजे दिवि ॥



स्वामी सत्यपति जी परिव्राजक

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

पूज्य स्वामी सत्यपति जी परिव्राजक का जन्म विक्रम संवत् १९८४ (सन् १९२७) में ग्राम फरमाना जि. रोहतक हरियाणा प्रान्त के एक अवैदिक मतानुयायी परिवार में हुआ। आपके पिता जी का नाम मोलड़ तथा माता जी का नाम दाखां था। बाल्यकाल में आपको विद्याध्ययन का सुअवसर नहीं मिला। आपका १९ वर्ष तक का समय गाय आदि पशु चराने तथा कृषि कार्य में घर पर व्यतीत हुआ। यद्यपि आपके अन्दर अध्ययन की विशेष अभिरुचि थी जिससे आपने स्वयं अक्षरज्ञान के लिए प्रयत्न किया और अनेक लोगों से पूछ-पूछकर तथा भूमि पर ही लिख-लिख कर पढ़ने में सफलता प्राप्त कर ली। सन् १९४७ के विभाजन की हिंसक घटनाओं को देखकर विवेक-वैराग्य और समाधि की प्राप्ति हुई। तब से आपका सम्पूर्ण समय ईश्वर की उपासना में लगने लगा। कालान्तर में वैदिकमत स्वीकार करके नया नाम मनुदेव रख लिया। २१ वर्ष की अवस्था में आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया। पुनः २२ वर्ष की अवस्था में गुरुकुल झज्जर हरियाणा में प्रवेश लिया तथा घोर तपस्या पूर्वक वैदिक वाङ्मय का अध्ययन अध्यापन कर व्याकरणाचार्य, दर्शनाचार्य, वेदवाचस्पति आदि उपाधियाँ प्राप्त की। इस सम्पूर्ण अध्ययन अध्यापन काल में आप ईश्वर साक्षात्कार को ही मुख्य मानकर चलते रहे। १९७० में स्वामी ब्रह्ममुनि जी से ब्रह्मचर्याश्रम से सीधे संन्यास की दीक्षा ग्रहण कर स्वामी सत्यपति परिव्राजक नाम से समाज में प्रसिद्ध हुए। आपने संन्यास-दीक्षा ग्रहण से पूर्व लगभग २५ वर्ष तक "जूते न पहनना, खाट पर न बैठना, दिन में न सोना" इत्यादि ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी नियमों का श्रद्धापूर्वक पालन किया।

आगे आप धर्मप्रचार के कार्य में लग गए। पिछले ४० वर्षों से आप निरंतर भ्रमण करते हुवे देश विदेश में वैदिक धर्म संस्कृति का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं, विशेषकर अपने देश के विभिन्न प्रान्तों में सैकड़ों क्रियात्मक योगप्रशिक्षण-शिविरों का आयोजन करके ब्रह्म-प्राप्ति हेतु हजारों लोगों में रुचि उत्पन्न की है। गुरुकुलों के ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणियों को वैदिक विद्वान्, आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी निर्माण हेतु आपकी विशेष इच्छा रही इसके लिए आपने विभिन्न गुरुकुलों जैसे सिंहपुरा, हौशंगाबाद, आमसेना, बडलूर, मानव कल्याण केन्द्र देहरादून, कुरुक्षेत्र आदि में जा जाकर उन्हें पर्याप्त प्रेरणा, समय तथा संरक्षण देते रहे हैं।

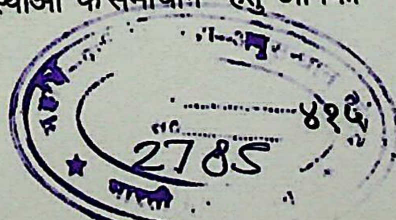
आपने **योगमीमांसा, सरल योग से ईश्वर साक्षात्कार, योगदर्शन** ('योगार्थ प्रकाश' व्याख्या) मेरी संक्षिप्त दिनचर्या आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों की रचना की तथा अनेक निबन्ध लिखे हैं ।

आपने त्यागी, तपस्वी, वैराग्यवान्, पठित, युवा, दार्शनिक विद्वानों के निर्माण और उनको आर्थिक सहयोग करने हेतु सन् १९८६ में गुजरात प्रान्त में दर्शन योग महाविद्यालय की स्थापना की है। इस दर्शन योग महाविद्यालय में २००६ तक २० वर्षों में १५ प्रान्तों के स्नातक, स्नातकोत्तर (Graduate, Post Graduate), व्याकरणाचार्य, शास्त्री स्तर के ४० से अधिक ब्रह्मचारी योग, सांख्य, वैशेषिक, न्याय, वेदान्त तथा मीमांसा, इन षड्दर्शनों का संस्कृत भाष्यों सहित अध्ययन कर 'दर्शनाचार्य', 'दर्शन विशारद' तथा 'दर्शन प्राज्ञ' उपाधियां प्राप्त कर देश के विभिन्न प्रान्तों में गुरुकुलों का संचालन, लेखन, प्रवचन आदि प्रवृत्तियों के माध्यम से वैदिक धर्म का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं ।

आप के द्वारा स्थापित **'विश्व कल्याण धर्मार्थ न्यास'** के माध्यम से प्रतिवर्ष गुरुकुलों में विद्याध्ययन कर रहे ब्रह्मचारियों, वैदिक विद्वानों, निर्धनों, वैदिक साहित्य प्रकाशन, विधवाओं, असाध्य रोगियों तथा गौशाला आदि हेतु लाखों रुपयों की सहायता की जाती है । सन् १९९९ में आपका आर्य वन, रोजड़ में, देश विदेश से पधारे हजारों आर्य सज्जनों द्वारा ५१ लाख से भी अधिक रुपयों की राशि से अभूतपूर्व, सार्वजनिक सन्मान किया गया । उपर्युक्त आपने वानप्रस्थ साधक आश्रम की स्थापना हेतु प्रदान कर दी । जिससे गृहस्थ कार्यों से निवृत्त, प्रौढ़, धार्मिक सज्जनों के लिए एक भव्य आश्रम की आधार शिला रखी गई । २००६ में उस नवनिर्मित वानप्रस्थ साधक आश्रम का उद्घाटन किया गया जिसमें अनेकों वानप्रस्थ, साधक, साधना, स्वाध्याय और सेवा करते हुए स्थायी आवास कर रहे हैं ।

यम-नियमों का सूक्ष्मता से पालन करना, ईश्वरोपासना में नियमित ३ घन्टे से अधिक समय लगाना, दिनभर ईश्वरप्रणिधान बनाये रखना, धैर्य, सहनशक्ति से युक्त, राग-द्वेष से रहित मधुर व्यवहार करना और प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह सामान्य स्तर का भी क्यों न हो धर्म का उपदेश करना, ईश्वर की ओर उन्मुख करना आपकी विशेषता रही है । ईश्वर, वेद तथा दर्शन, उपनिषद् आदि ऋषिकृत ग्रन्थों के प्रति आपकी अगाध श्रद्धा है । सूक्ष्म दार्शनिक सिद्धान्तों के विषय में आप विशेष परिज्ञान रखते हैं । आध्यात्मिक समस्याओं के समाधान हेतु आपकी बुद्धि अद्भुत क्षमता रखती है ।

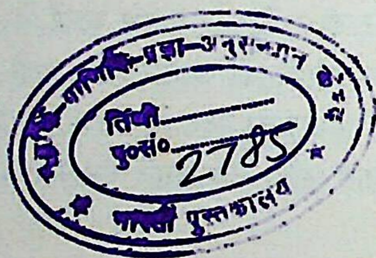
ब्रह्ममेधा



देश विदेश के हजारों सज्जनों से व्यक्तिगतरूप में मिलकर आपने उन्हें अध्यात्म पर चलने की प्रेरणा प्रदान की है। उनके हताश, निराश, प्रसुप्त जीवन में आशा, विश्वास, निष्ठा का प्रसार किया है तथा आदर्श पर चलने हेतु रुचि उत्पन्न करते रहे हैं। आप सदा प्रसन्न रहने वाले शान्त, गम्भीर, सन्तुष्ट, आशावादी व्यक्तित्व रखते हैं। आप वैदिक धर्म के प्रचारार्थ मोरीशस तथा आस्ट्रेलिया गये हैं। आस्ट्रेलिया में तो आपने चार मास के लम्बे काल तक सतत वहाँ के मूल भारतीयों को क्रियात्मक योगप्रशिक्षण दिया तथा ऋषिकृत ग्रन्थों का अध्यापन किया।

वर्त्तमान में गम्भीररूप से रुग्ण होते हुए भी ईश्वर से प्राप्त ज्ञानविज्ञान, बल, आनन्द, धैर्य के आधार पर समस्त प्रतिकूलताओं को सहन करते हुए ईश्वरप्राप्ति =मोक्ष हेतु प्रयत्नशील हैं तथा अन्यों को भी प्रेरणा करते रहते हैं। ईश्वर से प्रार्थना है कि आप शीघ्र स्वस्थ होकर दीर्घायु प्राप्त करें, जिससे आपके निर्देशन में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के कार्य अधिकाधिक होवें। विस्तृत जानकारी के लिए उनकी स्वलिखित जीवनी 'मेरा संक्षिप्त जीवन चरित्र' तथा 'मेरी संक्षिप्त दिनचर्या' पुस्तक पढ़ें।

— ज्ञानेश्वरार्य दर्शनाचार्य
आचार्य, दर्शन योग महाविद्यालय
आर्यवन, रोजड़, गुजरात



प्रकाशित एवं वितरित पुस्तक-पुस्तिकाएँ, कैलेंडर, पत्रक आदि साहित्य की सूची

१. योग मीमांसा १३/-
२. सरल योग से ईश्वर साक्षात्कार १२/-
३. योग दर्शनम् (व्यास भाष्य सहित) १००/-
४. ब्रह्म विज्ञान २५/-
५. अध्यात्म सरोवर (भाग-१,२) ३०/-
६. तत्वज्ञान ६/-
७. क्रियात्मक योगाभ्यास ५/-
८. ईश्वर सिद्धि ३/-
९. आर्यों के सोलह संस्कार ४/-
१०. दार्शनिक निबन्ध ४/-
११. पीडित गौमाता के उपकार ४/-
१२. पर्यावरण प्रदूषण ३/-
१३. योग दर्शन (सूत्रार्थ-भावार्थ) ८/-
१४. प्रेरक वाक्य ४/-
१५. सत्यार्थ प्रकाश की तेजधाराएं ३/-
१६. विवेक वैराग्य श्लोक संग्रह ३/-
१७. योगसाधना के आठ अंग ३/-
१८. अद्वैतवाद - एक विवेचन ३/-
१९. स्नातकों का परिचय ५/-
२०. आसन व्यायाम ३/-
२१. मेरा संक्षिप्त जीवन चरित्र ५/-
२२. आर्य सिद्धान्त परिचय ३/-
२३. वेदपाठः ३/-
२४. आर्यवीर दिनचर्या ४/-
२५. आर्यवीर गीतांजलि ५/-
२६. पर्यावरण प्रदूषण निवारण में यज्ञ की उपादेयता ३/-
२७. सावधान २/-
२८. पातंजल योगदर्शनम् मूल सूत्राणि ३/-
२९. मेरी इंग्लैण्ड प्रचार यात्रा ५/-
३०. विवेचन १०/-
૩૧. સત્યાર્થ પ્રકાશ ૫૦/-
૩૨. ઉપદેશ મંજરી ૧૫/-
૩૩. ઋગ્વેદાદિ ભાષ્ય ભૂમિકા ૪૦/-
૩૪. આત્મકથા-મહર્ષિ દયાનંદ ૫/-
૩૫. બ્રહ્મ વિજ્ઞાન ૨૦/-
૩૬. સરળ યોગથી ઈશ્વર સાક્ષાત્કાર ૧૫/-
૩૭. યોગ મીમાંસા ૧૫/-
૩૮. યોગ દર્શન ભાષ્ય ૬૦/-
૩૯. અધ્યાત્મ સરોવર (ભાગ-૧) ૨૫/-
૪૦. તત્વજ્ઞાન ૮/-
૪૧. ક્રિયાત્મક યોગાભ્યાસ ૫/-
૪૨. દાર્શનિક નિબંધ ૪/-
૪૩. ગૌમાતાની દુર્દશા અને આપણું કર્તવ્ય ૪/-
૪૪. આપણાં સંપ્રદાયો ૨૦/-
૪૫. પર્યાવરણ પ્રદૂષણ ૩/-
૪૬. પ્રેરક વાક્ય ૪/-
૪૭. સચિત્ર આસન વ્યાયામ ૩/-
૪૮. સત્યાર્થ પ્રકાશની તેજધારાઓ ૩/-
૪૯. યજુર્વેદીય કઠોપનિષદ ૮/-
૫૦. વૈદિક ઉપદેશમાલા ૫/-
૫૧. આયુર્વેદિક સરળ ઉપચાર ૫.૫૦/-
૫૨. વેદાંતિ-ધ્વાંત-નિવારણ ૫/-
૫૩. વૈદિક વીર ગર્જના ૫/-
૫૪. યોગદર્શન (વ્યાસભાષ્ય સહિત) ૭૦/-
૫૫. વિશુદ્ધ મનુસ્મૃતિ ૩૦/-

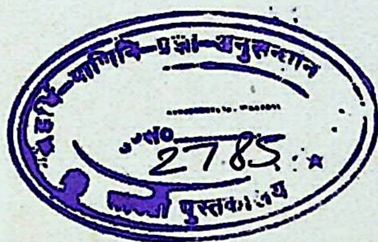
५६. સ્વામી દયાનંદ સરસ્વતી વિચાર વિશ્લેષણ ४/-
૫૭. યોગસાધનાનાં આઠ અંગ ૩/-
૫૮. દૈનિક યજ્ઞવિધિ ૩/-
૫૯. દૈનિક સંધ્યોપાસનાવિધિ ૩/-
૬૦. આસ્તિકવાદ ૬/-
૬૧. ભગવત્ કથા ૮/-
૬૨. સાવધાન ૩/-
૬૩. વેદ અને માનવ કલ્યાણ ૪/-
૬૪. ઈશ્વર સિદ્ધિ ૪/-
65. Yog Mimansa 15/-
66. Simplified Yoga for God Realization 15/-
67. Realization of the Almighty 3/-
68. Practical Yoga Practice 10/-
69. Environmental Pollution 3/-
70. Caution 3/-
71. Veidic Bhakti 25/-

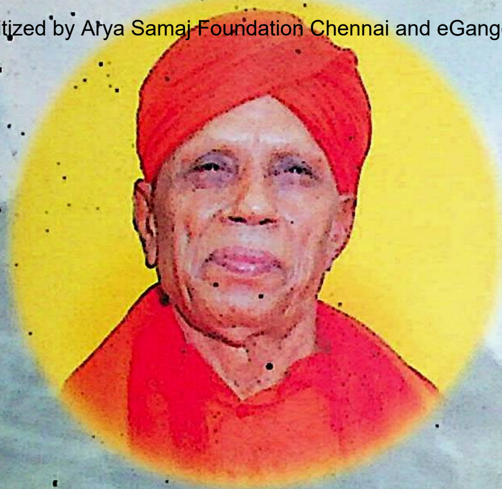
कैलेंडर

७२. ईश्वर का सच्चा स्वरुप (हिन्दी, गुजराती) १०/-
७३. गायत्री मंत्र (हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी) १०/-
७४. ऋषियों का संदेश (हिन्दी, गुजराती) १०/-
७५. संध्या सार (हिन्दी, गुजराती) १०/-
७६. वेदों में गाय की महिमा (हिन्दी, गुजराती) १०/-
७७. आर्य समाज के दस नियम (गुजराती) १०/-
७८. ईश्वर प्रणिधान वाक्य (हिन्दी, गुजराती) ३/-
७९. काल गणक पत्रक (प्रतिवर्ष) ८/-
८०. महर्षि दयानंद (चित्र-छोटा) १/-
८१. महर्षि दयानंद (चित्र-बडा) २०/-
८२. महर्षि दयानंद (श्रद्धांजलि चित्र) ३/-
८३. महर्षि दयानंद, गायत्री मंत्र स्टीकर ३/-

पत्रक

८४. वैदिक धर्म (संक्षिप्त परिचय) (हिन्दी, गुजराती) १/-
८५. क्रोध को कैसे दूर करें ? (हिन्दी) १/-
८६. झूठ बोलने से हानि एवं सत्य बोलने से लाभ (हिन्दी) १/-
८७. अग्निहोत्र (हिन्दी, गुजराती) १/-
८८. आसन व्यायामं (हिन्दी, गुजराती) १/-
८९. वैदिक उषा-निशा गीत (हिन्दी) १/-
९०. वैदिक संध्या के मंत्रों का शब्दार्थ (हिन्दी) १/-
९१. वैदिक सामान्य ज्ञान (हिन्दी) २/-
९२. आसन व्यायाम (हिन्दी) १/-
९३. यजुर्वेद का ४० वां अध्याय १/-
९४. यज्ञ क्या ? किसलिये ? (हिन्दी, गुजराती) १/-
९५. योग ध्यान का महत्व और लाभ (हिन्दी) १/-
९६. ईश्वर प्रार्थना १/-
९७. गृहस्थ के लिए सुख शांति का उपाय १/-
९८. THE ETERNAL MESSAGE OF THE ANCIENT RISHIS 1/-





स्वामी सत्यपति परिव्राजक

ओ हो ! बुढ़ापा आ गया सारा जीवन निकल गया। अब कहते रहो, बुढ़ापा आ गया सारा जीवन निकल गया, बुढ़ापा आ गया सारा जीवन निकल गया, कहते रहो परन्तु लुटाई - पिटाई से बच नहीं सकते। आप भी थोड़े दिनों में बूढ़े होकर आगे ऐसा ही कहा करेंगे। आज तो जवानी को देख रहे हैं पुनः बुढ़ापे को देखेंगे। योग को देखना भूल जाएँगे। वे लोग अब तो कहते हैं अभी तो जवान हैं वानप्रस्थ का काल नहीं आया है। जब झुककर चलेंगे तब काल आयेगा !!

देखो ! युवा अवस्था में जो विवेक-वैराग्य अवस्था को प्राप्त कर लेता है वह सबसे महान् व्यक्ति है, उसकी जैसी कोई स्थिति नहीं है।

इसी पुस्तक से पृष्ठ संख्या - ३०१

-: मुख्य वितरक :-

रणसिंह आर्य

द्वारा - डो. सद्गुणा आर्या

'सम्यक्', गांधीग्राम, जूनागढ़ (गुजरात) ३६२ ००१.